[गुप्त साम्राज्य के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक इतिहास का प्रामाणिक साङ्गोपाङ्ग वर्णन]

द्वितीय खण्ड

सांस्कृतिक इतिहास

लेखक

वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०

भूमिका-लेखक

आचार्य नरेन्द्रदेवजी

एम० ए०, एल० एल० बी०

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण] १९३९ [मूल्य [illegible])

जिन्होंने मेरे जीवन की धारा बदल कर भारतीय
इतिहास तथा संस्कृति के प्रति मेरे हृदय में
नैसर्गिक प्रेम पैदा किया

और

जिनकी अनुकम्पा तथा शुभकामना से यह ग्रन्थ
समाप्त हो पाया

उन्हीं ज्येष्ठ भ्राता, हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर,
श्रद्धाभाजन साहित्याचार्य

पण्डित बलदेव उपाध्याय जी एम० ए०

के

करकमलों में यह कृति

सादर

समर्पित

है

—वासुदेव

दो शब्द

गुप्त-साम्राज्य के इतिहास का यह दूसरा भाग इतिहास-प्रेमियों के सामने प्रस्तुत किया जा रहा है। इस ग्रन्थ के पहले भाग का विषय राजनैतिक इतिहास था। प्रस्तुत भाग का विषय गुप्त-कालीन सभ्यता तथा संस्कृति है। इस खण्ड में ग्यारह परिच्छेद हैं जिनमें शासन-प्रणाली, आर्थिक स्थिति, मुद्रा, साहित्यिक विकास, शिक्षा-प्रणाली, सामाजिक दशा, धार्मिक दशा, भौतिक-जीवन, ललित-कला, बृहत्तर भारत तथा गुप्त-युग की महत्ता का क्रमशः वर्णन किया गया है। इस प्रकार गुप्त-राजाओं के समय में होनेवाली आर्य संस्कृति का पूरा नक्शा यहाँ खींचा गया है। इस विषय का यहाँ साङ्गोपाङ्ग वर्णन करने का प्रयत्न किया गया है। जहाँ तक ग्रन्थकार को पता है, गुप्त-संस्कृति का इतना विशद, व्यापक तथा प्रामाणिक विवेचन किसी भी भारतीय भाषा में अभी तक नहीं किया गया है। अतः यह अपने ढंग की पहली पुस्तक होने के कारण त्रुटियों का होना अनिवार्य है। प्रेमी पाठकों से अनुरोध है कि वे इनकी सूचना ग्रन्थकार को दें जिससे वे आगे दूर कर दी जायँ। जिन ग्रन्थों की सहायता ली गई है उनके लेखकों के प्रति मैं आभार मानता हूँ। ऐसे प्रमाणभूत ग्रन्थों का निर्देश तत्तत्-स्थानों पर पाद-टिप्पणियों में कर दिया गया है।

इस ग्रन्थ के लिखने में मुझे जिन महानुभावों से प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से सहायता मिली है उनका सादर उल्लेख प्रथम भाग के आरम्भ में किया गया है। इस भाग के आरम्भ में भी उनके प्रति अपना आभार प्रकट कर मैं इन शब्दों को यहीं समाप्त करता हूँ।

—वासुदेव उपाध्याय

विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

विषय पृष्ठ-संख्या

संकेत-शब्द-सूची (द्वितीय खण्ड)

संकेत	पूरा शब्द
अ० का०	अयोध्या काण्ड
अ० हि० इ०	अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया
आ० स० इ० रि०	आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट
आ० स० मे०	आर्क्योलाजिकल सर्वे मेम्वायर्स
आ० स० रि०	आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट
आप० धर्म०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
इ० ए०	इण्डियन एण्टिक्वेरी
इ० हि० क्वा०	इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली
ऋ० सं०	ऋग्वेद संहिता
ए० इ०	एपिग्रैफिका इण्डिका
ए० सो० सं०	एशियाटिक सोसाइटी संस्करण
का० इ० इ०	कार्पस इन्सक्रिप्शनम् इन्डिकेरम्
का० वि० पी०	काशी विद्यापीठ
काशिका०	काशिका वृत्ति
का० सू०	काम-सूत्र
कुमार०	कुमारसंभव
कै० चा० त्रि०	कैटेलाग आफ दी चाइनीज त्रिपिटकस (नैन्जियो कृत)
कै० म० म्यु०	कैटेलाग आफ दी मथुरा म्युजियम
कै० सा० म्यु०	कैटेलाग आफ दी सारनाथ म्युजियम।
कै० है० आ० इ० म्यु० क०	कैटेलाग आफ दी हैण्डबुक आफ आर्क्योलाजी, इण्डियन म्युजियम, कलकत्ता
गा० ओ० सी०	गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज
गु० ले०	गुप्त लेख
गु० स०	गुप्त-संवत्
गो० गृ० सू०	गोभिल गृह्य-सूत्र
चौ० सं० सी०	चौखम्भा संस्कृत सीरिज
जा०	जातक
जे० आर० ए० एस०	जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी
जे० ए० एस० बी०	जर्नल आफ दी एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल

संकेत	पूरा शब्द
जे० बी० ओ० आर० एस०	जरनल आफ विहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
जे० बी० बी० आर० ए० एस०	जनरल आफ दी बाम्बे ब्रान्च आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी।
टि०	टिप्पणी
तैत० उप०	तैत्तरीय उपनिषद्
ध० सू०	धर्म-सूत्र
ना० प्र० प०	नागरी-प्रचारिणी पत्रिका
प्रो० फ० ओ० का०	प्रोसीडिंग्स आफ दी फर्स्ट ओरियण्टल कानफरेन्स
बृ० स्मृ०	बृहस्पतिस्मृति
बौ० ध० सू०	बौधायन धर्म-सूत्र
म० शा० प०	महाभारत शान्तिपर्व
मालविका०	मालविकाग्निमित्र
मृच्छ०	मृच्छकटिक
मे० आ० स० इ० रि०	मेम्वायर्स आफ दी आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट।
मेघ०	मेघदूत
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
रघु०	रघुवंश
बृह० उप०	बृहदारण्यक उपनिषद्
वैष्णविज़म शैविज़म आदि०	वैष्णविजम, शैविजम एण्ड माइनर रिलिजस सिस्टम्स।
शाकु०	शकुन्तला
शत० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
सूची (नैञ्जियोकृत)	कैटलाग आफ दी चाइनीज त्रिपिटक्स।
हि० इ० ला०	हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक
हि० इ० लि०	हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर
हि० पा० लि०	हिस्ट्री आफ पाली लिटरेचर
हि० सं० लि०	हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर
है० स्क० इ० म्यु० क०	हैण्डबुक आफ स्कल्पचर इन इण्डियन म्युजियम, कलकत्ता

नोट—जहाँ जहाँ पर डा० विद्याभूषण तथा डा० विण्टरनित्स के नाम से 'हिस्ट्री' का संकेत है वहाँ क्रमशः 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक' तथा 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर' का अर्थ समझना चाहिए। डा० वि० च० ला के नाम से संकेतित 'हिस्ट्री' का अर्थ 'हिस्ट्री आफ पाली लिटरेचर' से है।

गुप्त-शासन-प्रणाली

प्राचीन भारत में एक आदर्श मार्ग का शासन-प्रबंध था। उस समय मुख्यतः दो प्रकार की शासन-प्रणाली वर्तमान थी। (१) राजतंत्र शासन तथा (२) प्रजातंत्र शासन। भारतीय समस्त प्राचीन ग्रंथों में महाराजा, राजा तथा नृप आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है जिससे राजतन्त्र शासन की सूचना मिलती है। राजा समस्त देशों का शासन स्वयं करता था और उसे शासन-प्रबन्ध में सहायता देने के लिए मन्त्रि मण्डल होता था। परन्तु प्रजातन्त्र शासन में कुछ विलक्षण बात थी। राज-काज का समस्त प्रबन्ध जनता के हाथ में रहता था। प्रजागण जिसको नियुक्त कर देते थे वही प्रजातन्त्र का मुखिया समझा जाता तथा शासन-प्रबन्ध करता था।

प्रजातन्त्र

जैसा ऊपर कहा गया है कि प्राचीन भारत में दो प्रकार के शासन थे। उस समय राजतन्त्र से प्रजातन्त्र की गणना न्यून न थी। बौद्ध ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि बुद्धदेव से पूर्व काल में भारत में सोलह महाजनपद थे, जिनमें अधिक संख्या प्रजातन्त्रों की थी। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में वृज्जि, भग्ग, कोलिया, कलम व मल्ल आदि प्रजातन्त्र वर्तमान थे जिनकी शासन-प्रणाली बहुत ही उच्च कोटि की थी। उनकी सभ्यता भी उन्नत अवस्था में थी। महाभारत में प्रजातन्त्र के लिए 'गण' शब्द का प्रयोग मिलता है। इसके वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गण शासन अत्यन्त ही शक्तिशाली होता था[१]। वैयाकरण पाणिनि मुनि ने भी गण की बहुत प्रशंसा की है। गण तथा संघ शब्द पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त किये गये हैं[२]। प्रजातन्त्र शासन का वैभव काल ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी (ईसा पूर्व) तक ज्ञात होता है। इस काल में अनेक शक्तिशाली तथा प्रतापी प्रजातन्त्रों की स्थिति ज्ञात होती है। ग्रीक ऐतिहासिकों के वर्णन से स्पष्ट पता चलता है कि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में बहुत प्रजातन्त्र शासन वर्तमान था। पटल, क्षुद्रक, मद्रक तथा वृज्जिक अपने सैनिक बल के लिए विख्यात थे। पञ्जाब प्रान्त में स्थित प्रजातन्त्रों ने ग्रीक आक्रमणकारी सिकन्दर के प्रवाह को रोका था। परन्तु प्रायः अधिक प्रजातन्त्र मौर्य साम्राज्य में विलीन हो गये। ईसा पूर्व १५० से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी के मध्य काल में भी प्रजातन्त्रों की संख्या पर्याप्त मात्रा में थी। इस समय में भी अनेक प्रजातन्त्र प्रसिद्ध थे। उज्जैन के क्षत्रप शासक रुद्रदामन के जूनागढ़ के लेख में (ई० स० १५०) कुछ नाम मिलते हैं[३]। परन्तु गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में अनेक प्रजातन्त्रों के नाम मिलते हैं जिनको समुद्रगुप्त ने परास्त किया

---

१. महाभारत—शान्तिपर्व १—३२।

२. अष्टाध्यायी—४. २. ५२ [[illegible]]।

३. ए० इ० भा० ८ पृ० ३६।

था[१]। अतएव इन लेखों के आधार पर यह प्रकट होता है कि ईसा की तीसरी शताब्दी तक प्रजातन्त्र शासन भारत में सुचारु रूप से प्रचलित था। इन प्रजातन्त्रों के नाश करने का अपयश गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के नाम सम्बन्धित किया जाता है। इतिहास के अध्ययन से यह सत्य भी प्रकट होता है। तीसरी शताब्दी के पश्चात् प्रजातन्त्र शासन का अभाव हो गया। इनका प्राचीन गौरव, शक्ति तथा सुन्दर शासन-प्रबन्ध समय के कराल मुख में विलीन हो गया। राज्य विस्तार के महत्त्व की आकांक्षा करनेवाले राजाओं ने यही उचित समझा कि प्रजातन्त्रों के नाम को इस देश से सदा के लिए मिटा दिया जाय। यही हुआ जो स्वाभाविक था। प्रजातन्त्रों में पुरानी शक्ति का सञ्चार न था अतएव उनको वीर योद्धाओं के सम्मुख पराजित होना पड़ा। अभिलाषी नरेशों ने उन प्रजातन्त्र प्रदेशों को अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

राजतन्त्र

प्रजातन्त्रों के साथ-साथ प्राचीन भारत में राजतन्त्र शासन भी वर्तमान थे। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में भारत में एक बृहत् साम्राज्य की स्थापना हुई। मौर्यवंशी कुमार चन्द्रगुप्त ने आचार्य चाणक्य की सहायता से समस्त भारत पर मौर्य साम्राज्य की नींव डाली। चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र अशोक ने प्रारंभ में राज्य विस्तार की अभिलाषा से कलिंग को जीतकर मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। परन्तु बौद्धधर्म की ओर अधिक झुकाव होने के कारण उसका 'भेरी-घोष' 'धम्मघोष' के रूप में परिणत हो गया। यही कारण है कि अशोक पैतृक साम्राज्य का विस्तार न कर सका।

मौर्यों के पश्चात् शुङ्गों का राज्य भी अधिक सीमित न था। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में दक्षिण भारत में आन्ध्र राज्य की स्थापना हुई। आन्ध्र-नरेश कई शताब्दियों तक दक्षिण में शासन करते रहे। ईसा की प्रथम शताब्दी में भारत के उत्तर-पश्चिम में कुषाण राजा कनिष्क ने एक साम्राज्य स्थापित किया। इसकी राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी। कुषाण साम्राज्य पूर्व में बनारस तथा पश्चिम में चीनी तुर्किस्तान तक विस्तृत था। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि प्रजातन्त्रों के साथ-साथ भारत में विस्तृत साम्राज्य भी स्थापित थे। इस राजतन्त्र शासन के माननेवाले गुप्तों ने भी ईसा की तीसरी शताब्दी में एक बृहत् साम्राज्य स्थापित किया था। सम्राट् समुद्रगुप्त ने दिग्विजय कर समस्त भारत पर विजय प्राप्त किया था। इसकी भिन्न-भिन्न नीति होने के कारण गुप्त-साम्राज्य केवल उत्तरी भारत में ही स्थित रहा। इस साम्राज्य का प्रत्येक अंग आदर्श मार्ग का था। गुप्तों की शासन-प्रणाली अनुकरणीय थी। इसी आदर्श प्रणाली के वर्णन करने का प्रयत्न किया जायगा।

गुप्त-प्रणाली

गुप्त सम्राटों के लेखों तथा चीनी यात्री फ़ाहियान के यात्रा-विवरण से गुप्त-कालीन शासन पद्धति का बहुत कुछ पता लगता है। यद्यपि उस यात्री (फ़ाहियान) ने राजा का नाम तथा अनेक आवश्यक बातों का उल्लेख नहीं किया है परन्तु गुप्तों के शासन-प्रबंध का जो चित्र उसने खींचा है वह हृदयग्राही है। फ़ाहियान लिखता है "प्रजा प्रभूत तथा सुखी है। व्यवहार

१. प्रयाग की प्रशस्ति।

की लिखा-पढ़ी और पंच पंचायत कुछ भी नहीं है। लोग राजा की भूमि जोतते हैं और उपज का अंश देते हैं। जहाँ चाहे जायँ, जहाँ चाहे रहें। राजा न तो प्राण-दण्ड देता और न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी को अवस्थानुसार उत्तम साहस या मध्यम साहस का अर्थ-दण्ड दिया जाता है। बार-बार दस्युता करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतिहार व सहचर वेतनभोगी हैं। सारे देश में न कोई अधिवासी जीवहिंसा करता है न मद्य पीता है और न लहसुन-प्याज़ खाता है। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते तथा मांस बेचते हैं।"[1]

चीनी यात्री फ़ाहियान के उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट प्रकट होता है कि गुप्त-सम्राटों की छत्रछाया में समस्त देश में 'राम-राज्य' की सी सुख-शांति तथा वैभव विराजमान था। राज सर्वप्रिय था। प्रजा पर कोई कठोर अंकुश नहीं रखता और शांतिमय उपायों से काम लेता था। कोई किसी की स्वतंत्रता में बाधा नहीं डाल सकता था। प्रजा भी नागरिकों के उच्च आदर्श को जानती थी। उनमें सद्व्यवहार की मात्रा पर्याप्त रूप में वर्तमान थी। अपराध कम संख्या में होते थे अतएव राजनियम भी सरल थे। देश में अपार सम्पत्ति थी। अतः प्रजा सब प्रकार से सुखी थी। सर्वत्र पूर्ण शांति का राज्य था। फ़ाहियान को सहस्रों मील की यात्रा में डाकू या ठग कहीं नहीं मिले। राजा का ध्यान प्रजा के हित तथा सार्वजनिक कार्य में सर्वदा संलग्न रहता था। निर्धनों को अन्न, वस्त्र और औषधालयों में रोगियों को दवा निःशुल्क वितरण की जाती थी। गुप्तों के समय में राजधर्म का हिन्दू आदर्श पूर्णरूप से चरितार्थ हो रहा था। फ़ाहियान ने गुप्त-साम्राज्य के शासन-प्रबंध का जो विवरण दिया है, उसकी यथार्थता का प्रमाण गुप्त-कालीन लेखों से मिलता है। कुछ लेख ऐसे भी मिले हैं[2] जो सर्वथा शासन-व्यवस्था के द्योतक हैं।

गुप्त-कालीन शासन-व्यवस्था बहुत ही उच्च कोटि की थी। समस्त राज्य (देश या मण्डल) शासन के सुप्रबंध के लिए मुख्यतः चार भागों में विभक्त था—(१) केन्द्रीय शासन, (२) भुक्ति (प्रांत) शासन, (३) विषय (ज़िला) शासन, (४) ग्रामशासन,

चार मुख्य शाखाएँ

इन चारों शाखाओं का प्रबंध अधिक अंशों में पृथक्-पृथक् स्वतंत्र रूप से चलता था परन्तु आपस में एक दूसरे से सम्बद्ध तथा शासित थी। इनका पृथक् विवरण ही समस्त जटिल प्रश्नों को सुलझायेगा, अतएव प्रत्येक का वर्णन क्रमशः किया जायगा।

(१) केन्द्रीय व्यवस्था

केन्द्रीय शासन से उस पद्धति का तात्पर्य है जो राजधानी में शासनकर्त्ता से सम्बद्ध थी। राजा अमात्यों की सहायता से शासन करता था। मनु ने उल्लेख

---

१. फ़ाहियान का यात्रा विवरण।

२. [illegible] पृ० ११३।

किया है कि राजा को अकेले प्रबन्ध नहीं करना चाहिए[१]। अतएव राजनीति के आदर्श मार्ग पर चलनेवाले गुप्त नरेशों ने मन्त्रियों की सहायता लेनी अनिवार्य समझी। प्राय: सभी राजनीति-शास्त्रों में इस नीति को प्रतिपादित किया गया है[२]। मन्त्रि-मण्डल के होते हुए भी राजा सर्वदा शासन की बागडोर अपने हाथ में रखता था। राज-काज का सारा भार मन्त्रियों तथा अमात्यों पर ही नहीं छोड़ देता था। यदि शासकों की दिनचर्या पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट प्रकट होता है कि राजा प्रतिदिवस राजकार्य के समस्त विभागों का—शासन, आय-व्यय, न्याय, आर्थिक दशा, सेना, अन्तर्राष्ट्रीय तथा सार्वजनिक—निरीक्षण करता था। इसके अतिरिक्त विद्वानों से वार्तालाप तथा स्वयं पठन-पाठन करता था। नृत्य तथा गान सुनना भी उसकी दिनचर्य्या का एक अङ्ग था[३]। इस कार्य के अतिरिक्त राजा के काम से रहित, उत्साहयुक्त, विनीत, दया-युक्त, बुद्धिमान, क्रोधरहित, धीरता तथा वीरता आदि गुणों का वर्णन मिलता है[४]। उसको अपने भोजन आदि न्यून बातों में भी सचेत रहना चाहिए[५]। स्वयं सहसा किसी पर विश्वास न करे परन्तु अपने में समस्त कर्मचारियों का विश्वास उत्पन्न करे[६]। इन सब बातों से यह विदित होता है कि अमात्यगण केवल राजा की सहायता तथा मन्त्रणा देने के लिए नियुक्त किये गये थे। राजा यात्रा में भी स्वयं राज-काज का

---

१. अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।—मनु० ७।५५

२. तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम्।
  स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च।—मनु० ७।५६
  स मन्त्रिणः प्रकुर्वीत प्राज्ञान्मौलास्थिरान् शुचीन्।
  तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ ततः स्वयम्।—याज्ञ० १।३१२
  तत्प्रतिष्ठः स्मृतो धर्मो धर्ममूलश्च पार्थिवः।
  सह सद्भिरतो राजा व्यवहारान्विशोधयेत्।- नारद सभाप्र० ६।

३. कृतरक्षः समुत्थाय पश्येदायव्ययौ स्वयम्।
  व्यवहारांस्ततो दृष्ट्वा स्नात्वा भुञ्जीत कामतः।—याज्ञ० १।३२७
  हिरण्यं व्यापृतानीतं भाण्डागारेषु निक्षिपेत्।
  पश्येच्चारांस्ततो दूतान्प्रेषयेन्मन्त्रिसङ्गतः। ,, १।३२८
  ततः स्वैरविहारी स्यान्मन्त्रिभिर्वा समागतः।
  बलानां दर्शनं कृत्वा सेनान्या सह चिन्तयेत्। ,, १।३२९
  सन्ध्यामुपास्य शृणुयाच्चाराणां गूढभाषितम्
  गीतनृत्यैश्च भुञ्जीत पठेत्स्वाध्यायमेव च। ,, १।३३०

४. महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः।
  विनीतः सत्त्वसम्पन्नः कुलीनः सत्यवाक् शुचिः। ,, १।३०९
  धार्मिकोऽव्यसनश्चैव प्राज्ञः शूरो रहस्यवित्। ,, १।३१०

५. [illegible] ७।६-२७

६. वही—[illegible]

सञ्चालन किया करता था; कोई भी व्यक्ति उसके कार्य में हस्तक्षेप करने का साहस नहीं कर सकता था। गुप्त-नरेश चक्रवर्ती राजा थे। लेखों में उनका विरुद 'महाराजाधिराज', 'परमेश्वर'[1], 'सम्राट्'[2], परमदैवत[3] तथा चक्रवर्तिन[4] आदि मिलता है। इस साम्राज्य का अस्तित्व अनेक राज्यों के सङ्गठन से विद्यमान था। गुप्त नरेशों की प्रभुता सर्वत्र व्याप्त थी। लेखों में चारों समुद्र पर्यन्त यश-विस्तार का वर्णन मिलता है[5]। गुप्त-सम्राटों ने अपनी समस्त प्रजा को आदर्श प्रणाली पर चलने तथा स्वधर्म में सीमित रहने का मार्ग दिखलाया[6]। वे निश्चित रूप से समझते थे कि प्रजा के सुखी होने पर राजा भी सुखी होता है, उसकी कीर्ति बढ़ती है तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है[7]। इस प्रकार गुप्त नरेश अपने साम्राज्य का शासन-प्रबन्ध सुचारु रूप से करते थे।

सामंत या महाराजा

चक्रवर्ती नरेश के अधीन अनेक छोटे-छोटे सामंत रहा करते थे। उनकी पदवी 'महाराज' का भी उल्लेख मिलता है। इन सामंतों की आभ्यन्तर नीति पर चक्रवर्ती राजा का कोई अंकुश नहीं रहता था। सामंत अपने राज-काज में स्वतंत्र रहते परन्तु उस बड़े शासक की छत्रछाया के अन्दर तथा आज्ञा के अनुकूल आचरण करना पड़ता था। गुप्त सम्राट् भी अपने अधीनस्थ शासकों से इसी प्राचीन नीति के अनुसार व्यवहार करते थे। समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के राज्यों को जीतकर उन्हीं राजाओं को लौटा दिया तथा अनेक भ्रष्ट राज्यों की उसने पुनः स्थापना की। अनेक गण-राज्य भी उसके प्रभुत्व को स्वीकार कर स्वतन्त्र रूप से शासन करते रहे। उन्होंने राजमुद्रा से अङ्कित गुप्त फ़रमान को स्वीकार किया था[8]। सामन्त नरेशों में भी कई श्रेणियाँ थीं। साधारण सामन्त से विशेष अधीनस्थ शासक महाराज या महासामन्त कहे जाते थे। इनके लेखों में भी 'पादानुध्यातो' (पैरों का अनुयायी) विशेषण प्रयुक्त मिलता है जिससे इनकी अधीनता का परिचय मिलता है। गुप्त-सम्राटों के अधीनस्थ बुन्देलखण्ड के परिव्राजक तथा उच्चकल्प शासक थे जिनके अनेक लेख उस प्रान्त में मिले हैं[9]। इन लेखों में गुप्तों की अधीनता-सूचक

---

१. का० इ० इ० भा० ३ नं० ४६।

२. वही—३३।

३. दामोदरपुर ताम्रपत्र।

४. गु० ले० नं० ३९।

५. 'चतुरुदधिसलिलास्वादितयशसः।'—फ्लीट—गु० ले० नं० ४, १०, १३; करमदण्डा का लेख—ए० इ० भा० १०।

चतुरुदधिजलान्तां स्फीत पर्यन्त देशाम्—जूनागढ़ का लेख; गु० ले० नं० १४।

६. स्वधर्माच्चलितान्राजा विनीय स्थापयेत्पथि।—याज्ञ० १।३६१।

७. प्रजासुखे सुखी राजा तद्दुःखे यश्च दुःखितः।
स कीर्तियुक्तो लोकेऽस्मिन् प्रेत्य स्वर्गे महीयते।—विष्णु ३।७०।

८. 'गरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासनयाचना'—प्रयाग की प्रशस्ति गु० ले० नं० १।

९. का० इ० इ० भा० ३ नं० २२, २३, २५।

'गुप्तनृपराज्यभुक्तौ श्रीमति प्रवर्धमानविजयराज्ये' वाक्य का उल्लेख मिलता है[१]। ये सामन्त नरेश चक्रवर्ती गुप्त नरेशों की सहायता करते तथा अवसर पर उनकी राजसभा में उपस्थित होकर उस राजा के वैभव व प्रभुता की सूचना देते थे। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने वर्णन किया है कि हर्षवर्धन की सभा में वलभी तथा कामरूप के राजा उपस्थित रहते थे[२]।

अमात्य तथा मन्त्रिगण

राजा की सहायता के लिए अमात्य तथा मन्त्री नियुक्त किये जाते थे। राजा तथा मन्त्रिगण की सम्मिलित रूप से एक राजसभा (Council of ministers) होती थी। शासनकर्त्ता उसका प्रधान होता था और प्रत्येक विभाग का मुखिया या मुख्य अधिकारी एक-एक सभासद (मन्त्री) होता था, जिनपर उस विभाग का समस्त भार रहता था। गुप्त लेखों में प्रत्येक पदाधिकारी की पदवी भिन्न भिन्न मिलती है। समयानुसार एक ही पदाधिकारी एक से अधिक विभागों का कार्य-सञ्चालन करता था। प्रयाग का प्रशस्तिकार हरिषेण समुद्रगुप्त के शासन-काल में तीन पदों—अन्तरराष्ट्रीय मन्त्री, कुमारामात्य तथा न्यायकर्त्ता—को सुशोभित करता था[३]।

आदर्श हिन्दू राजा के शासन-प्रबंध में सहायता करने के लिए अमात्यों का विद्वान्, न्यायी तथा अन्य विशिष्ट गुणों से युक्त होना अत्यन्त आवश्यक होता था। प्राचीन नीतिकारों ने भी मन्त्रियों के गुणों का वर्णन करते हुए उन्हें पवित्र, विचारशील, विद्वान्, सत्यवादी, न्यायप्रिय, पक्षपातरहित, वीर तथा कुलीन होना राज-प्रबन्ध के योग्य बतलाया है[४]। स्मृतिकारों का कथन है कि इन गुणों के साथ यदि अमात्य परम्परागत मन्त्रिकुल का हो तो अधिक उपयोगी होता है। यदि गुप्त लेखों का अध्ययन किया जाय तो स्मृतियों में उल्लिखित आदर्श-मार्ग की अक्षरशः पुष्टि होती है कि गुप्त सम्राट् उस नीति का सुचारु रूप से पालन करते थे। गुप्त सम्राट् भी विद्वान् तथा योग्य व्यक्ति को मन्त्री के पद पर नियुक्त करते थे। प्रयाग की प्रशस्ति का लेखक हरिषेण समुद्रगुप्त के समय में न्यायाधीश, सान्धि-विग्रहिक तथा कुमारामात्य था। इन तीन

---

१. गु० ले० नं० २५।

२. मुकर्जी—हर्ष, पृ० ४४,४८।

३. महादंडनायक ध्रुवभूतिपुत्रस्य सान्धिविग्रहिक-कुमारामात्य-महादंडनायक-हरिषेणस्य फ्लीट—गु० ले० नं० १।

४. मौलाञ्छास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान्कुलोद्गतान्।
सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्।—मनु० ७।५४।
स मन्त्रिणः प्रकुर्वीत प्राज्ञान्मौलान्स्थिराञ्छुचीन्।
तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ ततः स्वयम्।—याज्ञ० १।३१२।
धर्मशास्त्रार्थकुशलाः कुलीनाः सत्यवादिनः।
समाः शत्रौ च मित्रे च नृपतेः स्युः सभासदाः॥—नारद० सभाप्रकरण ५।

पदों पर होते हुए वह बहुत बड़ा संस्कृत का विद्वान् लेखक तथा कवि था[1]। चन्द्रगुप्त द्वितीय का सान्धि-विग्रहिक वीरसेन व्याकरण, साहित्य, न्याय तथा लोकनीति का प्रगाढ़ विद्वान् था[2]। इसी नरेश ने अम्रकार्दव नामक व्यक्ति को अपना अफ़सर बनाया था जिसने अनेक युद्धों में विजयी होकर यश प्राप्त किया था[3]। गुप्त-काल में मन्त्रियों का पद वंशानुगत भी होता था। उदयगिरि के गुहा-लेख में चन्द्रगुप्त द्वितीय के मन्त्री वीरसेन के लिए 'अन्वय-प्राप्तसचिवो व्यापृतसन्धिविग्रहः' (जिसने क्रमागत मन्त्री के पद को प्राप्त किया) का उल्लेख मिलता है[4]। कुमारगुप्त का मन्त्री पृथिवीषेण चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के मन्त्री शिखरस्वामी का पुत्र था[5]। इन लेखों से क्रमागत मन्त्रिपद का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। क्रमागत मन्त्रित्व से लाभ इतना होता है कि मन्त्री का कुल राजवंश के साथ उत्थान-पतन या सुख-दुःख में सर्वदा संबद्ध रहता है। परन्तु गुप्तों के समय में ऐसा कोई नियम नहीं था।

शास्त्रकारों ने शान्त तथा एकान्त स्थान में मन्त्रणा करने का निर्देश किया है। इस नीति का पालन करने से राजा का भेद सर्वत्र प्रकट नहीं हो सकता तथा वह निर्विघ्न रूप से शासन कर सकता है[6]। गुप्त सम्राट् इस आदर्श प्रणाली के अनुसार मन्त्रियों की सहायता से राज-काज करते थे। मन्त्रि-सभा के कारण राज्य-प्रबन्ध सुचारु रूप से होता था। राजा तथा अमात्यों के साहाय्य से गुप्तकालीन शासन-व्यवस्था सुसङ्गठित थी। अब राजसभा के पृथक्-पृथक् पदाधिकारियों का वर्णन करने का प्रयत्न किया जायगा।

प्राचीन भारतीय शासन-प्रणाली में पुरोहित का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था[7]। परन्तु गुप्त मन्त्रि-मण्डल में इस नाम के अमात्य का अभाव प्रतीत होता है।

पुरोहित

गुप्त-समय में पुरोहित के स्थान पर एक पदाधिकारी की नियुक्ति हुई थी जो धार्मिक तथा आचरण-सम्बन्धी बातों का निरीक्षण करता था। अशोक के धर्ममहामात्र[8] तथा आंध्रों के शमन-महामात्र[9] से इसकी समता

---

१ गु० ले० नं० १।

२. शब्दार्थन्यायलोकज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः। फ्लीट—गु० ले० नं० ६।

३. अनेकसमरावाप्तविजययशस् पताकः —गु० ले० नं० ५।

४. फ्लीट—गु० ले० नं० ६।

५. श्रीचन्द्रगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्य शिखरस्वाम्यभूत्तस्य पुत्रः पृथिवीषेणो महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्यो।—कर्मदण्डा की प्रशस्ति (ए० इ० भा० १०)।

६. गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः।

अरण्ये निःशलोके वा मन्त्रयेदविभावितः।— मनु० ७।१४७।

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।

स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोशहीनोऽपि पार्थिवः। — वही ७।१४८।

७. अर्थशास्त्र १।१०; कामन्दक ४।३२।

८. अशोक की लिपियाँ—प्रस्तर-लेख नं० ५।

९. नासिक की प्रशस्ति, इ० ए० भा० ८ पृ० ६१।

की जा सकती है। गुप्त नरेशों के काल में वैशाली की एक मुहर पर खुदा मिलता है जिसमें 'विनयस्थितिस्थापक' उल्लिखित है[१]। मन्त्रि-मण्डल में पुरोहित की प्रथा गुप्तों के पश्चात् भी प्रचलित थी। यहाँ तक कि चेदि-नरेशों के लेखों में धर्म-प्रधान तथा महापुरोहित शब्द उल्लिखित हैं[२]। इन सब बातों से प्रकट होता है कि पुरोहित या पण्डित नामक पदाधिकारी का स्थान अमात्यों में कम महत्त्व का नहीं था।

राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने के लिए अन्तरराष्ट्रीय विभाग एक आवश्यक अङ्ग समझा जाता है। गुप्तकाल में भी ऐसी व्यवस्था थी तथा अन्तरराष्ट्रीय विभाग स्थापित किया गया था। इस विभाग के मुख्य पदाधिकारी का नाम 'सान्धिविग्रहिक' था। वही अन्तरराष्ट्र की नीति में राजा से मन्त्रणा करता तथा यह स्थिर करता था कि किस देश से मित्रता या युद्ध करना चाहिए। गुप्त-लेखों में इस विभाग पर स्थित हरिषेण तथा वीरसेन आदि विद्वानों का नामोल्लेख मिलता है[३]। इस विभाग में 'दूत' नामक एक कार्यकर्त्ता नियुक्त होता था जो अन्य राज्यों में राजदूत का कार्य सम्पादन करता था[४]। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल में कालिदास राजदूत बनकर कुन्तलेश की राजसभा में गये थे[५]।

अन्तरराष्ट्रीय विभाग

राज्य को सुरक्षित रखने तथा शत्रुओं के आक्रमण से बचाने के लिए सेना की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। प्राचीन काल में साधारणतया चार प्रकार—हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल—की सेना होती थी। इनकी आवश्यक सामग्री एकत्र करने के लिए तथा अन्य सेना-सम्बन्धी व्यवहार का निरीक्षण करने के लिए एक विभाग होता था जिसके पदाधिकारी को 'रणभाण्डागारिक' कहते थे। गुप्त लेखों में इसका नाम मिलता है[६]। आधुनिक काल में इस विभाग को अँगरेज़ी में कमसरियेट (Commissariat) कहते हैं। ये समस्त बातें प्रत्येक राज्य के लिए आवश्यक थीं। गुप्त साम्राज्य ऐसे विस्तृत राज्य में इन बातों की आवश्यकता विशेष मात्रा में होगी। सेना के सब से बड़े पदाधिकारी को महासेनापति कहते थे। सेनापति का पद इससे छोटा होता था। इसी के सदृश महाबलाधिकृत या महाबलाध्यक्ष शब्द भी प्रयोग में आते थे[७]। बलाधिकृत सम्भवतः सैनिकों की नियुक्ति करता था[८]। सेनापति के समान ही बलाध्यक्ष का पद था। हाथियों का नायक 'कटुक[९]' तथा घुड़सवारों

सेना

१. आ० स० रि० १९०३-४ पृ० १०१।

२. कुम्भी प्लेट (विजयसिंह) जे० ए० एस० बी० भा० ३१ पृ० ११६।

३. फ्लीट—गु० लें० नं० १ व ६ (प्रयाग व उदयगिरि की प्रशस्ति)

४. दूतान्प्रपयेन्मन्त्रिसङ्गतः।—याज्ञ० १।३२८।

५. कौंतलेश्वर दौत्य।

६. रणभाण्डागाराधिकरण (वैशाली की मुहर) आ० स० रि० १९१३-१४।

७. गु० लें० नं० ३०, २८।

८. बलाधिकरणस्य (वैशाली की मुहर) आ० स० रि० १९१३-१४।

९. हर्षचरित पृ० २२८ (बम्बई से सम्पादित)।

का प्रधान 'भटाश्वपति'[1] कहलाता था। 'बृहदश्वाल' घोड़ों की देखभाल करता था। राजा सेना तथा निज कार्य के लिए रथ का निर्माण करता था[2]। मानसार में घोड़ों तथा हाथियों के रखने योग्य सुदृढ़ गृहों का वर्णन मिलता है[3]। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में वर्णन मिलता है कि उस समय परशु, शर, अंकुश, शक्ति, तोमर, भिन्दिपाल, नाराच आदि अनेक अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग युद्ध में किया जाता था[4]। इन हथियारों के रखने के लिए शस्त्रागार का उल्लेख मानसार में मिलता है[5]। सेना की एक छोटी टुकड़ी को 'चमूप' कहते थे। गुप्त लेखों में साधारण सैनिक के लिए 'चाट' शब्द का प्रयोग मिलता है। चाट जिस स्थान पर जाते वहाँ के लोगों को उनका व्यय देना पड़ता था[6]।

राजा शत्रुओं से बचने के लिए अपने नगर की क़िलाबन्दी कर देता था। वह दुर्ग चारों तरफ़ खाई व जल से घिरा रहता था। वह पर्याप्त रूप से दृढ़ बनाये जाते थे कि सरलता से शत्रु आक्रमण नहीं कर सकता था[7]।

प्राचीन समय में न्यायालयों का बहुत ही उच्च स्थान था। न्याय का विधान पक्षपात रहित होता था, जिसका वर्णन नीति तथा स्मृति ग्रन्थों में सुन्दर रूप से मिलता है।

न्याय

न्यायालय चार प्रकार के होते थे :—

(१) राजा का न्यायालय, (२) पूग, (३) श्रेणि तथा (४) कुल। ये क्रमशः न्यून श्रेणी के थे[8]। बृहस्पति का कथन है कि अचल (Stationary), चल (Movable), शासक द्वारा नियुक्त न्यायकर्त्ता, तथा स्वयं राजा का—ये चार प्रकार के न्यायालय थे। अचल प्रकार के न्यायालय का स्थान ग्राम या नगर में तथा राजा का राजधानी में स्थित था[9]। प्रत्येक न्यायालय अपनी सीमा में स्वतन्त्र था। एक न्यायालय

---

१. भटाश्वपति यज्ञवत्सस्य—आ० स० रि० १९१३-१४।

२. आचार्य सम्पादित मानसार अ० ४३।

३. वही ११। १३९।

४. प्रयाग का लेख—फ्लीट, का० इ० इ० भा० ३ नं० १।

५. मानसार अ० ३२। ६९; ४०। ९३।

६. गु० ले० नं० २३, २६, २८, २९।

७. मानसार अ० १०। ७९-११०।

८. नृपेणाधिकृता पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्।—याज्ञ० २।३०
कुलानि श्रेणयश्चैव गणाश्चाधिकृतो नृपः।
प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तरम्।—नारद० १।७

९. प्रतिष्ठिता प्रतिष्ठिता मुद्रिता शासिता तथा।
चतुर्विधा सभा प्रोक्ता सभ्याश्चैव तथाविधाः॥
प्रतिष्ठिता पुरे ग्रामे चला नाम प्रतिष्ठिता
मुद्रिताध्यक्षसंयुक्ता राजयुक्ता च शासिता।—बृह० स्मृति १।१-२।

की अपील उससे ऊँचे वाले में हो सकती थी। परन्तु अन्तिम निर्णय राजा के समीप ही होता था। यदि उस न्यायालय में पराजित दल अपराधी नहीं ठहरता तो राजा न्याय-सदस्यों को दण्ड देता था और सच्चे अपराधी पर मुक़दमा चलाता था[१]। न्यायाधीश गम्भीर विद्वान् हुआ करता था। गुप्त काल में भी न्याय की सीमा अपनी पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी। नीति के अनुसार न्यायालयों में बड़े विद्वान् पण्डित न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होते थे। ये विद्वान् धर्मशास्त्रों के आधार पर न्याय करते थे। दो स्मृतियों के विरोध में समाज में प्रचलित व्यवहार के अनुसार ही न्याय करना श्रेष्ठ समझा जाता था[२]। समुद्रगुप्त के समय में कवि हरिषेण ने इस पद को सुशोभित किया था[३]। पुरातत्त्ववेत्ता जायसवाल महोदय का मत है कि गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का मन्त्री शिखरस्वामी बहुत बड़ा न्याय का पण्डित था। इसी ने 'कामन्दक नीतिसार' नामक नीतिग्रन्थ की रचना की थी[४]। गुप्त लेखों तथा वैशाली की मुहरों में दण्डनायक, महादण्डनायक, सर्वदण्डनायक तथा महासर्वदण्डनायक, न्याय-विभाग के भिन्न-भिन्न पदाधिकारियों की पदवियाँ थीं[५]। बहुत सम्भव है कि महासर्वदण्डनायक सबसे बड़ी अदालत का न्यायाधीश (जज) हो तथा अन्य छोटी-छोटी अदालतों के पदाधिकारी (सब जज) हों। यह असम्भव नहीं कि किसी अवसर पर राजा भी न्यायाधीश के आसन को पवित्र करता था[६]। स्मृतिकारों ने वर्णन किया है कि राजा न्याय तथा दण्ड से सबको अपनी सीमा में रखता था[७]। धार्मिक राजा देश, काल तथा पात्र का विचार कर दण्ड निर्धारित करता था[८]।

आधुनिक काल की तरह प्राचीन समय में भी न्यायालयों में प्रमाण (गवाही) की आवश्यकता होती थी जिसकी सहायता से न्यायाधीश मुक़दमे का फ़ैसला करते थे।

---

१. दुर्दृष्टांस्तु पुनर्दृष्ट्वा व्यवहारान्नृपेण तु ।
सभ्याः सजयिनो दण्ड्या विवादाद् द्विगुणं दमम् ।—याज्ञ० २।३०५।

२. स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः ।—वही २।२१।

३. प्रयाग की प्रशस्ति—गु० ले० नं० १।

४. जे० बी० ओ० आर० एस० भा० १८ (१९३२)।

५. वैशाली की मुहरें—आ० स० रि० १९१३-१४; गु० ले० नं० ४६।

६. व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह ।
धर्मशास्त्रानुसारेण लोभक्रोधविवर्जितः ।—याज्ञ० २।१।

७. स्वधर्मचलितान्राजा विनीय स्थापयेत्पथि ।—याज्ञ० १।३६१।
संरक्षेत् समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा ।—नारद० १०।२।

८. ज्ञात्वापराधं देशं कालं बलमथापि वा ।
वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ।—याज्ञ० १।३६८।

स्मृतिकारों ने तीन प्रमाणों का प्रयोग न्यायालयों में बतलाया है[1]। इनमें लिखित प्रमाणों के अतिरिक्त मनुष्यों की गवाही (साक्षी) भी देनी पड़ती थी। परन्तु प्रत्येक मनुष्य साक्षी के योग्य न समझा जाता था। दानशील, कुलीन, सत्यवादी, धनवान्, पुत्रवान्, धर्मात्मा आदि पुरुष ही साक्षी देते थे[2]। स्त्री, बालक, वृद्ध, पाखण्डी तथा पागल मनुष्य न्यायालय में गवाही नहीं दे सकता था[3]। इस प्रकार गुप्त-काल में न्याय आदर्श मार्ग तथा नीति के सहारे चलता था। परन्तु गुप्त-शासन में प्रजा अधिक अपराध न करती थी अतएव दण्ड भी सरल थे। प्रायः अर्थदण्ड ही दिया जाता था। चौथी शताब्दी के चीनी यात्री फ़ाहियान ने वर्णन किया है कि प्रजा नागरिक अधिकारों से इतनी विज्ञ थी कि अपराध का नाम ही नहीं था। वह लिखता है, 'व्यवहार की लिखा-पढ़ी और पञ्च पञ्चायत कुछ नहीं है। राजा न प्राणदण्ड देता है और न शारीरिक दण्ड। अपराधी के अवस्थानुसार उत्तम साहस वा मध्यम साहस का अर्थदण्ड दिया जाता है[4]। बार-बार दस्युता करने पर दक्षिण-करच्छेद किया जाता है। उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि यद्यपि तत्कालीन स्मृतियों तथा गुप्त-लेखों से उस समय के न्याय-विभाग का पर्याप्त ज्ञान मिलता है, परन्तु वास्तव में इतने दण्ड-विधान, प्रमाण आदि का प्रयोग कम मात्रा में होता था। ये सब बातें प्रजा की जानकारी के लिए उल्लिखित तथा वर्त्तमान थीं। अधिक अपराधी को ही कठोर दण्ड मिलता था। न्यायालयों के आज्ञानुसार शारीरिक दण्ड देनेवाले को 'दाण्डिक' कहा जाता था। फ़ाहियान के कथनानुसार गुप्त-काल में न्याय का कार्य अत्यन्त सरल रूप में प्रयोग किया जाता था।

फ़ाहियान ने वर्णन किया है कि उस समय (गुप्त-काल में) अपराध बहुत कम होते थे। परन्तु न्यून से न्यून अपराध के लिए राजा को पुलिस विभाग की आवश्यकता होती है। मनु का कथन है कि २, ३ या ५ ग्रामों के लिए एक पुलिस नियुक्त किया जाय[5]। पुलिस के सबसे बड़े अफ़सर को 'दण्डपाशाधिकरण' कहते थे[6]। पुलिस के कई अन्य कर्मचारी भी होते थे। 'दण्ड-

पुलिस विभाग

---

१. प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम् ।— याज्ञ० २।२२ ।
लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् ।— वसिष्ठ० १६।७ ।

२. तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः ।
धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः ।— याज्ञ० २।६८ ।
त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः ।
यथाजाति यथावर्गं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः ॥ याज्ञ० २।६९; वसिष्ठ — १६।२३—२४ ।

३. स्त्रीबालवृद्धकितवमत्तोन्मत्ताभिशस्तकाः ।
रङ्गावतारि पाखण्डि कूटकृद्विकलेन्द्रियाः ।— याज्ञ० २।७० ।

४. फ़ाहियान के कथन की पुष्टि याज्ञवल्क्य के वर्णन से होती है। उसमें भी उत्तम, मध्यम तथा अधम साहस में दण्ड देने का विधान बतलाया है।— याज्ञ० स्मृति १।३६६ ।

५. मनुस्मृति ७।११४ ।

६. बैशाली की मुहर, आ० स० रि० १९०३-४ ।

पाशिक' पुलिस का साधारण सिपाही होता था जो शान्ति-स्थापना में सहयोग करता था। कई लेखों में पुलिस के लिए भाट शब्द मिलता है। सिपाही जिस स्थान पर जाता था वहाँ के निवासी उसका खर्च देते थे[१]। राजा की तरफ़ से 'चौरोद्धरणिक' की नियुक्ति होती थी जो जहाँ कहीं चोरी होती थी वहाँ जाँच किया करता, यद्यपि उस समय चोर-डाकुओं का नाम तक नहीं सुना जाता था। फ़ाहियान को सहस्रों मील की यात्रा में एक भी चोर या डाकू नहीं मिला। ऐसे नीच मनुष्यों की अनुपस्थिति में भी शासन-प्रणाली को पूर्ण बनाने के लिए गुप्तों ने प्रत्येक विभाग के समस्त पदाधिकारियों की नियुक्ति की थी। पुलिस द्वारा चोर या अन्य अपराधी न्यायालय के सम्मुख उपस्थित किया जाता था और उसको अपराध की गुरुता तथा लघुता के अनुकूल अर्थदण्ड दिया जाता था। पुलिस विभाग में ख़ुफ़िया पुलिस वाले भी रहते थे जिनको 'दूत' के नाम से पुकारते थे।

मन्त्रि-मण्डल के इन विभागों के पदाधिकारियों के अतिरिक्त शासन में सहायता करने के लिए अन्य बहुत से राजकर्मचारी नियुक्त किये गये थे जो अपने-अपने विभाग के अधिष्ठाता थे। गुप्त-कालीन लेखों तथा मुद्राओं में इन कर्मचारियों के नाम निम्न प्रकार से मिलते हैं :—

अन्य राजकर्मचारी

(१) सर्वाध्यक्ष—समस्त विभागों का निरीक्षक। (गु० ले० नं० ५५) इस पद पर उच्चवंश के लोगों की ही नियुक्ति होती थी। कभी-कभी राजकुमार भी इस पद को सुशोभित करता था।

(२) भाण्डागाराधिकृत—कोषाध्यक्ष (ए० इ० भा० १२ पृ० ७५) वैशाली की मुहर (आ० स० रि० १९०३-४ पृ० १०८)।

(३) ध्रुवाधिकरण—भूमिकर लेनेवाला। (गु० ले० नं० ३८)

(४) शौल्किक—कर लेनेवाला कर्मचारी। (,, ,, १२)

(५) गौल्मिक—जङ्गलों का अध्यक्ष। (,, ,, १२)

(६) महाक्षपटलिक—लेख (Record) विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी।

(७) पुस्तपाल—सम्भवतः यह महाक्षपटलिक का सहायक होता था।

(८) गोप या तलवाटक—ग्रामों का आय व्यय रखनेवाला। (गु० ले० नं० ४६ पृ० २१७ नोट ८)

(९) अग्रहारिक—दानाध्यक्ष (नं० १२)

(१०) करणिक (आधुनिक रजिस्ट्रार) नं० ५५.

(११) दिविर तथा लेखक—वर्तमान क्लर्क (नं० २७ व ८०)

उपर्युक्त मन्त्रियों की सलाह से राजा शासन करता था तथा वे मन्त्रि-मण्डल के सदस्य होते थे। मन्त्रियों तथा जन साधारण को राजाज्ञा सुनानेवाला 'आज्ञापक'

---

१. फ्लीट—गु० ले० नं० २३,२६,२८,२९।

कहा जाता था। वैशाली (ज़िला मुज़फ़्फ़रपुर) से अनेक मुहरें मिली हैं[1] जो विभिन्न विभागों की हैं तथा भिन्न प्रकार की हैं। इन मुहरों के अध्ययन से यह पता चलता है कि गुप्तकाल में सभी विभागों की पृथक्-पृथक् मुहरें थीं। राजाज्ञा उसी अवस्था में सत्य होती थी जब उस पर सरकारी मुहर तथा राजा का हस्ताक्षर होता था[2]। गुप्त सम्राटों के सन्धि-पत्रों तथा सनदों पर 'गरुड़' का चिह्न होता था[3]। राजाज्ञा सुनाने के लिए आज्ञापक के सदृश दूतक भी होता था। इसी कारण दूतक को राजा का मुख कहते थे।

राजाज्ञा

राजा तथा रानियों के निवासस्थान को महल या दुर्ग कहा जाता है। राजमहलों के रक्षक को प्रतिहार या महाप्रतिहार कहते थे। वैशाली की मुद्रा में इसके लिए 'विनयशूर' की उपाधि का उल्लेख मिलता है[4]। इसका यह निश्चित कार्य था कि वह सर्वदा राजमहल के मुख्य द्वार पर उपस्थित रहता था। जिस समय कोई व्यक्ति राजा का दर्शन करना या किसी कार्यवश भेंट करना चाहे तो उसका सन्देश राजा के समीप ले जाता था। वह प्रतिहार राजाज्ञानुसार उस आगन्तुक को राजा के सम्मुख उपस्थित करता था। गुप्त लेखों में 'स्थपति-सम्राट्' नामक एक पदाधिकारी का उल्लेख मिलता है, जो महल में स्त्री-विभाग का अध्यक्ष था[5]। महल में स्त्री भी रक्षक का कार्य करती थी[6]। इसका कार्य ठीक ठीक अशोक की प्रशस्तियों में उल्लिखित 'स्त्री अध्यक्ष महामात्र' के समान था[7]। राजा का गुणगान करने के लिए एक चारण (भाट) होता था जिसका नाम लेखों में 'प्रतिनर्तक' मिलता है[8]।

महल

राज्य के प्रत्येक अङ्ग की पूर्ति करने के लिए राजा को दूसरे शासकों से मित्रता अवश्य स्थापित करनी चाहिए। अन्तरराष्ट्रीय विभाग का कर्तव्य होता है कि अमुक व्यक्ति से मित्रता स्थापित करने का विचार करे। इसके बिना शासन की सर्वांग-पूर्ति नहीं होती। गुप्त शासकों से इसकी महत्ता छिपी न थी। उन्होंने भी भिन्न-भिन्न नीति का अवलम्बन कर अनेक राष्ट्रों से मित्रता स्थापित की। सम्राट् समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के राजाओं को परास्त कर छोड़ दिया, इससे वे उसके मित्र थे। इसकी महत्ता तथा विस्तृत प्रताप

मित्र

---

१. आ० स० रि० १९०३-४ पृ० १०७-११० ।

२. मुद्राशुद्धं क्रियाशुद्धं भुक्तिशुद्धं सचिह्नकम् ।
राज्ञः स्वहस्तशुद्धं च शुद्धमाप्नोति शासनम्—ए० इ० भा० ३ पृ० ३०२ ।

३. गरुत्मदङ्क स्वविषय भुक्तिशासन याचना—प्रयाग का लेख गु० ले० नं० १

४. आ० स० रि० १९०३-४ पृ० १०२ ।

५. गु० ले० नं० २६ ।

६. कामन्दक—७।४०-४१ ।

७. अशोक की धर्मलिपियाँ—पन्द्रहवाँ शिलालेख ।

८. गु० ले० नं० ४६ ।

के कारण सुदूर दक्षिण में स्थित सिंहल के राजा ने तथा उत्तर-पश्चिम के शासक कुषाणों ने समुद्रगुप्त से मित्रता की अभिलाषा प्रकट की जिसको गुप्त नरेशों ने सहर्ष स्वीकार किया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी मित्र भाव को बनाये रखने के लिए स्वयं अपना विवाह नागवंश में किया तथा अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय से किया। इस प्रकार गुप्त सम्राट् ने भी शासन को सर्वांग शोभन बनाने के विचार से समस्त राजनीतिक अङ्गों का समावेश किया। नीतिशास्त्र में उपर्युक्त वर्णित समस्त विभागों को शासन-पद्धति के सात अङ्ग या प्रकृति के नाम से पुकारा जाता है[१] जिसका पालन गुप्तों ने सुन्दर ढङ्ग से किया।

वेतन

प्राचीन भारत में राज्य के पदाधिकारियों को दो प्रकार से वेतन दिया जाता था। किसी कर्मचारी को उसकी अवधि तक राजा की ओर से कुछ भूमिभाग वेतन-स्वरूप मिलता था। यदि कोई भूमि पदाधिकारी के सुन्दर तथा श्रेष्ठ कार्य के पुरस्कार में दी जाती थी तो वह सर्वदा उसकी वंश-परम्परा के अधिकार में रहती थी; परन्तु वेतन रूप में दी गई भूमि उस व्यक्ति की अवधि के पश्चात् राजा के अधिकार में ले ली जाती थी। कर्मचारियों को वेतन में हिरण्य या मुद्रा भी मिलती थी। फ़ाहियान के वर्णन से ज्ञात होता है कि 'राजा के प्रतिहार तथा सहचर वेतनभोगी होते थे'[२]। इससे प्रकट होता है कि गुप्तकाल में अधिकतर पदाधिकारियों को वेतन में मुद्राएँ ही दी जाती थीं।

आय

आय

राज्य के सप्ताङ्गों में कोष का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। बिना कोष के राज-काज का सञ्चालन होना असम्भव है। राज्य को सुदृढ़ तथा वैभव-सम्पन्न बनाये रखने के लिए राजा का ख़ज़ाना सर्वदा परिपूर्ण होना चाहिए। कोष ही राजा का मूल (जड़) बतलाया गया है[३]। अतएव कोष को पूर्ण करने तथा राज्य के सुप्रबन्ध के लिए यह आवश्यक है कि राजा प्रजा पर कर (टैक्स) लगावे। राजनीति तथा धर्मग्रन्थों में भी कर लगाने का विधान दिया गया है[४]। यह कर नाममात्र के (भूमि का षष्ठांश, वाणिज्य का दशांश तथा अन्य थोड़े कर) थे[५]। गुप्तों का राज्य एक आदर्श हिन्दू राज्य-तन्त्र था। उन्होंने

---

१. स्वाम्यमात्या जनो दुर्गं कोशो दण्डः तथैव च।
मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्ताङ्गमुच्यते।—याज्ञ० १।३५३।

२. फ़ाहियान का यात्रा-विवरण पृ० ४६।

३. कोषमूलो हि राजेति प्रवादः सार्वलौकिकः।—कामन्दकीय नीतिसार २१।३३।

४. तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः।—मनु० ७।१२९।
तथा वेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान्॥ ,, ७।१२८।

५. दिक्षितर—हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम पृ० २०४।

प्राचीन प्रणाली का अनुसरण किया। उनके समय में राज-कर किसी प्रकार का दण्ड नहीं था। गुप्त-नरेश प्रजाहित के लिए ही कर का संग्रह करते थे[1]। अपने सुख तथा आराम का उन्हें तनिक भी ध्यान नहीं था। नीतिकारों ने इसका आदेश दिया है कि प्रजा से कर सरल मार्ग से ग्रहण करना चाहिए। कर की भी मात्रा अनुमानत: इतनी हो हो जिससे प्रजा नष्ट न हो जाय[2]। इस प्रकार आदर्श राजा प्रजा से कर संग्रह करते थे जिससे शासन-प्रबन्ध हो सके।

राजा की आय कई विभागों से होती थी। सब से अधिक आय भूमि-कर से होती थी, परन्तु अन्य आय के उद्गम-स्थान भी नगण्य नहीं थे। आय के समस्त मूल

आय के उद्गम-स्थान

स्थानों के नाम तत्कालीन स्मृतियों, गुप्त लेखों तथा दानपत्रों में इस प्रकार मिलते हैं—(१) नियमित कर, (२) सामयिक कर (Occasional Tax), (३) अर्थ-दण्ड, (४) राज्य-सम्पत्ति से आय, (५) अधीन सामन्तों से उपहार।

प्राचीन समय में कुछ प्रकार के कर अविच्छिन्न रूप से राजकोष में संग्रह किये जाते थे। वे—नियमित कर—सदा के लिए निश्चित थे जो प्रजा शासक को दिया

(१) नियमित कर

करती थी। नियमित कर भी कई प्रकार से लिया जाता था—(१) उद्रङ्ग—भूमिकर, (२) उपरिकर—भोगकर, (३) भूतोवात-प्रत्याय, (४) विष्टी, तथा (५) अन्य प्रकार के कर।

गुप्त-कालीन लेखों में कर के लिए 'उद्रङ्ग' तथा 'उपरि-कर' शब्द का प्रयोग मिलता है[3]। ये शब्द अर्थशास्त्र तथा स्मृति-ग्रंथों में उल्लिखित भाग और भोग[4]

उद्रङ्ग भूमिकर उपरिकर

कर के द्योतक हैं। इसके प्रमाण-स्वरूप कुछ लेख हैं जिनमें उद्रङ्ग-उपरिकर का प्रयोग न कर भाग भोग-कर का उल्लेख मिलता है[5]। भोग-कर से अनेक छोटे-छोटे टैक्सों का तात्पर्य है जो प्रतिदिन राजा को दिये जाते थे। मनु (८।३०७) ने इसके लिए 'प्रतिभाग' शब्द का प्रयोग किया

---

१. प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।—रघुवंश १।१८।

२. मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम्। महाभारत १२।८८।

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।

उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलमात्मानं तांश्च पीडयेत्॥—मनु० ७।१३९।

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।

मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः।—पराशर १।६७।

३. फ्लीट—गुप्त लेख नं० २३, २५, २८।

४. अर्थशास्त्र ५।२; गौतम १०।२४।२७; मनु ८।१३०।

५. [illegible] २७, २८।

है। लेखों में वर्णित उपरि-कर (कर से ऊपर) से भूमिकर से अतिरिक्त टैक्स का तात्पर्य ज्ञात होता है। अतएव उपरि-कर तथा भोग-कर में समानता प्रकट होती है। फ्लीट महोदय का अनुमान है कि उपरि-कर उस कर का बोधक है जो अस्थायी कृषक पर लगाया जाता था। परन्तु ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर यह स्थिर किया जा सके कि राजा अस्थायी कृषकों पर कोई विशेष कर लगाता था। अतएव उपरि-कर को अस्थायी कृषक पर कर मानना युक्ति-सङ्गत नहीं है। उपरि-कर की समानता भोग-कर के साथ सिद्ध होने पर उद्रङ्ग भाग के सदृश हो जाता है। भाग अर्थशास्त्र तथा स्मृति-ग्रंथों में नियमतः राज्यांश (राजकीय कर) का द्योतक है, इसलिए उद्रङ्ग को भूमिकर कह सकते हैं। प्राचीन समय में भूमिकर हिरण्य के रूप में नहीं दिया जाता था परन्तु कृषक उपज धान्य का निश्चित भाग राजा को भूमिकर के रूप में देते थे। फ़ाहियान ने भी वर्णन किया है कि (गुप्त-काल में) लगान में कृषकगण उपज का कुछ भाग शासक को दिया करते थे।

भूमिकर का परिमाण

लेखों तथा स्मृतियों के आधार पर यह स्पष्ट प्रकट होता है कि राजा उपज का छठाँ भाग भूमिकर के रूप में लेता था[1]। उत्तरी बङ्गाल में स्थित फरीदपुर के ताम्र-पत्र में उल्लेख मिला है कि राजा धान्य का छठा भाग ग्रहण करता था[2]। अतएव इन आधारों पर यह अनुमान किया जा सकता है कि गुप्त-नरेश भी षष्ठांश भूमिकर ग्रहण करते थे। इसी षष्ठांश भाग में दोनों—उद्रङ्ग व उपरि-कर—सम्मिलित थे, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। राजकीय कर उपज पर था, बचत पर नहीं।

कृषि-विभाग

यह ऊपर कहा गया है कि राजा की विशेष आय भूमि-कर से होती थी। अतएव गुप्तों ने कृषि-विभाग को सुसंघटित रूप दिया था। राजा की ओर से कृषि की उन्नति तथा सिंचाई के लिए प्रबन्ध किया गया था। राजा ने कृषि-सम्बन्धी प्रत्येक कार्य के लिए पृथक्-पृथक् पदाधिकारी नियुक्त किये थे। भूमि-कर के संग्रह के लिए 'ध्रुवाधिकरण' था तो भूमि-सम्बन्धी लेखों को सुरक्षित रखने के लिए 'पुस्तपाल', 'महाक्षपटलिक' तथा 'करणिक' नामक पदाधिकारी नियुक्त थे। गुप्त-काल में भूमि का मानचित्र तैयार किया जाता था। उसके आलेख्य-कर्त्ता को 'कर्तृ' या 'शासयितृ' कहते थे। समस्त भूमि नापी जाती थी तथा उसका लेख (Record) रहता था। समस्त मापी हुई भूमि को टुकड़ों-टुकड़ों में विभक्त किया गया था जिसके लिए लेखों में 'प्रत्यय' शब्द का प्रयोग मिलता है[3]। परिमिति (Measure-

---

१. धान्यानामष्टमो षष्ठ द्वादश एव च।—मनु० ७।१३०; षड् भागमितो राजा—व्यवधायन; राज्ञे दत्वा षड् भागं देवानां चैकविंशकम्।—पराशर २।१७।

२. इ० ए० १९१०; जे० ए० एस० बी० १९११।

३. फ्लीट—गु० लें० नं० ३८।

ment) को पादवर्त कहा जाता था[1]। भिन्न-भिन्न आकार के ६०, १०० या १०५ पादवर्त—प्रत्यय होते थे[2]। प्रत्येक भूमि की सीमा निर्धारित की जाती थी तथा सरकारी लेखों में उसका विवरण रक्खा जाता था[3]। भूमि नापनेवाले को 'प्रमातृ' तथा सीमा निर्धारित करनेवाले को 'सीमाकर'[4] या सीमा-प्रदातृ[5] कहते थे। भूमि-सम्बन्धी झगड़ों का निपटारा करने के लिए राजा की ओर से एक पदाधिकारी नियुक्त था जिसे 'न्यायाधिकरण' कहते थे।

कृषि की उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए गुप्त नरेशों ने कुएँ, तालाब तथा नहरों का निर्माण कराया था[6]। सिंचाई से भूमि उर्वरा बनती थी। तालाबों और नहरों से अधिक भूमि सींची जाती थी परन्तु कुएँ से अनुमानतः २८ पादवर्त भूमि ही सींची जा सकती थी।

भूतोवात प्रत्याय

लेखों में उद्रङ्ग तथा उपरिकर के अतिरिक्त 'भूतोवात प्रत्याय' का नाम भी मिलता है, जो किसी न किसी प्रकार के कर का द्योतक था। गुप्त और वलभी लेखों में 'आवातादि प्रत्याय[7]' या 'सवातभूत[8]' शब्द मिलते हैं जो भूतोवात प्रत्याय के अन्य रूप मालूम पड़ते हैं। इसके निश्चित तात्पर्य को समझने में मतभेद है कि भूतोवात प्रत्याय से किस कर का बोध होता था। फ्लीट ने इसका सन्देहात्मक अर्थ किया है[9]। डा० घोषाल का मत है कि यह कर भूतों तथा वात (Wind) के हटाने के निमित्त लगाया जाता था[10]। परन्तु डा० अलटेकर ने इसका समुचित तात्पर्य बतलाया है जिसे मानना युक्तियुक्त ज्ञात होता है। उनका कथन है कि भूतोवात प्रत्याय एक प्रकार का टैक्स (आय) था जो भीतर आनेवाली (प्रति, उपात Imported) तथा उस स्थान पर पैदा होनेवाली (भूत) वस्तुओं पर लगाया जाता था। इस आधार पर इनसे व्यापारिक तथा नशीली चीज़ों पर टैक्स

---

१. फ्लीट—गु० ले० नं० ३८ पृ० १७० नोट ४ (फ्लीट का अनुमान है कि पादावर्त एक वर्ग फुट के बराबर होता था)।

२. गु० ले० नं० ३८; ए० इ० भा० १० नं० ३।

३. वही नं० २४; याज्ञ० २।१५३ (अभावे ज्ञातृचिह्नानां राजा सीम्नः प्रवर्तिता)।

४. ए० इ० भा० १२ पृ० ७५।

५. गु० ले नं० ४६।

६. स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख—(गु० ले० नं० १४);

राज्ञा खानितमद्भुतं सुतपसा पेपीयमानं जलैः।

तस्यैव प्रियभार्यया नरपतेः श्रीकोण्वदेव्या सरः॥

—आदित्यसेन का अफसाद लेख (गु० ले० नं० ४२)।

७. फ्लीट—गु० ले० नं० ३१।

८. वही नं० ३८।

९. वही पृ० १३८, नोट।

१०. हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ० २१७।

(चुङ्गी) का तात्पर्य ज्ञात होता है[१]। गुप्तकालीन नियमित कर में चुङ्गी से जो कुछ भी आय हो परन्तु नशीली चीज़ों पर कर केवल गिनती के लिए (नाममात्र) थी। फाहियान ने वर्णन किया है कि उस समय (गुप्त-काल में) न कोई मद्य पीता था, न समस्त जनपद में कोई सूनागार था और न मद्य की दूकानें थीं[२]। अतएव यह प्रकट होता है कि नशीली वस्तुओं पर टैक्स से गुप्त-नरेशों को बहुत थोड़ी आय होती होगी।

प्रजा से भूमि-कर के अतिरिक्त अन्य मार्ग से भी राजा आय करता था। वह सम्भवतः हिरण्य के रूप में लिया जाता था। गुप्त-लेखों में व्यापारियों तथा शिल्प पर लगाई चुङ्गी को 'शुल्क' का नाम दिया गया था[३]। स्मृति-ग्रन्थों के आधार पर ज्ञात होता है कि राजा विभिन्न व्यापारिक संस्थाओं पर कर (चुङ्गी) आरोपित करता था[४]। गुप्तकाल में भरौच के द्वारा भारत तथा पश्चिमीय देशों में व्यापार की मात्रा बहुत अधिक थी। वाहर से आनेवाली (Import) वस्तुओं पर गुप्तों द्वारा शुल्क लगाना स्वाभाविक था। अतएव चुङ्गी से भी राजा को नियमित रूप से आय थी। स्मृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आय-व्यय तथा लाभ का निरीक्षण कर चुङ्गी का परिमाण स्थिर किया जाता था[५]। भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर विभिन्न परिमाण का शुल्क था। राजा रस, औषधि, शाक, चमड़ा, फल, आदि पर शुल्क लेता था[६]। यदि कोई व्यापारी बिना शुल्क दिये वस्तु-विक्रय करता पाया जाता था तो उसे शुल्क का आठगुना दण्ड देना पड़ता था[७]। इस कारण चुङ्गी के बिना व्यापार-सञ्चालन करना कठिन था।

---

१. डा० अलटेकर—राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स पृ० २२६।

२. फाहियान का यात्रा-विवरण पृ० ४७-४८।

३. फ्लीट—गु० ले० नं० २७।

४. उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं संप्रेक्ष्य चासकृत्।
शिल्पं प्रतिकारानेव शिल्पिनः प्रतिकारयेत्।'—महा० शां० प० ८७।१४।
क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम्।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजो दापयेत् करान्।—मनु० ७।१२७।
शुल्कं स्थानं वणिक् प्राप्तशुल्कं दद्याद्यथोदितम्।
न तद्‌व्यतिहरेद्राजा बलिरेव प्रकीर्तितः।—नारद० –संभूय समुत्थान ३।१२।

५. मनु० ८।४०१।

६. आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम्। गन्धौषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च॥
पत्रशाकं तृणानां च चर्मणां वैदलस्य च।
मृण्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च॥—मनु० ७।१३१–३२

७. मनु० ८।४००।
शुल्कस्थानं परिहरन्नकाले क्रयविक्रयी।
मिथ्योक्ता च परिमाणं दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्।—नारद० ३।१३।

राजा अपने प्रजागण में से कुछ व्यक्तियों से किसी प्रकार का कर (भूमि-कर के सिवा) न लेता था। परन्तु समय पर उनसे शासक बेगार लिया करता था जिसे 'विष्टी' कहते थे। गुप्तकाल में बेगार की प्रथा कहाँ तक प्रचलित थी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। परन्तु स्मृति-ग्रन्थों में इस प्रथा के प्रचार का वर्णन मिलता है। मनु ने बढ़ई तथा शिल्पी की बेगार का उल्लेख किया है[1]। केन्द्रीय शासक को इतना अवकाश नहीं था कि वह समस्त विष्टी का उपयोग करे; अतएव राजा के राज्य में यात्रा के समय इससे लाभ उठाया जाता था। सम्भवतः राजा की ओर से ग्राम का शासक—महत्तर—इसका (बेगार का) सार्वजनिक कार्यों के लिए उपयोग करता था, जिस समय कि ग्राम में कुआँ, तालाब, मन्दिर आदि का निर्माण होता था।

विष्टी = बेगार

इसके अन्तर्गत राजा के द्वारा गृहपशु आदि पर लगाये कर की गणना हो सकती है। वाकाटक लेखों में बैल भैंस पर लगाये कर का वर्णन मिलता है। छठी शताब्दी के चम्मक ताम्रपत्र में गो, बैल, पुष्प, दूध आदि पर लगाये गये कर का उल्लेख मिलता है[2]। गुप्त-नरेशों ने ऐसे कर का आरोपण किया था या नहीं, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। परन्तु वाकाटक लेखों के आधार पर इस प्रकार के कर की स्थिति का अनुमान गुप्तकाल में भी किया जा सकता है।

अन्य कर

दूसरे प्रकार—राजकीय-आय-मार्ग सामयिक कर से था जो समयानुकूल प्रजा पर लगाया जाता था। अनेक गुप्त-लेखों में एक प्रकार के कर का 'चाट भट प्रवेश दण्ड' नाम मिलता है[3]। चाट और भाट का प्रयोग पुलिस तथा सेना के कर्मचारियों के लिए किया जाता था। जब गुप्त-नरेश राज्य में यात्रा के लिए निकलते थे तो उनके साथ पुलिस और सेना अवश्य जाती थी। जिस स्थान पर चाट भाट जाते तथा जिस अवधि तक वहाँ निवास करते थे, उनका समस्त व्यय स्थानीय लोगों को देना पड़ता था; अतएव यह कर 'चाट भट प्रवेश दण्ड' कहलाता था। अग्रहार ग्राम इस कर से मुक्त रहता था।

(२) सामयिक कर

राज्य पर विपत्ति पड़ने के समय भी राजा प्रजा पर विशेष (Additional) कर लगाता था। नीति-ग्रन्थों में इसका वर्णन मिलता है[4]। परन्तु गुप्त-काल में ऐसे कर का उल्लेख नहीं मिलता। आकस्मिक आपत्ति में (सम्भवतः हूणों के गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण के समय) स्कन्दगुप्त ने मिश्रित धातुओं की सोने की मुद्रा चलाई

---

१. कारुकाञ्छिल्पिनश्चैव शूद्रांश्चात्मोपजीविनः।
एकैकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः ॥— मनु० ७।१३८।
अपरम्पार गोबलीवर्द अंदुष्पक्षीर सदोहः।

२. का० इ० इ० भा० ३ पृ० २३८।

३. फ्लीट गुप्त लेख नं० २३, २६, २८, २९।

४. महा० शां० प० ८७ २७-३४; अर्थशास्त्र ५।२।

थी[1]। ताँबे के सिक्कों को रौप्यीकरण से (Silver plated) चाँदी की मुद्रा बनाकर प्रचलित करवाया था। इसके अतिरिक्त अन्य उल्लेख नहीं मिलते।

यह साधारण नियम है कि राजा अपराधी को दण्ड देता है। यह नीति-संगत भी है। प्राचीन भारत में अधिकतर अपराधी को शारीरिक दण्ड न देकर अर्थदण्ड (Fine) किया जाता था। अतएव यह भी शासक की आय का एक मार्ग था। गुप्त-काल में अर्थदण्ड की मात्रा विशेष नहीं थी; क्योंकि फाहियान के कथनानुसार गुप्त-काल में अपराधों की संख्या कम थी। अतएव गुप्त-शासन में अर्थदण्ड की मात्रा नगण्य प्रतीत होती है।

(३) अर्थदण्ड

राज्य के अन्तर्गत बंध्या भूमि, कुछ कृषियोग्य भूमि, जंगल तथा वृक्ष आदि राजकीय सम्पत्ति समझी जाती है। इन वस्तुओं के उपयोग करनेवाले को कर देना पड़ता था। स्मृति-ग्रन्थों में वर्णन मिलता है[2] कि ग्राम की कुछ भूमि गोचर के रूप में छोड़ दी जाती थी जिससे किसी प्रकार की आय न थी। गुप्त-काल में जंगल राजकीय आय का एक मार्ग था जिसका प्रबन्ध 'गौल्मिक' के अधीन रहता था[3]। राज्य के अन्तर्गत राजकीय भूमि के विक्रय से भी आय होती थी। इस स्थान पर यह स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि राजकीय भूमि से क्या तात्पर्य है। क्या भूमि का कोई अन्य स्वामी भी था?

(४) राजकीय संपत्ति से आय

गुप्त-कालीन समस्त दानपत्रों में (जो ग्राम ब्राह्मण को दान में दिया जाता था) इस बात का उल्लेख नहीं मिलता कि वह ब्राह्मण उस अग्रहार ग्राम की भूमि का स्वामी बन जाता था; परन्तु दानकर्त्ता राजा दानग्राही को समस्त कर ग्रहण करने का अधिकार देता था। दानपत्रों (ताम्रपत्रों) के सविस्तृत विवरण से यही ज्ञात होता है कि दानग्राही को उस भूमि पर राजा के सदृश अधिकार हो जाता यानी वह कर ले सकता था; परन्तु पृथ्वी के स्वामित्व का कहीं भी निर्देश नहीं मिलता[4]।

भूमि का स्वामी कौन था

मनुस्मृति[5] तथा अर्थशास्त्र[6] में क्रमशः 'भूमेरधिपतिः स' और 'राजा भूमेः पतिः दृष्टः' ऐसा उल्लेख मिलता है जिसके आधार पर अनुमान किया जाता है कि राजा का भूमि पर स्वामित्व है। परन्तु यह मानना निराधार है तथा तत्सम्बन्धी स्थलों पर विचार करने से यह तात्पर्य नहीं निकलता कि भूमि पर राजा का स्वामित्व था। यों तो राजा सब का शासक तथा मालिक है परन्तु स्वामित्व का यह भाव नहीं है। प्राचीन

---

१. स्कन्दगुप्त के सुवर्ण ढंग के सिक्के।

२. मनु० ८।२३७; विष्णु० ५।१४७।

३. फ्लीट— गु० ले० सं० १२।

४. दामोदरपुर ताम्रपत्र —ए० इ० भा० १५ पृ० १३०।

५. मनु० ८।३९।

६. अर्थशास्त्र दूसरा प्रकरण।

भारतीय साहित्य[1] तथा लेख[2] में कितने उदाहरण मिलते हैं जिनमें साधारण व्यक्ति द्वारा भूमि-विक्रय या भूमिदान का वर्णन मिलता है। जातकों में जीवक तथा अनाथपिंडक द्वारा संघ के भूमिदान का वर्णन मिलता है। जैमिनि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि राजा का भूमि पर स्वत्व नहीं है। शबर स्वामी भी इससे सहमत हैं[3]। गुप्त ताम्रपत्रों में भी राजा द्वारा वन्ध्या भूमि विक्रय करने का उल्लेख मिलता है। विक्रय में समस्त भूमि एक स्थान से नहीं दी गई परन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित छोटे-छोटे भूमि-भागों को बेचने का वर्णन मिलता है[4]। कात्यायन[5] तथा नीलकण्ठ[6] ने भी जैमिनि-वाक्य पर विश्वास कर यह प्रमाणित कर दिया है कि राजा का भूमि पर स्वत्व या स्वामित्व नहीं था। दक्षिण भारत के शासक राष्ट्रकूट नरेशों के लेखों से भी उपर्युक्त बात की पुष्टि होती है[7]। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि राज्यान्तर्गत वन्ध्या (Fallow) भूमि पर ही राजा का स्वामित्व था तथा वह राजकीय सम्पत्ति थी। इसके विक्रय करने से भी राजा को आय होती थी।

भूमि-सम्पादन

प्रायः ऐसा समय भी उपस्थित होता है जब कृषक कारणवश राजा का भूमि-कर देने में असमर्थ हो जाते हैं। प्राचीन समय में भी ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाती थी। ऐसी स्थिति में जो मनुष्य तीन वर्ष तक भूमि-कर न देता था, वह उस भूमि से अधिकार-रहित कर दिया जाता था। राजसभा को अधिकार था कि उस प्रकार की भूमि का विक्रय करे[8]। इस प्रकार की तथा वन्ध्या भूमि को अनेक धार्मिक पुरुष खरीदकर मन्दिर या धर्मशाला के लिए दान में दे देते थे। गुप्त-काल में भूमि-सम्पादन का कार्य बहुत ही सावधानी से होता था। उत्तरी बङ्गाल में गुप्तों के अनेक ताम्रपत्र मिले हैं[9] जिनसे भूमि-सम्पादन पर बहुत गहरा प्रकाश पड़ता है। उनके वर्णन को ध्यानपूर्वक पढ़ने से समस्त बातें स्पष्ट हो जाती हैं। भूमि-क्रय करनेवाले को उस विषयपति या महत्तर (ग्रामपति) के कार्यालय में निवेदन-पत्र देना पड़ता था जिसकी सीमा में वह भूमि स्थित होती थी। उस स्थान

१. शतपथ ब्रा० ८।१।७।३; जातक ४।२८१।

२. नासिक की प्रशस्ति नं० ६।

३. न भूमिः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्—पूर्वमीमांसा ६।

४. दामोदरपुर ताम्रपत्र नं० ५।

५. वीरमित्रोदय में उद्धृत, राजनीति पृ० २७१।

६. व्यवहार-मयूख स्वत्वनिरूपणम् पृ० ५६।

७. डा० अलटेकर—राष्ट्रकूट एंड देयर टाइम्स पृ० २३८।

८. मजूमदार—कारपोरेट लाइफ इन एंशेंट इंडिया पृ० १६१।

९. दामोदरपुर ताम्रपत्र—ए० इ० भा० १५।
   बैग्राम „ — „ „ „ २१ पृ० ७८।
   पहाड़पुर „ — „ „ „ २० „ ५९।

का पुस्तपाल (पत्र का सुरक्षित रखनेवाला) उस निवेदन-पत्र को शासक के समीप भेज देता था। राजा के आज्ञानुसार उस भूमि के निरीक्षण का भार महत्तर को सौंपा जाता था। यदि वह भूमि नगर-सीमा में होती तो नगर के अधिकारी द्वारा या यदि वह ग्राम के अन्तर्गत होती तो महत्तर तथा ग्राम-कुटुम्बिन् द्वारा, भूमि का अन्तिम सम्पादन होता था[१]। महत्तर के विवरण प्रकाशित करने पर उस निवेदक के नाम भूमि विक्रय की जाती थी। इसका समस्त विवरण ताम्रपत्र पर लिख दिया जाता था जिसमें निम्नलिखित आवश्यक अङ्गों पर पर्याप्त प्रकाश डाला जाता—

(अ) भूमि की माप तथा विशेषता

निवेदक के कथनानुसार भूमि उतनी ही दी जाती थी, परन्तु यह आवश्यक न था कि समस्त भूमि एक ही स्थान पर स्थित हो। भूमि भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित रहती थी। सब टुकड़े सम्मिलित रूप से माप में उतने ही होते जितने की निवेदक को आवश्यकता थी। उस पत्र में यह अवश्य उल्लिखित रहता था कि वह भूमि किस प्रकार की है, वह किसी को दी गई है या अप्रदा (नहीं दी गई) है। क्या समस्त उर्वरा भूमि है या उसमें खिल (Fallow land) भी सम्मिलित है। इस विशेष वर्णन से निवेदक को क्रय-मूल्य में कमी होती थी।

(ब) सीमा

ताम्रपत्र में उल्लिखित भूमि की सीमा निर्धारित करना आवश्यक होता था जिससे कि किसी प्रकार के झगड़े की सम्भावना न हो। समस्त भूमि एक स्थान में होती या भिन्न-भिन्न स्थानों में, उस पत्र में सब टुकड़ों की चारों तरफ़ की सीमा का वर्णन होता था।

(स) क्रय मूल्य

उन ताम्रपत्रों में यह एक आवश्यक अङ्ग उल्लिखित मिलता है कि निवेदक ने किस मूल्य पर वह भूमि क्रय की है। गुप्त-काल में भूमि का क्रय-मूल्य भिन्न-भिन्न था, जिसका एक मात्र कारण यह प्रकट होता है कि स्थान-स्थान की भूमि में विशेषता थी। इसी लिए वह न्यून या अधिक मूल्य में विक्रय की जाती थी। उस समय भिन्न-भिन्न स्थानों में एक कुल्यावाप भूमि का क्रय-मूल्य चार,[२] तीन[३] तथा दो[४] दीनार[५] थे।

---

१. घोपाल — हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ० २०२। दामोदरपुर ताम्रपत्र नं० २ व ३।

२. फरीदपुर ताम्रपत्र — इ० ए० १९१०।

३. दामोदरपुर ,, — ए० इ० भा० १५।

४. वैगराम ,, — ,, ,, ,, २१ पृ० ७८।

पहाड़पुर ,, — ,, ,, ,, २० ,, ५९।

५. गुप्तों के सोने के सिक्कों को दीनार कहा जाता था। यह ३/४ तोला सोने के बराबर होता था।

गुप्तकाल में 'कुल्य' धान्य का एक माप होता था जो आठ द्रोण के बराबर था[1]। इसी आधार पर कुल्यावाप का भी तात्पर्य भूमि के उस माप से है जो आठ द्रोण धान्य के बदले में दिया जा सके। उसी लेख में एक कुल्यावाप पाँच पाटक भूमि के बराबर बतलाया गया है[2]। कुल्यावाप आधुनिक एकड़ से माप में कुछ अधिक होता था। अतएव कुल्य, द्रोण तथा पाटक गुप्तकालीन माप थे। गुप्तकाल में भूमि का क्रय-मूल्य सोना (दीनार) तथा चाँदी (रूपक[3]) के सिक्कों में दिया जाता था। वैगराम ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि एक दीनार सोलह रूपक के बराबर समझा जाता था क्योंकि दो द्रोण के मूल्य आठ रूपक का वर्णन मिलता[4] है। गुप्त लेखों में इन उपर्युक्त विवरणों के उल्लेख से ज्ञात होता है कि उस समय भूमि-सम्पादन सुचारु रूप तथा पर्याप्त सावधानी से होता था। क्रय करनेवाला स्थानीय क्रय मूल्य के अनुसार भूमि का मूल्य दीनार या रूपक में शासक के समीप जमा कर देता था; और उस समय से भूमि का स्वामी होता था।

(द) अन्य नियम तथा निवेदक का अधिकार

विक्रय-भूमि पर कुछ सरकारी नियम आरोपित किये जाते थे जिन्हें क्रय करनेवाले को मानना पड़ता था। 'निविधर्म'[5] या अक्षयनीति[6] के अनुसार निवेदक को भूमि-विक्रय करने का अधिकार न दिया जाता था, परन्तु उस नियम के आधार पर वह उस भूमि का सर्वदा भोग कर सकता था। इस नियम के साथ-साथ क्रय करनेवाले को अन्य अधिकार प्राप्त थे। उसको उस भूमि में हट्ट पाण (बाज़ार लगाने) तथा सद्मय-गृह व भवन निर्माण करने का अधिकार दिया गया था[7]। इन समस्त बातों का उल्लेख उन गुप्तकालीन ताम्रपत्रों में मिलता है। यह कार्य—भूमि-सम्पादन—ताम्रपत्रों पर लिख-कर समाप्त किया जाता था जिसका लेख्य पुस्तपाल कार्यालय में सुरक्षित रखता था।

निधि तथा अदायिक सम्पत्ति का संग्रह

आधुनिक काल की तरह पुराने समय में भी पृथ्वी में गुप्त-निधि राजकीय सम्पत्ति समझी जाती तथा राजकोष में संग्रह की जाती थी। स्मृतिकारों का कथन है कि ब्राह्मणेतर व्यक्ति द्वारा पाई जानेवाली निधि राजा की सम्पत्ति समझी जाती है[8]। ब्राह्मणों के व्यक्तित्व का जो कुछ भी प्रभाव हो, परन्तु निधि से शासक को पर्याप्त मात्रा में आय होती थी।

---

१. पहाड़पुर ताम्रपत्र— ए० इ० भा० २० पृ० ५६।

२. वही।

३. रूपक चाँदी का सिक्का होता था। अर्थशास्त्र, दूसरा प्रकरण।

४. २ द्रोण = ८ रूपक; ४ द्रोण = १६ रूपक; ८ द्रोण = ३२ रूपक; १ कुल्यावाप = ८ द्रोण = २ दीनार = ३२ रूपक १ दीनार = १६ रूपक। इस (=) चिह्न से मूल्य का तात्पर्य है।

५. इ० हि० क्वा० १९२९ पृ० १०५।

६. वैगराम ताम्रपत्र—ए० इ० भा० २१ पृ० ७८।

७ [illegible] दामोदरपुर ताम्रपत्र नं० ४ पृ० १५०

८. मनु० [illegible] ३९, याज्ञ० [illegible] विष्णु ३।६३॥

धर्मशास्त्रों में यह स्पष्ट रूप से उल्लिखित मिलता है कि अदायिक मृत व्यक्ति की सम्पत्ति का मालिक राजा होता था[१]। परन्तु किसका कौन दायाद था या कौन सम्पत्ति अदायिक समझी जाती थी, इस विषय में निश्चित सिद्धान्त नहीं है तथा समय-समय पर इसका तात्पर्य बदलता गया। गुप्तकालीन स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने तो मृत पुरुष की पत्नी अथवा अन्य व्यक्तियों को पुत्रहीन पुरुष की सम्पत्ति का अधिकारी बतलाया है[२]। जातकों[३] तथा शकुन्तला[४] में वर्णन मिलता है कि पुत्रहीन पुरुष के मरने पर उसकी पत्नी के गर्भवती होने के कारण राजा उसकी सम्पत्ति ग्रहण करना उचित नहीं समझता। सम्भव है कि उसके पुत्र उत्पन्न हो। यह उल्लेख संदेहपूर्ण है (क्योंकि यह आवश्यक नहीं था कि उसे पुत्र ही उत्पन्न हो) अतएव ऐसी दशा में कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में वास्तविक स्थिति का पता लगाना कठिन है, परन्तु निधि तथा अदायिक सम्पत्ति से राजा को आय अवश्य होती थी।

राजा का अन्तिम आय-मार्ग उपहार था जो अधीनस्थ सामन्तों से मिलता था। यद्यपि गुप्त-सम्राट् समस्त भारत की दिग्विजय-यात्रा में सफलीभूत थे परन्तु उन्होंने समग्र प्रान्तों को अपने साम्राज्य में नहीं मिलाया। समुद्रगुप्त ने अनेक देशों को जीतकर उन्हें तत्स्थानीय शासक को लौटा दिया था। इस कृपा के लिए अधीनस्थ सामन्त और महाराज उसे कर तथा उपहार देते थे[५]। समुद्र के समकालीन सिंहल के शासक मेघवर्ण ने बोध-गया में बौद्ध-विहार-निर्माण के लिए असंख्य मुद्रा तथा मूल्यवान् हीरा मोती से युक्त दूत को पाटलिपुत्र भेजा था[६]। यह उपहार गुप्त-सम्राट् के लिए था। इस प्रकार समय-समय पर उपहार से भी गुप्त-राजकोष की पूर्ति होती थी।

(५) सामन्तों से उपहार

इस रूप से गुप्त-नरेशों को मुख्यतः उपर्युक्त पाँच प्रकारों से आय होती थी। राजाओं ने राजकोष का समस्त भार 'भाण्डागारिक' पर छोड़ दिया था और स्वयं उसका निरीक्षण करते थे।

आदर्श हिन्दू राजा समस्त प्रजा पर कर आरोपित करते समय यह अवश्य विचार करता था कि प्रत्येक मनुष्य कर देने के योग्य था या नहीं। स्मृतियों से इस बात पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है कि किस प्रकार के मनुष्य से राजा कर न लेता था। उसमें श्रोत्रिय (यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण) का सब से ऊँचा स्थान था, परन्तु इसके साथ यह भी नियम था कि वणिक्-वृत्तिधारी

राजकीय कर से मुक्त

१. गौतम० २८।४१; वशिष्ठ० १७।७३; विष्णु० १७।१३; मनु० ९।१८९।

२. याज्ञ० २।१३५—३६।

३. जातक भा० ४ पृ० ४८५,७८६।

४. कालिदास—शकुन्तला एक्ट ६।

५. 'सर्वकरदानआज्ञाकरणप्रणामागमन'—प्रयाग का लेख (फ्लीट—गु० ले० नं० १)

६. राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ् एंशेंट इंडिया पृ० ३७३।

न हो[१]। इसके अतिरिक्त अनाथ, प्रव्रजित (संन्यासी), बालक, वृद्ध तथा कुमारी आदि भी कर से मुक्त कर दी जाती थीं[२]। ब्रह्मदेय भूमि या दान में दिये हुए ग्राम भी सब प्रकार के कर से मुक्त थे। अर्थशास्त्र में वर्णन मिलता है कि कृषि की बुरी अवस्था में भूमिकर में कुछ कमी कर देनी चाहिए[३]। यद्यपि गुप्त-लेखों से इसका समर्थन नहीं होता परन्तु तत्कालीन स्मृतिग्रन्थों के आधार पर यह कहना युक्ति-संगत है कि गुप्त-नरेशों के भी श्रोत्रिय तथा प्रव्रजित आदि अवश्य कर-मुक्त किये गये होंगे।

व्यय

आधुनिक काल की तरह प्राचीन शासकगण राजकीय आय को अपने सुख तथा भोग-विलास में नहीं व्यय करते थे परन्तु प्रजा की मंगल-कामना और राज्य-संचालन के लिए उनकी समस्त आय का व्यय होता था। गुप्त-नरेश भी प्रजा के हित के लिए ही कर का संग्रह किया करते थे[४]। कामन्दक का कथन है कि राजकीय व्यय द्वारा जीवन के त्रिवर्ग की उपलब्धि राजा करता था[५]। राज्य की आय का अनुमान कर शासक व्यय का हिसाब ठीक करता था[६]। अर्थशास्त्र में राजकीय व्यय का विस्तृत विवरण मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि प्राय: आय चार भागों में विभक्त की जाती थी जिससे राजा के शासन में कोई कुप्रबन्ध न हो।

(१) राज्य-प्रबन्ध

राजा को शासन के लिए अनेक कर्मचारियों की आवश्यकता होती थी[७]। वे राजा की ओर से वेतन पाते थे। फाहियान ने गुप्त कर्मचारियों को वेतनभोगी बतलाया है। इस प्रकार राजकीय आय का कुछ भाग व्यय होता था।

(२) रक्षा

राज्य की रक्षा के निमित्त शासक सेना रखता था। समय-समय पर राजा इसके द्वारा अन्य देशों पर विजय प्राप्त करता था। गुप्त-काल में सेना अधिक संख्या में रहती थी। राज्य के भीतर शान्ति-स्थापन के लिए पुलिस, न्याय तथा तत्सम्बन्धी पदाधिकारियों की नियुक्ति होती थी, जिसके लिए पर्याप्त मात्रा में व्यय किया जाता था[८]।

---

१. सदा श्रोत्रियवर्ज्याणि शुल्कान्याहुः प्रजानता।
   गृहोपयोगी यच्चैषां न तु वाणिज्यकर्मणि ॥ नारद० ३। १४।

२. वशिष्ठस्मृति १६।२५-२६।

३. अर्थशास्त्र ५।२।

४. प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्। कालिदास — रघुवंश।

५. [illegible] कामन्दकीय नीतिसार [illegible]।

६. [illegible] आफ पालिटी पृ० ३८।

७. [illegible] — [illegible] २४।

८. दिक्षितार — हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टिट्यूशन पृ० १३०।

गुप्त सम्राटों के चरित्र पर ध्यान देने से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि वे आदर्श-मार्ग के अनुयायी थे। उनका मन प्रजा के हित में सदा संलग्न रहता था। राजा से लेकर प्रजा तक सभी सार्वजनिक कार्य में तल्लीन रहते थे।

(३) सार्वजनिक कार्य

राजा प्रजा के स्वास्थ्य के लिए सफ़ाई तथा औषधि का सुचारु प्रबन्ध करता था। खेती की सिंचाई के लिए नहरें खुदवाता[1] तथा अनाथों के लिए सदावर्त का इन्तज़ाम करता। फ़ाहियान ने गुप्त-काल में इन समस्त सार्वजनिक कार्यों का सुन्दर वर्णन किया है[2]। जनता को सच्चरित्र तथा सुशिक्षित बनाने के लिए शिक्षा का प्रबन्ध अनिवार्य था। वैष्णवधर्मानुयायी परम भागवत गुप्तों ने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया था[3] जहाँ प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी। उच्च शिक्षा के लिए भी गुप्त-नरेशों ने नालन्दा में महाविहार की स्थापना की थी[4]। विद्या-प्रेम के अतिरिक्त गुप्त नरेश अनाथों की सहायता करते थे। गुप्त लेखों तथा सिक्कों में इनके सार्वजनिक उपकारिता के कार्यों का उल्लेख मिलता है। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त तथा कुमारगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ कर सहस्रों मुद्रा ब्राह्मणों और अनाथों को दान में दी थीं। समुद्र ने यज्ञ के उपलक्ष में लाखों गायों का दान कर दिया था[5]। उस समय धर्मशालाओं में सर्वदा अनाथों को अन्न वस्त्र वितरण किया जाता था। इस प्रकार आय का प्रायः कुछ नियत भाग राजा दुखियों के रक्षार्थ व्यय करता था। गुप्त-कालीन लेखों में अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनमें भूमि-दान (अग्रहार-दान) का वर्णन मिलता है। परन्तु कुछ विस्तृत वर्णन करने के निमित्त इस प्रकार के दान का वर्णन नीचे पृथक् रूप में करने का प्रयत्न किया जायगा।

गुप्तकाल में मन्दिरों अथवा ब्राह्मणों को बहुत परिमाण में भूमि अग्रहार के रूप में दी जाती थी। यह दान मन्दिरों के प्रबन्ध या आचार्य के लिए होता था। यह कार्य बृहत् रूप में होने के कारण इसका समस्त प्रबन्ध एक समिति के अधीन कर दिया जाता था, जो प्रायः बैंक का भी काम करती थी।

अग्रहार-दान

वह समिति अग्रहार भूमि की आय को मन्दिर—पूजा-सामग्री तथा रागभोग—के निमित्त व्यय करती थी। कुछ व्यक्तिगत ब्राह्मण (आचार्य या उपाध्याय) उस अग्रहार को भोग करते थे। राजा की ओर से एक कर्मचारी नियुक्त था जो समस्त दान का लेखा वग़ैरह रखता था। उसको दानाध्यक्ष या अग्रहारिक कहते थे। अन्य लेखों में इसका नाम 'दूतक' भी मिलता है[6]। राजा अग्रहार दान केवल अपने धार्मिक क्षेत्र ही में नहीं करता था परन्तु दूसरी धार्मिक संस्थाओं को भी दान देता था।

१. फ्लीट—गु० ले० नं० १४, ४२।

२. फ़ाहियान का यात्रा-विवरण पृ० ४५–४६, ६०।

३. गु० ले० नं० १४; १८।

४. नागरी-प्रचारिणी पत्रिका भा० १५ पृ० १४६–५६।

५. अनेकगोशतसहस्रप्रदायिनः।—प्रयाग की प्रशस्ति गु० ले० नं० १।

६. गु० ले० नं० २८, ३०।

गुप्त-राजा वैन्यगुप्त ने बौद्ध संघ को भूमि दान कर अपनी धार्मिक-सहिष्णुता का परिचय दिया था[1]। गुप्त-कालीन लेखों में अग्रहार-दान का सविस्तर विवरण मिलता है। खेत, घर, वन, आराम, वहाँ की प्रजा और पशु का दान कर दिया जाता था तथा दानपत्र ताम्रपत्र पर खुदे रहते थे। ये प्राचीन राजाओं के समय से चले आते हैं, किसी ने आज तक उन्हें विफल नहीं किया। वे अब तक वैसे ही हैं। इसकी पुष्टि एक लेख से होती है जिसमें लिखा है कि जीवितगुप्त ने बालादित्य के अग्रहार का समर्थन किया था[2]। वे ताम्रपत्र (जिनपर दानपत्र खुदा होता है) अब भी उसी अवस्था में प्राप्य हैं। उन दानपत्रों के अध्ययन से अनेक बातों का पता लगता है। इस अग्रहार भूमि का 'ब्रह्मदेय', 'देवदेय' या 'देवाग्रहार' के नाम से उल्लेख मिलता है[3]। जितने ताम्रपत्रों पर दानपत्र खुदे मिलते हैं उनमें निम्नलिखित विषय का विवरण मिलता है—

(१) ब्रह्मदेय भूमि का दानग्राही तथा उसके वंशज अनंत काल तक (जब तक सूर्य-चन्द्रमा रहें) सम्भोग कर सकते हैं। परन्तु वह भूमि 'भूमिच्छिद्रन्याय' से नियन्त्रित रहती है। दान लेनेवाला मनुष्य उस भूमि को विक्रय नहीं कर सकता था। कुछ विद्वानों का मत है कि 'भूमिच्छिद्रन्याय' से कृषि के योग्य भूमि का तात्पर्य है[4]।

(२) उस देवदेय भूमि को राजा के वंशज दानग्राही या उसके वंशवालों से अलग नहीं कर सकते थे।

(३) वह भूमि उद्रंग तथा उपरिकर के साथ दी जाती थी[5]। उस स्थान के निवासियों को भूमिकर राजा को न देकर अग्रहार लेनेवाले को देना पड़ता था।

(४) भूमिकर के अतिरिक्त अन्य कर—(अ) हिरण्य, (ब) भूतवाय प्रत्याय—भी दानग्राही को ग्रहण करने का अधिकार मिलता था[6]।

(५) इन करों के अतिरिक्त उसको अधिकार दिया जाता था कि दानग्राही 'दशापराध' के अर्थदण्ड को ग्रहण कर सके[7]।

(६) उपर्युक्त कर संग्रह करने के बदले दानग्राही को कुछ भी राजा को देना नहीं पड़ता था। वह ब्रह्मदेय भूमि सर्वदा के लिए कर-मुक्त कर दी जाती थी। (सर्वकरत्यागः)[8]।

---

१. इ० हि० क्वा० १९३० पृ० ५७।

२. देव-बरनार्क की प्रशस्ति – गु० लें० नं० ४६।

३. घोपाल — हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ० २१७।

४. डा० बेनीप्रसाद स्टेट इन एंशेंट इंडिया पृ० ३०१।

५. 'सोद्रंग सोपरिकर'— गु० लें० नं० २२ व २३)।

६. कीलहार्न लेख नं० २९२; गु० लें० नं० ३८।

७. गु० लें० पृ० १८९ नोट व पृ० २१८; ए० इ० भा० ४ नं० ८।

[illegible] के [illegible] में [illegible] है। जाली नारद (१, ११) के वर्णित तथा हीरालाल शुक्रनीति ([illegible]) में वर्णित [illegible] पापों से समता बतलाते हैं।

८. गु० लें० नं० [illegible]।

(७) अन्य सामयिक कर (पुलिस-कर) जो ग्रामवासियों पर लगाया जाता था उसे दान लेनेवाले को न देना पड़ता था। वह 'चौरवर्ज्य'[1] या 'चाटभाटप्रवेशदण्ड'[2] से भी मुक्त था।

(८) दानग्राही को विष्टि (बेगार) लेने का अधिकार प्राप्त था।

इन समस्त विवरणों से ज्ञात होता है कि राजा देवदेय भूमि पर से अपना स्वत्व हटाकर सब कुछ अधिकार दान लेनेवाले को दे देता था; क्योंकि उस समय यह विश्वास था कि जो पुरुष अग्रहार दान को लौटाता है वह नरकगामी होता है[3]। ऐसा वर्णन परिव्राजक राजाओं (गुप्तों के अधीनस्थ) के लेखों में मिलता है[4]।

इस प्रकार शासक समस्त राजकीय आय को भिन्न-भिन्न विभागों में व्यय करता था जिससे प्रजा सुखी, सम्पन्न रहे तथा सुचारु रूप से शासन-प्रबन्ध चलता रहे।

राजकीय आय का व्यय करते समय शासक इसका ध्यान रखता था कि आकस्मिक आपत्ति से राज्य तथा प्रजा के रक्षार्थ कुछ धन का संचय करना आवश्यक था।

(४) संचय कोष

उसे व्ययप्रत्ययः का नाम दिया गया है[5]। जब राज्य में अकाल आदि पड़ने से प्रजा करमुक्त कर दी जाती थी तो राजा उसी संचित कोष को शासन-प्रबन्ध के लिए व्यय करता था; बाहरी शत्रुओं द्वारा आक्रमण से देश को बचाता था। चाणक्य ने वर्णन किया है कि 'अल्पकोशो हि राजा पौरजानपदानेव ग्रसते'[6] (कोष थोड़ा होने पर राजा नगर तथा जनपद-निवासियों को सताता है)। अतएव आपत्ति-काल के लिए शासक को आय का कुछ भाग-संचय रखना चाहिए। समस्त गुप्त-सम्राटों ने सम्भवतः इस नीति का अवलम्बन किया था। उनके राज्य-काल में कोई घटना सुनने में नहीं आती; केवल स्कन्दगुप्त के शासन में एक विशेष घटना का उल्लेख मिलता है। स्कन्दगुप्त ने मिश्रित धातु के सोने का सिक्का तथा ताँबे के सिक्कों को रौप्यीकरण (Silver plated) कर चाँदी का मुद्रा चलाया था। अनुमानतः इसका कारण यही प्रकट होता है कि स्कन्दगुप्त के कोष में कमी थी और उसी समय विदेशी हूणों ने गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण किया। यदि वह उपर्युक्त प्रणाली की मुद्रा तैयार न करता तो राज्य की रक्षा कठिन हो जाती। इन्हीं कारणों से आय का कुछ भाग संचित रखने का विधान बतलाया गया है।

---

१. चोर राजा पथ्यकारिवर्जम् (गु० ले० नं० २३; ए० इ० भा० १२ नं० २१)।

२. गु० ले० नं० २३, २६।

३. स्वदत्तां परदत्तां च यो हरेत्तु वसुधराम्।
श्वविष्ठायां कृमिर्भूत्वा पितृभिः सह पच्यते।—बृहस्पति २८।

४. गुप्त ले० नं० ३२, ३३ व ३४।

५. विल्सन—हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम पृ० १६३।

६. अर्थशास्त्र २।१।१८।

प्रान्तीय शासन-प्रणाली

भुक्ति

शासन की सुव्यवस्था के लिए गुप्त-साम्राज्य विभिन्न प्रान्तों में विभक्त किया गया था। गुप्त लेखों में प्रान्त के लिए 'देश या भुक्ति' शब्द प्रयुक्त मिलते हैं[१]। गुप्त-साम्राज्य के पूर्वी भाग में स्थित भुक्ति का नाम पुण्ड्रवर्धन था, जो उत्तरी बंगाल में सीमित था। आधुनिक समय में उत्तरी बंगाल के बोगरा ज़िले में स्थित महास्थान नामक नगर से पुण्ड्रवर्धन स्थान की समता बतलाई जाती है[२]। गुप्तों की समस्त भुक्तियों में 'पुण्ड्रवर्धनभुक्ति' का नाम अधिक था[३]। दूसरा प्रान्त तिराभुक्ति—बिहार के मुज़फ्फरपुर ज़िले में स्थित तिरहुत प्रान्त में था[४]। मध्यदेश को गुप्त सम्राटों ने दो प्रान्तों—मन्दसोर[५] तथा कौशाम्बी[६]—में विभक्त किया था। पश्चिम भाग के शासन के निमित्त सौराष्ट्र को प्रान्त[७] का रूप दिया गया था। इस प्रकार समस्त साम्राज्य प्रान्तों (भुक्तियों) में विभक्त था[८]।

भुक्ति-शासक की उपाधियाँ

लेखों में अधिकतर प्रान्तीय शासक या भुक्ति के शासक की 'उपरिकर महाराज' पदवी का उल्लेख मिलता है[९]। आधुनिक परिभाषा में इनकी समता प्रान्तीय गवर्नर से बतलाई जा सकती है। अन्य लेखों में प्रान्तीय शासक के लिए राष्ट्रीय[१०], भोगिक[११], भोगपति[१२] तथा गोप्ता[१३] आदि पदवियाँ उल्लिखित मिलती हैं। उपरिकर महाराज का पद बहुत ही ऊँचा था। इस पर योग्य कर्मचारियों की ही नियुक्ति होती थी। पुण्ड्रवर्धन के शासक

---

१. दामोदरपुर ताम्रपत्र—ए० इ० भा० १५।
धनैदह—" " " १७।
वैगराम—" " " २१।
बसाढ़ की मुद्रा—तीराभुक्त्या उपरिकर अधिकरणस्य।—आ० स० रि० १९०३-४, पृ० १०९।

२. आ० स० रि० १९२८-२९ पृ० ८८।

३. दामोदरपुर ताम्रपत्र।

४. आ० स० रि० १९०३-४ पृ० ८८।

५. गु० ले० नं० १८।

६. आ० स० रि० १९११-१२ पृ० ८७।

७. गु० ले० नं० १४।

८. इ० हि० का० भा० ९ पृ० ७२७-३५।

९. दामोदरपुर ताम्रपत्र; वैशाली की मुद्राएँ—आ० स० रि० १९०३-४ पृ० १०९।

१०. रुद्रदामन् का गिरनार का लेख—ए० इ० भा० ८ पृ० ४७।

११. गु० ले० नं० [illegible]।

१२. हर्षचरित पृ० २२७।

१३. सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄन् (जूनागढ़ का लेख, गु० ले० नं० १४); गु० ले० नं० १८।

चिरातदत्त[1], मन्दसोर के बन्धुवर्मा[2] तथा सौराष्ट्र के पर्णदत्त[3] के नाम लेखों में मिलते हैं। इस पद पर बहुधा राजकुमार भी नियुक्त किये जाते थे। चिरातदत्त के पश्चात् पुण्ड्रवर्धनभुक्ति का शासक एक राजकुमार ही था जिसका नाम तो नहीं मिलता है, परन्तु जिसके लिए 'उपरिकर महाराज राजपुत्र देवभट्टारक' की उपाधि का प्रयोग किया गया है[4]। वैशाली की मुहरों से भी पता लगता है कि तीरभुक्ति का शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय का पुत्र गोविन्दगुप्त था[5]। ये शासक प्रान्त में राजा के प्रतिनिधि थे जिनकी नियुक्ति स्वयं गुप्त-सम्राट् करते थे। अतएव लेखों में भुक्ति-शासकों की उपाधि से पूर्व ही 'तत्पादपरिगृहीत' शब्द उल्लिखित मिलता है[6]।

सभासद

प्रान्त के शासन में राजकुमार की मन्त्रणा के लिए एक मन्त्रिमण्डल स्थापित था। बसाढ़ (वैशाली) की मुहरों पर उल्लिखित पदवियों से ज्ञात होता है कि केन्द्रीय शासन के ढङ्ग पर प्रान्त में भी सभासद होते थे। यहाँ बलाधिकरण, रणभाण्डागारिक, दण्डपाशाधिकरण, महादण्डनायक, महाप्रतिहार आदि की मुहरें मिली हैं[7]। मौर्य सम्राट् अशोक के धर्ममहामात्रों के ढङ्ग पर गुप्तकाल में भी विनयस्थितिस्थापक थे[8], जिनके कार्यालय का नाम मुहरों में मिलता है।

शासन-अवधि

आधुनिक काल की तरह गुप्त-काल में भी गवर्नरों की अवधि निश्चित कर दी गई थी। प्रान्त के शासकों की अवधि कम से कम पाँच वर्ष की अवश्य थी। दामोदरपुर ताम्रपत्र प्रथम तथा द्वितीय के अध्ययन से उपर्युक्त बातें स्पष्ट ज्ञात हो जाती हैं। दोनों लेखों की तिथि क्रमशः गु० स० १२४ व १२९ दी गई है तथा इनमें प्रान्तीय शासक का नाम चिरातदत्त ही मिलता है। अतएव यह पता चलता है कि चिरातदत्त गु० स० १२४ से १२९ तक—यानी पाँच वर्ष—अवश्य शासन करता था। इस आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि उपरिकर महाराजों की अवधि पाँच वर्ष से कम की नहीं होती थी।

---

१. दामोदरपुर ताम्रपत्र नं० १, २—ए० इ० भा० १५।

२. गु० ले० नं० १८।

३. गु० ले० नं० १४।

४. दामोदरपुर ताम्रपत्र नं० ५।

५. आ० स० रि० १९०३-४।

६. महाराजाधिराजश्रीबुधगुप्ते पृथिवीपतौ तत्पादपरिग्रही तस्य पुण्ड्रवर्धनभुक्तावुपरिकरमहाराज—दामोदरपुर ताम्रपत्र नं० ३।

७. वैशाली की मुहरें (आ० स० रि० १९०३-४)। इस स्थान पर जितनी मुहरें मिली हैं वे एक न एक पदाधिकारी से सम्बन्ध रखती हैं। इससे प्रकट होता है कि वह मुहर उसके आफिस की थी। उन पर उनके आफिस का नाम खुदा मिलता है, जैसे—दण्डपाशाधिकरणस्य, महादण्डनायकअग्निगुप्तस्य आदि आदि।

८. अशोक की धर्मलिपियाँ—शिलालेख पाँचवाँ।

९. तीरभुक्तौ विनयस्थितिस्थापकाधिकरण—वैशाली मुहर।

विषय

एक 'भुक्ति' के अन्तर्गत कई विषय होते थे। गुप्त साम्राज्य के पूर्वी प्रान्त (भुक्ति) का नाम-पुण्ड्रवर्धन--लेखों में मिलता है जिसके अन्तर्गत खाडापार[1], पञ्चनगर[2] तथा कोटिवर्ष[3] विषयो के नाम मिलते हैं। तीरभुक्ति का मुख्य विषय वैशाली था[4]। आधुनिक काल में प्रान्त में जैसे अनेक ज़िले वर्तमान हैं वैसे ही गुप्त काल में भी प्रान्त (भुक्ति) के अन्दर अनेक विषय थे। अतएव विषय की आधुनिक ज़िलो से समता बतलाई जा सकती है।

विषय के शासक को 'विषयपति' कहते थे। विषय के शासक को भुक्तिपति या भोगपति ही नियुक्त करता था[5]। इस नियुक्ति मे केन्द्रीय शासक से कोई सम्बन्ध नहीं था। विषयपति का शासन केन्द्रीय नगर में रहता था जो 'अधिष्ठान' कहलाता तथा उसके कार्यालय को 'अधिकरण' कहते थे[6]। वैशाली (ज़िला मुज़फ्फरपुर) की अनेक मुहरों पर विषय-शासकों के लिए विभिन्न प्रकार की उपाधियाँ मिलती हैं[7]। परन्तु इनका उल्लेख अन्य लेखों में नहीं मिलता है। लेखो में विषयपति के लिए 'कुमारामात्य' की पदवी प्रयुक्त मिलती है। वैशाली की मुहरो में निम्न तीन प्रकार की उपाधियो मिलती है--

विषयपति

(१) पहली साधारण प्रकार की है जिसमें विषयपति के कार्यालय का उल्लेख है---कुमारामात्याधिकरणस्य।

(२) युवराजपदीय कुमारामात्य।

(३) युवराज भट्टारकपदीय कुमारामात्य।

(४) परमभट्टारकपदीय कुमारामात्य।

इन कुमारामात्यो के तात्पर्य के विषय में विद्वानों में मतभेद है। 'कुमारामात्य' से कोई राजकुमार के सभासद[8], राजकुमार के मन्त्री[9], सिंहासन के उत्तराधिकारी के सभासद[10] या राजा के प्रतिनिधि राजकुमार के मन्त्री[11] का तात्पर्य बतलाते हैं। परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता। प्रयाग की प्रशस्ति के लेख के सान्धिविग्रहिक महादण्ड-

---

१. धनैदह ताम्रपत्र--ए० इ० भा० १७ नं० २३।

२. बैगराम ,, -- ,, ,, २१ पृ० ७८।

३. दामोदरपुर ,, -- ,, ,, १५।

४. आ० स० रि० १९०३-४ पृ० ११०।

५. कोटिवर्षविषये तन्नियुक्तककुमारामात्यवेत्रवर्मन (दामोदरपुर)।

६. दामोदरपुर नं० २ व बैगराम ताम्रपत्र तथा वैशाली की मुहर 'अधिष्ठान अधिकरणस्य'।

७. आ० स० रि० १९१३-१४ पृ० १३४

८. फ्लीट—का० इ० इ० भा० ३ पृ० १६ नोट।

९. ब्लाख—आ० स० रि० १९०३-४ पृ० १०३।

१०. मारशल – वही १९११-१२ पृ० ५२।

११. बेनीप्रसाद—स्टेट इन एंशेंट इंडिया पृ० २९६।

नायक हरिषेण की भी उपाधि कुमारामात्य थी[१] तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय का मन्त्री शिखरस्वामी भी इस पदवी से विभूषित था[२]। श्री राखालदास बैनर्जी का कथन है कि जो अमात्य राजकुमार के सदृश सत्कार पाता था उसे 'कुमारामात्य' की पदवी दी जाती थी। लेखों तथा मुहरों में उल्लिखित 'कुमारामात्य' से ज्ञात होता है कि यह कोई सरकारी पद था जिसके अधिकार की कुछ मात्रा थी। वैशाली की मुहरों में उल्लिखित 'पदीय' शब्द के अर्थ में कुछ लोगों का भिन्न-भिन्न विचार है। डा० घोषाल का मत है कि मुहरों के 'पदीय[३]' तथा 'पादानुध्यातो[४]' के अर्थ में समानता है। अतएव पूर्वोक्त 'युवराजभट्टारकपदीय' अथवा 'परमभट्टारकपदीय' से यही तात्पर्य निकलता है कि वह कुमारामात्य राजकुमार वा राजा के पुत्र की तरह सम्बन्धित था[५]। परन्तु यह सिद्धान्त युक्तिसङ्गत नहीं प्रतीत होता। जब कुमारामात्य एक सरकारी पद का नाम था तो उन लम्बी पदवियों से यही अर्थ निकलता है कि वह (कुमारामात्य) राजकुमार या राजा के कार्यालय से सम्बन्धित था। कुमारामात्य जिस कार्यालय में काम करता उसका कुमारामात्य कहलाता था। (युवराजपदीय कुमारामात्य या परमभट्टारकपदीय कुमारामात्य) 'पदीय' को समानता का द्योतक मानने में कोई असङ्गत नहीं जान पड़ता। सम्भव है कि पदाधिकारी की योग्यता के कारण उसका सत्कार अधिक होता हो। इन विवेचनों का यही तात्पर्य निकलता है कि जब कुमारामात्य विषयपति का काम करता था तो विषयपति की उपाधि 'कुमारामात्य' दी जाती या यदि वह राजकुमार या राजा से सम्बन्धित होता तो युवराजपदीय या परमभट्टारकपदीय कुमारामात्य कहलाता था।

शासन की सुव्यवस्था के लिए विषयपति का एक मन्त्रिमण्डल होता था। उसकी मन्त्रणा से विषयपति विषय का समस्त प्रबन्ध करता था[६]। इस मण्डल में चार सदस्य होते थे जो अपनी अपनी समिति (organisation) के मुखिया होते थे[७]। इनके नाम निम्न प्रकार मिलते हैं—

विषय का मन्त्रिमण्डल

(१) नगर-श्रेष्ठी—शहर में जो पूँजीपति होते थे उनके मुखिया को नगर-श्रेष्ठी कहते थे।

(२) सार्थवाह—विषय की व्यापारिक समिति का मुखिया इस नाम से प्रसिद्ध था।

(३) प्रथम कुलिक—आधुनिक काल की तरह प्राचीन काल में भी बैंक वर्तमान थे। उनके बैंकरों की सभा के मुखिया को प्रथम कुलिक कहते[८] थे।

---

१. गु० ले० न० १।

२. महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य मन्त्री कुमारामात्यशिखरस्वामी—कर्मदण्डा का लेख (ए० इ० भा० १०)।

३. वैशाली की मुहर—आ० स० रि० १९०३-४।

४. भीटा की मुहर—वही १९११-१२ पृ० ५२।

५. प्रोसिडिंग आफ सिक्स्थ आल इंडिया ओरियन्टल कान्फरेंस, पटना पृ० २१५।

६. हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ० २०२-४।

७. श्रेष्ठी सार्थवाह कुलिक निगम (वैशाली की मुहर)।

८. हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ० २०२ नोट ३।

(४) प्रथम कायस्थ –(लेखक) समिति का मुखिया प्रथम कायस्थ कहलाता था।

इन सभासदों के अतिरिक्त विषयपति के अधिकरण में समस्त लेखों को सुरक्षित रखने के लिए एक कर्मचारी था जो पुस्तपाल (Record Keeper) कहलाता था। विषय में कार्यभार के कारण तीन पुस्तपालों की नियुक्ति की जाती थी परन्तु ग्रामों में एक ही पुस्तपाल समस्त कार्य करता था। इन विषय के सभासदों के विषय में यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है कि वे उस पद के लिए चुने जाते थे या वंशानुगत होते थे।

शासन में राजकीय कर्मचारियों की निश्चित अवधि होती है। गुप्त-काल में 'विषय' के पदाधिकारियों की अवधि के विषय में भी लेखों से प्रकाश पड़ता है। दामोदरपुर (उत्तरी बंगाल) के ताम्रपत्रों (प्रथम तथा द्वितीय) के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि 'विषय' के कर्मचारीगण कम से कम पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किये जाते थे। इन ताम्रपत्रों में उल्लिखित तिथियों तथा पदाधिकारियों के नाम से यह बात स्पष्ट हो जाती है। प्रथम ताम्रपत्र की तिथि गु० स० १२४ मिलती है। इसमें 'विषय' के शासक तथा राजकीय कर्मचारियों के नाम निम्न प्रकार मिलते हैं—

पदाधिकारियों की अवधि

पद	नाम
विषयपति	कुमारामात्य वेत्रवर्म्मन्
नगरश्रेष्ठी	धृतिपाल
सार्थवाह	बन्धुमित्र
प्रथम कुलिक	धृतिमित्र
प्रथम कायस्थ	शाम्बपाल
पुस्तपाल	(अ) रिसिदत्त
	(ब) जयनन्दि
	(स) विभुदत्त

दामोदरपुर का दूसरा ताम्रपत्र प्रथम ताम्रपत्र के पाँच वर्ष के बाद (गु० स० १२९) में लिखा गया था। उसमें इन पदाधिकारियों के ये ही नाम मिलते हैं जिससे जान पड़ता है कि उस समय तक ये लोग अपने पद पर अधिष्ठित थे। अतः स्पष्ट है कि 'विषय' के इन पदाधिकारियों की अवधि पाँच वर्ष से कम नहीं होती थी।

नगर म्यूनिसिपैलिटी

गुप्त-काल या उससे पूर्व भारत में अनेक नगर अपनी सम्पत्ति तथा वैभव के लिए प्रसिद्ध थे। तक्षशिला एक विशाल विद्या-केन्द्र था तथा उज्जयिनी व्यापार में भारत और पश्चिमी देशों के मध्यस्थ का काम करती थी। पाटलिपुत्र और मन्दसोर आदि नगरों का भी विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान था। नगर के शासन-स्वास्थ्य आदि के प्रबन्ध के लिए प्रत्येक मुख्य नगर में एक सभा होती थी जो आधुनिक परिभाषा में म्युनिसिपैलिटी कहा जा सकता है। आज-कल की तरह गुप्तकालीन नगर-सभा भी उस स्थान का समस्त

प्रबन्ध करती थी। तत्कालीन नगरपति 'द्राङ्गिक' के नाम से पुकारा जाता था[1]। 'द्राङ्गिक' व्यापारियों तथा नगरवासियों से कर संग्रह करता था। नगरपति जनता के स्वास्थ्य पर पर्याप्त ध्यान देता था। यदि कोई मनुष्य मुख्य-मार्ग, स्नानागार, मन्दिर तथा महल के समीप गंदगी फैलाता था तो वह दण्डभागी होता और एक पण उसे जुर्माना देना पड़ता था[2]।

विषयपति के द्वारा 'द्राङ्गिक' की नियुक्ति होती थी। कभी-कभी विषयपति अपने पुत्र को भी इस पद पर नियुक्त करता था[3]। गुप्त लेखों से भी इस विषय पर प्रकाश पड़ता है। गुप्त सम्राट् स्कन्दगुप्त के राज्यकाल में पर्णदत्त का पुत्र चक्रपालित सौराष्ट्र में नगरपति के स्थान को सुशोभित करता था[4]। वैशाली से एक मुहर मिली है जिस पर 'वैशाल्याधिष्ठानाधिकरणस्य' लिखा है[5]। इससे प्रकट होता है कि कदाचित् यह वैशाली नगर के शासक की मुद्रा थी। कोटिवर्ष नगर[6] तथा गिरिनगर भी एक पदाधिकारी के अधीन थे जो उस नगर का शासन, निरीक्षण तथा अन्य कार्य करता था। इस प्रकार यह अनुमान युक्तिसंगत ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में नगर म्यूनिसिपैलिटी का प्रबन्ध भी एक सुन्दर तथा सुचारु रूप से चलता था।

ग्राम-शासन

गुप्तकाल में 'विषय' के अन्तर्गत अनेक ग्राम होते थे। प्रायः प्रत्येक ग्राम किसी माप या कुछ निर्दिष्ट क्षेत्रफल का होता है[7]। ग्राम के अधिपति को ग्रामपति या 'महत्तर' कहा जाता था[8]। महत्तर की सहायता के लिए एक छोटी सी सभा होती थी, जिसे 'पञ्चायत' कहते थे। यह संस्था (ग्राम-पञ्चायत) भारत में बहुत प्राचीन काल से वर्तमान थी। गुप्त लेखों में भी ग्राम-पञ्चायत का वर्णन मिलता है। सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के सेनापति अम्रकार्दव द्वारा ग्राम पञ्चायत के सम्मुख एक गाँव तथा २५ दीनार (स्वर्णमुद्रा) दान का वर्णन मिलता है[9]। ग्राम-पञ्चायत अपने कार्य में सर्वदा स्वतन्त्र

ग्राम पञ्चायत

१. का० इ० इ० भा० ३ नं० ३८।

२. इ० ए० १९०५ पृ० ५१, ५२।

३. बेनीप्रसाद स्टेट इन एंशेंट इंडिया पृ० २९८।

४. यः सन्नियुक्तो नगरस्य रक्षां विशिष्य पूर्वान् प्रचकार सम्यक् —जूनागढ़ का लेख (गु० ले० नं० १४)।

५. आ० स० रि० १९०३-४।

६. इ० ए० भा० १५ पृ० १३०।

७. गु० लें० नं० ५५।

८. दामोदरपुर ताम्रपत्र।

९. ईश्वरवासकं पञ्चमण्डल्यां प्रणिपत्य ददाति पञ्चविंशतिश्च दीनारान्।—साँची का लेख गु० स० ९३ (गु० ले० नं० ५)

रहती थी। उस संस्था को केन्द्रीय शासक नियन्त्रित नहीं करता था, परन्तु दोनों में राजकीय कर के विषय में सम्बन्ध रहता था[१]। केन्द्रीय शासन जिस किसी के अधीन हो, लेकिन ग्राम-सभा हमेशा स्वतन्त्र रूप से कार्य करती थी।

इस ग्राम-पञ्चायत के सदस्य कुछ पदाधिकारी तथा थोड़े ग़ैर-सरकारी मनुष्य होते थे। गुप्तकालीन ग्राम-संस्था का विवरण उनके लेखों में स्पष्ट रूप से मिलता है।

पदाधिकारी

दामोदरपुर के ताम्रपत्र (नं० ३) में ग्रामसभा के सदस्यों का नाम निम्न प्रकार से मिलता है[२] :—

(१) महत्तर, (२) अष्टकुलाधिकारी—आठ कुलों के मुखिया, (३) ग्रामिक—ग्राम के प्रधान-प्रधान व्यक्ति, (४) कुटुम्बिन्—परिवार के मुख्य व्यक्ति।

इन्हीं चार सभ्यों के द्वारा ग्राम का प्रबन्ध किया जाता था। ये सदस्य चुने जाते या निर्वाचित किये जाते थे, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह निश्चित है कि ग्राम-संस्थाएँ एक छोटा प्रजातन्त्र थीं। इसमें प्रजा का सारा अधिकार रहता था। पिछले दक्षिण भारत के चोल लेखों में ग्राम-पञ्चायत तथा इसके कार्यों का सविस्तर विवरण मिलता है। इन लेखों द्वारा संस्थाओं की निर्माण-पद्धति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। चोल राज्यान्तर्गत ग्राम-संस्थाओं का सार्वजनिक चुनाव होता था। ग्राम-सभा के सभ्यों के योग्यता सम्बन्धी नियम, अधिवेशन के नियम तथा चुनाव का नियम आदि विषयों का वर्णन मिलता है[३]।

राजा के सदृश महत्तर को भी ग्राम में समस्त अधिकार मिला था। महत्तर ग्रामसभा के सदस्यों के साथ विचार कर उस स्थान के निवासियों पर कर

अधिकार

लगाता था। दीन तथा श्रोत्रियों को कर से मुक्त करने का भार इसी संस्था पर था। ग्राम में न्याय का अधिकार भी पञ्चायत के हाथ में था।

ग्राम का कार्य बहुत ही विस्तृत था। ग्राम का शासन-प्रबन्ध तथा सार्वजनिक कार्य ग्राम-सभा के अधीन था। कार्य की अधिकता के कारण सभा कई अन्य उपसमि-

उपसमिति

तियाँ स्थापित करती थी। कृषि, उद्यान, सिंचाई, मन्दिर आदि के प्रबन्ध के लिए भिन्न-भिन्न समितियाँ थीं[४]। इनसे पञ्चायत के काम में सहायता मिलती थी तथा प्रत्येक कार्य सुन्दर रूप से होता था।

---

१. दीक्षितर—हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम पृ० ३२४, ३२८।

२. ए० इ० भा० १५।

३. आ० स० रि० १९०४–५ पृ० १४२–४५; साउथ इंडियन इन्सक्रिपशन जिल्द २ भा० ३; १८९० का नं० १, २।

४. सरकार—पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन एंड थियरी आफ दी हिन्दू पृ० ५६। दीक्षितर—हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव सिस्टम पृ० ३५८।

ग्राम के समस्त प्रबन्ध के लिए आय की परम आवश्यकता थी। अतएव ग्राम-संस्था को यह अधिकार था कि वह स्थानीय (भूमिकर के सिवा) अन्य कर संग्रह करे। समय समय पर राजा उसको सहायता भी देता था।

आय

ग्राम की सीमा में भूमि का प्रबन्ध पञ्चायत ही करती थी। जो मनुष्य तीन वर्ष तक भूमिकर न देता था तो उस अवस्था में ग्राम-सभा को यह अधिकार था कि वह उस भूमि को बेच दे[१]। उस सीमा में भूमि-विक्रय का भार ग्राम-संस्था पर ही छोड़ दिया गया था। गुप्त-कालीन ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि जब भूमि विक्रय की जाती थी तो समस्त मूल्य का छठाँ भाग राजकोष में जाता तथा पाँच भाग ग्राम-सभा लेती थी[२]। इस प्रकार से हुई आय को पंचायत ग्राम के हित के लिए व्यय करती थी। ग्राम का आय-व्यय का हिसाब रखनेवाला कर्मचारी 'तल्वाटक' कहलाता था। ग्राम-प्रबन्ध का निरीक्षण करने के लिए राजा की ओर से एक अधिकारी नियुक्त किया जाता था[३]। उसके द्वारा राजा को ग्राम सम्बन्धी बातें ज्ञात होती थीं, परन्तु ग्राम-कार्य में हस्तक्षेप करने का उसे अधिकार न था।

भूमि क्रय करने के समय निवेदक उसी कार्यालय में आवेदनपत्र देता था, जिसकी सीमा में भूमि-स्थित होती थी। 'विषय' सीमा में वर्तमान होने पर विषयपति के अधिकरण में तथा ग्राम-सीमा में स्थित होने पर महत्तर के कार्यालय में निवेदन-पत्र भेजा जाता था। ग्राम-सीमा के भूमि विक्रय में पञ्चायत स्वतन्त्र थी। महत्तर उस भूमि को स्वयं देखता था तथा स्थानीय ब्राह्मणों और अन्य कुटुम्बियों को इसकी सूचना देता था[४]। आवश्यक बातों (भूमि की विशेषता तथा सीमा) को जाँचकर तत्कालीन शुल्क (Rate) के अनुसार भूमि विक्रय की जाती थी। गुप्त-लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय भूमि का शुल्क चार, तीन या दो दीनार प्रति कुल्यावाप के लिए देना पड़ता था[५]। इन भूमियों का विस्तृत विवरण ताम्रपत्रों पर खुदवा दिया जाता था। ये विवरण पञ्चायत के कार्यालय में भी सुरक्षित रहते थे। इन समस्त लेखों का संग्रह रखनेवाला 'पुस्तपाल' कहा जाता था। यह महत्तर के कार्यालय में अकेला रहता था।

भूमि-सम्पादन

प्रायः प्रत्येक स्थान पर सीमा निर्धारित करने में विवाद हो जाता है। अधिकतर ग्रामों में क्षेत्र-सीमा-सम्बन्धी झगड़ा स्वाभाविक रूप से कठिन होता है। गुप्त कालीन लेखों को छोड़कर स्मृतियों ने इस विवाद को निपटाने का सरल मार्ग बतलाया है। क्षेत्रज विवाद को अधिकतर वृद्ध, सामन्त, गोप, सीमा के कृषक तथा जंगलों के निवासी ही तय करते

सीमा-विवाद

---

१. मजूमदार—कारपोरेट लाइफ इन एंशेंट इंडिया पृ० १६१।

२. फरीदपुर ताम्रपत्र—इ० ए० भा० १०।

३. सरकार—पोलिटी इन्स्टी० एंड थियरी ऑफ हिन्दू पृ० ५६।

४. दामोदरपुर ताम्रपत्र नं० ३।

५. देखिए पृ० ३२।

थे[1]। क्योंकि ये लोग बहुत दिन से उस भूमि से परिचित अवश्य होंगे। इस झगड़े से सर्वदा के लिए मुक्त होने को वृद्ध लोग वृक्ष, झाड़ी, टीला तथा सेतु बाँधकर दोनों सीमाओं का निर्णय कर देते ताकि वे सदा भिन्न-भिन्न प्रकट हों[2]। इस प्रकार ग्राम-पंचायत अपनी सीमा के अन्तर्गत क्षेत्रज विवादों का निपटारा करवाती थी। यदि उस सीमा-विवाद की भूमि दोनों पक्षों में किसी की न होती थी, तो वह भूमि जनता की समझी जाती तथा राजा के अधिकार में ले ली जाती। इसी प्रकार का न्याय वन, चरभूमि, मार्ग, मन्दिर आदि सम्बन्धी विवादों के कार्य में भी लाया जाता था[3]।

---

१. सेतुकेदारमर्यादाविकृष्टाकृष्टनिश्चये।—क्षेत्राधिकारो यस्तु स्यात् विवादः क्षेत्रजस्तु सः॥
क्षेत्रसीमाविवादेषु सामन्तेभ्यो विनिश्चयः। नगरग्रामगणिनो ये च वृद्धतमा नराः॥
नारद०—सीमाबन्ध ११।१,२

सीम्नो विवादे क्षेत्रस्य सामंताः स्थविरादयः।
गोपाः सीमाकृषाणां ये सर्वे च वनगोचराः॥—याज्ञ० २।१५०।

२. नयेयुरेते सीमानं स्थलाङ्गारतुषद्रुमैः।
सेतुवल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैरुपलक्षिताम्।—याज्ञ० २।१५१।

३. यदि न च स्युर्ज्ञातारः [illegible]।
तदा राजा द्वयोः [illegible] ॥—नारद० ११।११।
एतेनैव गृहोद्यानविपानायतनादिषु।
विवादविधिराख्यातस्तथा ग्रामान्तरेषु च॥ वही ११।१२।

गुप्त-कालीन आर्थिक अवस्था

प्राचीन भारत न केवल आध्यात्मिक उन्नति में ही पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था बल्कि वह भौतिक क्षेत्र में पर्याप्त वृद्धि कर चुका था। आध्यात्मिक उन्नति के साथ ही साथ धन-धान्य की भी प्रचुर वृद्धि हुई। गुप्त-काल में जनता वैभव-शालिनी थी तथा सुख से अपना जीवन व्यतीत करती थी। समस्त साम्राज्य में कोई भी आर्त, दरिद्र तथा दुखी नहीं था[1]। सब लोग सुख की नींद सोते तथा चैन की वंशी बजाते थे। गुप्त-सम्राटों के विशाल वैभव तथा प्रजा की प्रचुर धन-सम्पत्ति का पता नीचे के वर्णन से स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है।

भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि रहा है। अतएव गुप्तकाल में भी जनता के जीविकोपार्जन का प्रधान साधन कृषि ही था। उस समय में प्रायः सभी प्रकार के अन्न और फल यहाँ पैदा होते थे। राजा समस्त भूमि का माप करवाता था तथा उस भूमि को टुकड़ों—प्रत्यय—में बाँटता था[2]। समस्त भूमि के टुकड़ों की सीमा निर्धारित की जाती थी। सिंचाई का बहुत अच्छा प्रबन्ध था तथा नहरों, तालाबों और कुओं द्वारा सिंचाई की जाती थी[3]।

कृषि और सिंचाई का प्रबन्ध

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय गिरनार पर्वत के नीचे एक विशाल सुदर्शन नामक सरोवर बनाया गया था। उसके पौत्र सम्राट अशोक ने उस सरोवर से एक नहर निकाली थी। गुप्त काल में उसी सुदर्शन कासार का जीर्णोद्धार स्कन्दगुप्त ने कराया था[4]। पीछे के गुप्त नरेश आदित्यसेन की स्त्री ने एक बृहत् जलाशय का निर्माण कराया था[5]। इन प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में सिंचाई पर कितना ध्यान दिया जाता था। जहाँ सिंचाई का इतना अच्छा प्रबन्ध हो वहाँ की पृथ्वी का उर्वरा होना स्वाभाविक है। महाकवि कालिदास के वर्णन से ज्ञात होता है कि इस काल में धान और ईख की खेती प्रचुर मात्रा होती थी[6]।

---

१. आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो, दंड्यो न वा यो भृशपीडितः स्यात्।
—स्कन्दगुप्त का जूनागढ़ लेख।

२. का० इ० इ० नं० ३८।

३. वही नं० ४६।

४. जूनागढ़ का लेख—का० इ० इ० नं० १४।

५. तस्यैव प्रियभार्यया नरपतेः श्री कोणदेव्या सरः।—अफसाद का शिलालेख।

६. इक्षुच्छायनिषादिन्यः तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्। आकुमारकथोद्घातं [illegible]॥
—[illegible] ४।२०।

[illegible]। —[illegible] ४।१०।

व्यापार तथा नगर

कृषि के पश्चात् जनता का प्रधान व्यवसाय व्यापार था। गुप्तकाल में व्यापार मुख्यत: छोटी-छोटी समितियों (श्रेणियों) के हाथ में था। प्राचीन भारत में केवल ग्राम नहीं थे बल्कि सुविशाल व्यापारिक नगर भी थे, जो अपनी समृद्धि तथा प्रासादों के लिए विख्यात थे।

पाटलिपुत्र

पाटलिपुत्र इन्हीं प्रधान नगरों में से एक था। फाहियान ने इसका बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। उसने लिखा है—"नगर में सम्राट् अशोक का प्रासाद और सभा-भवन है। ये सब असुरों के द्वारा बनाये गये हैं। पत्थर चुन-कर भीतें और द्वार बनाये गये हैं। सुन्दर खुदाई और पच्ची-कारी है। इसे इस लोक के लोग नहीं बना सकते। अब तक ऐसे ही हैं। मध्यदेश में इस जनपद का यह नगर सबसे बड़ा है। अधिवासी सम्पन्न और समृद्धिशाली हैं[1]"।

वैशाली

गुप्तकाल में पाटलिपुत्र के समान वैशाली भी एक प्रधान नगर था। व्यापार में भी यह कम चढ़ा-बढ़ा नहीं था। यहाँ पर अनेक मिट्टी की मुहरें मिली हैं[2] जिनसे ज्ञात होता है कि वैशाली में अनेक व्यापारिक संस्थाएँ वर्तमान थीं। इन मुहरों पर 'श्रेष्ठी सार्थवाह कुलिक निगम' लिखा मिलता है[3] जिससे उपर्युक्त कथन की प्रबल पुष्टि होती है। इन निगमों के द्वारा व्यापार सुसंगठित रूप से चलता था। ये संस्थाएँ बैङ्क का भी काम करती थीं।

उज्जयिनी

इस काल में मालवा की उज्जयिनी नगरी भी बड़ी विशाल तथा समृद्धि-शालिनी थी। यह उत्तरी भारत तथा भड़ौच के बीच में व्यापारिक दृष्टि से केन्द्र का काम करती थी। सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इसी उज्जयिनी को अपनी दूसरी राजधानी बनाया था। अत: इससे स्पष्ट सिद्ध है कि उस काल में यह अवश्य ही एक महत्त्वपूर्ण नगरी रही होगी। इसी स्थान से गुप्त-कालीन प्रधान गणितज्ञ वराहमिहिर ने पृथ्वी का देशान्तर तैयार किया था। महाकवि कालिदास तो इस नगरी के वैभव तथा सम्पत्ति पर इतने मुग्ध थे कि उन्होंने इसे 'स्वर्ग का एक चमकता हुआ टुकड़ा' तक कहने का साहस किया है तथा लिखा है कि यह नगरी धन से परिपूर्ण थी[4]। उज्जयिनी नगरी के विशाल वैभव तथा अतुलनीय सम्पत्ति का अनुमान करना भी कठिन है। शूद्रक के द्वारा वर्णित वसन्तसेना के वैभवशाली महल, सोने की सीढ़ियों, रत्नजटित गृह के फलक तथा स्फटिक-मणि-निर्मित

---

१. फाहियान यात्रा-विवरण पृ० ५८-५९

२. आ० स० रि० १९०३-४।

३. मुहर नं० २९।

४. [illegible] पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
[illegible] गतानां,
[illegible] खण्डमेकम् ॥—पूर्वमेघदूत, ३०।

खिड़कियों से प्राचीन विशाला (उज्जयिनी) के विशाल वैभव का कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है[1]।

दशपुर

उज्जयिनी के अतिरिक्त मालवा की दूसरी नगरी दशपुर का वर्णन भी वत्सभट्टि ने बड़े ही सुन्दर तथा रमणीय शब्दों में किया है। इस नगरी की सुन्दर वाटिकाओं तथा कासारों की छटा, रमणियों का सङ्गीत, गगनचुम्बी सुन्दर अट्टालिकाओं की रमणीयता, मदमत्त नगेन्द्रों की क्रीड़ा तथा पिञ्जरित हंसों का विलास हृदय को बलात् चुराये लेता है। राजा-प्रजा के चरित्र का वर्णन भी कवि ने बड़े मनोहर शब्दों में किया है। कवि वत्सभट्टि के इस अत्यन्त रमणीय तथा मनोरम सचित्र वर्णन को देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता।

तटोत्थवृक्षच्युतनैकपुष्प विचित्रतीरान्तजलानि भान्ति।
प्रफुल्लपद्माभरणानि यत्र, सरांसि कारण्डवसंकुलानि ॥ ७ ॥
विलोलवीचीचलितारविन्द पतद्रजः पिञ्जरितैश्च हंसैः।
स्वकेसरोदारभराबभुग्नैः, क्वचित्सरांस्यम्बुरुहैश्च भान्ति ॥ ८ ॥
स्वपुष्पभारावनतैर्नगेन्द्रैः मदप्रगल्भालिकुलस्वनैश्च।
अजस्रगाभिश्च पुराङ्गनाभिः वनानि यस्मिन्समलंकृतानि ॥ ६ ॥
कैलासतुङ्गशिखरप्रतिमानि चान्यान्याभान्ति दीर्घवलभीनि सवेदिकानि।
गान्धर्वशब्दमुखराणि निविष्टचित्रकर्माणि लोलकदलीवनशोभितानि ॥११॥
प्रासादमालाभिरलंकृतानि, धरां विदार्यैव समुत्थितानि।
विमानमालासदृशानि यत्र, गृहाणि पूर्णेन्दुकरामलानि ॥ १२ ॥
नृपतिभिः सुतवत्प्रतिमानिताः, प्रमुदिता न्यवसन्त सुखं पुरे[2] ॥ १५ ॥

भड़ौंच

बम्बई प्रान्त का भड़ौंच नगर भी व्यापार में बढ़ा-चढ़ा था। इसका प्राचीन नाम भृगुकच्छ था। इसी के बन्दरगाह से फ़ारस तथा मिस्र आदि देशों को भारत से माल जाता था। इसी प्रकार के अन्य अनेक शहर इस काल में अपने वैभव तथा व्यापार के लिए प्रसिद्ध थे।

---

१. अत्रापि प्रथमे प्रकोष्ठे [illegible] सोपानशोभिता प्रसादपंक्तयः [illegible] (मृच्छ० ४ पृ० १३६) इयापि षष्ठे प्रकोष्ठेऽमूनि तावत्सुवर्णरत्नानां कर्मं तोरणानि नीलरत्नविनिक्षिप्तानीन्द्रायुधस्थानमिव दर्शयन्ति। वैदूर्यमौक्तिकप्रवालकपुष्परागेन्द्रनीलकर्केतरकपद्मरागमरकतप्रभृतीन् रत्नविशेषानन्योन्यं विचारयन्ति शिल्पिनः। बध्यन्ते जातरूपैः माणिक्यानि। घट्यन्ते सुवर्णालंकाराः। रक्तसूत्रेण [illegible] मौक्तिकाभरणानि। घृष्यन्ते धीरं वैदूर्याणि। छिद्यन्ते शङ्खाः। शाणे घृष्यन्ते प्रवालकाः। [illegible] [illegible]। सार्यते कस्तूरिका। विशेषेण घृष्यन्ते चन्दनरसः। [illegible]। मृच्छ० ४। पृ० १४२ (बम्बई संस्करण)

२ कुमारगुप्त का मन्दसोर का लेख। का० इ० इ० नं० १८।

गुप्तकाल में व्यापार स्थल और जल—दोनों मार्गों से होता था। भारत का व्यापार विश्वव्यापी हो गया था। पूर्व तथा पश्चिम के समस्त देशों में भारतवर्ष ही की बनी वस्तुओं का व्यवहार होता था। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि समस्त देश अपने आवश्यकीय पदार्थों के लिए सदा भारत का मुख देखते थे। इस समय भारतीय व्यापार अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। अरब, फ़ारस, मिस्र तथा रोम आदि देशों से भारत का व्यापार होता था। जल-मार्ग के अतिरिक्त स्थल-मार्ग से भी प्रचुर परिमाण में व्यापार होता था। भारत में स्थल मार्ग से व्यापार करने की सुविधा के लिए बड़ी-बड़ी सड़कें बनाई गई थीं। गुप्त-काल से भी पूर्व मौर्यकाल में पाटलिपुत्र से अफ़ग़ानिस्तान तक ११०० मील लम्बी सड़क बनाई गई थी। साधारण सड़कें भी बहुत जगह बनी हुई थीं[1]। इन सड़कों का महत्त्व युद्ध की दृष्टि से भी बहुत बड़ा था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने पारसियों पर विजय प्राप्त करने के लिए स्थलमार्ग ही से प्रस्थान किया था[2]। फ़ाहियान की सकुशल स्थल-यात्रा से पता चलता है कि गुप्तकाल में स्थल-मार्ग कितने सुरक्षित थे। उसको समस्त मार्ग में एक भी डाकू या चोर नहीं मिला।

स्थल-मार्ग

इस काल में भड़ौंच के बन्दरगाह से पाटलिपुत्र तक बहुत बड़ा व्यापार चलता था। पाटलिपुत्र से इलाहाबाद होते हुए एक सड़क भी भड़ौंच को गई थी। इस व्यापार के मार्ग में उज्जयिनी केन्द्र थी। पाटलिपुत्र से भड़ौंच का सारा व्यापार इसी नगरी से होकर हुआ करता था। पेरिप्लस ने लिखा है कि भड़ौंच से व्यापारिक सामग्रियाँ बाँटी जाती थीं। वहाँ से स्थल-मार्ग होकर अरब तक सब चीज़ें जाती थीं। स्थल-मार्ग के द्वारा स्वदेश में ही नहीं, परन्तु विदेश से भी व्यापार होता था। स्थल मार्ग से चीन, बैबिलोन, अरब तथा फ़ारस आदि से भारत का सम्बन्ध था[3]। रिज़ डेविड्स ने लिखा है कि स्वदेश तथा विदेश में भारतीय व्यापार दोनों मार्गों से होता था। उसने ५०० बैलगाड़ियों के कारवान का वर्णन किया है[4]। योरोप के साथ भी भारतीय व्यापार स्थल-मार्ग से होता था। एक मार्ग पलमायरा होते हुए रोम और सीरिया की ओर जाता था तथा दूसरा आक्सस और कैस्पियन सागर से होता हुआ मध्य योरोप तक पहुँचता था[5]।

---

१. सरकार—पोलिटिकल इन्स्टीच्यूशन्स एंड थ्योरीज़ आव हिन्दूज़, पृ० १०२—३।

२. पारसीकान् ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना—रघु० ४।६०।

३. इब्न खुर्दाजबा ने अपनी पुस्तक 'किताबुल मसालिक' में भारत और अरब के व्यापारिक सम्बन्ध का विस्तृत वर्णन किया है। उनका कथन है कि बसरा से भारत के लिए सुगम स्थल-मार्ग था। तीसरी शताब्दी में व्यापार ऊँचे दर्जे तक पहुँचा हुआ था। भारतीय सामग्री अरब तक जाती थी।

४. जे० आर० ए० एस० १६०१।

५. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका भा० २ पृ० ४५६।

स्थलमार्ग के साथ-साथ गुप्तकाल में जलमार्गीय व्यापार भी ऊँचे स्थान को पहुँच गया था। व्यापार के लिए बड़े-बड़े जहाज़ी बेड़े बनाये गये थे। उस समय पूरब में चीन तथा पच्छिम में अफ्रिका व योरप तक भारतीय जहाज़ व्यापार की सामग्री लेकर जाते थे[1]। इन सुदूर देशों के सिवा भारतीय किनारों तथा समीपवर्ती टापुओं से भी पर्याप्त मात्रा में व्यापार था[2]। बौद्ध जातक-कथाओं में भड़ौंच से भारत के पश्चिमी किनारों के व्यापार का वर्णन मिलता है[3]।

जलमार्ग

गुप्तों से पहले ही भारत तथा रोम का व्यापार वृद्धि पर था। कुषाण-काल में भारतीय रेशमी वस्त्र, रङ्ग, मोती तथा मसाले के विनिमय में रोमन सिक्के भारत में आते थे। रोम से सोने के सिक्के इतना अधिक मात्रा में आते थे कि प्लीनि ने (ई० स० ७८) अपने देश के धनी-मानी लोगों की बड़ी निन्दा की थी। उसने कहा था कि करोड़ों रुपयों के पदार्थ—सुगंधित तैल, आभूषण आदि—प्रत्येक वर्ष भारत से क्रय किये जाते हैं; इसी कारण उसने धनवानों द्वारा इतने रुपयों के माल के अपव्यय की निन्दा की[4]। पश्चिमी व्यापार के लिए सुपारा तथा भड़ौंच बन्दरगाहों से भारतीय माल बाहर जाता था। टालेमी ने भी इसका वर्णन किया है। भारत के पश्चिमी मालाबार किनारे से मिस्र तथा एशिया के देशों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया था[5]। मेक्रीन्डल ने वर्णन किया है कि चतुर भारतीय नाविक ग्रीक लोगों को अरब सागर होते मालाबार किनारे तक ले जाते थे[6]। व्यापार के विनिमय तथा सुविधा के लिए गुप्त-सम्राटों ने अपने सिक्कों को रोमन तौल पर तैयार करवाया था। रोमन सिक्के दिनेरियस (Danerius) के समान ही गुप्तों के सिक्के दीनार के नाम से प्रसिद्ध थे[7]। पश्चिमी व्यापार के प्रमाणभूत गुप्तों का एक सिक्का मैडागासकर में मिला है जो गुप्त-कालीन जलमार्गीय व्यापार की पुष्टि करता है[8]। इन विवरणों के अतिरिक्त प्राचीन साहित्य में यवन तथा रोमक शब्द का प्रयोग मिलता है। रोमक से रोमनगर तथा यवन से ग्रीक और रोमन लोगों का तात्पर्य है। वराहमिहिर ने (ई० स० ६००) बृहत्संहिता में रोमक (रोमनगर) तथा भरुकच्छ (भड़ौंच बन्दरगाह) का उल्लेख किया है[9]। इतना ही नहीं,

पश्चिमी व्यापार

---

१. सेवेल—इम्पीरियल गज़ेटियर पृ० ११२।
२. मुकर्जी—हर्ष पृ० १८१।
३. जातक २ पृ० १८७।
४. जे० आर० ए० एस० १९०४ पृ० ५९४।
५. कृष्णस्वामी—कन्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इंडिया टू इंडियन कलचर पृ० ३३३।
६. एंशेंट इंडिया—मेक्रीन्डल पृ० ११०।
७. [illegible]
८. मुकर्जी – इंडियन शिपिंग पृ० १८९।
९. गिरिनगर[illegible]भरुकच्छ[illegible]रोमक[illegible]।

परन्तु तामिल व पांड्य देशों में रोमन सैनिक राजाओं की सेना में नौकरी करते थे[1]। इन समस्त वृत्तान्तों से यही ज्ञात होता है कि ईसा की प्रथम शताब्दी से ही भारत तथा पश्चिमी देशों में व्यापार स्थापित हो गया था[2]। प्लीनि के वर्णन से स्पष्ट प्रकट होता है कि गुप्तकाल में इसकी मात्रा अधिक बढ़ गई थी।

पश्चिमी व्यापार के अतिरिक्त भारत तथा पूर्वी देशों से व्यापार की महत्ता कम न थी। भारत से तथा समीपवर्ती जावा, कम्बोडिया व स्याम आदि देशों से व्यापार बराबर चलता था[3]। इसका वर्णन कविवर कालिदास ने भी किया है[4]। मसाला द्वीप से उनका जावा तथा सुमात्रा से तात्पर्य है। वहाँ तो भारतीयों ने अपना उपनिवेश बनाया था। इस जलमार्गीय व्यापार की पुष्टि जावा के बौद्ध बोरोबुडुर मन्दिर के चित्रों से होती है। इस स्थान पर बड़े-बड़े जहाज़ों की यात्रा सम्बन्धी चित्र अंकित हैं। गुप्तकाल में पूर्वीय समुद्र में भारतीय व्यापार ने गहरा प्रभाव पैदा किया था। यह व्यापार भारतीय प्रायद्वीप व द्वीप-समूह तथा चीन देश तक फैला हुआ था और एक नियमित जलमार्ग स्थापित हो गया था[5]। इसकी पुष्टि साहित्यिक प्रमाणों से होती है। कालिदास के वर्णन से ज्ञात होता है कि चीनदेशीय रेशमी वस्त्र का प्रचार भारत में हो गया था[6]। इस प्रकार पूरब में द्वीप-समूहों से होते चीन देश तक भारत का व्यापार विस्तृत था।

पूर्वी व्यापार

इस जलमार्गीय व्यापार के वर्णन से ज्ञात होता है कि गुप्तकालीन व्यापारियों के पास पश्चिम में अफ्रिका तथा पूरब में चीन तक पहुँचने के लिए बड़ी-बड़ी नावें तथा सामुद्रिक जहाज़ अवश्य होंगे। यदि तत्कालीन साहित्यिक तथा चित्रकला के वर्णन का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि गुप्तकाल में बड़े-बड़े जहाज़ों का निर्माण होता था तथा लोग उनका उपयोग करते थे। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने सौराष्ट्र तथा मालवा के शकों पर विजय प्राप्त की थी। इस पराजय के कारण शकों ने निरापद भूमि को खोजकर जावा में अपना उपनिवेश बनाया। इस बात की पुष्टि एक लेख[7]

पोत-कला

१. तामिल १८०० वर्ष पूर्व; कृष्णस्वामी—कन्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इंडिया पृ० ३३०।

२. बिगनिंग आफ साउथ इंडियन हिस्ट्री पृ० १२।

३. कुमारस्वामी—हिस्ट्री आफ इंडिया एंड इंडोनेशियन आर्ट पृ० २०६।

४. अनेन सार्धं विहराम्बुराशेः तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः॥—रघुवंश ६।५७।

५. मुकर्जी—इंडियन शिपिंग पृ० १८२। कृष्णस्वामी—कन्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इंडिया पृ० ३४३।

६. चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।—शकुंतला १।३२
संतानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।—कुमार० ७।३।

७. इ० ए० भा० ५ पृ० ३१४।

तथा जावा की एक जनश्रुति से होती है। इस जनश्रुति में विशेष वर्णन यह मिलता है कि ई० स० ६०० में गुजरात का एक राजकुमार छः बड़े-बड़े जहाज़ों में पाँच हज़ार मनुष्यों के साथ जावा में पहुँचा[1]। उस समय सौराष्ट्र के निवासी जलमार्गीय व्यापार-विनिमय तथा सामुद्रिक जीविकोपार्जन के लिए प्रसिद्ध थे[2]। गुप्तकालीन चीनी यात्री फ़ाहियान ने अपनी अन्तिम यात्रा ताम्रलिप्ति से सिंहल, सुमात्रा आदि होते हुए चीन तक जहाज़ों द्वारा ही समाप्त की। उसने वर्णन किया है, 'फिर व्यापारियों के एक बृहत् पोत पर चढ़ा, समुद्र में दक्षिण-पश्चिम ओर चला'। 'इन संस्कृत प्रतियों को पाकर वह एक व्यापारी के बड़े पोत पर चढ़ा। उसमें २०० से अधिक मनुष्य थे। पीछे एक छोटी नौका समुद्र-यात्रा की क्षति के रक्षार्थ बड़े पोत से बंधी हुई थी[3]।' इन साहित्यिक प्रमाणों का समर्थन समुद्र-यात्रा-सम्बन्धी चित्रों से भी होता है। भारत के समीपवर्ती द्वीप-समूहों में व्यापार के कारण सांस्कृतिक प्रभाव भी पड़ा। जावा में उपनिवेश के साथ-साथ भारतीय सभ्यता भी फैली। वहाँ के बोरोबुदुर नामक बौद्ध-मन्दिर में जहाज़ के अनेक चित्र अंकित हैं[4] जिनके अध्ययन से प्रकट होता है कि भारतीयों ने बड़े-बड़े जहाज़ों द्वारा वहाँ प्रवेश किया और अपना उपनिवेश बनाया। इन प्रमाणों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में पोत-निर्माण-कला एक ऊँचे स्थान तक पहुँची हुई थी। जिस महान् ध्येय तथा आकार में पोत बनाये जाते थे उसके संचालन में भारतीय निपुण भी थे। कालिदास ने एक वंग-निवासी नाविक धनमित्र की पोतकला में निपुणता का वर्णन किया है[5]। डा० कुमारस्वामी का मत है कि गुप्तों का साम्राज्य-काल ही भारतीय पोत-निर्माण-कला का सब से महान् युग था, जब कि भारतवर्ष से पूरब में कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो तथा चीन और पश्चिम में अरब व फ़ारस के साथ व्यापारिक सम्बन्ध व उपनिवेश स्थापित था। पन्द्रहवीं व सोलहवीं शताब्दियों के योरपीय व्यापारिक जहाज़ों से प्राचीन भारतीय पोत बड़े थे[6]। प्राचीन पोतकला की

---

१. हिस्ट्री आफ़ जावा भा० २ पृ० ८२।

२. बील—बुद्धिस्टिक रेकर्ड भा० २ पृ० २६९।

३. फ़ाहियान का यात्रा विवरण पृ० ८० तथा ९१

४. हैवेल इंडियन कल्चर एंड पेंटिंग प्लेट ११।

५. वङ्गानुत्खाय तरसा नेता नौसाधनोद्यतान्।
निचखान जयस्तम्भान् गङ्गास्रोतोऽन्तरेषु च ॥—रघुवंश ४।३६।
यादोनाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम्।—रघु० १७।८१।
कथम्। समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः।—शकुंतला ६, पृ० २९३.

६. आर्ट एंड क्राफ्ट इन इंडिया पृ० १६६।

'The greatest period of Indian ship building however must have been the Imperial age of the Guptas and (Harsha Vardhan). When Indians possessed great colonies in Pegu, Cambodia, Java, Sumatra, Borneo and trading settlement in China, Arabia and Persia. Many notices in the work of European traders of 15th and 16th Centuries, show that Indian ship of that age were larger than their own.'

—Art and Craft in India p. 166.

प्रशंसा सालविन नामक एक फ्रेञ्च विद्वान् ने की है। उसका कहना है कि भारतीय पोत-निर्माण-कला में बहुत उन्नति कर गये थे। आधुनिक भारतीय भी योरपीय ढङ्ग के जहाज़ों का नमूना तैयार कर सकता है[१]। आधुनिक काल में भारत की प्राचीन पोत-कला का ज्ञान भोज-कृत 'युक्तिकल्पतरु' से होता है[२], जिसमें पोत के निर्माण, प्रकार, माप, आकार तथा सजावट आदि का वर्णन मिलता है। भोज के कथन—

नानामुनिनिबधानां सारं आकृष्य यत्नतः। तनुते भोजनृपतिः युक्तिकल्पतरु मुदे॥

से ज्ञात होता है कि प्राचीन ज्ञान को लेकर यह पुस्तक तैयार की गई है। इन समस्त विस्तृत विवरणों से यही ज्ञात होता है कि प्राचीन भारतीय बड़े-बड़े जहाज़ों का उपयोग करते तथा पोत-कला से अनभिज्ञ न थे। गुप्त-काल में भारत से रोम, चीन तथा अन्य देशों के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित था। इस समय बड़े-बड़े तथा सुदृढ़ पोत तैयार किये जाते थे जिसकी स्थिति में तनिक भी सन्देह नहं है। इन्हीं पोतों द्वारा गुप्तकालीन जलमार्गीय व्यापार का अनुमान भी किया जा सकता है।

भारतीय आयात तथा निर्गत

भारत से अधिकतर रेशम, ऊन, मलमल आदि भिन्न-भिन्न प्रकारों के सूक्ष्म वस्त्र, मणि, मोती, हीरे, हाथीदाँत, मोरपंख, सुगन्धित द्रव्य तथा मसाले आदि विदेशों में जाया करते थे। मिस्र की आधुनिक खोज से वहाँ की ममियों की पुरानी कब्रों से बारीक भारतीय 'मलमल' मिली है[३]। यह बारीक मलमल ईस्ट इण्डिया कम्पनी के समय (१८वीं शताब्दी) तक विद्यमान थी जिसे ढाके की मलमल कहा जाता था। प्राचीन भारत वस्त्र के व्यवसाय में बड़ा उन्नत था। यहाँ के वस्त्र बड़े सुन्दर तथा महीन होते थे। यहाँ महीन ऊनी, रेशमी तथा सूती वस्त्र बनते थे। भारत की छींट, मलमल तथा शाल तो प्रसिद्ध ही था। कपड़े रँगने की कला भी बहुत उन्नत अवस्था में थी[४]। पेरिप्लस के ग्रन्थकर्ता ने लिखा है कि भारत से लाल मिर्च, मोती, हाथीदाँत, सिल्क, क़ीमती पत्थर, हीरा तथा मसाला प्रचुर मात्रा में विदेश को भेजा जाता था[५]। अरब के एक व्यापारी हज़रत उमर ने लिखा है कि भारत का समुद्र मोती है। छठीं शताब्दी में अरबवाले भारत से मोती, जवाहरात, सुगन्ध-द्रव्य ले आते। हाथीदाँत, लौंग, बेत आदि सामान भी व्यापारियों के द्वारा भेजा जाता था[६]। जिस प्रकार भारत विदेशों में अपनी चीज़ें भेजता था उसी प्रकार उन देशों की कुछ वस्तुएँ मँगाता भी

---

१. लेस हिन्दोअस. १८११।

२. यह मालवा के राजा भोज परमार थे। 'युक्तिकल्पतरु' का रचना काल ई० स० १०१८—६० तक माना जाता है।

३. ओझा—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ० १६७।

४. फाहियान—यात्रा-विवरण पृ० ६०।

५. कृष्णस्वामी—सम कन्ट्रीब्यूशन आव साउथ इंडिया टु इंडियन कलचर पृ० ३६०।

६. अबू ज़ैद सैराफ़ी पृ० १३५।

था। भारत में आनेवाली वस्तुओं में से घोड़ा, सोना, मूँगा, कपूर, रेशम का तागा, चन्दन, सुगन्धित द्रव्य और नमक आदि थे[1]। मसाला, लाल मिर्चा आदि मसाले के द्वीप से तथा चन्दन, कपूर और गुलाबजल चीन देश से आता था।[2] कपूर चीनदेशीय कपूर के नाम से प्रसिद्ध था। टांडी के बन्दरगाह से जहाज़ चन्दन तथा सुगन्धित द्रव्य आदि यहाँ लाते थे।

कपड़े रँगने की कला में भारतीय बड़े निपुण थे। वराहमिहिर के द्वारा वर्णित वज्रलेप से पता चलता है कि गुप्तकाल में रासायनिक कला वर्तमान थी। वस्त्र तथा रँगाई के कलाविदों के कारण रासायनिक शास्त्र में बड़ी उन्नति हुई थी। वनस्पतियों से भी भिन्न भिन्न प्रकार के रंग निकाले जाते थे। धातु-शोधन तथा लोह-द्रवण में और रसायन में अनेक आविष्कार भी हो चुके थे[3]। भारत व्यावसायिक उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा हुआ था। प्लिनी ने लिखा है कि प्रतिवर्ष रोमन राज्य से करोड़ों रुपया भारत में आता था जिसके बदले सुख की सामग्री और वस्त्र आदि वहाँ जाता था[4]। इसी से भारतीय व्यवसाय का अनुमान किया जा सकता है।

लोहे तथा फ़ौलाद के व्यवसाय में भी आश्चर्यजनक उन्नति हुई थी। गुप्तकालीन लोगों को कच्चे लोहे को गलाकर फ़ौलाद बनाना बहुत प्राचीन काल से ज्ञात था। खेती आदि के सब प्रकार के औज़ारों और युद्ध के हथियारों के बनाने में प्राचीन भारतीय अत्यन्त निपुण थे। लोहे का यह व्यवसाय इतनी अधिक मात्रा में होता था कि भारतीय आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद लोहा फ़िनीशिया में जाया करता था[5]। दमिश्क के तेज़ धारवाले औज़ारों की बड़ी प्रशंसा की जाती है। "परन्तु यह कला भी फ़ारस ने भारत से सीखी थी तथा अरबवालों ने इसे फ़ारस से लिया था[6]। गुप्त-कालीन भारतीय लौह व्यवसाय के उत्कर्ष को दिखलाने के लिए सम्राट् चन्द्र का मिहरौली लौह-स्तम्भ (कुतुबमीनार के पास देहली) ही पर्याप्त है। यह लौह-स्तम्भ २३ फ़ी० ८ इं० लम्बा है तथा तौल में ६ टन के क़रीब समझा जाता है[7]। "आज से लग-भग १५०० वर्षों के सुदीर्घकाल से लेकर यह लौह-स्तम्भ आकाश के नीचे खुले मैदान में खड़ा हुआ १५ शताब्दियों की धूप, बरसात और हवा को वीरता के साथ सहन करता हुआ स्थित है तथा आज भी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की गुण-राशि का कीर्तन कर रहा है। सब से आश्चर्य की बात यह है कि इतने वर्षों तक धूप और बरसात को खाते हुए भी इसमें ज़रा भी ज़ङ्ग नहीं लगा है।

लौह-व्यवसाय

---

१. कृष्णस्वामी—सम कंट्रीब्यूशन आव साउथ इंडिया टु इंडियन कलचर पृ० ३६१।

२ शिल्पाधिकारम् ४'२

३. सील—केमिकल थ्योरीज़ आव एंशेंट हिन्दूज़।

४. प्लिनी—नेचुरल हिस्ट्री।

५. ओझा—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति। पृ० १६८।

६. सारदा—हिन्दू सुपीरियारिटी पृ० ३५५।

७. स्मिथ—हिस्ट्री आव फ़ाइन आर्टस् इन इंडिया एंड सीलोन पृ० १७२।

इतना बड़ा तथा सुविशाल लौह-स्तम्भ आज दुनिया के किसी भी बड़े से बड़े कारखाने में तैयार नहीं हो सकता। इसी एक उदाहरण से लौह-व्यवसाय तथा कला की वृद्धि का अनुमान किया जा सकता है।

सोने तथा चाँदी आदि का व्यवसाय

इस काल में सोने तथा चाँदी के पात्र और आभूषण भी बनते थे। पात्रों के लिए अधिकतर ताँबा उपयोग में लाया जाता था[१]। सोना, चाँदी तथा मणि आदि के अधिकतर आभूषण ही बनते थे तथा मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं[२]। उज्जयिनी नगरी में स्थित बसन्तसेना के महल में सोना, चाँदी तथा मणि आदि के बने आभूषणों के मिलने का वर्णन पाया जाता है[३]। गुप्तकालीन सोने, चाँदी तथा ताँबे के प्राप्त सिक्कों से इन धातुओं के व्यवसाय का पता लगता है। इसी समय की एक बहुत सुन्दर ताँबे की मूर्ति सुलतानगंज (भागलपुर, बिहार) में मिली है। इस मूर्ति में भगवान बुद्ध अभयमुद्रा में खड़े दिखलाये गये हैं। आजकल यह भव्य-मूर्ति बरमिंघम (इँगलैंड) के संग्रहालय में सुरक्षित है[४]। इसके अतिरिक्त गुप्तकालीन पीतल तथा काँसा धातु की बनी हुई बुद्ध-प्रतिमाएँ भी मिली हैं जिससे ज्ञात होता है कि अन्य धातुओं के साथ पीतल व काँसा भी व्यवहार में लाया जाता था[५]। गुप्तकालीन सोने के सिक्कों की प्रचुरता से ज्ञात होता है कि इस काल में चाँदी से अधिक सोना ही भारत में प्राप्त था। उस समय सोना और चाँदी के मूल्य में क्रमशः १ और ८ का अनुपात था[६]।

मोती

वराहमिहिर (ई० स० ६००) ने उल्लेख किया है कि भारत में समुद्र से मोती निकालना भी एक राष्ट्रीय व्यवसाय था। यह सम्पूर्ण भारत के किनारों पर होता था तथा यह व्यवसाय फ़ारस की खाड़ी तक विस्तृत था। भारत से सोना, चाँदी तथा हीरा आदि के साथ ही साथ मोती भी विदेश में भेजा जाता था। इससे ज्ञात होता है कि समुद्र से मोती निकालने का व्यवसाय उन्नत अवस्था में था।

उपर्युक्त वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में उर्वरा भूमि होने के कारण तथा सिंचाई का सुन्दर प्रबन्ध होने से कृषि खूब होती थी। भारतीय व्यापारी स्वदेश में ही नहीं, सुदूर देशों के बाज़ार को भी अपने क़ब्ज़े में किये हुए थे। समस्त संसार अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारत का मुख देखा करता था। भारत व्यापारी देशों का शिरोमणि था तथा इसके नाविक कुशल एवं पोत-कला-निर्माण में सिद्धहस्त थे। इस प्रकार भारत समृद्ध, सम्पत्तिशाली तथा व्यवसाय में अग्रणी समझा जाता था।

---

१. फ़ाहियान—यात्रा-विवरण पृ० ३६।
२. वही पृ० ६०।
३. मृच्छकटिक—अं० ४ पृ० १४२।
४. हैवेल—ए हैन्ड बुक आव इंडियन आर्ट। पृ० १५६।
५. स्मिथ—हिस्ट्री आफ़ फ़ाइन आर्ट इन इंडिया एंड सीलोन पृ० १७४ व १७६।
६. ओझा—मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ० १६३।

व्यापारिक संस्थाएँ

प्राचीन काल में व्यापार पूँजीपतियों के हाथ में नहीं था। गण की पद्धति बहुत समय से प्रचलित थी। बौद्ध-साहित्य में भी अनेक गणों का वर्णन मिलता है। व्यापारी, व्यवसायी तथा कृषक आदि के गण वर्तमान थे। ये गण व्यापार और सिक्कों की शुद्धता पर ध्यान देते तथा बैंक का भी कार्य करते थे। गुप्त-काल में व्यपार इसी प्रकार के गणों के हाथ में था[1] जिसका विवरण लेखों तथा तत्कालीन स्मृतियों में मिलता है। याज्ञवल्क्य ने वर्णन किया है कि गणवाले अपना एक व्यवस्थित समुदाय बनाते, नियमों का पालन करते तथा व्यापार में हानि-लाभ के ज़िम्मेदार होते थे[2]। यदि उन नियमों का कोई उल्लंघन करता तो हानि का उत्तरदायित्व उसी के सिर पर रहता था[3]। हिन्दू-स्मृतियों में व्यावसायिक नियमों का भी अच्छा वर्णन मिलता है। राजा भी इन संघों के नियमों का आदर करता तथा इन श्रेणियों के नियमों को ध्यान में रखकर नियम तैयार करता था[4]। इनका उल्लेख लेखों[5] तथा मुहरों[6] में विस्तारपूर्वक मिलता है। ये व्यापारिक समितियाँ अपने-अपने नियम में व्यवस्थित थीं। गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल में पटकार समिति (Weaver organisation) का वर्णन मिलता है, जो लाट (दक्षिण गुजरात) से आकर दशपुर (मालवा) में निवास करती थी[7]। स्कन्दगुप्त के लेख में 'इन्द्रपुर-निवासिन्या तैलिकश्रेण्या' (इन्द्रपुर की रहनेवाली तैलिक समिति) का उल्लेख मिलता है[8]। इन लेखों में श्रेणी शब्द सर्वत्र व्यवहृत है जिसका तात्पर्य व्यापारिक समिति है[9]। उस समय पटकार, तैलिक, मृतिकार, शिल्पकार, वणिक् आदि प्रकार की श्रेणियाँ वर्तमान थीं। भीटा[10] (प्रयाग के समीप) तथा वैशाली[11] की मुहरों में

---

१. सरकार—पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन एंड थियरी आफ हिन्दू पृ० ४० —५०।

२. समवायेन वणिजां लाभार्थं कर्म कुर्वताम्।
लाभालाभौ यथा द्रव्यं यथा वा संविदा कृतौ।—याज्ञ० २।२५६।

३. प्रमादान्नाशितं दाप्यं प्रतिषिद्धं कृतं च यत्।—नारद०।

४. जातिजानपदान् धर्मान् श्रेणिधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्।—मनु० ८। ४१।
पाषण्डिनैगमश्रेणिपूगव्रातगणादिषु।
संरक्षेत्समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा।—नारद० १०।२।

५. का० इ० इ० भा० ३ नं० १६,१८। दामोदरपुर का ताम्रपत्र (ए० इ० भा० १५)।

६. भीटा व वैशाली की मुहरें—आ० स० रि० १९११-१२ व १९०३-४।

७. मन्दसोर का लेख—गु० ले० नं० १८।

८. इन्दौर ताम्रपत्र—वही १६।

९. येन शिल्पेन पण्येन वा ये जीवन्ति तेषां समूहः श्रेणिः।—काशिका (२।१।५९)

१०. कुलिकनिगमस्य—आ० स० रि० १९११-१२।

११. आ० स० रि० १९०३-४, मुहर नं० २९ (श्रेष्ठी सार्थवाह कुलिक निगम)।

'श्रेष्ठी', सार्थवाह, कुलिक के निगमों[1] का उल्लेख मिलता है। इन निगमों के द्वारा केवल व्यापार ही नहीं किया जाता था परन्तु ये अन्य विविध कार्य में भी हाथ बटाते थे। प्रत्येक समिति के कुछ नियम होते थे जिनके अनुसार उसका कार्य होता था। इन समस्त विषयों पर संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

समासद

पूर्वोक्त लेखों तथा मुहरों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में इन संस्थाओं की कोई छोटी समिति होती थी जिसके कई सभासद होते थे। यही सदस्य समस्त कार्य संपादन करते थे। मन्दसोर की प्रशस्ति में पटकार श्रेणी के बहुत सदस्यों का उल्लेख मिलता है जो भिन्न भिन्न विद्याओं में निपुण थे। कोई गान, कथा, धर्म-प्रसंग, वस्त्र बुनने, ज्योतिष, समर, धर्मशील आदि विषयों में दक्ष थे[2]। इन श्रेणियों में जाति-विभाग नहीं था। धार्मिक, साहित्यिक तथा सैनिक पुरुष एक ही श्रेणी का सदस्य हो सकता था। ये निगम अपने नियम में बंधे रहते थे। स्मृतियों ने उसके नियम को व्यक्तिगत रूप से 'समय' नाम दिया है[3]। इसी 'समय' से समस्त सदस्य व्यवस्थित रहते थे। यदि कोई इस नियम का उल्लंघन कर बेईमानी करता था, तो वह नैगम सभा से निकाल दिया जाता था[4]। इस कपट से यदि कुछ हानि होती थी तो उस सदस्य को उसका ग्यारह गुना दण्ड देना पड़ता था[5]।

शिक्षा-कार्य

निगम व्यापार के अतिरिक्त अपने व्यवसाय की शिक्षा भी देते थे। प्रत्येक श्रेणी के मनुष्य अपने बालकों को किसी भी कला में दक्ष बना सकते थे। अपने बान्धवों की आज्ञा लेकर विद्यार्थी किसी संस्था में प्रवेश करता तथा निश्चित समय तक विद्याभ्यास करता था। वहाँ विद्यार्थी गुरु-गृह में निवास करता था। गुरु-शिष्यों में पिता-पुत्र का व्यवहार रहता

---

१. मुहरों पर 'निगम' शब्द श्रेणी के लिए प्रयुक्त है।

२. श्रवणसुभगं धानु वैद्यं दृढ़ परिनिष्ठितैः। सुचरितशतासंगाः केचिद्विचित्रकथाविदः॥
विनयनिभृता सम्यग् धर्मप्रसङ्गपरायणाः प्रियं पुरुषं पथ्यं चान्ये क्षमाबहुभाषितम्। १६।
केचित् स्वकर्मण्यधिकाः तथान्यैः विज्ञायते ज्योतिषमात्मवद्भिः,
अद्यापि चान्ये समरप्रगल्भाः कुर्वन्ति अरीणामहितं प्रसह्य। १७।
प्राज्ञमनोज्ञवधवः प्रथितोरुवंशा वंशानुरूपचरिताभरणास्तथान्ये।
सत्यव्रताः प्रणयिनामुपकारदक्षा विश्रम्भपूर्वमपरे दृढसौहृदाश्च। १८।
विजितविषयसङ्गैः धर्मशीलै, तथान्यैः मृदुभिरधिकसत्त्वैः लोकयात्रामरैश्च।
स्व कुलतिलकभूतैः मुक्तरागैरुदारैरधिकमभिविभाति श्रेणिरेवं प्रकारैः॥१९।
—मन्दसोर का लेख (का० इ० इ० भा० ३ नं० १८)।

३. पाषण्डिनैगमादीनां स्थितिः समय उच्यते।— नारद १०। १

४. जिह्मं त्यजेयुर्निर्लाभमशक्तोऽन्येन कारयेत्।— याज्ञ० २। २६५।

५. समूह कार्य प्रहितो यल्लभेत तदर्पयेत्।
एकादशगुणं दाप्यो यद्यसौ नार्पयेत्स्वयम्।— याज्ञ० २।१९०।

था[1]। गुरु बालक को उसकी विशिष्ट-कला का ज्ञान कराता था। यदि वह उसको अन्य कार्यों में लगाता तो दण्डभागी होता था[2]। निर्धारित समय में उसी कला को सीखकर वह बालक अपने घर को वापस आता था[3]। इस प्रकार गुप्तकालीन स्मृति-ग्रन्थों में व्यावसायिक शिक्षा का वर्णन सुन्दर शब्दों में मिलता है।

बैङ्क का कार्य

प्राचीन काल में आधुनिक काल की तरह पृथक् बैंकों की सत्ता न थी—बैंक की तरह कार्य करने का भार इन्हीं श्रेणि या निगमों पर था। गुप्त-लेखों तथा मुहरों में इनके बैङ्क सम्बन्धी कामों का वर्णन मिलता है। वैशाली की मुहरों में निगमों की पृथक् मुहर मिली है। इनके चलाये नैगम सिक्के भी मिले हैं[4] जिनसे इन श्रेणियों के पूर्वोक्त कार्य का अनुमान किया जाता है। गुप्तकालीन अग्रहार-दान इन्हीं के अधीन रक्खे जाते थे। निगम समिति उस मनुष्य से व्यावहारिक 'समय' निश्चित कर लेती थी जिस पर दोनों में कोई मतभेद न हो। श्रेणि सभा उस दानभूमि या द्रव्य को सुरक्षित रखती थी जिसके सूद से मन्दिर में दीपक जलाने[5] या किसी निर्दिष्ट उद्देश की पूर्ति की जाती थी। दशपुर की पटकार समिति पर सूर्य-मन्दिर के पुनरुद्धार का भार था[6]। ये समितियाँ जनता के धन पर क्या सूद देती थीं, यह लेखों में वर्णित नहीं मिलता। परन्तु तत्कालीन स्मृति-ग्रन्थों के आधार पर ज्ञात होता है कि साधारणतः पन्द्रह प्रतिशत सूद की दर थी[7]। निगमों में जनता का पूर्ण विश्वास रहता था। यदि वे कारणवश स्थान-परिवर्तन भी करते थे तो किसी प्रकार का सन्देह नहीं पैदा होता था। ऊपर वर्णन किया गया है कि कुमारगुप्त प्रथम के समय में पटकार-श्रेणि लाट (दक्षिण गुजरात) से आकर दशपुर (मालवा) में निवास करने लगी; परन्तु स्थान के परिवर्तन से कार्य में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती थी। इस तरह बैङ्क का काम करने से व्यापार तथा शिल्पकर्म की भी पर्याप्त सहायता होती थी। उस समय बैङ्क

---

१. स्वशिल्पमिच्छन्नाहर्तुं बान्धवानामनुज्ञया ।
आचार्यस्य वसेदन्ते कालं कृत्वा सुनिश्चितम् ।।—नारद० ५।१६ ।
कृतशिल्पोऽपि निवसेत्कृतकालं गुरोर्गृहे ।—याज्ञ० २।१८४ ।
आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम् ।
न चान्यत्कारयेत्कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत् ।—नारद० ५।१७ ।

२. कोलब्रुक—डाइजेस्ट आफ हिन्दू ला भा० २ पृ० ७ ।

३. गृहीतशिल्पः समये कृत्वा आचार्य-प्रदक्षिणाम् ।
शक्तितश्चानुमान्यैनमन्तेवासी निवर्तते ।—वही ५।२० ।

४. आ० स० रि० १९०३-४ ।

५. इन्दौर ताम्रपत्र—गु० ले० नं० १६ ।

६. मन्दसोर का लेख—वही, नं० १८ ।

७. अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबन्धके ।
वर्णक्रमाच्छतं [illegible] ।—याज्ञ० [illegible] । मनु० ८।१४१ ।

का कार्य करनेवाली इन श्रेणियों से व्यवसाय के लिए रुपया उधार लिया जाता था। यही कारण है कि प्राचीन भारत में व्यापार तथा शिल्प वृद्धि के शिखर पर पहुँचा हुआ था।

राजनीतिक ग्रन्थों में चार प्रकार के न्यायालयों का वर्णन मिलता है[१] जिनमें श्रेणि या निगम को भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस वर्ग के समस्त अपराधों का विचार निगम-सभा करती थी। श्रेणियों के कुछ ऐसे नियम बने थे जिन्हें शासक को भी मानना होता था[२]। निगम न्यायालय में विचार करने के पश्चात् दोषी को यह अधिकार था कि वह निगम से ऊँचे न्यायालयों में अपने मुक़दमे की अपील करे। न्याय-कार्य के अतिरिक्त स्थानीय श्रेणी का मुखिया शासन में भी सहायता करता था। गुप्तकालीन दामोदरपुर (उत्तरी बङ्गाल) के ताम्रपत्र में वर्णन मिलता है कि कोटिवर्ष के विषयपति कुमारामात्य में ये मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे[३]। इस लेख में श्रेष्ठि के मुखिया धृतिपाल, सार्थवाह-मुखिया बन्धुमित्र तथा प्रथम कुलिक धृतिमित्र के नाम मिलते हैं। इस कार्य से इन निगम संस्थाओं की प्रधानता तथा प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है।

न्याय-कार्य तथा शासन सहयोग

पूर्वोक्त विवरण से ज्ञात होता है कि व्यापार श्रेणी के अधीन रहने से सर्वसाधारण भी व्यापार में भाग लेते तथा धन-संग्रह कर सकते थे। आधुनिक काल की तरह गुप्तकालीन भारत में अधिक पूँजीपति ही नहीं थे जो व्यवसाय करते। गण के कारण समस्त जनता के पास कुछ न कुछ सम्पत्ति थी जिससे देश में समृद्धि तथा वैभव का राज्य था। उस समय निगमों के द्वारा विभिन्न कार्यों में सहायता मिलती थी। देश को सम्पन्न तथा कला में निपुण बनाने में भी इनका कम हाथ नहीं था। डा० कुमारस्वामी ने सुन्दर शब्दों में अपना मत प्रकट किया है कि प्रत्येक जाति या व्यवसायी-संघ प्रजातन्त्र तथा सामाजिक भावों को लेकर संस्था के रूप में व्यवस्थित किया गया था। जातीयसुधार तथा ग्रामीण व्यवसाय पूर्ण रूप से उन्हीं में सन्निहित था जिनके द्वारा सच्ची उन्नति हो सकती थी[४]। स्वतन्त्रता तथा स्वशासन के कारण ये संघ उन्नति का आदर्श मार्ग का अवलम्बन करते थे। इन सुन्दर गुणों के कारण संघ शक्तिकेन्द्र तथा समाज के आभूषण बन गये थे[५]।

---

१. नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्।— याज्ञ० २।३०।

२. मनु० ८।४१।

३. दामोदरपुर ताम्रपत्र नं० २— ए० इ० मा० १५।

४. कुमारस्वामी— एसेज् इन नेशनल आइडेलिज्म पृ० १६६।—(नटेशन मद्रास)

५. मजूमदार—कारपोरेट लाइफ् इन ऐंशेंट इंडिया (द्वितीय संस्करण) पृ० ६८। 'Through the autonomy and freedom accorded to them by the laws of the land they became a centre of strength and an abode of liberal culture and progress which made them a power and ornament of the society.'

गुप्त-राजाओं के सिक्के

प्राचीन काल में प्रायः सभी देशों में व्यापार द्रव्य-विनिमय (Barter) के द्वारा होता था। तत्पश्चात् कौड़ियाँ भी काम में लाई गई। शनैः-शनैः विनिमय में कुछ कठिनाई के कारण सिक्कों का बनना आवश्यक समझा गया और सिक्के तैयार किये जाने लगे। आधुनिक समय में भारत में 'पञ्च-मार्क' नामक चाँदी के सिक्के मिले हैं जिन पर मनुष्य, पशु, पक्षी, सूर्य, चन्द्र, धनुष, बाण, स्तूप, नदी तथा पर्वत आदि के चित्र खुदे हुए मिलते हैं। विद्वानों की यह धारणा है कि सिक्कों को तैयार करने का अधिकार गणों को था। इससे राजा से कोई सम्बन्ध नहीं था। ये सिक्के भारत में ही नहीं किन्तु सारे संसार में सब से प्राचीन हैं[1]। प्राचीन साहित्य में उल्लिखित प्रमाणों के आधार पर ज्ञात है कि ये सिक्के सोने, चाँदी तथा ताँबे के बनते थे। इन्हें क्रमशः निष्क, शतमान और कार्षापण कहते हैं। कालान्तर में सिक्कों का अधिकार गणों के हाथ से निकलकर राजा के हाथ में चला आया। अर्थ-शास्त्र के समय (ई० पू० ४००) में मुद्रा तैयार करने के लिए 'लक्षणाध्यक्ष' नामक अधिकारी नियुक्त था और 'रूपदर्शक' सिक्कों की परीक्षा करता था[2]। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि मुद्रा का सारा विभाग राजा के प्रबन्ध में आ गया था। भारत में ऐसी ही अवस्था बहुत काल तक चली आ रही थी। ईसा की प्रथम शताब्दी में भारत के उत्तर-पश्चिम के शासक कुषाणों ने सोने के सिक्कों का समावेश किया। ये सोने के सिक्के भारतीय मुद्राओं में सब से प्रथम सोने के सिक्के हैं जो अब तक प्राप्य हैं। कुषाणों के इस प्रकार के सिक्के तैयार करने के कई कारण हैं। सेबेल महोदय लिखते हैं कि ईसा की प्रथम शताब्दी के प्रथम भाग में रोम के साथ भारत का व्यापार वृद्धि के शिखर पर पहुँच गया था। रोम से अनगिनत सोने के सिक्के व्यापारिक वस्तुओं के विनिमय में आने लगे। इनकी मात्रा इतनी बढ़ गई कि वहाँ के एक नागरिक प्लिनी ने (ई० स० ७८) अपने देशवासियों के असंख्य सिक्कों के अपव्यय की घोर निन्दा की[3]। इस कथन से प्रकट होता है कि रोम से सोने के सिक्के भारत में बहुत परिमाण में आये। अनेक विद्वानों का मत है कि कुषाणों ने उन्हीं रोम की मुद्राओं को पुनः मुद्रित किया[4]। कुछ भी हो, यह तो निश्चित है कि कुषाणों ने रोम के सिक्कों का अनुकरण कर अपनी मुद्रा तैयार की। इनकी

---

१. देखिए मेरा लेख—पुरातत्त्वांक 'गङ्गा' पृ० १६८—२०२।

२. अर्थ-शास्त्र २।१२।

३. जे० आर० ए० एस० १९०४ पृ० ५६४—५।

४. क्वायन आफ एंशेंट इण्डिया पृ० ५० । रैप्सन · इण्डियन क्वायन्स —पृ० ४, १६ ।

मुद्राओं का तौल भी रोम के ही बराबर स्थिर किया गया[1]। कुषाणों के राज्य नष्ट होने पर भी छोटे कुषाण-नरेश तीसरी शताब्दी तक उत्तर-पच्छिम में राज्य करते रहे और अपना सिक्का भी उसी तौल का तैयार करते रहे। इनके पीछे के कुषाण राजाओं की मुद्रा की बनावट में अवश्य ही कुछ विभिन्नता दिखलाई पड़ती है। तीसरी शताब्दी में प्रचलित इन राजाओं के सिक्के विशुद्ध माने के नहीं हैं परन्तु कई धातुओं के सम्मिश्रण से तैयार किये गये हैं। दूसरे इन सिक्कों की तौल ११८-११२ ग्रेन तक पाई जाती है। विद्वानों का मत है कि गुप्तों ने इन्हीं पीछे के कुषाण राजाओं के ढङ्ग पर अपनी मुद्रा-कला को तैयार किया। इस स्थान पर यह दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा कि उन मुद्रातत्ववेत्ताओं के कथन में कितना सत्य है।

गुप्त-नरेशों ने कई प्रकार के सोने के सिक्के प्रचलित किये परन्तु समुद्रगुप्त का (Standard Type) सिक्का पीछे के कुषाणों का अनुकरण है। इसका स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने के लिए राजा का पहनावा, नाम अंकित करने की रीति, देवी की मूर्ति आदि बातों पर विचार करना परम आवश्यक है।

कुषाणों का अनुकरण

(१) पारस और शक देशों में विभिन्न रीति से अग्नि की पूजा होती है। वहाँ के मनुष्य वस्त्र धारण किये हुए खड़े होकर पूजा करते हैं। ये सब बातें कुषाणों के सिक्कों का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाती हैं। गुप्त-नरेश आदर्श हिन्दू राजा होते हुए भी कुषाण वेष में सिक्कों पर चित्रित हैं। हिन्दू-धर्म में स्नान कर, नंगे बदन तथा आसन पर बैठकर यज्ञ करने का विधान है। परन्तु गुप्त-नरेश पर्शियन (लम्बे) कोट तथा पायजामा पहने अग्नि में कुछ डाल रहे हैं। अतएव इसको कुषाणों के अनुकरण के अतिरिक्त कुछ नहीं कहा जा सकता।

(२) गुप्त राजा के चित्र, कुषाणों के लम्बे ताज के बदले संवृत अनुरूप से टोपी पहने हुए अंकित मिलते हैं।

(३) पीछे के कुषाणों ने मध्यएशिया की रीति के अनुसार बाँह के नीचे नाम अंकित करना प्रचलित किया था। गुप्त सिक्कों पर भी बाँह के नीचे नाम अंकित मिलता है।

स मु द्र (४) कुषाण सिक्कों पर बायें हाथ में शूल लिये हुए राजाओं के चित्र मिलते हैं परन्तु गुप्तों के सिक्के पर इसका स्थान 'गरुड़ध्वज' ने प्राप्त कर लिया है।

(५) किसी गुप्त सिक्के पर अर्धचन्द्र का चिन्ह मिलता है जिसको मुद्राकारों ने अलंकार के रूप में स्थान दिया है। परन्तु वास्तव में ये कुषाणों के सिक्कों पर भ्रष्ट ग्रीक अक्षर के द्योतक हैं। इस दृष्टान्त से गुप्त-मुद्राकारों के अबुद्धिपूर्वक अनुकरण का ज्ञान होता है।

---

१. रोमन तौल १२४ ग्रेन था जिसको Roman Standard नाम दिया गया है।

(६) सिक्कों पर दूसरी ओर गुप्त-मुद्राकारों ने सिंहासन पर बैठी अरदोक्षो नामक देवी का चित्र अङ्कित किया है, जो (देवी) उत्तर-पश्चिम में बहुत प्रधान थी और पीछे के कुषाणों की मुद्राओं पर सर्वत्र अंकित है।

(७) गुप्त-सिक्कों पर दूसरी ओर दाहिने किनारे एक रूढ़ि चिह्न दिखलाई पड़ता है, जो कुषाणों के समय से यों ही अंकित मिलता है। इसका निश्चित रूप से कोई तात्पर्य ज्ञात नहीं है।

इस विवेचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गुप्त-सिक्के पीछे के कुषाण राजाओं के अनुकरण पर मुद्रित किये गये। इतना होते हुए भी गुप्तों ने अपने चिह्न 'गरुड़ध्वज' को सिक्कों पर स्थान दिया तथा गुप्तलिपि में अपना लेख (Legend) खुदवाया। इनका पूरा लेख एक ही मुद्रा से नहीं प्राप्त किया जा सकता, वह कई सिक्कों से जोड़-जोड़कर पूरा किया जाता है। इन सिक्कों के अवलोकन से यह ज्ञात नहीं होता कि राजा यज्ञ-वेदि पर कुछ आहुति दे रहा है। कोई-कोई यज्ञ-वेदि शिवलिङ्ग[1] या तुलसी के पौदे[2] के सदृश प्रकट होती है। कुछ सिक्कों पर राजा के हाथ में कोडोदाश[3] स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं।

आधुनिक काल तक इस विषय में मतभेद चला आ रहा है कि गुप्त-मुद्रा-कला का प्रारम्भ किस गुप्त-नरेश ने किया। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रथम गुप्त महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त प्रथम ही गुप्त-मुद्राकला का जन्मदाता है। चन्द्रगुप्त प्रथम का एक सिक्का मिला है जिस पर एक ओर राजा का और उसकी स्त्री कुमारदेवी का चित्र अंकित है। उसी तरफ़ 'चन्द्रगुप्तः श्रीकुमारदेवी' लिखा है। दूसरी ओर सिंहवाहिनी लक्ष्मी का चित्र तथा 'लिच्छवयः' लिखा मिलता है। इस सिक्के के आधार पर पहला मत स्थिर किया गया है। बहुत समय तक यही मत माना जाता था परन्तु जान एलन महोदय ने एक नया सिद्धान्त निकाला। इनका मत पहले मत के विरुद्ध है। एलन महोदय का कथन है कि चन्द्रगुप्त प्रथम गुप्त-मुद्रा-कला का जन्मदाता नहीं था। जो सिक्का उसके नाम का मिलता है उसको चन्द्रगुप्त प्रथम ने नहीं तैयार कराया था बल्कि उसको उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने, अपने पिता-माता के विवाह के स्मारक में, ढलवाया था[4]। इस कारण एलन गुप्त-मुद्रा-कला का जन्मदाता समुद्रगुप्त को मानते हैं और इस मत का समर्थन कई अन्य विद्वानों ने किया है। इस मत के प्रतिवाद से पहले एलन महोदय के प्रमाणों पर ध्यान देना बहुत ही आवश्यक है। अतएव उनके प्रमाण आगे दिये जाते हैं।

गुप्त मुद्रा-कला के जन्मदाता

---

१. एलन—गुप्त सिक्के प्लेट २।

२. वही १।

३. वही ८।

४. वही, भूमिका पृ० ६४।

(१) चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्के में कुषाणों के अनुकरण के अतिरिक्त कुछ नवीनता दिखलाई पड़ती है। यदि इसी ने 'चन्द्रगुप्तः श्रीकुमारदेवी' वाला सिक्का चलाया, तो इसकी नवीनता की उपेक्षा कर समुद्रगुप्त ने कुषाणों का हीन अनुकरण (स्टैंडर्ड टाइप में) क्यों किया ?

(२) यह तो निश्चित है कि गुप्त सिक्के कुषाणों के अनुकरण पर तैयार किये गये। यदि गुप्त सिक्के मगध में तैयार हुए होते तो उनकी खानों (Finds) में गुप्त सिक्कों के साथ कुषाणों के सिक्कों का मिलना अनिवार्य है, परन्तु ऐसी खान (Finds) नहीं मिली है। इससे ज्ञात होता है कि जिस समय गुप्तों का राज्य पूर्वीय पञ्जाब तक फैला (जहाँ कुषाणों के सिक्के प्रचलित थे), उसी काल से गुप्त-मुद्रा-कला का प्रारम्भ हुआ। यदि इस पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि पूर्वीय पञ्जाब तक गुप्तों का राज्य समुद्रगुप्त ने विस्तृत किया। प्रयागवाली प्रशस्ति में 'देवपुत्र शाहि, शाहानुशाहि' आदि उल्लिखित हैं। इसके पिता चन्द्रगुप्त प्रथम का राज्य मगध, अयोध्या तथा प्रयाग तक सीमित था। ऐसी दशा में चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में कुषाणों के अनुकरण पर सिक्का तैयार कराना सम्भव नहीं है[१]। इन्हीं आधारों पर एलन अपना मत स्थिर करते हैं कि समुद्रगुप्त ने ही राज्य-विस्तार कर कुषाणों के अनुकरण पर गुप्त-मुद्रा-कला को जन्म दिया।

(३) इस सिद्धान्त को मानते हुए कि चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्कों में कुषाणों की अपेक्षा नवीनता है, यदि समुद्रगुप्त के स्टैंडर्ड टाइप के सिक्कों की बनावट से उसकी तुलना की जाय तो दोनों में बहुत समता दिखलाई पड़ती है। 'चन्द्रगुप्त श्रीकुमारदेवी' वाले सिक्के के सिवा चन्द्रगुप्त प्रथम ने और दूसरा सिक्का नहीं तैयार कराया जिसका अनुकरण समुद्र ने किया हो। अतएव एलन यह मानते हैं कि उस सिक्के को समुद्रगुप्त ने अपने स्टैंडर्ड टाइप के पश्चात् निकाला।

(४) यदि चन्द्रगुप्त प्रथम ने गुप्त-मुद्राकला को जन्म दिया तो यह बड़े आश्चर्य की बात प्रतीत होती है कि समुद्रगुप्त ने सद्यः उसके ढंग पर सिक्के क्यों नहीं चलाये[२]।

इन्हीं प्रमाणों के आधार पर एलन महोदय का सारा सिद्धान्त अवलम्बित है तथा उन्होंने सिद्ध करने का प्रयास किया है कि गुप्त-मुद्राकला का जन्मदाता चन्द्रगुप्त प्रथम नहीं बल्कि समुद्रगुप्त था। एलन के इस नवीन मत को मानने में बहुत सी आपत्तियाँ हैं। इस स्थान पर एलन के प्रमाणों पर क्रमशः विस्तृत विचार करना उचित होगा।

एलन महोदय 'चन्द्रगुप्तः श्रीकुमारदेवी' वाले सिक्के को चन्द्रगुप्त प्रथम तथा लिच्छवी कुमारदेवी के विवाह का स्मारक मानते हैं, जिसे समुद्रगुप्त ने चलाया। बहुधा यह देखा जाता है कि किसी स्मारक में उसका कर्ता भी अपना नाम उल्लिखित कर देता जिससे उसकी कृति प्रकट हो। यही बात सिक्कों में भी पाई जाती है। सिक्के

---

१. एलन भूमिका पृ० १६६।

२. वही पृ० ६८।

के दूसरी ओर स्मारककर्ता अपने नाम का उल्लेख करता है। इंडो-बैक्ट्रियन सिक्कों में अगाथेक्लियस (Agathecles) ने चार सिक्के—सिकन्दर, दियोदतस, एनटियोकस तथा यूथिडेमस—स्मारक में निकाले थे[1] जिनकी दूसरी ओर उसका नाम (अगाथेक्लियस) उल्लिखित है। गुप्त-मुद्राओं में हो समुद्रगुप्त का अश्वमेधवाला सिक्का ही स्पष्ट उदाहरण है। इसको समुद्रगुप्त ने अश्वमेध-यज्ञ के स्मारक में बनवाया था—एक तरफ़ घोड़े की मूर्ति तथा दूसरी ओर समुद्र की उपाधि 'अश्वमेध-पराक्रमः' लिखा हुआ है[2]। इन्हीं स्मारक सिक्कों की तरह यदि 'चन्द्रगुप्तः श्रीकुमारदेवी' वाला भी सिक्का समुद्रगुप्त ने अपने पिता-माता के विवाह के उपलक्ष में निकाला हो तो उसे अपने नाम का उल्लेख अवश्य करना चाहिए था। परन्तु इस सिक्के पर समुद्रगुप्त के नाम के बदले 'लिच्छवयः' लिखा है। अतएव इसके समुद्रगुप्त द्वारा चन्द्रगुप्त प्रथम के विवाह के स्मारक में तैयार कराने की प्रामाणिकता नहीं सिद्ध होती।

अगर ऊपर कही बातों पर ध्यान दिया जाय तो यह अधिक स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त प्रथम ने इस सिक्के को तैयार कराया। यह सम्भव है कि उसके राज्य में स्थित लिच्छवी के मुद्राकारों ने राजपुत्री कुमारदेवी के विवाह के स्मारक में यह सिक्का चलाया हो। उस पर एक ओर दम्पति का नाम तथा चित्र और दूसरी ओर उस वंश का नाम 'लिच्छवयः' लिख दिया हो।

यह भी सम्भव है कि लिच्छवी तथा गुप्तों में विवाह से पहले ऐसा कोई प्रणबंध हुआ हो कि राजपुत्री कुमारदेवी का विवाह उसी अवस्था में हो सकेगा जब राज्य-प्रबन्ध में वह भी सम्मिलित रहे। इस बन्धन के कारण भी मुद्रा में राजा-रानी का चित्र तथा नाम दिया जा सकता है। इस प्रकार की मुद्रा के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त प्रथम अन्य प्रकार का सिक्का निकालने के लिए बाध्य था। सम्भवतः इसी लिए इसकी अन्य प्रकार की मुद्रा नहीं मिलती।

चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्कों में नवीनता के होते हुए, यह कुषाणों के अनुकरण ही पर तैयार किया गया होगा; सर्वथा स्वतन्त्र रूप से तैयार नहीं किया जा सकता। इसकी नवीनता का कारण उपर्युक्त प्रतिबन्ध हो सकता है। इसी कारण राजा-रानी का चित्र तथा नाम एक तरफ़ मिलता है। दूसरी ओर सिंहवाहिनी लक्ष्मी का चित्र है। इस चित्र से अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः 'सिंहवाहिनी लक्ष्मी' लिच्छवी लोगों का राजचिह्न थी, जिसका चित्र उन्होंने इस स्मारक (सिक्के) पर रखना आवश्यक समझा।

यदि एलन महोदय के प्रमाणों पर सूक्ष्म रूप से विचार किया जाय तो वे युक्ति-संगत प्रतीत नहीं होते। उनका कथन है कि चन्द्रगुप्त के प्रचलित सिक्के के होते हुए समुद्रगुप्त ने उसका अनुकरण क्यों नहीं किया। उस दशा में स्टैंडर्ड टाइप के सिक्कों में कुषाणों का हीन अनुकरण न होना चाहिए था। स्थान तथा अवस्था के अनुसार सिक्कों पर प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि समुद्रगुप्त ने स्टैंडर्ड टाइप के सिक्के निकाले।

---

१. ह्वाइटहेड—कैटलाग आफ क्वायन इन दि लाहौर म्यूज़ियम।

२. एलन—गु० सि० पृ० ८२।

एलन का कथन है कि समुद्रगुप्त द्वारा पंजाब तक गुप्तों का राज्य विस्तृत होने पर ही कुषाणों के सिक्कों का अनुकरण किया गया पर यह नये अनुसन्धान से प्रमाणित नहीं होता। पुरी तथा मानभूमि में ऐसे सिक्के निकले हैं जो स्पष्टतः कुषाणों के अनुकरण प्रकट होते हैं। यह सम्भव था कि काशी, प्रयाग, पुरी ऐसे तीर्थस्थानों में यात्रियों द्वारा सुदूर स्थानों (कुषाण-राज्य) से सिक्के लाये गये हों। सिक्के व्यापार तथा यात्रा के द्वारा एक जगह से दूसरी जगह पहुँचते हैं। मेनेन्डर और अपलदतस के सिक्के भड़ौंच में पाये जाते हैं जो कि उनके राज्य के अन्तर्गत नहीं था। अतः पुरी में कुषाण सिक्कों का मिलना असम्भव नहीं है। सातवीं तथा आठवीं शताब्दी में प्रचलित पुरी के सिक्कों की बनावट कुषाण ऐसी है[1]। इन सिक्कों को पुरी-कुषाण सिक्के के नाम से पुकारा जाता है। ये ताँबे के सिक्के हैं जिन पर कनिष्क के ढङ्ग का मिहिरो का चिन्ह दिखलाई पड़ता है। ये सिक्के छोटा नागपुर में अधिकता से पाये जाते हैं। गंजाम (मद्रास), मानभूमि तथा सिंहभूमि (बंगाल) से प्राप्त सिक्कों पर आठवीं सदी के ब्राह्मी अक्षरों में कुछ खुदा मिलता है। सिंहभूमि के ख़ज़ाने में तो सिक्कों पर उसी ब्राह्मी लिपि में 'टङ्क' लिखा है। इन सब वर्णनों से ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी से पहले (गुप्तकाल में) कुषाणों के ताँबे के सिक्के छोटा नागपुर तथा पुरी आदि में अवश्य थे जिसके अनुकरण पर इन स्थानों के सिक्के तैयार किये गये होंगे। अतएव गुप्त-राज्य में शताब्दियों तक कुषाण सिक्कों का प्रचार मानने में सन्देह नहीं हो सकता। इस विवेचन के आधार पर यह मानना उचित नहीं है कि, समुद्रगुप्त 'गुप्त-सिक्कों' का जन्मदाता था तथा उसने पंजाब तक राज्य विस्तृत करने के बाद ही सिक्कों को तैयार कराया। सिक्कों के प्रचार से यह सिद्ध होता है कि समुद्रगुप्त से पहले भी कुषाणों की नक़ल पर सिक्के तैयार किये जा सकते थे। चन्द्रगुप्त प्रथम ने उन्हीं प्रचलित सिक्कों के आधार पर अपनी मुद्राओं को कुछ नवीनता के साथ तैयार कराया।

गुप्त-काल में गुप्त-नरेशों ने कई प्रकार के सिक्के प्रचलित किये। इनके विशेष वर्णन के पूर्व गुप्त सिक्कों के व्यापक स्वभाव पर विचार करना उचित होगा। गुप्त राजाओं के तीन प्रकार के (१) सोना, (२) चाँदी, (३) ताँबा के सिक्के मिलते हैं। इन सब में सोने के सिक्के ही अधिकता से पाये जाते हैं। प्रायः सभी राजाओं ने सोने के सिक्के निकाले, परन्तु चाँदी तथा ताँबे के सिक्के सबने नहीं चलाये जिसके कई एक कारण हैं।

गुप्तों के पहले तीसरी शताब्दी में उत्तर-पच्छिम में एक प्रकार के सोने के सिक्के प्रचलित थे जो विशुद्ध धातु (सोना) से तैयार नहीं किये जाते थे। ये सिक्के कई धातुओं के सम्मिश्रण से बनते थे। कितने ही सिक्कों में मिश्रण इस श्रेणी तक पहुँचा है कि उन्हें सोने के सिक्के मानने में सन्देह पैदा होता है[2]। यद्यपि ये सिक्के रोमन स्टैंडर्ड (१२४ ग्रेन) के कहे जाते थे परन्तु

सोने के सिक्के

१. जे० बी० ओ० आर० एस० १९१९ पृ० ७३।

२. स्मिथ—कैटलाग आफ़ क्वायन इन इंडियन म्यूज़ियम भा० १ नं० १४।

इनकी तौल ११८-१२२ ग्रेन तक मिलती है। इन्हीं सिक्कों को पीछे के कुषाणों ने निकाला था जिसके अनुकरण से गुप्त-मुद्रा-कला का जन्म हुआ। यद्यपि गुप्त-नरेश ने इनके अनुकरण पर अपना सिक्का तैयार किया परन्तु गुप्त-राजाओं ने सिक्कों की धातु में सुधार किया। मुद्राकला में सुधार कर गुप्तों ने उत्तरी भारत में विशुद्ध सोने का सिक्का चलाया। धातु में सुधार करते हुए कुषाण सिक्कों के तौल के बराबर ही अपना सिक्का तैयार करवाया। यही कारण है कि चन्द्रगुप्त प्रथम का सिक्का ११६ ग्रेन तथा समुद्रगुप्त के सारे सिक्के ११८-१२२ ग्रेन के मिलते हैं।

गुप्तकालीन सोने के सिक्कों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इन पर स्थान तथा काल का बहुत प्रभाव पड़ा था। यह एक साधारण बात मानी जाती है कि गुप्त सिक्कों में यदि कुषाणों का अधिक अनुकरण है तो वे सिक्के कुषाणों के समीपवर्ती गुप्त-राज्य (देहली, आगरा) में तैयार किये गये थे और उनमें कुछ नवीनता दिखलाई पड़ने पर यह बात शीघ्र कही जा सकती है कि वे गुप्त-राज्य के सुदूर या मध्यभाग में तैयार हुए थे। गुप्त-सिक्कों के तौल तथा बनावट में जो भिन्नता दिखलाई पड़ती है वह भी स्थान के प्रभाव से है। अल्प तौल रोमन स्टैंडर्ड १२४ ग्रेन के सिक्के उत्तर-पश्चिम प्रदेश या मध्य भाग में तथा भारतीय तौल (सुवर्ण स्टैंडर्ड) १४४ ग्रेन या ८० रत्ती के सिक्के पूर्वीय प्रदेश (विशेषत: कालीघाट के ख़ज़ाना) में मिलते हैं। स्थान के प्रभाव से ही गुप्तकालीन सिक्के निम्नलिखित विभिन्न तौल के मिले हैं—

स्थान का प्रभाव

राजा का नाम	तौल
चन्द्रगुप्त प्रथम	११६ ग्रेन
समुद्रगुप्त	११८-१२२ ,,
काच (रामगुप्त)	११८ ,,
चन्द्रगुप्त द्वितीय	(अ) १२१ (ब) १२६ (स) १३२ ग्रेन
कुमारगुप्त प्रथम	१२४-१२६ ग्रेन
स्कन्दगुप्त	(अ) १३० (ब) १४२ ग्रेन
प्रकाशादित्य	१४५ ग्रेन
नरसिंह	१४६ ,,
कुमारगुप्त द्वितीय	१४३, १४७-१४६ ग्रेन
चन्द्रगुप्त तृतीय	१४८ ग्रेन
विष्णुगुप्त	१४८ ,,

इन तौलों पर विचार करने से गुप्त-काल में मुख्यत: दो स्टैंडर्ड ज्ञात होते हैं— पहला रोमन (तौल १२४ ग्रेन) दूसरा भारतीय सुवर्ण (तौल १४४ ग्रेन या ८० रत्ती) स्टैंडर्ड। गुप्त-राजाओं ने इन्हीं दोनों स्टैंडर्ड के लगभग तौल पर अपने सिक्कों का निर्माण कराया। चन्द्रगुप्त द्वितीय से लेकर कुमारगुप्त प्रथम तक रोमन स्टैंडर्ड के सिक्के बनते रहे परन्तु स्कन्दगुप्त ने सुवर्ण स्टैंडर्ड के भी सिक्के तैयार करवाये।

समय बहुत बलवान है। समयानुकूल परिस्थिति को बदलना आवश्यक हो जाता है। गुप्त सिक्के में जो दो स्टैंडर्ड—रोमन तथा सुवर्ण - मिलते हैं वह समय के प्रभाव से परिवर्तित हुए। चन्द्रगुप्त द्वितीय के सोने के सिक्के

समय का प्रभाव

रोमन तौल (१२४ ग्रेन) के मिलते हैं परन्तु वहीं पहले कुषाणों के तौल (११८-१२२) पर तैयार होते थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पश्चिमीय देश (मालवा तथा सौराष्ट्र) को जीता जहाँ भड़ौंच बन्दरगाह के द्वारा रोम से व्यापार होता था। इस समय इसकी बढ़ती हुई। चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में भारत में रोमन सिक्कों की अधिकता होने लगी। ऐसी स्थिति में गुप्त-मुद्राकारों ने इसी रोमन तौल (१२४) पर सिक्का तैयार किया। गुप्तों ने रोमन तौल के साथ उनके नाम का भी प्रयोग किया। रोमन डेनेरियस (Danarius) के कारण गुप्तों के सिक्के दीनार के नाम से प्रसिद्ध हुए। गुप्त लेखों में इस नाम का प्रयोग मिलता है[1]। भारतीय स्टैंडर्ड के सिक्के सुवर्ण के नाम से पुकारे जाते थे। दीनार तथा सुवर्ण से पृथक् पृथक् सिक्कों का बोध होता था। परन्तु पीछे के लेखों में, अनभिज्ञता के कारण, दीनार और सुवर्ण को पर्यायवाची शब्द समझकर प्रयोग किया गया है[2]। भारतीय सुवर्ण तौल का प्रयोग भी समय के प्रभाव से हुआ। सिक्कों का अवलोकन करने से उनके स्थान तथा तिथि का भी ज्ञान हो सकता है। यदि समुद्रगुप्त के सिक्कों को देखा जाय तो मालूम होगा कि स्टैंडर्ड टाइप के सिक्कों के निर्माण के पश्चात् दूसरे सिक्के तैयार हुए। अश्वमेध का सिक्का तो पूर्ण राज्य स्थापित करने पर बना होगा। इसमें कुछ भी विदेशी अनुकरण नहीं दीख पड़ता है। इन सब बातों का सूक्ष्म विचार प्रत्येक नरेश के सिक्कों के विवरण के साथ किया जायगा।

ऊपर कहा गया है कि समयानुसार परिस्थिति में परिवर्तन होता है। यह बात गुप्तों के चाँदी के सिक्कों पर अक्षरशः घटती है। गुप्तकालीन चाँदी के सिक्के का जन्मदाता चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य है। जब उसने मालवा तथा

चाँदी के सिक्के

सौराष्ट्र को विजय किया तो उस समय वहाँ एक तरह से चाँदी के सिक्कों का प्रचार था। यह राजनीति का सिद्धान्त है कि नये विजित देश में वहाँ के प्रचलित सिक्के के ढङ्ग पर अपनी मुद्राकला को निर्माण करना पड़ता है। इसी नीति के कारण चन्द्रगुप्त द्वितीय ने वहाँ पर प्रचलित क्षत्रपों के सिक्कों का अनुकरण किया और सोने का सिक्का न बनाकर चाँदी का ही सिक्का निर्माण कराया।

क्षत्रपों के सिक्के पश्चिमीय भारत (गुज० सौराष्ट्र) में ईसा पूर्व पहली शताब्दी से प्रचलित थे। ये गोलाकार चाँदी के पतले छोटे टुकड़े के रूप में बनते थे। एक ओर राजा के आधे शरीर (Bust) का चित्र तथा शक-

क्षत्रपों का अनुकरण

संवत् में तिथि का उल्लेख मिलता है। चित्र के चारों ओर ग्रीक अक्षरों में राजा तथा उसके पिता का नाम पदवी समेत उल्लिखित है। दूसरी ओर

१. गु० लै० नं० ५, ७, ८ तथा दामोदरपुर ताम्रपत्र।
२. गु० लै० नं० ६४।

बिन्दु-समूह तथा चैत्य दिखलाई पड़ता है[1]। ये सिक्के ग्रीक हेमी-ड्राम के तौल (३२ ग्रेन) के बराबर होते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों को परास्त कर ऐसे ही सिक्के प्रचलित किये। यद्यपि गुप्तकालीन चांदी के सिक्के क्षत्रपों के अनुकरण पर प्रारम्भ हुए परन्तु उन पर बहुत सी भिन्नता दिखलाई पड़ती है।

(१) एक ओर राजा के अर्ध शरीर के चित्र के साथ ब्राह्मी अक्षरों तथा गुप्त-संवत् में तिथि का उल्लेख है। चित्र के चारों तरफ केवल जहाँ-तहाँ भ्रष्ट ग्रीक अक्षर दिखलाई पड़ते हैं।

(२) दूसरी ओर चैत्य के स्थान पर 'गरुड़' का चित्र अंकित है। उधर ही गुप्त लिपि में उपाधि सहित राजा का नाम मिलता है।

(३) गुप्त सिक्कों का तौल ३०·३२ ग्रेन तक मिलता है।

चाँदी के सिक्के के प्रारम्भ की तिथि

उदयगिरि के लेख (गु० स० ८२) से प्रकट होता है कि ई० स० ४०१ में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मालवा पर विजय प्राप्त कर लिया था[2]। यह अनुमान भी युक्ति-संगत है कि उसी यात्रा में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने सौराष्ट्र को भी जीता। अतएव ई० स० ४०१ के कुछ समय पश्चात् सौराष्ट्र गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। सौराष्ट्र से प्राप्त क्षत्रपों के सिक्कों की अंतिम तिथि ई० स० ३८८ ज्ञात है तथा अभी तक प्राप्त गुप्तों के चाँदी के सिक्के की सर्वप्रथम तिथि ई० स० ४०९ है। अतः यह प्रकट होता है कि ई० स० ४०२–९ के मध्य में, किसी समय, गुप्त चाँदी के सिक्के का जन्म हुआ होगा।

चाँदी के सिक्कों का प्रकार

गुप्तकालीन कई राजाओं ने चाँदी के सिक्के चलाये परन्तु उन सबको दो मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है। यह विभाग प्रधानतः दूसरी ओर के चिन्ह तथा लेख के आधार पर किया जाता है। पहले प्रकार का सिक्का पश्चिमीय भारत (गुजरात तथा काठियावाड़) के प्रदेशों में प्रचार करने के लिए निर्माण किया गया। यों तो सभी क्षत्रपों के ढङ्ग के हैं ही परन्तु इनमें 'गरुड़ का चित्र' और परम भागवतों की उपाधि मिलती है। दूसरे प्रकार के सिक्के मध्यप्रदेश में प्रचलित किये गये जिन पर गरुड़ के बदले मोर का चित्र है और इसका लेख 'विजितावनिरवनिपतिः' से प्रारम्भ होता है। तीसरे प्रकार के सिक्के मिले हैं जो वास्तव में तांबे के सिक्के थे परन्तु ऊपर चाँदी का पानी डालकर चाँदी के सिक्के की तरह प्रयोग में लाये गये थे। यद्यपि आधुनिक काल में वह चाँदी का पानी लुप्त हो गया है फिर भी वे ताँबे के सिक्कों से भिन्न हैं। यह पश्चिमीय सिक्कों के समान हैं। इस प्रकार का सिक्का ऐतिहासिकों के लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जब युद्ध में अधिक व्यय के कारण राजकोष खाली हो जाता है तो ऐसा किया जाता है। भारत ने तो चमड़े का भी सिक्का देखा है।

---

१. रैप्सन—क्षत्रपों के सिक्कों की सूची।

२. गुप्तलेख नं० ३।

गुप्तकाल में दो प्रदेशों (पश्चिम तथा मध्य) में प्रचलित दो ही प्रकार के चाँदी के सिक्के हैं जिनमें भिन्न-भिन्न स्थानों के कारण बहुत-सी विशेषताएँ दिखलाई पड़ती हैं। कहा गया है कि पश्चिम भारतीय तथा मध्य भारतीय स्टैंडर्ड के नाम से ये पुकारे जाते हैं। तीसरे प्रकार का सिक्का पश्चिमीय स्टैंडर्ड का ही है तथा वलभी (गुजरात) से प्राप्त हुआ है परन्तु चाँदी के पानीवाला (Silver plated) होने के कारण, इसका स्वतन्त्र वर्णन करना आवश्यक ज्ञात पड़ता है। प्रसङ्गवश इस स्थान पर पश्चिमीय तथा मध्यदेशीय चांदी के सिक्कों की भिन्नता का दिग्दर्शन कराना अत्यावश्यक है।

पश्चिमी तथा मध्य प्रदेश के सिक्कों की भिन्नता

(१) इन सिक्कों के नाम से प्रकट होता है कि दोनों ही भिन्न स्थानों में प्रचलित थे। पश्चिमीय सिक्के मारवाड़ तथा काठियावाड़ और मध्यदेशीय सिक्के काशी, अयोध्या, कन्नौज एवं सहारनपुर आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं।

(२) पश्चिमीय सिक्के पर राजा के अर्ध शरीर का चित्र क्षत्रपों के ढङ्ग का है परन्तु मध्यदेश में प्रत्येक राजा का चित्र अङ्कित करने का प्रयास किया गया है।

(३) क्षत्रपों के हीन अनुकरण के कारण पश्चिमीय सिक्कों पर राजा की आकृति के पीछे तिथि अंकित मिलती है। उसी ओर भ्रष्ट ग्रीक अक्षर भी दिखलाई पड़ते हैं परन्तु मध्य देश के सिक्कों में अधिक नवीनता है। इनमें राजा के मुख के सम्मुख तिथि खुदी है तथा ग्रीक अक्षरों का सर्वथा लोप हो गया है। यों कहना चाहिए कि इनके स्थान को ब्राह्मी अंकों में उल्लिखित तिथि ने ले लिया है।

(४) ये तीनों विभिन्नताएँ एक ओर की हैं; दूसरी ओर भी ऐसा ही दिखलाई पड़ता है। पश्चिम के गरुड़ को परिवर्तन कर मध्यदेश में पङ्ख फैलाये मोर का चित्र मिलता है। निरर्थक बिन्दुओं का लोप भी मध्यदेशीय सिक्कों की विशेषता है।

(५) सबसे प्रधान बात सिक्कों का लेख है जिसको सुनकर ही बतलाया जा सकता है कि अमुक सिक्का किस ढङ्ग का है। इसके द्वारा दोनों प्रकार के सिक्कों को अलग करने में बड़ी सहायता मिलती है। पश्चिमीय सिक्कों पर का लेख 'परम भगवतो महाराजाधिराज' से प्रारम्भ होता है और मध्यदेश के सिक्कों पर 'विजितावनिरवनिपतिः' सर्वप्रथम उल्लिखित रहता है।

ऊपर के संक्षिप्त कथन से चाँदी के सिक्कों का वर्णन समाप्त नहीं हो जाता। अब किन-किन गुप्त राजाओं ने किस-किस प्रकार के सिक्के निकाले तथा उसकी विशेषता आदि बातों का विवेचन प्रत्येक नरेश के नाम के साथ किया जायगा।

तॉबे के सिक्के

गुप्तकाल में सोने तथा चाँदी के सिक्कों के समक्ष ताँबे के सिक्के नगण्य प्रतीत होते हैं। ये सिक्के बहुत अल्प संख्या में मिलते हैं। ताँबे के सिक्के (कुषाणों के अनुकरण पर) सोने के सिक्कों के साथ निर्मित हुए। सबसे प्राचीन गुप्तकाल में समुद्रगुप्त के ताँबे के सिक्के प्राप्त हैं। ये सिक्के कोटवा (वर्दवान, बङ्गाल) में मिले हैं[१]। ये सिक्के अच्छे नहीं हैं परन्तु

१. बेनर्जी, इंपीरियल गुप्त पृ० २१४।

इसके पश्चात् जितने सिक्के मिले हैं उनकी बनावट अच्छी है। उन पर राजा के अर्ध-शरीर का चित्र, और दूसरी ओर गरुड़ तथा लेख स्पष्ट ज्ञात होते हैं। चित्र तथा लेख की भिन्नता के कारण कई प्रकार से इनका वर्गीकरण किया जाता है। कुछ पर तो दोनों ओर लेख मिलते हैं। गुप्त-वंश में केवल दो-तीन राजाओं ने ताँबे के सिक्के चलाये। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

गुप्तकालीन सिक्के गुप्त-इतिहास-निर्माण में कितने सहायक हैं, इसका आभास पहले ही दिया गया है। इस समय में अनेक प्रकार के सिक्के प्रचलित हुए जिनके व्यापक स्वभाव का वर्णन ऊपर किया गया है। अब प्रत्येक नरेश द्वारा निर्माणित सिक्कों का विवेचन पृथक्-पृथक् किया जायगा। गुप्त मुद्रा-कला का जन्मदाता चन्द्रगुप्त प्रथम को मानकर उसके सिक्के से ही यह वर्णन प्रारम्भ किया जाता है।

चन्द्रगुप्त प्रथम का एक ही प्रकार का सिक्का मिला है। यह सिक्का चन्द्रगुप्त प्रथम तथा लिच्छवी राजपुत्री कुमारदेवी के विवाह के स्मारक में चलाया गया।

चन्द्रगुप्त प्रथम

एक ओर—चन्द्रगुप्त प्रथम टोपी, कोट, पायजामा, आभूषण पहने खड़ा है। बाँयें हाथ में ध्वजा, दाहिने हाथ में अँगूठी दिखलाई पड़ती है। वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कुमारदेवी का चित्र है जिसे राजा अँगूठी दे रहा है। दोनों दम्पति का चित्र अंशुमाला से युक्त है। बाँई ओर 'चन्द्रगुप्तः' और दाहिनी ओर 'श्रीकुमारदेवी' या 'कुमारदेवी' लिखा है। दूसरी ओर—सिंह-वाहिनी लक्ष्मी का चित्र है। वे बाँयें हाथ में कार्नकोपिया (Cornucopiae) और दाहिने में फ़ीता (Fillet) लिये बैठी हैं। पैर के नीचे कमल है और 'लिच्छवयः' लिखा है[1]।

समुद्रगुप्त के कई प्रकार के सोने के सिक्के प्राप्त हैं। उन पर भाँति-भाँति की मूर्तियाँ तथा संस्कृत के सुन्दर पद्यात्मक लेख उत्कीर्ण हैं। सर्वप्रथम एलन महोदय ने

समुद्रगुप्त के सोने के सिक्के

यह बतलाया कि समुद्रगुप्त तथा इसके वंशजों के सोने के सिक्कों पर छन्दोबद्ध श्लोक लिखे गये हैं। सम्राट् समुद्रगुप्त ने छः प्रकार के सोने के सिक्के प्रचलित किये।

(१) स्टैंडर्ड टाइप या गरुड़ध्वजांकित—एक ओर इसमें कोट, टोपी, पायजामा तथा अनेक आभूषण पहने राजा की खड़ी मूर्ति बनी है। बायें हाथ में ध्वजा तथा दाहिने में अग्निकुण्ड में डालने के लिए आहुति दिखलाई पड़ती है। कुण्ड के पीछे गरुड़ध्वज है। राजा के वाम हाथ के नीचे उसका नाम—

स   स
गु   या   मु गु
प्त   द्र प्तः

लिखा है। राजमूर्ति के चारों ओर उपगीति छन्द में 'समरशतविततविजयो जितरिपुरजितो दिवं जयति' लिखा है।

---

१. एक ओर अंग्रेजी के Obverse के लिए और दूसरी ओर Reverse शब्दों के लिए प्रयोग किये गये हैं। कार्नकोपिया एक प्रकार की [illegible] है तथा फ़ीता (fillet) डंठल के समान कोई वस्तु है।

दूसरी ओर---सिंहासन पर बैठा हुई लक्ष्मी की मूर्ति है। देवी का शरीर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित है। बायें में कार्नकोपिया और दाहिने हाथ में फ़ीता (Fillet) है। इस ओर राजा की पदवी 'पराक्रमः' लिखी है और कुछ निरर्थक चिह्न भी देख पड़ता है।

(२) दूसरे प्रकार में---एक ओर धनुष-बाण धारण किये राजा की मूर्ति और गरुड़ध्वज दिखलाया गया है। बायें हाथ के नीचे राजा का नाम —

स और मूर्ति के चारों ओर 'अप्रतिरथो विजित्य क्षितिं सुचरितैः दिवं
मु जयति' लिखा है।
द्र दूसरी ओर---सिंहासनारूढ़ लक्ष्मी की मूर्ति और 'अप्रतिरथः' लिखा मिलता है।

(३) तीसरे सिक्के में---एक ओर राजा की मूर्ति, ध्वजा के बदले, परशु लिये खड़ी है। दाहिनी तरफ़ एक छोटे लड़के का चित्र दिखलाई पड़ता है। वाम हाथ
कृ या स स के नीचे तीन भिन्न-भिन्न लिखा
मु गा मु गु मिलता है। परन्तु सब पर
द्र द्र प्तः पृथ्वी छंद में एक ही लेख
'कृतांतपरशुर्जयत्यजित राज जेता जितः' लिखा मिलता है।

दूसरी ओर सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी तथा 'कृतांतपरशुः' लिखा रहता है।

(४) चौथे प्रकार का सिक्का ऊपर वर्णित तीनों प्रकार के सिक्कों से विलक्षण है। एक ओर---भारतीय वेष में राजा धनुष-बाण से व्याघ्र को मारते हुए चित्रित है। उसके बायें हाथ के नीचे 'व्याघ्रपराक्रमः' लिखा है।

दूसरी ओर---मकर पर खड़ी, हाथ में कमल लिये, गङ्गादेवी का चित्र है। इस तरफ़ गुप्तनरेश का नाम 'राजा समुद्रगुप्तः' लिखा है।

(५) पाँचवें वर्गीकरण में समुद्रगुप्त के अत्यन्त सुन्दर तथा भारतीय ढङ्ग के सिक्के हैं। इससे राजा के संगीत में प्रेम का ज्वलन्त उदाहरण मिलता है। एक ओर---राजा एक जंघा मोड़े, पृष्ठयुक्त पर्यंक पर बैठा है। उसका शरीर नंगा दिखलाई पड़ता है और वीणा बजा रहा है। उसकी मुख-ज्योति अंशुमाला के रूप में दिखलाई गई है। पर्यंक तथा राजमूर्ति के चारों ओर 'महाराजाधिराज श्री-समुद्रगुप्तः' लिखा है।

दूसरी ओर आसन पर बैठी देवी की मूर्ति है। उसके पीछे लम्बमान रूप से समुद्रगुप्तः लिखा है।

(६) छठे प्रकार का सिक्का अश्वमेध यज्ञ के स्मारक में तैयार किया गया था। अतः यह अश्वमेध सिक्का कहा जाता है।

एक ओर---पताका-युक्त यज्ञ-यूप में बँधे हुए अश्वमेध यज्ञ के घोड़े की मूर्ति है। यहाँ वृत्ताकार में उपगीति छंद में 'राजाधिराज पृथिवीं विजित्वा दिवं जयत्याहृतवाजिमेध (:)' लिखा है[१]।

१. न्यूमिसमेटिक सप्लिमेंट नं० २५ (१९१५)।

दूसरी ओर---चँवर लिये प्रधान महिषी का चित्र और वाम भाग में शूल है। महिषी के पीछे 'अश्वमेध-पराक्रमः' लिखा है।

इन सोने के सिक्कों के अतिरिक्त प्रसिद्ध विद्वान् राखालदास बनर्जी को कटवा (वर्दवान, बंगाल) में समुद्रगुप्त के दो ताँबे के सिक्के मिले हैं[1], जिसमें एक ओर---

समुद्र के ताँबे के सिक्के

गरुड़ का चित्र तथा अधोभाग में एक पंक्ति में 'समुद्र' लिखा है। दूसरी ओर---कुछ स्पष्ट ज्ञात नहीं होता।

यह तो सर्वविदित है कि किसी राज्य में एक ही स्थान से तथा एक ही समय सारे सिक्कों का निर्माण नहीं होता। इनका निर्माण भिन्न-भिन्न टकसालों से समयानुकूल किया जाता है। यदि समुद्रगुप्त के सिक्कों का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो उनके निर्माण-प्रदेश और काल-निरूपण पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इन सिक्कों की भिन्न-भिन्न बनावट से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये सिक्के भिन्न-भिन्न प्रदेशों से जारी किये गये। इन पर जितना कुषाणों का अनुकरण होगा, वे गुप्त-साम्राज्य के उत्तर-पच्छिम में तैयार होते थे और नवीनता से प्रकट होता है कि पूरब के प्रदेशों में तैयार किये जाते थे। स्टैंडर्ड टाइप तथा धनुर्धरांकित सिक्के उत्तरी भाग के और परशु तथा व्याघ्रवाले सिक्के पूरब के प्रदेश के ज्ञात होते हैं क्योंकि बंगाल में व्याघ्र का आखेट सरलता से होता है। वीणावाले और अश्वमेध सिक्के क्रमशः राजा के मनोरंजन और यज्ञ के द्योतक हैं, अतः इन कार्यों का सम्पादन राजधानी के अतिरिक्त अन्य स्थान पर कठिन होता है। अतएव ये दोनों सिक्के मध्यभाग में तैयार किये गये होंगे।

समुद्रगुप्त के सिक्कों का स्थान तथा काल-निरूपण

सिक्कों की बनावट तथा लेखों से उनका काल-निर्णय किया जा सकता है। स्टैंडर्ड टाइप का सिक्का सर्वप्रथम तैयार किया गया होगा। इसके लेख से सहस्रों युद्धों के पश्चात् इसका निर्माण होना प्रतीत होता है। इसके बाद धनुष और परशु वाला सिक्का चलाया गया होगा। क्योंकि इनके लेखों से युद्ध तथा विजय का ज्ञान प्राप्त होता है। साम्राज्य को सुरक्षित कर तथा शांति स्थापित कर राजा आखेट और मनोरंजन-सामग्री की इच्छा प्रकट करता है। समुद्रगुप्त के व्याघ्र को मारने और वीणावाले सिक्कों से राज्य में शांति का आभास मिलता है अतएव व्याघ्र और वीणावाले सिक्के स्टैंडर्ड, धनुष तथा परशु वाले सिक्कों से पीछे तैयार हुए होंगे। जैसा ऊपर कहा गया है, समुद्र के छठे प्रकार के सिक्के अश्वमेध यज्ञ के स्मारक हैं अतएव इससे स्पष्ट विदित होता है कि ये सब से अन्तिम समय में निर्मित हुए होंगे। यों तो व्याघ्र तथा वीणावाले सिक्कों पर भारतीय ढङ्ग से राजमूर्ति अङ्कित है परन्तु अश्वमेध सिक्के सर्वथा नवीन हैं। इन पर किसी तरह का अनुकरण नहीं दिखलाई पड़ता।

इस राजा के सिक्के पर 'रामगुप्त' स्पष्टतया नहीं लिखा मिलता है परन्तु यह 'काच' नाम से पुकारा जाता है। डा० भंडारकर का कथन है कि 'काच' [illegible]

१. बनर्जी--इम्पीरियल हिस्ट्री आफ् [illegible] २२४।

रामगुप्त का ही सिक्का है और काच को राम पढ़ा जा सकता है[1]। रामगुप्त ने राज्य के अल्पकाल में एक ही प्रकार का सिक्का चलाया। इसके अतिरिक्त अन्य मुद्रा अथवा लेख में भी इसका नाम नहीं मिलता है। इस सिक्के में—

रामगुप्त

एक ओर—राजा की खड़ी मूर्ति (समुद्रगुप्त के ऐसे वस्त्र पहने) बाँयें हाथ में चक्रयुक्त ध्वजा लिये और अग्नि में दाहिने हाथ से आहुति देते हुए दिखलाई पड़ती है। वाम हस्त के नीचे गुप्त-लिपि में—

का
च या का
म और चारों ओर उपगीति छन्द में 'काचो गामवजित्य दिवं कर्मभिरुत्तमैर्जयति' लिखा है।

दूसरी ओर—पुष्प लिये खड़ी देवी की मूर्ति है तथा उसके पीछे 'सर्वराजोच्छेता' लिखा है। इसमें तो किसी को सन्देह नहीं है कि काच का सिक्का किसी गुप्त राजा ने निकाला। नाम लिखने का ढङ्ग, बनावट आदि से यह गुप्तकालीन ज्ञात होता है। चक्रयुक्त ध्वजा से प्रकट होता है कि काच नामक राजा वैष्णव था जो गुप्तकाल में राजकीय धर्म था। सिक्के की बनावट तथा तौल (११८ ग्रेन) से स्पष्ट ज्ञात होता है कि काच का सिक्का समुद्रगुप्त के समकालीन और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से पहले का है। एलन महोदय ने इसे समुद्रगुप्त का सिक्का माना है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में निम्नलिखित प्रमाण दिये हैं—

(१) बनावट तथा तौल समुद्रगुप्त के समान है। (२) समुद्रगुप्त का दूसरा नाम 'काच' था। (३) समुद्र ने अन्य सिक्कों के 'सुचरितैः' का अनुवाद इस सिक्के पर 'कर्मभिः उत्तमैः' उत्कीर्ण करवाया था। (४) दूसरी ओर उल्लिखित पदवी 'सर्वराजोच्छेता' लेखों में केवल समुद्रगुप्त के लिए प्रयोग की गई है[2]। यदि गुप्तों के लेख तथा सिक्कों के आधार पर एलन महोदय के प्रमाणों का अध्ययन किया जाय तो इसे मानने में आपत्ति दिखलाई पड़ती है[3]। बनावट तथा तौल से इतना ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काच का सिक्का समुद्रगुप्त के समकालीन था। गुप्तकाल में कितने ही सम्राटों के अन्य नाम भी थे (जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय के देवगुप्त और देवराज भी नाम मिलते हैं।) परन्तु किसी ने उन नामों को सिक्कों पर उत्कीर्ण नहीं करवाया। गुप्त मुद्राओं में राजमूर्ति के बायें हाथ के नीचे का नाम—समुद्र, चन्द्र, कुमार तथा स्कन्द आदि—राजा का व्यक्तिगत नाम है जिसने उस सिक्के का निर्माण कराया। ऐसी अवस्था में काच को समुद्रगुप्त का द्वितीय नाम मानना युक्तिसंगत नहीं है।

'यदि एलन का कथन ही मान लिया जाय कि काच के सिक्के को समुद्रगुप्त ने चलाया तो उसे अपने ही सिक्के पर 'सुचरितैः' का अनुवाद 'कर्मभिरुत्तमैः' रखने की

---

१. मालवीय-कामेमोरेशन वाल्यूम पृ० २०४-५।

२. एलन—गुप्त सिक्के पृ० ११०।

३. साँची का लेख—गु० ले० नं० ५।

क्या आवश्यकता थी? ऐसा अनुवाद तो किसी गुप्त नरेश के सिक्के पर नहीं मिलता। काच को समुद्रगुप्त का सिक्का प्रमाणित करने के लिए 'सर्वराजोच्छेता' पर अधिक ज़ोर दिया गया[1]। परन्तु प्रभावतीगुप्ता के लेख से ज्ञात है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए भी 'सर्वराजोच्छेता' की पदवी का प्रयोग किया गया है[2]। ऐसी अवस्था में इस पदवी पर कोई सिद्धान्त निर्धारित नहीं हो सकता। जब दो गुप्त सम्राटों ने सर्वराजोच्छेता की उपाधि धारण की थी, तो तीसरे नरेश द्वारा भी धारण की जा सकती है।

इन सब विवादों के पश्चात् भी यह प्रश्न प्रस्तुत होता है कि काचवाला सिक्का किस गुप्त-नरेश का है। क्या काच, समुद्र का भाई अथवा पुत्र था? डा० भण्डारकर महोदय ने यह प्रमाणित किया है कि काचवाला सिक्का समुद्रगुप्त के बाद राज्य करनेवाले उसके जेठे पुत्र रामगुप्त ने निकाला था। गुप्त-लिपि में क की पड़ी लकीर हट जाने से र तथा च का म तनिक असावधानी से हो जाता है। कुछ सिक्कों में च तो म हो गया है। ऐसी स्थिति में यह मानना युक्तिसंगत है कि काचवाला सिक्का रामगुप्त ने तैयार किया था[3]।

रामगुप्त के अल्पकाल के शासन के पश्चात् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने सिंहासन को सुशोभित किया। इसने कई प्रकार के सिक्के निर्माण कराये। चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिक्के तीन तौल—(अ) १२१ ग्रेन, (ब) १२५ ग्रेन, (स) १३२ ग्रेन—के मिलते हैं जिससे ज्ञात होता है कि पीछे के समय में इसने भारतीय सुवर्ण तौल (१४४) के सिक्के निर्माण कराये। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सिक्के में शिल्प-कौशल दिखलाई पड़ता है। एलन ने कहा है कि इसके सिक्के में मौलिकता अधिक है। इसमें राजा की सुन्दर मूर्ति, भावभङ्गी, साधारण सज-धज तथा रचना-चातुरी देखने योग्य है। हिन्दू रीति के अनुसार लक्ष्मी सिंहासन के बदले कमलासन पर बैठी हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने समुद्रगुप्त के स्टैंडर्ड टाइप के सिक्कों का निकालना बन्द कर दिया और घोड़े पर सवार राजमूर्तिवाला नया सिक्का चलाया। इसने पाँच प्रकार के सोने के सिक्के निर्माण कराये।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य

सोने का सिक्का

(१) धनुर्धराङ्कित—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने इस प्रकार के सिक्के को अधिक प्रचलित किया। एक ओर—(समुद्रगुप्त के ऐसे वेष में) धनुष-बाण धारण किये खड़ी राजा की मूर्ति और गरुड़ध्वज दिखलाई पड़ता है। बायें हाथ के नीचे गुप्त लिपि में

च और चारों ओर 'देव श्रीमहाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः' लिखा है।

न्द्र दूसरी ओर—पद्मासन पर बैठी लक्ष्मी की मूर्ति तथा राजा की उपाधि 'श्रीविक्रमः' लिखा मिलता है।

इस प्रकार के सिक्कों में—धनुष का स्थान, बाण धारण करने का ढङ्ग तथा राजा के नाम अङ्कित करने की रीति के अनुसार—अनेक भेद पाये जाते हैं।

---

१. इ० ए० १९०२ पृ० २५९।

२. वही १९१२ पृ० २५८ (सर्वराजोच्छेता चतुरुदधि.. [illegible] श्रीचन्द्रगुप्तस्य)।

३. [illegible] पृ० २०५।

(२) छत्रवाले सिक्के में एक ओर—आहुति देते खड़ी राजमूर्ति है। राजा का बायाँ हाथ खड्ग की मुष्टि पर अवलम्बित है। उनके पीछे बौना नौकर छत्र लिये खड़ा है। चारों ओर दो प्रकार के लेख 'महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त:' अथवा 'क्षितिमवजित्य सुचरितैः दिवं जयति विक्रमादित्यः' मिलते हैं।

दूसरी ओर—कमल पर खड़ी लक्ष्मी की मूर्ति है।

(३) तीसरे प्रकार का सिक्का बहुत ही दुष्प्राप्य है। यह पर्यंकवाला (Couch Type) कहा जाता है। एक ओर —भारतीय वेष (वस्त्राभूषण से सुसज्जित) में राजा पर्यंक पर बैठा है। दाहिने हाथ में कमल है तथा बायाँ पर्यंक पर अवस्थित है। इसमें चारों ओर तीन प्रकार के लेख मिलते हैं—(१) देव श्रीमहाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तस्य। (२) देव श्रीमहाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य।

विक्रमादित्यस्य और पर्यंक के नीचे 'रूपाकृति' लिखा है[१]।

(३) परम भागवत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः[२]। दूसरी ओर—सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी की मूर्ति है और 'श्रीविक्रमः' लिखा है। तीसरे प्रकार के सिक्के में भिन्न लेख 'विक्रमादित्यस्य' मिलता है।

दूसरे प्रकार के सिक्के में उल्लिखित 'रूपाकृति' के विषय में अभी तक कोई निश्चित मत नहीं है। कोई-कोई रूपाकृति (रूप + आकृति) से यह अर्थ समझते हैं कि उस स्थान पर राजा के सच्चे अङ्ग का चित्र दिखलाया है। कुछ विद्वानों का दूसरा मत है। वे रूप को नाटक मानकर यह मन्तव्य निकालते हैं कि राजा पर्यंक पर बैठा नाटक देख रहा है। ये अनुमान कहाँ तक सच हैं, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

(४) चौथे प्रकार के सिक्के अनेक प्रकार के हैं। इनको सिंह-युद्धवाला कहा जाता है। इसमें राजा की अवस्था, सिंह की दशा तथा लेख के कारण भेद पाये जाते हैं। इन सिक्कों के देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि राजा का शरीर कितना सुन्दर था तथा उसकी भुजाओं में कितना बल था। इनके निरीक्षण से उसके आखेट के व्यसन की ओर विद्या तथा कला के प्रेम की सूचना मिलती है।

एक ओर—उष्णीष तथा अन्य वस्त्राभूषण से युक्त खड़ी राजा की मूर्ति है जो धनुष-बाण से सिंह को मार रहा है। दूसरे किसी में कृपाण से मारते हुए राजमूर्ति दिखलाई गई है। इसमें चार प्रकार के लेख मिलते हैं।

(१) नरेन्द्रचन्द्रः प्रथितदिवं जयत्यजेयो भुवि सिंहविक्रमः। (२) नरेन्द्रसिंह चन्द्रगुप्तः पृथिवीं जित्वा दिवं जयति। (३) महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः। (४) देव श्रीमहाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः।

दूसरी ओर—लक्ष्मी (अम्बिका) सिंह पर बैठी हैं। दूसरे प्रकार के सिक्के पर 'सिंहचन्द्रः' और अन्य तीनों पर 'श्रीसिंहविक्रमः' या 'सिंहविक्रमः' लिखा मिलता है।

---

१. एलन – गुप्त सिक्के प्लेट ६ नं० ६।

२. न्यूमिसमेटिक सप्लिमेंट नं० २६ (१६१७)।

(५) पाँचवें प्रकार के सिक्के का समावेश चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही गुप्त-मुद्रा में किया। इसको 'अश्वारूढ़ राजा' के नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार के सिक्के का अधिक प्रचार चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त प्रथम ने किया।

एक ओर—अश्वारूढ़ राजा की मूर्ति है और चारों ओर 'परम भागवत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तः' लिखा है।

दूसरी ओर—आसन पर बैठी तथा कमल लिये देवी की मूर्ति है। इस तरफ़ 'अजितविक्रमः' उत्कीर्ण है।

ऊपर चाँदी के सिक्कों के वर्णन में यह बतलाया गया है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने गुप्त-मुद्रा में चाँदी के सिक्कों का सर्वप्रथम समावेश किया। यह परिस्थिति मालवा तथा सौराष्ट्र विजय करने पर उत्पन्न हुई। वर्णन हो चुका है कि ये सिक्के क्षत्रपों के अनुकरण पर चलाये गये। यद्यपि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने बहुत समय तक राज्य किया, परन्तु इसके सिक्के बहुतायत से नहीं मिलते। इन सिक्कों पर—

चाँदी के सिक्के

एक ओर—राजा की अर्ध-शरीर की मूर्ति (Bust) है। इस तरफ़ ब्राह्मी अङ्क में तिथि का उल्लेख मिलता है।

दूसरी ओर—मध्य में गरुड़ की आकृति है और चारों ओर वृत्त में लेख मिलते हैं। इनमें दो भेद पाये जाते हैं। किसी पर 'परम भागवत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' अथवा 'श्रीगुप्तकुलस्य महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त विक्रमांकस्य' लिखा है[1]।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने अपने पिता के सदृश ताँबे के सिक्के चलाये। ये सुन्दर तथा कई प्रकार के मिलते हैं। लेख के अनुसार इनके कई भेद पाये जाते हैं।

ताँबे के सिक्के

एक ओर—राजा के अर्ध-शरीर का चित्र (Bust) है। किसी-किसी सिक्के पर 'श्रीविक्रमः' या श्री/चन्द्रः अथवा केवल 'चन्द्र' लिखा मिलता है।

दूसरी ओर—गरुड़ का चित्र है। इस तरफ़ अनेक प्रकार के लेख मिलते हैं। 'महाराजा चन्द्रगुप्त'; 'श्रीचन्द्रगुप्त'; 'चन्द्रगुप्त' या केवल 'गुप्त' लिखा मिलता है।

कुमारगुप्त प्रथम का शासन-काल अनेक प्रकार के सिक्कों के लिए प्रसिद्ध है। इसके राज्य में मुद्रा-कला के सोने में सिक्के उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गये थे। कुमारगुप्त के सोने के सिक्के तौल में १२४–१२६ ग्रेन तक पाये जाते हैं। धनुर्धरांकितवाला सिक्का तो सभी गुप्त-राजाओं ने निकाला परन्तु इस काल में यह न्यून संख्या में पाया जाता है। सबसे अधिक संख्या में कुमारगुप्त ने अश्वारूढ़वाले सिक्के का निर्माण कराया। अपने पिता के सदृश इसने बहुत ही सुन्दर मोरवाला सिक्का निकाला जिसके समान कारीगरी का सिक्का गुप्त-मुद्रा में नहीं पाया जाता। सब मिलाकर नौ प्रकार के सिक्के कुमारगुप्त ने निकलवाये।

कुमारगुप्त प्रथम

१. एलन—गुप्त सि० पृ० ४३-५१।

(१) धनुर्धराङ्कितवाले सिक्कों की संख्या बहुत न्यून है परन्तु लेख के कारण कई भेद किये गये हैं।

एक ओर—धनुष-बाण धारण किये राजा की मूर्ति है। इस ओर अनेक प्रकार के लेख मिलते हैं।

१—'विजितावनिरवनिपतिः कुमारगुप्तो दिवं जयति'।

२—जयति महीतलां—

३—परम राजाधिराज श्रीकुमारगुप्तः।

४—महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तः।

५—गुणेशो महीतलां जयति कुमारगुप्तः।

दूसरी ओर—पद्मासन पर बैठी तथा हाथ में कमल लिये देवी की मूर्ति है। सब पर एक ही लेख 'श्रीमहेन्द्रः' पाया जाता है।

(२) कृपाणवाले सिक्के में—एक ओर—भारतीय वस्त्राभूषण पहने राजा खड़ा आहुति देता दिखलाई पड़ता है। एक हाथ खड्ग की मुष्टि पर अवस्थित है और गरुड़-ध्वज देख पड़ता है। चारों ओर 'गामवजित्य सुचरितैः कुमारगुप्तो दिवं जयति' लिखा है।

दूसरी ओर—पद्मासन पर बैठी लक्ष्मी की मूर्ति है और 'श्रीकुमारगुप्तः' लिखा है।

(३) तीसरे प्रकार का सिक्का 'अश्वमेध सिक्का' के नाम पुकारा जाता है। कुमारगुप्त ने समुद्रगुप्त के समान इसे अश्वमेध यज्ञ के स्मारक में बनवाया। दोनों का अवलोकन करने से इनकी भिन्नता स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। कुमारगुप्त के अश्वमेध सिक्के पर विभूषित घोड़े का चित्र है और घोड़े का मुख दाहिनी ओर है। यद्यपि ये सब बातें समुद्रगुप्त के अश्वमेध सिक्के में नहीं पाई जातीं परन्तु इसकी बनावट उससे श्रेष्ठ है। तीसरी भिन्नता तौल की है। समुद्र का सिक्का ११८ ग्रेन का है परन्तु कुमार के सिक्के १२४ ग्रेन तौल में हैं।

एक ओर—विभूषित घोड़े की मूर्ति है जो यूप के सम्मुख खड़ी है लेख स्पष्ट नहीं है।

दूसरी ओर—वस्त्राभूषणों से सुसज्जित, चँवर धारण किये महिषी की मूर्ति है। यज्ञ का शूल भी देख पड़ता है और 'श्रीअश्वमेध महेन्द्रः' लिखा है।

(४) चौथे प्रकार के सिक्के बहुत संख्या में पाये जाते हैं। यह अश्वारूढ़ राजा वाला कहा जाता है। इसमें घोड़े के स्थान, देवी के ढङ्ग तथा भिन्न लेखों के कारण बहुत भेद पाये जाते हैं।

एक ओर—घोड़े पर सवार राजा की मूर्ति है। किसी में धनुष भी धारण किया है। इस तरफ़ अनेक प्रकार के लेख मिलते हैं—

१—पृथिवीतलां—दिवं जयत्याजितः।

२—क्षितिपतिरजितो विजयी महेन्द्रसिंहो दिवं जयति।

३—क्षितिपति... ..कुमारगुप्तो दिवं जयति।

४—गुप्त-कुल-व्योम-शशि जयत्यजेयो जितमहेन्द्रः।

५—गुप्तकुलामलचन्द्रो महेन्द्रकर्माजितो जयति।

दूसरी ओर—एक में कमल लिये बैठी देवी की मूर्ति है। किसी अन्य में आसन पर बैठी लक्ष्मी की मूर्ति है जो मयूर को फल खिला रही है। सब पर 'अजित महेन्द्रः' लिखा मिलता है।

(५) इसमें सिंह मारते हुए राजा की मूर्ति अंकित है। इसे सिंह मारनेवाला कहा जाता है। लेख के कारण इसमें बहुत भेद पाये जाते हैं।

एक ओर—भारतीय वेष में खड़ी राजमूर्ति है जो सिंह को धनुष-बाण के द्वारा मारते हुए दिखलाई गई है। इस तरफ़ भिन्न-भिन्न लेख मिलते हैं।

१—साक्षादिव नरसिंहो सिंहमहेन्द्रो जयत्यनिशाम्।

२—क्षितिपतिरजितमहेन्द्रः कुमारगुप्तो दिवं जयति।

३—कुमारगुप्तो विजयी सिंह महेन्द्रो दिवं जयति।

४—कुमारगुप्तो युधि सिंहविक्रमः।

दूसरी ओर—सिंह पर बैठी लक्ष्मी (अम्बिका) की मूर्ति है। किसी पर 'श्रीमहेन्द्र-सिंह' या सिंहमहेन्द्रः लिखा मिलता है।

एक दूसरे प्रकार का सिंह मारनेवाला सिक्का मिला है। इस पर हाथ में अंकुश लिये राजा हाथी पर सवार है। पैरों से सिंह को कुचल रहा है। उस पर सिंह-निहन्ता महेन्द्रा(दित्यः) लिखा है[1]।

(६) व्याघ्र मारनेवाले सिक्के में—

एक ओर—भारतीय वेष में धनुष-बाण द्वारा व्याघ्र को मारते हुए राजमूर्ति अंकित है। इस पर 'श्रीमान् व्याघ्र-बलपराक्रमः' लिखा है।

दूसरी ओर—खड़ी देवी की मूर्ति है जो वाम हाथ में कमल तथा दाहिने से मोर को फल खिलाती हुई दिखलाई पड़ती है। इस तरफ़ 'कुमारगुप्तोधिराजा' लिखा है।

(७) कुमारगुप्त का सातवें प्रकार का—मोरवाला—सिक्का बहुत ही सुन्दर है। इस पर राजा तथा कार्तिकेय का नाम कुमार होने के कारण दोनों ओर राजमूर्ति ही अंकित है।

एक ओर—वस्त्राभूषण धारण किये राजा खड़े होकर मयूर को फल खिला रहा है। इस पर 'जयति स्वभूमौ गुणराशि महेन्द्रकुमारः' लिखा है।

दूसरी ओर—मयूर पर बैठे कार्तिकेय की मूर्ति है। बायें हाथ में त्रिशूल है और दाहिने से आहुति दे रहा है। 'महेन्द्रकुमारः' लिखा मिलता है।

(८) इस सिक्के को लेख के कारण 'प्रताप' के नाम से पुकारा जाता है।

एक ओर—बीच में एक पुरुष की मूर्ति है जिसके दोनों तरफ़ दो स्त्रियाँ खड़ी हैं। पुरुष तथा स्त्री के बीच (दोनों तरफ़ मिलाकर) कुमारगुप्त लिखा है। चारों ओर वृत्त में लेख अस्पष्ट है।

दूसरी ओर—बैठी देवी की मूर्ति है और 'श्रीप्रताप' लिखा है।

(९) यह सिक्का गुप्त-मुद्रा में विलक्षण है। इसमें किसी ओर भी लेख नहीं मिलता। यह हुगली (बंगाल) से प्राप्त हुआ। एलन कुमारगुप्त के धनुर्धरांकित

---

१. जे० ए० एस० बी० १९२७ पृ० १२५।

सिक्के के साथ प्राप्त होने के कारण इसे कुमारगुप्त प्रथम का सिक्का मानते हैं। इसे गजारूढ़ के नाम से पुकारते हैं।

एक ओर—हाथी पर चढ़े राजा की मूर्ति है। उसके पीछे छत्र धारण किये नौकर दिखलाई पड़ता है।

दूसरी ओर—हाथ में कमल धारण किये खड़ी लक्ष्मी की मूर्ति है।

यद्यपि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चाँदी के सिक्के चलाये परन्तु उसके पुत्र कुमारगुप्त प्रथम ने भिन्न भिन्न ढङ्ग तथा अगणित संख्या में चाँदी के सिक्के निर्माण कराये। इसने गुजरात और काठियावाड़ में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की तरह सिक्का चलाया परन्तु मध्यप्रदेश के लिए एक नवीन प्रकार का सिक्का तैयार कराया। ये क्रमशः पश्चिमीय तथा मध्यदेशीय नाम से पुकारे जाते हैं। कुमारगुप्त का पश्चिमीय देश में एक दूसरे तरह का सिक्का मिला है जो वलभी के ढङ्ग का कहा जाता है। यह विशुद्ध चाँदी का नहीं है पर ताँबे पर चाँदी का पानी चढ़ाया गया है। यह बिल्कुल पश्चिमीय प्रकार का है, केवल दूसरी ओर महाराजाधिराज के बदले 'राजाधिराज' लिखा मिलता है। इसके कारण यह ज्ञात होता है कि राजकोष में कमी के कारण या चाँदी के अलभ्य होने से इस प्रकार का सिक्का निकाला गया। इन दोनों के मुख्य भेदों का विवरण पहले किया गया है।

चाँदी के सिक्के

(१) पश्चिमीय सिक्के पर—एक ओर—राजा के अर्ध-शरीर की मूर्ति है। इस तरफ ब्राह्मी अंक में तिथि का उल्लेख मिलता है।

दूसरी ओर—बीच में गरुड़ की आकृति है और चारों ओर 'परमभागवत महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तः महेन्द्रादित्यः' लिखा है।

(२) मध्यदेशीय सिक्के पर—

एक ओर—राजा के अर्ध-शरीर का चित्र है। राजा के मुख के सम्मुख ब्राह्मी अंकों में तिथि मिलती है।

दूसरी ओर—गरुड़ के बदले पंख फैलाये मोर का चित्र है। चारों ओर 'विजितावनिरवनिपति कुमारगुप्तो दिवं जयति' लिखा रहता है।

ताँबे के सिक्के

कुमारगुप्त के ताँबे के सिक्के दुष्प्राप्य हैं। एलन ने दो प्रकार के सिक्कों का वर्णन किया है।

(१) प्रथम प्रकार में—एक ओर—राजा की खड़ी मूर्ति है।

दूसरी ओर—गरुड़ की आकृति तथा 'कुमारगुप्तः' लिखा मिलता है।

(२) दूसरे प्रकार का सिक्का पहले से सर्वथा भिन्न है। इसमें—एक ओर—यज्ञ-वेदि है और उसके नीचे 'श्री कु' लिखा मिलता है।

दूसरी ओर—बैठी हुई देवी की मूर्ति है।

स्कन्दगुप्त

गुप्तों के अंतिम सम्राट् स्कन्दगुप्त के सिक्के पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हैं। इस राजा ने दो तौल के सिक्के निर्माण कराये। प्रथम तौल १३२ ग्रेन थी और दूसरी गम्भीर भारतीय सुवर्ण-तौल १४४ ग्रेन के लगभग थी। इसके प्रथम किसी ने इतने गम्भीर सुवर्ण तौल का प्रयोग नहीं किया था। ये सिक्के गुप्त-राज्य के पूर्वी हिस्से में मिलते हैं। स्कन्द के दो प्रकार के सिक्के मिलते हैं।

(१) प्रथम प्रकार वही है जो इसके पूर्व-पुरुषों ने निकाला था। इसे धनुर्धराङ्कित का नाम दिया गया है। स्कन्दगुप्त ने इसे सबों से गम्भीर १३२ ग्रेन का निकाला।

सोने के सिक्के

एक ओर—धनुष-बाण धारण किये खड़ी राजमूर्ति दिखलाई गई है। बायें हाथ के नीचे स्क न्द तथा 'जयति महितलां सुधन्वी' लिखा है और गरुड़ध्वज दिखलाई पड़ता है।

दूसरी ओर—पद्मासन पर बैठी तथा कमल लिये लक्ष्मी की मूर्ति है। इधर श्रीस्कन्दगुप्तः' लिखा है।

तत्पश्चात् स्कन्दगुप्त ने इसी प्रकार के सिक्के को गम्भीर सुवर्ण-तौल पर निकाला। इस दूसरे धनुर्धराङ्कित सिक्के का तौल १४६ ग्रेन है। इसमें—

एक ओर—खड़े, धनुष-बाणधारी राजमूर्ति है। बायें तरफ़ गरुड़ध्वज है। राजा के बायें हाथ के नीचे स्क न्द तथा चारों ओर उपगीति छन्द में 'जयति दिवं श्रीक्रमादित्यः' लिखा है।

दूसरी ओर—बैठी हुई देवी की मूर्ति है और राजा की उपाधि 'क्रमादित्यः' लिखा है।

(२) दूसरे प्रकार के सिक्के को 'राजा-लक्ष्मी' वाला कहा जाता है। यह भी अपने ढङ्ग का है। इसमें—

एक ओर—बाईं तरफ़, वस्त्राभूषण से सुसज्जित, धनुष-बाण-धारी राजा की मूर्ति है। दाहिनी तरफ़ देवी कोई वस्तु दाहिने हाथ में लिये खड़ी है। राजा तथा देवी की मूर्तियों के मध्य में गरुड़ध्वज दिखलाई पड़ता है। इस पर का लेख अस्पष्ट है।

दूसरी ओर—कमल लिये देवी की मूर्ति बैठी दिखलाई गई है। इस तरफ़ 'श्रीस्कन्दगुप्तः' लिखा है।

कुछ विद्वान् इस सिक्के पर राजा तथा देवी के चित्र में देवी को जयश्री मानते हैं। लेखों में वर्णन मिलता है कि जयश्री स्कन्दगुप्त को राज का भार दे रही है। स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ के लेख में 'लक्ष्मी स्वयं वा वरयांचकार' का उल्लेख मिलता है[1]। लेख तथा सिक्के के आधार पर यह प्रमाणित किया जाता है कि गुणवान् तथा योग्य होने के कारण स्कन्दगुप्त ही राज्य का अधिकारी समझा गया।

स्कन्दगुप्त ने भी, अपने पिता के सदृश, पश्चिम तथा मध्य प्रदेशों में प्रचार के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का सिक्का निकाला। पश्चिमी देश में स्कन्दगुप्त ने कई प्रकार के सिक्के निर्माण करवाया। प्रथम तो पूर्व-पुरुषों के अनुरूप निकाला जिससे ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र में कोई [illegible] भी अर्थात् चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमार तथा स्कन्द ने एक ही ढङ्ग के सिक्के निकाले। तदनन्तर उस स्थान को छोड़कर दूसरे स्थानों में अन्य प्रकार के सिक्के निकाले गये।

चाँदी के सिक्के

१. गु० लै० नं० १४।

(१) पश्चिमदेशीय सिक्के—(अ) गरुड़ टाइप, (ब) नन्दि, (स) वेदि।

इन सब पर—एक ओर—राजा के अर्ध-शरीर का चित्र है।

दूसरी ओर—क्रमशः गरुड़, नन्दि अथवा वेदि की आकृति दिखलाई पड़ती है। गरुड़वाले पर 'परम भागवत महाराजाधिराज श्रीस्कन्दगुप्त क्रमादित्यः' लिखा है। नन्दि वाले में लेख अस्पष्ट हैं। वेदिवाले में 'परमभागवत महाराजाधिराज श्रीविक्रमादित्यः स्कन्दगुप्तः' लिखा मिलता है।

(२) मध्यदेशीय सिक्के भी लेख के कारण दो प्रकार के हैं।

इन पर—एक ओर—राजा का, अर्ध-शरीर का, चित्र है और ब्राह्मी अङ्क में तिथि का उल्लेख मिलता है।

दूसरी ओर—पङ्ख फैलाये मोर की आकृति है। इसमें दो प्रकार के लेख मिलते हैं।

(१) विजितावनिरवनिपति जयति दिवं स्कन्दगुप्तो याम।

(२) विजिता श्रीस्कन्दगुप्तो दिवं जयति।

ताँबे के सिक्के

स्कन्दगुप्त के ताँबे के सिक्के पश्चिमीय चाँदी के सिक्कों के ढङ्ग के मिलते हैं। इनकी बनावट तथा लेख भी उसी प्रकार का मिलता है।

यह तो विदित है कि स्कन्दगुप्त के पश्चात् गुप्त-साम्राज्य की अवनति होने लगी। यही अवस्था सिक्कों से भी ज्ञात होती है। स्कन्दगुप्त के बाद उसके सौतेले भाई पुरगुप्त ने

पुरगुप्त

थोड़े समय तक राज्य किया। इसके समय से ही मुद्रा-कला का ह्रास होने लगा जो आगे हीनावस्था को पहुँच गई। पुरगुप्त तथा इसके वंशजों ने भारी तौल (सुवर्ण) का सिक्का निर्माण कराया। इसने एक ही प्रकार का सिक्का (तौल १४५ ग्रेन) निकाला। यह उसी प्राचीन ढङ्ग वाला—धनुर्धराङ्कित—सिक्का है जिसे इसके पूर्वपुरुषों ने चलाया। इसमें—

एक ओर—धनुष-बाण लिये राजा की मूर्ति है और बाँह के नीचे पु/र लिखा है। वृत्ताकार लेख पढ़े नहीं गये हैं।

दूसरी ओर—बैठी देवी की मूर्ति और 'श्रीविक्रमः' लिखा है।

पुरगुप्त के कुछ ऐसे भी सिक्के मिले हैं जिनपर केवल पदवी 'श्रीविक्रमः' मिलती है। ये सिक्के विरुद के कारण चन्द्रगुप्त द्वितीय के नहीं माने जा सकते; क्योंकि इस तौल (१४४ ग्रेन) का सिक्का उसने नहीं निकाला।

ब्रिटिश-म्यूज़ियम में कुछ सिक्के मिले हैं जिनपर राजा का नाम नहीं मिलता है। ये सिक्के उल्लिखित विरुद 'प्रकाशादित्य' के नाम से पुकारे जाते हैं। एलन का अनुमान है कि ये सिक्के पुरगुप्त के हैं परन्तु राखालदास बैनर्जी इससे सहमत नहीं हैं[१]। ये सिक्के बनावट में पुरगुप्त के पुत्र नरसिंह के सिक्के के समान हैं। इसकी तौल

---

१. बैनर्जी—गुप्त लेक्चर पृ० २४८।

१३६-१४६ ग्रेन तक मिलती है। अतएव इसका समय कुमारगुप्त प्रथम और नरसिंह-गुप्त के मध्य का है। इन बातों के आधार पर प्रकाशादित्य के सिक्के को पुरगुप्त का ही मानना युक्ति-सङ्गत ज्ञात होता है।

इस प्रकाशादित्य के सिक्के पर—

एक ओर—अश्वारूढ़ राजा की मूर्ति है जो तलवार से सिंह को मार रहा है। इस पर गरुड़ध्वज भी दिखलाई पड़ता है।

दूसरी ओर—बैठी देवी की मूर्ति है और 'प्रकाशादित्य' लिखा मिलता है।

नरसिंह गुप्त

पुरगुप्त के पुत्र नरसिंहगुप्त ने केवल सोने के सिक्के चलाये। इसके समय में मुद्रा-कला का बहुत ही ह्रास हो गया था। इसने अपने सिक्कों का तौल बढ़ाकर १४३-१४८ ग्रेन तक कर दिया, परन्तु सिक्कों की धातु में मिश्रण होने लगा। इसने एक ही प्रकार का धनुर्धराङ्कितवाला सिक्का चलाया। बनावट के कारण इसके दो भेद किये गये हैं। पहले में शुद्ध धातु है तथा चारों ओर लेख मिलता है। दूसरे प्रकार में सिक्के की धातु में मिश्रण है। इसकी बनावट भी हीन है जिससे प्रकट होता है कि सम्भवतः किसी सङ्कट में यह निकाला गया होगा। ये दोनों प्रकार के सिक्के दो भिन्न स्थानों में तैयार किये गये होंगे। दूसरे प्रकार का सिक्का कालाघाट के ख़ज़ाने में मिला है। इसमें—

एक ओर—धनुषधारी राजा की मूर्ति है और $\frac{\text{न}}{\text{र}}$ लिखा मिलता है।

दूसरी ओर—बैठी देवी की मूर्ति है। इसके दोनों पर एक बालिश्त की तरह दिखलाई पड़ता है। इस तरफ़ राजा की उपाधि 'बालादित्य' मिलती है।

कुमारगुप्त द्वितीय

अपने पिता तथा पितामह के सदृश द्वितीय कुमारगुप्त ने धनुषवाला सिक्का चलाया। बनावट तथा तौल के कारण ये दो प्रकार के होते हैं। प्रथम १३९-१४३ ग्रेन के और दूसरे हीन बनावट के हैं जिनकी तौल १४६-१५१ ग्रेन है। इसमें—

एक ओर—धनुष लिये राजा की मूर्ति है। बायें 'कु' लिखा है। किसी पर 'महाराजाधिराज श्रीकुमारगुप्तो क्रमादित्यः' लिखा मिलता है।

दूसरी ओर—बैठी देवी की मूर्ति और 'क्रमादित्य' लिखा है।

बुधगुप्त

बुधगुप्त का राज्य उत्तरी बङ्गाल, मालवा, एरण तक विस्तृत था। कई वर्षों के शासन-काल में केवल एक प्रकार का चाँदी का सिक्का मिला है। यह सिक्का मध्यदेशीय ढङ्ग का है। इसकी तिथि गु० स० १७५ की है। लेख भी राजा के नाम का मिलता है। राखालदास बैनर्जी के मतानुसार 'प्रकाशादित्यवाला सोने का सिक्का बुधगुप्त ने चलाया था'।

पीछे के गुप्तों के सिक्के

बुधगुप्त के पश्चात् कई गुप्त-राजाओं ने सिक्के चलाये जिनके नामों का समीकरण नहीं हो पाया है। इनके कोई लेख आदि भी नहीं मिले हैं जिससे इस कार्य में सहायता मिले। उनके नाम ये हैं—

(१) वैन्यगुप्त[1], (२) विष्णुगुप्त चन्द्रादित्य, (३) जयगुप्त प्रकांडयसस, (४) वीरसेन, (५) हरिगुप्त।

बहुत सम्भव है, ये गुप्त-नरेश पीछे के गुप्त राजा होंगे जिनका वर्णन प्रथम भाग में किया गया है। ये सब सिक्के तौल में लगभग १४८ ग्रेन के हैं। वीरसेन का सिक्का सर्वथा विलक्षण है। इसने नन्दि को अपने सिक्के पर स्थान दिया है। सम्भव है, स्कन्दगुप्त के चाँदी के सिक्के के नन्दि का अनुकरण हो। इसकी तौल १६२ ग्रेन है जो सुवर्ण से कदापि सम्बन्धित नहीं किया जा सकता।

छठी शताब्दी के बाद मिश्रित धातु के कुछ सोने के सिक्के मिलते हैं जो गुप्तों के अनुकरण पर निकाले गये थे। ये सिक्के पूर्वी बङ्गाल में प्रचलित थे और ढाका तथा फ़रीदपुर में मिले हैं। इनका तौल सुवर्ण को कौन कहे कुषाणों के बराबर (११८ ग्रेन) भी नहीं मिलता। इनमें ८१,८६ और ६२ ग्रेन के सिक्के मिलते हैं।

गुप्तो के समान कुछ सिक्के

इनमें एक ओर—धनुष-बाण लिये राजा की मूर्ति है। दाहिने घोड़े का चित्र है और अश्वध्वज दिखलाई पड़ता है। इन पर 'श्री' लिखा मिलता है।

दूसरी ओर—खड़ी देवी की मूर्ति है। सूक्ष्म अवलोकन से अष्टभुजी देवी ज्ञात होती है। इसके चारों ओर गुप्त सिक्कों के लेखों के सदृश लेख का अनुकरण किया गया है।

इस समय यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इन सिक्कों का निर्माण किसने करवाया। भट्टशाली ने अनुमान किया है कि ये सिक्के पीछे के किसी गुप्त राजा ने निकाले होंगे। उन पर घोड़े के चित्र तथा अश्वध्वज से अनुमान किया जाता है कि ये सिक्के अश्वमेध यज्ञ के स्मारक में निकाले गये होंगे। पीछे के गुप्त-नरेशों में आदित्यसेन ही ऐसा राजा था जिसने अश्वमेध यज्ञ किया था[2]। इसी आधार पर भट्टशाली ने अपना मत स्थिर किया है कि इस सिक्के को आदित्यसेन ने चलाया था[3]। इस मत का विद्वानों ने विरोध किया है। उनका कथन है कि पीछे के गुप्तों का राज्य पूर्वी बङ्गाल तक विस्तृत नहीं था जहाँ से ये सिक्के प्राप्त हुए हैं। दूसरी बात यह है कि ये सिक्के[4] शशांक के सिक्कों के साथ जैसोर में मिले हैं। सब से बड़ी आश्चर्य की बात यह है कि एक भी सिक्का बिहार में नहीं मिला है जहाँ उन्होंने शताब्दी तक राज्य किया। इन सब परस्पर-विरोधी बातों के सामने यह निश्चित रूप से कहना

---

१. पीछे बतलाया जा चुका है कि जो सिक्का अभी तक द्वादशादित्य के नाम का समझा जाता था वह वास्तव में वैन्यगुप्त का है, चन्द्रगुप्त तृतीय का नहीं। विद्वानों ने उसमें साफ़ तौर से 'वैन्य' शब्द पढ़ा है।

२. फ्लीट—गु० ले० पृ० २१३ नोट।

३. जे० ए० एस० बी० १६२३—न्यूमिस्मेटिक सप्लिमेंट ३७।

४. एलन—गुप्त सिक्के प्लेट २४ नं० १७।

कठिन है कि इन सिक्कों को किसने चलाया। बहुत सम्भव है कि शशांक के बाद पूर्वी-बंगाल के किसी शासक ने इसे निकाला हो।

उपर्युक्त विवरणों के सिंहावलोकन से ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में तीन प्रकार—सोने, चाँदी तथा ताँबे—के सिक्कों के प्रचलित रहने पर भी सोने के सिक्कों की ही प्रधानता थी। चाँदी के सिक्के तो केवल दो प्रकार के ही निकले परन्तु प्रत्येक गुप्त-सम्राट् ने अपने राज्य-काल में एक नये प्रकार का सोने का सिक्का चलाया। इनकी संख्या कुमारगुप्त प्रथम के समय में नौ तक पहुँच गई। सोने तथा चाँदी के सिक्कों में धातु के अतिरिक्त बनावट में बहुत विभिन्नता पाई जाती है। सोने के सिक्कों की तौल ११८-१४६ ग्रेन तक है। इनमें दूसरी ओर की अपेक्षा पहली (एक) ओर अधिक भिन्न-भिन्न आकृति दिखलाई पड़ती है। चाँदी के सिक्के इसके सर्वथा विपरीत मालूम पड़ते हैं। इनकी तौल ३०-३२ ग्रेन तक है और दूसरी ओर ही भिन्न-भिन्न चित्र अंकित हैं। सोने के सिक्कों पर जो निरर्थक चिह्न हैं वे चाँदी पर दिखलाई नहीं पड़ते। चाँदी पर उल्लिखित तिथि का सोने के सिक्कों पर सर्वथा अभाव है। सबसे बड़ी विभिन्नता काल-क्रम की है। सोने के सिक्कों का जन्मदाता चन्द्रगुप्त प्रथम था। ये ई० स० ३१९ के आस-पास निकाले गये होंगे। परन्तु ई० स० ४०५ के लगभग (सौराष्ट्र तथा मालवा के विजय करने पर) चन्द्रगुप्त द्वितीय ने चाँदी के सिक्कों का निर्माण कराया।

सोने तथा चाँदी के सिक्कों की विशेषता

यह तो निश्चित सिद्धान्त है कि गुप्त-काल में मुद्रा-कला का स्वतन्त्र रूप से जन्म नहीं हुआ। अतएव गुप्त-मुद्रा-कला का जन्म अवश्य ही विदेशियों के अनुकरण पर हुआ। यह विवेचन किया गया है कि पिछले कुषाणों के सिक्कों का गुप्त-मुद्रा पर कितना प्रभाव पड़ा। यों कहा जाय कि इन्हीं के अनुकरण पर गुप्त-मुद्रा-कला प्रारम्भ हुई। स्मिथ आदि विद्वानों ने कतिपय गुप्त-सिक्कों की बनावट से यह सिद्धान्त निकालने का प्रयास किया है कि रोम तथा ग्रीक सिक्कों ने भी गुप्त-मुद्रा-कला पर प्रभाव डाला। सिंह के मारनेवाले सिक्के की समता स्मिथ ने रोमन हेरैकिल तथा नेमियन (सिंह) से दिखलाई है। किंतु भारत में सिंह-व्याघ्र का आखेट राजाओं की एक मनोरञ्जन की वस्तु है अतः सिंह मारनेवाले सिक्के पर रोम का प्रभाव मानना युक्ति-सङ्गत नहीं है। इतना तो मानने के लिए सभी सम्मत हैं कि कुषाणों के सिक्के रोम के अनुकरण पर निकले, इसलिए गुप्तों पर उनका गौण रूप से प्रभाव सिद्ध हो जाता है। क्षत्रपों के सिक्के ग्रीक हेमीड्राम (Hemi drachm) के अनुकरण पर तैयार हुए थे। गुप्तों ने भी क्षत्रपों के अनुकरण पर ही चाँदी के सिक्के निकाले। इस प्रकार ग्रीक प्रभाव चाँदी के सिक्कों पर गौण रूप से प्रकट होता है। इन गौण प्रभावों के अतिरिक्त गुप्त-मुद्राकला में अनेक नवीनताएँ दिखलाई पड़ती हैं। गुप्त सम्राटों ने क्रमशः नवीन बनावट तथा विशुद्ध धातु के साथ-साथ भारतीय सुवर्ण-तौल (१४४ ग्रेन) का प्रयोग किया।

गुप्त-मुद्रा-कला पर विदेशी प्रभाव

गुप्त-मुद्राओं का वर्णन समाप्त करने से प्रथम यह अत्यावश्यक प्रतीत होता है कि गुप्त सिक्कों के प्राप्ति-स्थान का दिग्दर्शन कराया जाय। पाठकों के लिए यह

बहुत बड़े दुर्भाग्य का विषय है कि भारतीय संस्कृति-सूचक अमूल्य वस्तुएँ विदेशों में सुरक्षित हैं। भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग (गुप्तकाल) के जाज्वल्यमान उदाहरण सिक्के भी छिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा विभिन्न स्थानों में पाये जाते हैं।

गुप्त सिक्कों का प्राप्ति-स्थान

(१) सब से धनी ख़ज़ाना कलकत्ता से दस मील दूर, हुगली नदी के तट पर, कालीघाट नामक स्थान से प्राप्त हुआ था। अकस्मात् किसी मनुष्य ने पीतल के पात्र में दो सौ गुप्त सोने के सिक्कों को ई० स० १७८३ में पाया था। यह ख़ज़ाना तत्कालीन गवर्नर-जनरल वारेन हेस्टिंग्ज़ के हाथ में आया जिन्होंने इन सब को इँग्लैंड में स्थित विभिन्न व्यक्तियों को बाँट दिया।

(२) दूसरा ख़ज़ाना बनारस के समीप भरसार से ई० स० १८५१ में मिला जिसमें १६० सिक्के थे। इस ख़ज़ाने में समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, कुमारगुप्त प्रथम, स्कन्दगुप्त तथा पुरगुप्त के सिक्के थे।

(३) ई० स० १८८३ में हुगली (बङ्गाल) के समीप १३ सिक्के मिले।

(४) स० १८८५ ई० में टाँडा नामक स्थान से एक ख़ज़ाना मिला जिसमें २५ सिक्के थे। इसमें समुद्रगुप्त, काच तथा चन्द्रगुप्त प्रथम के सिक्के थे।

(५) बस्ती (संयुक्तप्रान्त) में ई० स० १८८७ में १० सिक्कों का एक ढेर मिला।

(६) हाजीपुर (बिहार) में कुन्हाघाट के बाज़ार में ई० स० १८९३ में २२ सिक्कों की ढेरी मिली।

(७) मुज़फ्फ़रपुर (बिहार) के टिक्की डेबरा नामक स्थान से ४० सिक्के मिले।

(८) बलिया (संयुक्तप्रांत) में एक छोटा ढेर मिला जिसमें सारे समुद्रगुप्त के सिक्के हैं। इसके अतिरिक्त अन्य राजाओं के सिक्के भी (चन्द्रगुप्त प्रथम) प्राप्त हुए हैं जिनका लेखक ने स्वयं अध्ययन किया है।

सोने के सिक्कों के समान ही चाँदी के सिक्के भी विभिन्न स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इनमें अधिक संख्या में पश्चिम से ही प्राप्त हैं, जिनमें सबसे अधिक कुमारगुप्त प्रथम के हैं।

(१) सब से बड़ी खान बम्बई प्रान्त के सतारा में मिली जिसमें १३९५ चाँदी के सिक्के थे। इनमें ११०० सिक्के कुमारगुप्त प्रथम के गरुड़वाले हैं। दूसरे वलभी के राजा आदि के हैं।

(२) ई० स० १८६१ में ६८ सिक्के अहमदाबाद से बाम्बे रायल एशियाटिक सोसाइटी को दिये गये। इनमें सब सिक्के कुमारगुप्त प्रथम के थे।

(३) बहुत सिक्के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा बाम्बे रायल एशियाटिक सोसाइटी को दिये गये।

ई० स० १८६७ में कुमारगुप्त के ९ सिक्के भावनगर के ठाकुर द्वारा तथा १८५१ में नवानगर के जाम द्वारा कुमारगुप्त के १३ सिक्के दिये गये। बहुत सम्भव है कि ये सिक्के उनके राज्य से प्राप्त हुए हों।

(४) कच्छ में ई० स० १८६१ में २३६ सिक्के मिले हैं, जो सभी स्कन्दगुप्त के वेदिवाले हैं।

अनेक स्थानों—काशी, अयोध्या तथा मथुरा—में भी गुप्तों के सिक्के (चाँदी तथा ताँबे के) मिले हैं जो सम्भवतः यात्रियों द्वारा उस स्थान पर लाये गये होंगे।

गुप्तकालीन सिक्के आधुनिक काल में भारत तथा विदेशी संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। ये सिक्के भारतीय धनी व्यक्तियों के पास भी विद्यमान हैं जिससे भारतीय संस्कृति के प्रति उनका स्नेह प्रकट होता है।

गुप्तकालीन साहित्यिक विकास

संस्कृत वाङ्मय

गुप्तकालीन संस्कृत वाङ्मय के इतिहास को विस्तृत रूप से प्रस्तुत करने के पहले यह नितान्त उचित प्रतीत होता है कि उसके सम्बन्ध में प्रकट किये गये डा० मैक्समूलर के मत की सामान्य चर्चा तथा आलोचना की जाय। डा० मैक्समूलर का कहना यह था कि ईसा की आदिम तीन या चार शताब्दियों में आक्रमण-कारी विदेशियों की परतन्त्रता में जकड़े रहने के कारण भारतीयों ने किसी भी नवीन साहित्य की सृष्टि नहीं की—संस्कृत में किसी भी उत्पादक साहित्य की उत्पत्ति नहीं हुई। संस्कृत-साहित्य इतनी शताब्दियों तक एक प्रकार की घोर निद्रा में पड़ा हुआ था। परन्तु गुप्तों के भारतीय इतिहास में प्रादूर्भूत होने के साथ ही साथ इस निद्रा का भी अवसान हुआ। संस्कृत-साहित्य मानों जाग पड़ा तथा भारतीयों की सुप्त प्रतिभा उन्मेष को प्राप्त होकर काव्य, नाटक, दर्शन आदि विभिन्न तथा नवीन विषयों की सृष्टि करने लगी। अतः गुप्तों का काल संस्कृत-साहित्य के पुनरुज्जीवन का काल है। डा० मैक्समूलर के इसी मत को रेनेसान्स थ्योरी (पुनरुज्जीवन सिद्धान्त) कहते हैं।

परन्तु क्या यह सिद्धान्त ठीक है कि इन चार सौ वर्षों में भारतीयों की काव्यकला का स्रोत सूख गया था अथवा वह सुखमयी निद्रा का आस्वाद कर रही थी? क्या यह सच है कि जिस संस्कृत-भाषा में आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना कर मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के आदर्श चरित्र को विस्मित जनता के समक्ष रक्खा था, जिसमें महर्षि व्यास ने आख्यान के मिस से भारतीय धर्म की प्रशस्त शिक्षा देने के लिए महाभारत की रचना की थी, महर्षि पाणिनि ने व्याकरण की रचना कर जिस भाषा को सुव्यवस्थित तथा सुसंस्कृत करने का श्लाघनीय उद्योग किया था तथा जिसकी साहित्यिक परम्परा की धारा ईसा की अनेक शताब्दियों पूर्व से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही थी क्या वही संस्कृत-भाषा की धारा अकारण ही—एक दो नहीं परन्तु चार शताब्दियों तक—रुक गई। इस मत को आधुनिक अनुसन्धान ने तो नितान्त निर्मूल सिद्ध कर दिया है। 'विदेशियों के आक्रमण से भारतीय संस्कृति को किसी प्रकार की भी हानि नहीं पहुँची' इसे तो इतिहास भी ऊँचे स्वर से बतला रहा है। विदेशी भारत में आये, उन्होंने लूटमार कर नये-नये देशों को जीता और अपना राज्य जमाया। फिर पैर जम जाने पर उन लोगों ने भारतीय संस्कृति को अपनाना ही अपना परम कर्तव्य समझा। उनकी सभ्यता अत्यन्त हीन कोटि की थी और भारतीय सभ्यता अत्यन्त उच्च थी। अतः उन्होंने गौरवमयी भारतीय सभ्यता को अपनाकर अपने प्रति प्रजा की भी सहानु-भूति प्राप्त की तथा यों अपनी वास्तविक उन्नति की ओर उचित ही किया। उन्होंने

भारतीय नाम ग्रहण किये तथा भारतीय धर्म को अपनाया था; विहारों और मन्दिरों की स्थापना की तथा संस्कृत-साहित्य की उन्नति करने का प्रशंसनीय कार्य किया। यदि विदेशी कुशानवंशियों के एक राजा ने वासुदेव का नाम ग्रहण किया तो पश्चिमी क्षत्रपों के राजा की कन्या ने दक्षमित्रा तथा जामाता ने ऋषभदत्त का नाम ग्रहण किया। यदि ग्रीक मीनेण्डर ने मिलिन्द के नाम से बौद्ध-धर्म को ग्रहण किया तो यह कौन सी आश्चर्य की बात है जब हम यवन-दूत परम भागवत हेलियोडोरस को भगवान् वासुदेव की शरण में आते हुए तथा वैष्णव-धर्म को अपनाते हुए पाते हैं? अतः यह निष्कर्ष नितान्त सत्य है कि विदेशियों के आक्रमण से भारतीयों की परम्परा में किसी प्रकार का विच्छेद नहीं हुआ। और भी एक ऐसा कारण है जिससे प्रो० मैक्समूलर का यह मत निर्मूल सा प्रतीत होता है। गुप्तकाल के पहले के अनेक काव्य ग्रन्थों का पता चला है। पतञ्जलि के समय (१५० ई० पू०) में भी 'कंस-वध' और 'बलि-बन्धन' नामक नाटक खेले जाते थे; 'वासवदत्ता' तथा 'सुमनोत्तरा' जैसी आख्यायिकाएँ लिखी गई थीं; ईसवी सन् के प्रारम्भ में ही कनिष्क के राजकवि कविवर अश्वघोष ने जनता में बौद्ध-धर्म के प्रचुर प्रचार के लिए 'बुद्ध-चरित' तथा 'सौन्दरनन्द' जैसे काव्यकला-पूर्ण संस्कृत-महाकाव्यों का निर्माण किया; 'सारिपुत्रप्रकरण' जैसे नाटक की रचना हुई; ईसा की दूसरी शताब्दी में (१५० ई०) रुद्रदामन् के गिरनार-शिलालेख में साहित्यिक आलङ्कारिक गद्य का उत्कृष्ट नमूना मिलता है; जब महाकवि भास ने 'स्वप्नवासवदत्ता' आदि सुन्दर नाटकों की रचना गुप्त-काल के पहले ही की तो किस आधार पर हम पुनरुज्जीवन के सिद्धान्त को मानें? किस मुँह से हम कहें कि संस्कृत-साहित्य का स्रोत सूख गया था तथा वह घोर निद्रा में विलीन था?

सच तो यह है कि गुप्तकाल में संस्कृत का पुनरुज्जीवन नहीं हुआ प्रत्युत प्राचीन काल से अविच्छिन्न रूप से चले आनेवाले साहित्य का, अनुकूल परिस्थिति में तथा शान्ति-मय वातावरण में, एक रमणीय विकास-मात्र हुआ। इस काल में संस्कृत-भाषा का खूब प्रचार हुआ। ब्राह्मणों की धार्मिक भाषा होने के कारण, देववाणी से जो बौद्ध तथा जैन मतावलम्बी किनारा कसते जाते थे उन्होंने भी पाली तथा अर्धमागधी के मोह को छोड़कर संस्कृत से स्नेह बढ़ाया। संस्कृत में ही अपने धर्म तथा दर्शन के ग्रन्थों की रचना की। गुप्त-नरेश तो संस्कृत-भाषा, साहित्य तथा वैदिक धर्म के बड़े ही पक्षपाती थे। उनके समय में संस्कृत खूब फली और फूली। शिला-लेखों से संस्कृत ने प्राकृत को मार भगाया; गुप्तकालीन सम्पूर्ण शिलालेखों की भाषा संस्कृत ही है। इतना ही नहीं, सर्वसाधारण में भी इसका दबदबा कुछ कम नहीं था। गुप्त-राजाओं ने सर्वसाधारण के व्यवहार के लिए जो मुद्राएँ चलाईं उनपर भी विविध संस्कृत श्लोकों का प्रयोग देववाणी की विपुल व्यापकता तथा प्रचुर प्रसार की ओर संकेत कर रहा है। वास्तव में उस समय संस्कृत-भाषा को राष्ट्र-भाषा होने का गौरव प्राप्त हुआ था। यह अनुमान-सिद्ध था। बड़े-बड़े महत्त्वपूर्ण राजकीय पत्रों (State documents) से लेकर प्रजा के साधारण मन्दिरों की प्रशस्तियाँ तक जिस भाषा में लिखी जाती थीं, जिस भाषा की कविता करने में तथा कवियों को आश्रय देने में तत्कालीन सम्राट् भी अपना गौरव

समझते थे उस भाषा को यदि राष्ट्रभाषा होने का गौरव प्राप्त हो तो इसमें आश्चर्य के लिए स्थान ही कहाँ है ?

इस प्रकार ऊपर दिखलाया गया है कि गुप्त-काल में संस्कृत-भाषा का कैसा बोलबाला था। जहाँ देखिए वहीं संस्कृत की तूती बोल रही थी। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, इस युग में संस्कृत-प्रसार के संक्रमण से बौद्ध तथा जैन-लेखक भी नहीं बच सके। पाली तथा अर्द्धमागधी को तिलाञ्जलि देकर इन्होंने भी संस्कृत की शरण ली तथा वे देववाणी में ग्रन्थ-रचना के लोभ को संवरण नहीं कर सके। यदि कविता-कामिनी-कान्त कालिदास ने अपनी पीयूषवर्षिणी कोमल-कान्त पदावली से इस युग में काव्य का रसास्वादन कराया तो बौद्ध-आचार्य असङ्ग और वसुबन्धु ने उच्च कोटि के दार्शनिक ग्रन्थों की रचना कर संस्कृत-साहित्य के भाण्डार को भरा। धार्मिक दृष्टि से विचार करने पर हम गुप्तकाल में संस्कृत में लिखे गये समस्त साहित्य को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। वे विभाग (१) ब्राह्मण-साहित्य, (२) बौद्ध-साहित्य और (३) और जैन-साहित्य हैं। जिस प्रकार इस युग में ब्राह्मण-साहित्य की प्रचुर उन्नति हुई उसी प्रकार, या उससे भी कहीं अधिक, बौद्ध और जैन-साहित्य का इस काल में उन्नयन हुआ। बौद्ध तथा जैन-साहित्य के विकास का विस्तृत विवरण आगे दिया जायगा। यहाँ हम क्रमानुसार प्राप्त प्रथम ब्राह्मण-साहित्य को लेंगे तथा इस समय में ब्राह्मण-साहित्य के किन-किन अङ्गों की विशेष उन्नति हुई, उनका विस्तृत वर्णन यहाँ किया जायगा।

(१) ब्राह्मण-साहित्य

काव्य और नाटक आदि

गुप्त-काल में ब्राह्मण-साहित्य का प्रचुर प्रचार तथा सर्वाङ्गीण समुन्नति हुई। यह साहित्य सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हुआ तथा अभ्युदय की पराकाष्ठा को पहुँचा। संस्कृत के परम अनुरागी गुप्त-राजाओं की शीतल छत्र-छाया को प्राप्त कर यह ब्राह्मण-साहित्य-रूपी वृक्ष खूब लहलहाया तथा फूला-फला। विशेषकर 'कविराज' समुद्रगुप्त और विद्याप्रेमी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के आश्रय को पाकर यह उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गया। यह बात नहीं कि इस वृक्ष की किसी विशेष शाखा की ही वृद्धि हुई हो; प्रत्युत इसके विपरीत इसकी प्रत्येक शाखा (Branch of learning) की उन्नति हुई। यदि इस युग में कवि-कुल-कुमुद-कलाधर कालिदास ने अपनी रसमयी कविता से लोगों को आनन्द में विभोर कर दिया, यदि भारतीय धर्म की मर्यादा को बाँधनेवाले धर्मशास्त्रकारों ने सर्वसाधारण के हित के लिए धर्मनीति तथा राजनीति का उपदेश दिया, यदि धुरन्धर वैज्ञानिकों ने आयुर्वेद आदि के ग्रन्थों की रचना कर मनुष्य-जीवन को सुखद बनाने का प्रयत्न किया तो इसी काल में हिन्दू-दार्शनिकों ने इस क्षणिक संसार की चिन्ता को तिलाञ्जलि दे आध्यात्मिक शान्ति तथा समुन्नति का मार्ग ढूँढ़ निकाला एवं पारलौकिक सुख को प्राप्त करने का उपदेश दिया। सारांश यह कि

इस काल में काव्य, नाटक, धर्म-शास्त्र, दर्शन तथा विज्ञान आदि ब्राह्मण-साहित्य के अङ्गों की विशेष उन्नति हुई एवं सम रूप से सबका प्रचार बढ़ा। इन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अनेक कवि, धर्म-शास्त्रकार, दार्शनिक तथा वैज्ञानिक पैदा हुए जिन्होंने अपनी अमूल्य कृतियों से अपने को अमर बनाने के साथ ही साथ जनता की ज्ञान की सीमा को भी विस्तृत कर दिया। धर्मशास्त्र, दर्शन तथा विज्ञान आदि शास्त्रों का विस्तृत विवरण आगे दिया जायगा। यहाँ पर क्रमप्राप्त कवियों तथा नाटककारों का वर्णन किया जायगा। दुर्भाग्यवश इस काल में कुछ ऐसे भी कवि हैं जिनके विषय में कुछ भी विवरण प्राप्त नहीं है, जिनका अमर यश केवल कुछ थोड़े से पाषाणखण्डों ही में सुरक्षित है तथा जिनकी अमर कहानी को उन कवियों के द्वारा लिखी गई स्तम्भ-प्रशस्तियाँ आज—१५०० वर्षों के बाद—भी मानों हाथ उठाकर ऊँचे स्वर से कह रही हैं। इन्हीं कवियों का—जिन्होंने स्वनिर्मित शिला-लेखों के द्वारा अपने आश्रयदाता के नाम के साथ ही अपने को भी अमर बना दिया है—यहाँ पर प्रथम उल्लेख किया जायगा। तत्पश्चात् उन कवियों तथा नाटककारों का परिचय दिया जायगा जिनकी कीर्ति-कौमुदी अभी तक उनके ग्रन्थों से प्रकाशित हो रही है।

१ हरिषेण

हरिषेण उन गुप्तकालीन कवियों में सबसे पुराने प्रतीत होते हैं जिनकी कीर्ति के स्मारक-काव्य प्रस्तरखण्ड ही पर सुरक्षित हैं। प्रयाग की प्रशस्ति के अवलोकन से इनके जीवनचरित की कतिपय आवश्यक बातों का संग्रह किया जा सकता है। इनके पिता का नाम 'ध्रुवभूति' था, जो तत्कालीन गुप्त नरपति का महादण्डनायक (जज) था। इनका जन्म खाद्यतपाकिक नामक वंश में हुआ था। ये समुद्रगुप्त के दरबार के एक ऊँचे पदाधिकारी भी थे। ये सान्धिविग्रहिक (परराष्ट्र-सचिव) थे, बाद को कुमारामात्य (आधुनिक कलक्टर जैसे पदाधिकारी) थे और अन्त में अपने पिता के समान ही महा-दण्डनायक के उच्च पद पर आसीन हुए। इतना होने पर भी, विविध राजकार्यों में लगे रहने पर भी, इनकी काव्य-प्रतिभा किसी प्रकार न्यून नहीं हुई। परन्तु इन्होंने अपनी नम्रता दिखलाते हुए यही कहा है कि राजा के पास आने-जाने से इनकी बुद्धि विकसित तथा मति उन्मीलित हुई थी[1]।

हरिषेण की एकमात्र रचना, जो इनकी कवि-कीर्ति को सदैव अक्षुण्ण बनाये रखने में समर्थ बनी रहेगी, समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति है। इस प्रशस्ति के आरम्भ में स्रग्धरा तथा शार्दूलविक्रीड़ित जैसे लम्बे-लम्बे आठ छन्द हैं जिनमें समुद्रगुप्त की कमनीय कीर्ति का परम रमणीय वर्णन है। अनन्तर पचासों पंक्तियों का एकवाक्यात्मक बृहत् गद्य है जिसमें समुद्रगुप्त के दिग्विजय का प्रशस्त वर्णन किया गया है। प्रशस्ति के अन्त में लेखक के निजी परिचय के साथ-साथ, एक सुन्दर पृथ्वी छन्द में, गुप्त-नरेश की विमल कीर्ति के तीनों लोकों को पवित्र करने की बात लिखी गई है। इस प्रकार यह प्रशस्तिगद्य-

१. समीपपरिसर्पणानुग्रहोन्मीलितमतेः।—प्रयाग-प्रशस्ति।

पद्यात्मक होने के कारण चम्पूकाव्य का एक उत्कृष्ट तथा सबसे प्राचीन नमूना है। हरिषेण का इस प्रशस्ति के लिए 'काव्य' शब्द का प्रयोग नितान्त समुचित है। यह प्रशस्ति उत्कृष्ट काव्य-शैली का एक सुन्दर उदाहरण है। श्लोकों में वैदर्भी रीति का आश्रय लिया गया है परन्तु गद्य में गाढ़बन्धता लाने के लिए, "ओजस्समासभूयस्त्वमेतत् गद्यस्य जीवितम्" इस साहित्यिक नियम का अनुसरण करने के विचार से, हरिषेण ने समास-बहुलता की पराकाष्ठा सी कर दी है। उनका एक समस्त पद १२० अक्षरों का है, जो संस्कृत-भाषा में समस्त पदों में सबसे बड़ा माना जाता है। यदि पद्य-रचना में इनकी शैली कालिदास की समानता करती है तो गद्य-काव्य में इनका गाढ़बन्ध बाण की गौड़ी रीति को भी मात कर देता है। अलङ्कारों की झनकार देखने ही लायक़ है। अनुप्रास, उपमा तथा रूपक का बहुल प्रयोग सहृदयों के रसिक मन को आकृष्ट करने के लिए नितान्त समर्थ है। उदाहरण के लिए हरिषेण का एक ही पद्य उद्धृत किया जाता है जिसमें उन्होंने समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी निर्वाचित किये जाने के अवसर का बहुत ही सुन्दर तथा रसमय भाव-चित्र प्रस्तुत किया है। उस अवसर पर वृद्ध चन्द्रगुप्त प्रथम का हृदय आनन्द से गद्गद हो गया था, हर्ष से शरीर रोमाञ्चित हो गया था, सभा के सभासदों का हृदय आनन्द से उच्छ्वसित हो गया था तथा उसी वंश के समान-अधिकार-सम्पन्न अन्य राजकुमारों के मुख-कमल ईर्ष्या एवं दुःख से मुरझा गये थे। ऐसे समय में स्नेह से व्याकुल, प्रेमाश्रु से भरे तथा तत्त्वदर्शी नेत्रों से पुत्र को देखते हुए चंद्रगुप्त ने कहा था "हे आर्य! इस प्रकार सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन करो।" इस पद्य में तत्कालीन उत्साह भरे अवसर का एक जीता-जागता रसमय चित्र सहृदय पाठकों के सामने खड़ा हो जाता है। श्लोक की भाषा कितनी सीधी-सादी तथा मँजी हुई है—

> आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितैः रोमभिः
> सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
> स्नेहव्याकुलितेन बाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा
> यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति॥

हरिषेण तथा कालिदास के काव्य में बड़ी समानता पाई जाती है। दोनों में शब्द-साम्य तथा भावों की समता प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। कालिदास और हरिषेण के दिग्विजय के वर्णन में इतनी समानता—इतना बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव—है कि मालूम होता है मानो कालिदास के सामने हरिषेण की रचना विद्यमान थी। उदाहरणार्थ, हरिषेण ने लिखा है कि समुद्रगुप्त ने सत्काव्य और लक्ष्मी के विरोध को मिटा दिया। (सत्काव्यश्रीविरोधान्)। कालिदास ने भी इसी भाव का सन्निवेश नीचे लिखी पंक्तियों में किया है—

> निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थं तस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च। —रघु० ६।
> परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम्। संगतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम्॥

हरिषेण ने लिखा है कि सम्राट् समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के बहुत से राजाओं को क़ैद किया, परन्तु फिर अनुग्रहपूर्वक उन्हें मुक्त कर अपनी कीर्ति

बढ़ाई[1]। कालिदास ने भी रघु के दिग्विजय का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह धर्म-विजयी राजा था अत: उसने महेन्द्रनाथ की श्री को तो ले लिया परन्तु मेदिनी को नहीं लिया

> गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
> श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥—रघु० ४।३५।

इस प्रकार हरिषेण एक अत्यन्त प्रतिभाशाली काव्य-कुशल कवि था। उसकी शब्दावली तथा भावों की समता कालिदास जैसे कवि-शिरोमणि के भावों से कुछ कम महत्त्व नहीं रखती। नि:सन्देह हरिषेण गुप्त-युग का एक अलौकिक कवि था।

२ वीरसेन

वीरसेन पाटलिपुत्र का रहनेवाला था। वह व्याकरण, न्याय तथा राजनीति का ज्ञाता था तथा साथ ही साथ एक अच्छा कवि भी था। उसका गोत्र-नाम कौत्स था तथा कुल-नाम शाब था[2]। राजा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा का वह एक रत्न था। राजा के साथ वह उनके दिग्विजय पर भी जाया करता था। ऐसे ही अवसर पर वह उनके साथ मालवा गया था और उदयगिरि की गुफा उसी ने खुदवाई थी[3]। उदय-गिरि गुफा का, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का, लेख भी उसी की रचना प्रतीत होता है। यह अपने को राजा का कुलक्रमागत सचिव लिखता है तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा यह सान्धिविग्रहिक जैसे प्रधान पद पर आसीन किया गया था[4]।

३ वत्सभट्टि

जिन गुप्तकालीन कवियों की कीर्ति केवल प्रस्तर-खण्डों में सुरक्षित है उनमें सबसे प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण कवि वत्सभट्टि है। कुमारगुप्त के शासन-काल में, मालव संवत् ५२६ (४७३ ई०) में, लिखी गई मन्दसोर-प्रशस्ति इस कवि की एकमात्र काव्य-रचना है। इसमें दशपुर (मन्दसोर) में सूर्य-मन्दिर बनवाने का वर्णन है। रेशम के कारीगरों की एक श्रेणी ने इस मन्दिर का निर्माण मालव संवत् ४९३ (४३७ ई०) में कराया था और मालव संवत् ५२६ (४७३ ई०) में इसका जीर्णोद्धार किया गया था। इस प्रशस्ति में ४४ श्लोक हैं। आदि के तीन श्लोकों में भगवान् भास्कर की प्रशस्त स्तुति भिन्न-भिन्न वृत्तों में, बड़ी सुन्दर भाषा में, की गई है। इसके बाद दशपुर का

---

१. सर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य अनेकभ्रष्टराज्योत्सन्नराजवंश-प्रतिष्ठापनोद्भूतनिखिलभुवनविचरणश्रान्तयशसः। फ्लीट—गुप्त लेख १।

२. कौत्सश्शाब इति ख्यातः वीरसेनः कुलाख्यया। शब्दार्थन्यायलोकज्ञः, कविः पाटलिपुत्रकः॥

३. कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः। भक्त्या भगवतः शम्भोः गुहामेतामकारयत्॥

४. अन्वयप्राप्तसाचिव्यो व्यापृतसन्धिविग्रहः।

अत्यन्त मनोरम साहित्यिक वर्णन अलंकृत भाषा में किया गया है। तदनन्तर वहाँ के राजा बन्धुवर्मा का भी विशिष्ट वर्णन है।

संस्कृत-काव्य के इतिहास में इस प्रशस्ति का विशेष स्थान है। भाषा जैसी मँजी हुई है वैसी ही ललित भी है। भाषा-सौष्ठव के साथ-साथ अर्थ-गौरव भी प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। अलङ्कारों की छटा भी निराली है। यह कवि कालिदास के काव्यों का विशेष अनुरागी तथा अनुशीलन करनेवाला प्रतीत होता है। भाषा में ही नहीं, प्रत्युत भावों पर भी कालिदासीय कविता की गहरी छाप पड़ी हुई दीख पड़ती है। वत्सभट्टि ने दशपुर के गृहों का जो यह रमणीय वर्णन किया है वह कालिदास के द्वारा किये गये अलकापुरी के प्रासादों के वर्णन से बिल्कुल मिलता-जुलता है।

वत्सभट्टि—चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र॥
कैलासतुङ्गशिखरप्रतिमानि चान्या-
न्याभान्ति दीर्घवलभीनि सवेदिकानि।
गान्धर्वशब्दमुखराणि निविष्टचित्र-
कर्माणि लोलकदलीवनशोभितानि॥

कालिदास—विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥—मेघदूत।

इस प्रशस्ति में किया गया ऋतु-वर्णन कालिदास के ऋतुसंहार के वर्णन से नितान्त मिलता-जुलता है। दोनों में भाव-साम्य इतना अधिक है जिसका वर्णन कठिन है। उदाहरण लीजिए :—

कालिदास—न चन्दनं चन्द्रमरीचिशीतलं
न हर्म्यपृष्ठं शरदिन्दुनिर्मलम्।
न वायवः सान्द्रतुषारशीतला
जनस्य चित्तं रमयन्ति साम्प्रतम्॥—ऋतुसंहार, ५।२

वत्सभट्टि—रामा सनाथभवनोदरभास्करांशु-
वह्निप्रतापसुभगे जललीनमीने।
चन्द्रांशुहर्म्यतलचन्दनतालवृन्त-
हारोपभोगरहिते हिमदग्धपद्मे।
—मन्दसोर शिलालेख ई० सन् ४७२।

वत्सभट्टि की कविता बहुत ही सरस तथा रसीली है। यह वैदर्भी रीति में लिखे गये काव्य का एक उत्कृष्ट नमूना है। सुन्दर-सुन्दर अलंकारों का स्थान-स्थान पर सन्निवेश कम मनोहर नहीं है। यह कविता परिमाण में कम होने पर भी गुण में इतनी

अधिक है कि अपने लेखक को महाकवियों की श्रेणी में बैठाने के लिए सर्वथा समर्थ है। वत्सभट्टि के काव्य की चाशनी चखने के लिए यहाँ एक श्लोक दिया जाता है—

> यः प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्रो
> विस्तीर्णतुङ्गशिखरस्खलितांशुजालः ।
> क्षीबाङ्गनाजनकपोलतलाभिताम्रः
> पायात् स वः सुकिरणाभरणो विवस्वान् ॥

४ वासुल

ये भी गुप्त-समय के एक अच्छे कवि प्रतीत होते हैं। इन्होंने मालवा के नरेश यशोधर्मन् की मन्दसोर-प्रशस्ति को लिखकर अपनी काव्य-निपुणता का परिचय दिया है। इन प्रशस्तियों में यशोधर्मन् की गुणावली का सुन्दर वर्णन किया है। इनके विषय में इतना ही पता चलता है कि इनके पिता का नाम कक्क था तथा ये यशोधर्मन् के सभा-पण्डित थे। इनका आविर्भाव काल छठीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। इनकी कविता में उत्प्रेक्षा का अच्छा चमत्कार है। यहाँ एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा—

> गामेवोन्मातुमूर्ध्वं विगणयितुमिव ज्योतिषां चक्रवालम्
> निर्देष्टुं मार्गमुच्चैर्दिव इव सुकृतोपार्जितायाः स्वकीर्त्तेः ।
> तेनाकल्पान्तकालावधिरवनिभुजा श्रीयशोधर्मणायम्
> स्तम्भः स्तम्भाभिरामः स्थिरभुजपरिघेनोच्छ्रितिं नायितोऽत्र[1] ॥

५ रविशान्ति

इसके पिता का नाम कुमारशान्ति था[2]। इसके निवासस्थान का नाम गर्गराकट था। यह मौखरी नरेश ईशानवर्मा का आश्रित कवि था। इसने उक्त राजा के हरहावाले लेख में मौखरी-वंश का प्रामाणिक इतिवृत्त दिया है। इसकी कविता समास-बहुला है। भाषा और भाव दोनों अच्छे हैं। उदाहरण के लिए यह श्लोक देखिए—

> लोकानामुपकारिणा रिपुकुमुद्व्यालुप्तकान्तिश्रिया ।
> मित्रास्याम्बुरुहाकरद्युतिकृता भूरिप्रतापत्विषा ।
> येनाच्छादितसत्पथं कलियुगध्वान्तावमग्नं जगत्
> सूर्येणेव समुद्यता कृतमिदं भूयः प्रवृत्तक्रियम् ॥

[हरहा—प्रशस्ति श्लोक सं० १२ ।

इस शिलालेख का समय मालव-संवत् ६११ (सन् ५५५ ई०) है; अतः रविशान्ति छठी शताब्दी के मध्यभाग में विद्यमान था।

---

१. मन्दसौर का प्रस्तर-स्तम्भ-लेख—श्लोक-संख्या ७ ।

२. कुमारशान्तेः पुत्रेण गर्गराकटवासिना ।
नृपानुरागात्पूर्वेयमकारि रविशान्तिना ।—हरहा लेख श्लोक सं० २३ ।

ऊपर जिन कवियों का वर्णन किया गया है उन लोगों ने प्रशस्तियों में यत्नपूर्वक अपने नाम का उल्लेख किया है। परन्तु साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण, ललित भावों से युक्त, गुप्त-काल की अनेक प्रशस्तियाँ ऐसी भी हैं जिनमें उनके रचयिताओं के नाम नहीं दिये गये हैं। ऐसे उत्कीर्ण शिलालेख तो बहुत से हैं परन्तु महत्त्व की दृष्टि से स्कन्द-गुप्त के समय का गिरनार का शिलालेख इस विषय में अनूठा है। इसमें सुदर्शन तालाब के संस्कार किये जाने की घटना का उल्लेख आलङ्कारिक भाषा में है अतः इसका 'सुदर्शन-तटाक-संस्कार-ग्रन्थरचना' कहा जाना अतीव समुचित है। कोमल पदावली तथा भावमयी अर्थभंगी—इन दोनों के लिए यह लेख अपना सानी नहीं रखता। विष्णु की यह स्तुति कितनी कमनीय तथा रमणीय है :—

> श्रियमभिमतभोग्यां नैककालापनीतां
> त्रिदशपतिसुखार्थं यो बलेराजहार।
> कमलनिलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्याः
> स जयति विजितार्तिर्विष्णुरत्यन्तजिष्णुः ॥—गिरनार की प्रशस्ति श्लो० नं० १।

गुप्त-काल में संस्कृत-कविता के इतने प्रसार का मुख्य कारण तत्कालीन गुप्त-नरेशों की विद्याभिरुचि, गुणग्राहिता तथा साहित्य समृद्धि मानी जा सकती है। परन्तु इसका सबसे प्रधान कारण तो यह प्रतीत होता है कि गुप्त-वंश के अनेक नरेश स्वयं भगवती शारदा के उपासक थे। संगीत तथा साहित्य में उनकी स्वाभाविक अभिरुचि और प्रवृत्ति थी। इसका सबसे उत्कृष्ट उदाहरण समुद्रगुप्त था जो केवल वीणा-वादन में ही कुशल नहीं था बल्कि कमनीय कविता लिखने में भी अत्यन्त पटु था। उसकी उपाधि 'कविराज' की थी। उसके संसर्ग में आने से हरिषेण जैसे कवि के हृदय में काव्य-स्फूर्ति हुई थी। अन्य गुप्त-नरेशों के विषय में इस प्रसंग में विशेष नहीं कहा जा सकता परन्तु यह हमारा अनुमान है कि वे कवियों के केवल आश्रयदाता ही नहीं थे बल्कि स्वयं भी कमनीय कविता के उपासक थे।

रविशान्ति के वर्णन के साथ ही साथ उन समस्त कवियों का विवरण समाप्त हो जाता है जिनकी कीर्ति-कथा आज केवल कतिपय प्रस्तर-खण्डों में ही सुरक्षित है। इसके बाद उन कवियों का वर्णन किया जाता है जिनकी अमर कथा पुस्तकों के पृष्ठों में विद्यमान है। ऐसे कवि-पुङ्गवों में महाकवि कालिदास सर्वप्रधान हैं जिनका संक्षिप्त परिचय यहाँ कराया जाता है।

६ कालिदास

यह कहना केवल पुनरुक्ति मात्र है कि महाकवि कालिदास संस्कृत-साहित्य के सर्व-श्रेष्ठ कवि हैं। 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नाटक से जिनकी कीर्ति-कौमुदी को अखिल विश्व में फैला दिया है, जिनके कविता-माधुर्य पर समग्र देशी तथा विदेशी विद्वान मुग्ध हैं, जिनके सिर पर भारतीय कवियों ने कवि-कुल-गुरुत्व की पगड़ी सर्व-सम्मति से बाँध रक्खी है, उस कवि-कुल-कुमुद-कलाधर कालिदास को कौन नहीं

जानता ? कालिदास की कीर्ति-कौमुदी इस विशाल भारतवर्ष के ही आनन्द-सागर में विभोर नहीं कर रही है, प्रत्युत सुदूर पश्चिमी संसार के तप्त-हृदयों को भी आध्यात्मिक जीवन की सुशिक्षा देकर तृप्त कर रही है। जिस कवि-शिरोमणि के प्रबल प्रताप ने सारे संसार को आश्चर्य-चकित कर दिया है, जिसकी कीर्ति-कौमुदी ने समस्त जगत् को व्याप्त कर लिया है उसके विषय में इस सीमित स्थान में कुछ लिखकर उसका परिचय कराना सूर्य को दीपक दिखाने की धृष्टता करना है। कालिदास का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने के लिए न तो यहाँ आवश्यकता है, न अवकाश और न स्थान ही; परन्तु इस कवि को अछूता छोड़ देने से भी ग्रन्थ अपूर्ण ही रह जायगा। अतः कालिदास के विषय में यहाँ पर केवल अत्यन्त स्थूल बातों का उल्लेख किया जायगा।

बड़े दुर्भाग्य की बात है कि ऐसे महाकवि का इतिवृत्त अज्ञान के गहरे गर्त में पड़ा हुआ है। इतनी शताब्दियों के गहरे अनुसन्धान के बाद भी इन प्रश्नों का उत्तर देना कठिन है कि कालिदास कौन थे, कहाँ के रहनेवाले थे तथा कब प्रादुर्भूत हुए थे। कालिदास के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं जिनको नितान्त निराधार कहना अज्ञता-सी होगी परन्तु उन्हें अक्षरशः सत्य मान लेना भी इतिहास का गला घोंटना है। कालिदास की जन्मभूमि कहाँ थी, यह अब भी विवाद का विषय बना हुआ है। कुछ विद्वान् इनकी जन्मभूमि बङ्गाल के नदिया स्थान में मानते हैं तो कुछ विद्वान् इन्हें काश्मीर का निवासी बतलाते हैं। परन्तु कालिदास की जन्मभूमि उज्जयिनी नगरी को मानना अधिक न्याय-सङ्गत मालूम पड़ता है क्योंकि कवि ने अपने ग्रन्थों में इस स्थान के प्रति विशेष पक्षपात दिखलाया है; साथ ही इस स्थान के भूगोल से वे अधिक परिचित मालूम पड़ते हैं। इसको छोड़कर कालिदास के विषय में और कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं है।

कालिदास के आविर्भाव-काल के संबंध में विद्वानों में गहरा मतभेद है। यह चिरकाल से विवाद का विषय रहा है तथा इतने अनुसन्धान के बाद भी इस विषय में अब तक कुछ निश्चयात्मक रीति से नहीं कहा जा सकता। बड़े दुःख की बात है कि इस महाकवि का काल आज भी अनेक सदियों का थपेड़ा खाता हुआ अनिश्चितता के झूले में झूल रहा है। कालिदास के आविर्भाव-काल के विषय में तीन मुख्य सिद्धान्त हैं,—

पहला मत कालिदास का आविर्भाव विक्रम-संवत् के आरम्भ में, दूसरा मत गुप्त-काल में, और तीसरा षष्ठ शतक में बतलाता है। प्रथम सिद्धान्त के माननेवालों का कथन है कि विक्रम-संवत् के आदि में विक्रमादित्य नामक राजा था जिसके यहाँ कालिदास राज-कवि थे। परन्तु इतिहास की छानबीन करने से ऐसे किसी राजा की सत्ता का भी पता नहीं चलता। उसका न तो कोई सिक्का मिला है और न शिलालेख। अतः प्रथम सिद्धान्त को मानना असम्भव-सा दीख पड़ता है। कुछ विद्वान्, जिनमें डा० हार्नली और डा० फर्गुसन का नाम प्रसिद्ध है, तृतीय मत को प्रधानता देते हैं तथा अपने पक्ष-समर्थन में कहते हैं कि कालिदास राजा यशोधर्मन् के दरबारी कवि थे जिसने हूण-विजय के उपलक्ष में 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। अतः इनका समय षष्ठ शताब्दी है। इस लचीले प्रमाण पर निर्मित सिद्धान्त का भारतीय विद्वानों ने प्रचुर

मात्रा में खण्डन किया है तथा अब इस सिद्धान्त को कोई भी गम्भीर विद्वान् स्वीकार नहीं करता। दूसरा मत कालिदास को गुप्त-काल में आविर्भूत मानता है। यह मत डा० स्मिथ, मेकडॉनल, कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा प्रतिपादित किया गया है तथा डा० भण्डारकर और पण्डित रामावतार शर्मा आदि गम्भीर भारतीय विद्वानों द्वारा समर्थित किया गया है। प्रायः सभी सुप्रसिद्ध भारतीय या अभारतीय विद्वान् अब इसी सिद्धान्त को मानते हैं तथा इसी सिद्धान्त के माननेवालों की संख्या अधिक है। यदि कालिदास के ग्रन्थों की, गम्भीरता के साथ, छानबीन की जाय तथा मनन किया जाय तो हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि महाकवि कालिदास निःसन्देह गुप्त-युग के ही एक अद्वितीय रत्न थे। इस महाकवि ने अपने ग्रन्थों में भारत की उच्च तथा आदर्श सभ्यता का जो खाका खींचा है वह गुप्त-युग को छोड़कर अन्यत्र मिलना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है। रघुवंश, मेघदूत तथा शाकुन्तल आदि कालिदास की मनोहर कृतियों की आलोचना से हमारे चित्त में यही संस्कार प्रस्फुटित होता है कि हमारा कवि-शिरोमणि भारतीय इतिहास के किसी सुवर्ण-युग के विभव, वीरता, अभ्युदय, आशा और महत्त्वाकांक्षाओं का अभिनय अपनी आँखों से देखकर अपने काव्यों में उसे अङ्कित कर रहा है।

हरिषेण के समुद्रगुप्त के दिग्विजय तथा कालिदास के रघु के दिग्विजय में एक गहरी समानता दृष्टिगोचर होती है। भावों की कथा तो दूर रहे, शब्द-साम्य भी इतना अधिक है कि उसे देखकर किसी को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता। इन दोनों की शब्दावली की कुछ समानता पहले दिखलाई जा चुकी है। कालिदास ने रघुवंश के चौथे सर्ग में रघु के दिग्विजय का वर्णन किया है। सम्भवतः सम्राट् समुद्रगुप्त की युद्ध-यात्रा का स्मरण कर इस महाकवि ने रघु के दिग्विजय की कल्पना की है। रघु के दिग्विजय का सीमा-विस्तार उतना ही है जितना समुद्रगुप्त का। रघु ने भारतवर्ष के बाहर पारसीक[1] और वंक्षु (आक्सस) नदी के तीर पर हूणों[2] को पराजित किया—यह कालिदास ने लिखा है। समुद्रगुप्त ने भी 'दैवपुत्र-शाही-शाहानुशाही' उपाधि धारण करनेवाले, भारत के पश्चिमोत्तरांचल से ईरान की सीमा तक के, नरेशों को अपने अधीन किया था। ई० स० ४५५ के लगभग हूण लोग स्कन्दगुप्त के द्वारा पराजित किये गये थे। ४८४ ई० में हूणों ने ससेनियन राजा फिरोज को मारकर ईरान और काबुल पर अधिकार कर लिया था। कालिदास के समय में हूण भारत के सीमा-प्रान्त के बाहर थे। इससे सहज ही में यह अनुमान होता है कि कालिदास ने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और कुमारगुप्त के काल में अपने काव्य रचे थे। समुद्रगुप्त ने जिन-जिन देशों पर आक्रमण किया था प्रायः उन्हीं देशों का वर्णन कालिदास ने, रघु के दिग्विजय का वर्णन करते समय,

१. पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना।—रघु० ४। ६०।
यवनीमुखपद्मानां सेहे मधुमदं न सः। वही ४। ६१।

२. तत्र हूणावरोधानां भर्तृषु व्यक्तविक्रमम्।
कपोलपाटलादेशि बभूव रघुचेष्टितम्। वही ४। ६८।

किया है। रघु और समुद्रगुप्त दोनों ही की विजय-यात्राओं में हिमालय के नेपाल आदि देश और ब्रह्मपुत्र नदी के तटवर्ती कामरूप आदि प्रदेश सम्मिलित हैं। विजय-यात्रा के पश्चात् दोनों ही चक्रवर्ती-नरेश यज्ञ करते हैं—एक अपना सर्वस्व दक्षिणा में देकर विश्वजित् यज्ञ करता है और दूसरा करोड़ों गायों और सुवर्ण का दान कर अश्वमेध करता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कालिदास ने अपने आश्रयदाता के पूजनीय पिता सम्राट् समुद्रगुप्त के दिग्विजय के मिस रघु के दिग्विजय का वर्णन किया है।

दूसरा प्रमाण, जो कालिदास को गुप्त-कालीन बतलाने में सहायक है, उनका तात्कालिक सभ्यता का सजीव वर्णन है। कालिदास ने अपने ग्रन्थों में जिस भारतीय आदर्श-सभ्यता तथा चूड़ान्त वैभव का चित्र खींचा है वह गुप्त राजाओं के सुवर्ण-युग को छोड़कर अन्यत्र कहाँ सुलभ है? इस महाकवि की अमूल्य कृतियों में हमें जिस उच्च सभ्यता की झाँकी मिलती है वह गुप्तों से इतर राजाओं के समय की नहीं हो सकती। कालिदास का कथन है कि राजा रघु धर्मविजयी था, दूसरों का राज्य छीनकर उन्हें मार डालना उसे अभीष्ट नहीं था। क्षत्रियों के धर्म के अनुसार, केवल विजय-प्राप्ति के लिए ही, उसने युद्ध-यात्रा की थी। वह शरणागतवत्सल था। इससे उसने महेन्द्रनाथ[1] (कलिंग देश के राजा) को पकड़ा और उस पर अनुग्रह कर पीछे छोड़ दिया। उसकी सम्पत्ति-मात्र ले ली तथा राज्य लौटा दिया। हरिषेण ने भी समुद्रगुप्त को धार्मिक (धर्मविजयी) राजा के रूप में चित्रित किया है। अतः कालिदास तथा हरिषेण के धर्मविजयी राजा की कल्पना एक ही प्रकार की है। कालिदास ने रघुवंश के प्रथम सर्ग में जो रघुवंशी राजाओं के उच्चचरित्र का वर्णन किया है वह बहुत कुछ दयालु, धार्मिक तथा हिन्दूधर्माभिमानी गुप्त राजाओं के विमल एवं आदर्श चरित्र से मिलता-जुलता है। रघुवंश में कालिदास ने जो पूर्ण शान्ति का चित्र खींचा है वह गुप्तों के साम्राज्य को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है। आप कहते हैं कि उस समय इतनी शान्ति विराजमान थी कि हवा भी रास्ते में सोई हुई प्रमत्त स्त्रियों के कपड़े को हिलाने का साहस नहीं कर सकती थी। भला हाथ से कोई किसी वस्तु कैसे चुरा सकता था[2]? कालिदास का यह वर्णन फ़ाहियान के इस वर्णन से पूर्णतया मिलता है कि गुप्त-साम्राज्य में पूर्ण शान्ति विराजमान थी तथा कोई भी चोरी नहीं करता था। मेघदूत में यक्ष-पत्नी के गृह तथा वापिका के वैभव का जितना सुन्दर तथा मनोरम वर्णन किया है उसे वही कवि कर सकता है जो गुप्तों के वैभवशाली 'सुवर्ण-युग' में विद्यमान रहा हो। इन आधारों पर हम कह सकते हैं कि यह कवि-शिरोमणि इसी युग के वैभव और सभ्यता का प्रतिनिधि था।

---

१. गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयी नृपः।
श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम्॥—रघु० ४।३५।

२. यस्मिन् महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्॥ वही। ६।७५।

कुछ विद्वान् कालिदास के ग्रन्थों में आये हुए 'गुप्त' शब्द के प्रचुर प्रयोग को देखकर और इन्दुमती-स्वयंवर में मगध देश के राजा की अत्यन्त प्रशंसा[1] तथा उसके प्रति पक्षपात को देखकर कहते हैं कि यह कवि अवश्य ही गुप्त-काल का एक अमूल्य अलंकार था। वत्सभट्टि के काव्य में भी कालिदास की गहरी छाप दीख पड़ती है।

कालिदास के गुप्तकालीन होने का पता कुन्तलेश्वरदौत्यम् नामक नाटक से भी चलता है जिसे काश्मीर के कवि क्षेमेन्द्र ने कालिदास-रचित बतलाया है। इस नाटक में लिखा है कि कालिदास को विक्रमादित्य ने कुन्तल-प्रदेश (दक्षिण महाराष्ट्र) में वहाँ की शासन-व्यवस्था देखने के लिए, अपना राजदूत बनाकर, भेजा था। जब कालिदास वहाँ से लौटकर आये तब उन्होंने वहाँ का कच्चा चिट्ठा एक श्लोक के द्वारा राजा विक्रमादित्य को सुनाया जिसका आशय यह था कि कुन्तलेश आप पर सब राज्य-भार छोड़कर भोग-विलास में अपना समय बिताता है[2]। इस श्लोक का उल्लेख राजशेखर आदि अनेक कवियों ने किया है। संस्कृत के भरत-चरित नामक ग्रन्थ में लिखा है कि सेतुबन्ध नामक प्राकृत काव्य की रचना किसी कुन्तलेश ने की[3]। बाणभट्ट ने इस प्रसिद्ध प्राकृत काव्य को प्रवरसेन-रचित लिखा है[4]। इस ग्रन्थ की रामसेतु-प्रदीप नामक टीका में इस सेतुबन्ध को नये राजा प्रवरसेन द्वारा रचित लिखा गया है तथा उसमें यह भी बतलाया गया है कि विक्रमादित्य ने कालिदास के द्वारा इस काव्य को शुद्ध कराया। वाकाटकवंशी प्रवरसेन (द्वितीय) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की पुत्री, रुद्रसेन की महारानी प्रभावतीगुप्ता का पुत्र था जो कुन्तल का स्वामी था। इन सब बातों पर विचार करने से अनुमान होता कि विक्रमादित्य, कालिदास और कुन्तलेश (प्रवरसेन) समसामयिक थे। जिन भारतीय दन्तकथाओं में 'विक्रमादित्य' के यहाँ कालिदास के रहने का वर्णन पाया जाता है उनके नायक होने का सब से अधिक श्रेय इसी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को प्राप्त है। अतः इन सब प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता

---

१. कामं नृपाः सन्ति सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलाऽपि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः ॥
क्रियाप्रबन्धोदयमध्वराणां अजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः ॥—रघु० ६. २२,२३।

२. असकलहसितत्वात्क्षालितानीव कान्त्या मुकुलितनयनत्वात् व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः ॥

३. [illegible] गिरिर्चौर्य वृत्त्या।
[illegible] सेतु [illegible] सह कुन्तलेशः ॥
—[illegible], १ सर्ग (त्रिवेन्द्रम सीरिज नं० [illegible])।

४. कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ॥—हर्षचरित — प्रथम [illegible]।

है कि महाकवि कालिदास का आविर्भाव गुप्त-काल ही में हुआ था तथा ये चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन थे।

कालिदास ने कुल सात ग्रन्थ-रत्नों की रचना की है जिनके नाम हैं—ऋतुसंहार, रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, विक्रमोर्वशी, मालविकाग्निमित्र तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल। कुछ विद्वान् ऋतुसंहार को कालिदास की रचना नहीं मानते। परन्तु उनका यह मत ठीक नहीं है। ऋतुसंहार कालिदास ही की रचना है। अवश्य ही यह उनकी पहली रचना है अतः इसमें उनकी काव्य-कला का वह उत्कृष्ट रूप दृष्टिगोचर नहीं होता जो अन्यत्र उपलब्ध होता है। कुछ अन्य ग्रन्थों की रचना का उत्तरदायित्व भी कालिदास के सिर मढ़ा जाता है; परन्तु यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उन ग्रन्थों के रचयिता कालिदास तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल के अमर लेखक महाकवि कालिदास एक ही व्यक्ति थे। कवि राजशेखर को कम से कम तीन कालिदासों का पता था जिनका उल्लेख उन्होंने "कालिदासत्रयी किमु" लिखकर किया है। इस प्रकार दसवीं शताब्दि के पहले तीन कालिदासों का होना प्रमाणित है। अतः राक्षसकाव्य तथा श्रुतबोध आदि ग्रन्थों का रचयिता शब्दाडम्बर-प्रिय कालिदास, मेघदूत के कर्ता से अवश्य पृथक् होगा। परन्तु यह निर्विवाद सिद्ध है कि उपर्युक्त सात ग्रन्थों के रचयिता सुप्रसिद्ध महाकवि कालिदास ही हैं। 'गुप्त-साम्राज्य का इतिहास' जैसे विस्तृत विषय के लेखक को कालिदास की काव्यकला, उपमा की छटा, शैली, प्रकृति-वर्णन, चरित्र-चित्रण, रस-परिपाक, प्रेम की कल्पना तथा अलंकारों की मनोरमता आदि विषयों के विस्तृत विवेचन लिए—हार्दिक इच्छा रहते हुए भी—न तो समय है और न स्थान ही। कदाचित् यह बात एक ऐतिहासिक की सीमा के बाहर की भी है अतः इस वर्णन को कालिदास के विशेषज्ञों के लिए छोड़कर लेखक को इतने ही से सन्तोष करना पड़ता[1] है।

७ मातृ-गुप्ताचार्य

मातृगुप्ताचार्य कालिदास के अनन्तर गुप्तकालीन दूसरे कवि हैं। आप को संस्कृत के उन कतिपय कवियों में एक होने का सौभाग्य प्राप्त है जिनमें श्री और सरस्वती का अपूर्व सम्मेलन पाया जाता है। मातृगुप्त काश्मीर के राजा थे। आपकी सबसे अधिक प्रसिद्धि इस कारण है कि आप ही सुप्रसिद्ध कवि, 'हयग्रीववध' के कर्ता, भर्तृमेण्ठ के आश्रय-दाता हैं। मातृगुप्त के जीवनकाल के विषय में राजतरङ्गिणी ही एकमात्र सहारा है। इससे ज्ञात होता है कि मातृगुप्त जन्म से बड़े निर्धन थे। किसी प्रकार का आश्रय न पाकर आप उज्जैन के प्रसिद्ध गुण-ग्राही राजा हर्ष विक्रमादित्य की सभा में गये तथा राजा को अपनी मधुर कविता सुनाकर असंख्य धन प्राप्त किया। इसी समय काश्मीर का राजा हिरण्य निःसन्तान मर गया था। उसकी गद्दी ख़ाली पड़ी थी। अतएव वे काश्मीर के राजा बनाये गये। इनका इतना ही इतिवृत्त ज्ञात है।

---

१. जिनको कालिदास के विषय में विशेष जानने की जिज्ञासा हो वे साहित्याचार्य पं० बलदेव उपाध्यायकृत संस्कृत कवि-चर्चा, पृ० २२-६६ देखें।

कुछ विद्वान् लोग मातृगुप्त और कालिदास को अभिन्न व्यक्ति मानते हैं। डा० भाऊ दाजी के मत में यही मातृगुप्त महाकवि कालिदास हैं। भाऊ दाजी ने जो प्रमाण अपने पक्ष के समर्थन में दिये हैं वे बड़े लचीले हैं। अनेक विद्वानों ने इस मत का पूर्णतया खण्डन किया है। सुप्रसिद्ध विद्वान् औफ्रेक्ट महाशय ने मातृगुप्त का शासनकाल ४३० ई० बतलाया है।

दुर्भाग्यवश मातृगुप्त की कोई भी रचना आज तक उपलब्ध नहीं हुई है। आपकी कीर्तिलता उन कतिपय श्लोकों के सहारे जी रही है जिन्हें अन्य लेखकों ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। राघवभट्ट ने शकुन्तला की टीका में मातृगुप्त के अनेक उद्धरण दिये हैं जिससे ज्ञात होता है कि उन्होंने नाट्य के विषय में कोई ग्रन्थ लिखा था। परन्तु इस पुस्तक के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। सुना जाता है, मातृगुप्त ने भरत-कृत नाट्य-शास्त्र की एक टीका भी लिखी थी परन्तु दुर्भाग्यवश यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं है।

मातृगुप्त के जो दो-चार फुटकर पद्य यत्र-तत्र सुभाषितावली में प्राप्त हैं उनसे पता चलता है कि ये एक अच्छे कवि थे। इनकी भाषा सुन्दर तथा भावमयी है। आपका वर्णन इतना सहज और सजीव है कि आँखों में एक चित्र-सा खिंच जाता है। यहाँ आपकी कविता का एक ही उदाहरण देना पर्याप्त होगा[1]।

> शीतेनोद्धूषितस्य माघनिशिचचिन्तार्णवे मज्जतः
> शान्ताग्निं स्फुटिताधरस्य धमतः क्षुत्क्षामकण्ठस्य मे।
> निद्रा क्वाप्यवमानितेव दयिता सन्त्यज्य दूरङ्गता
> सत्पात्रप्रतिपादितेव वसुधा न क्षीयते शर्वरी।

८ भर्तृमेण्ठ

आपका भी आविर्भाव इसी गुप्त-युग में हुआ था। महाकवि भर्तृमेण्ठ का नाम संस्कृत-साहित्य में आदर के साथ लिया जाता है। ये संस्कृत-भाषा के एक अच्छे कवि थे। भर्तृमेण्ठ का हाल कल्हण पण्डित की राजतरङ्गिणी में मिलता है। सुनते हैं कि भर्तृमेण्ठ हाथीवान थे; क्योंकि 'मेण्ठ' शब्द का अर्थ संस्कृत-भाषा में महावत होता है। इसी कारण सूक्तिग्रन्थों में 'हस्तिपक' के नाम से जो पद्य मिलते हैं उन्हें पण्डितों ने इसी कवि की रचना माना है। राजशेखर ने 'मेण्ठराज' शब्द से इनका स्मरण किया है। कल्हण पण्डित ने लिखा है कि भर्तृमेण्ठ ने 'हयग्रीव-वध' नामक काव्य की रचना की तथा उसे लेकर मातृगुप्त के यहाँ, जो उस समय काश्मीर के राजा थे, पहुँचे। राजा ने इन कवि-शिरोमणि का समुचित आदर किया। कल्हण ने लिखा है कि जब

---

१. मातृगुप्त के विशेष विवरण के लिए देखिए संस्कृतकवि-चर्चा—पृ० १३८—१४४।

भर्तृमेण्ठ पुस्तक बाँधने लगे तो राजा ने सोने की थाली पुस्तक के नीचे इस अभिप्राय से रखवा दी कि काव्य-रस कहीं ज़मीन पर चू न जाय[१]।

कवि राजशेखर के उल्लेख से जान पड़ता है कि भर्तृमेण्ठ ६०० ई० के पहले ही होंगे। राजतरङ्गिणी के वर्णन से भर्तृमेण्ठ और मातृगुप्त की समसामयिकता सिद्ध होती है। कल्हण के कथनानुसार मातृगुप्त ने पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में (४३० ई० के लगभग) काश्मीर देश पर शासन किया। अतः कविवर भर्तृमेण्ठ का भी वही समय—पाँचवीं शताब्दी का पूर्व भाग—समझना चाहिए।

ऊपर कहा गया है कि भर्तृमेण्ठ ने 'हयग्रीव-वध' नामक महाकाव्य की रचना की। यही इनकी एकमात्र रचना जान पड़ती है। दुर्भाग्यवश यह महाकाव्य अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ है। कहीं-कहीं सूक्ति-संग्रहों तथा रीति-ग्रन्थों में उद्धृत श्लोक ही इस अनुपम महाकाव्य के अवशिष्ट अंश हैं। नाम से पता चलता है कि इस महाकाव्य में विष्णु भगवान् के द्वारा हयग्रीव के वध का वृत्तान्त दिया गया है। मम्मटाचार्य ने अपने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में इसके दोषों को दिखलाते समय 'अङ्गस्याप्यति विस्तृतिः' नामक दोष का विवेचन करते हुए उदाहरणार्थ 'हयग्रीवध' महाकाव्य का स्मरण किया है।

भर्तृमेण्ठ संस्कृत के एक प्रतिभाशाली कवि थे। बालरामायण में राजशेखर ने अपने विषय में लिखते हुए भर्तृमेण्ठ का नामोल्लेख किया है—

> बभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
> स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

राजशेखर के इस उल्लेख से भर्तृमेण्ठ की महत्ता समझी जा सकती है। भर्तृमेण्ठ की कविता बड़ी सुन्दर तथा सरस है। इसमें प्रसादगुण प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। वाक्य-रचना सरल है तथा भावों में भी कठिनता का कहीं नाम-निशान नहीं है। आपकी कविता के दो उदाहरण ही पर्याप्त हैं[२]।

> महद्भिरोघैस्तमसामभिद्रुतो भयेऽप्यसंमूढमतिः क्रमन् क्षितौ।
> प्रदीपवेशेषु गृहे गृहे स्थितो विभज्य देहं बहुधेव भास्करः॥

> घासग्रासं गृहाण त्यज गजकलभ ! प्रेमबन्धं करिण्याः
> पाशग्रन्थिव्रणानामविरतमधुना देहि पङ्कानुलेपम्।
> दूरीभूतास्तवैते शबरवनिताकटाक्षाधिगम्याः
> रेवाकूलोपकण्ठद्रुमकुसुमरजोधूसरा विन्ध्यपादाः॥

---

१. राजतरङ्गिणी तृतीय तरङ्ग (२६४, २६६)

२. भर्तृमेण्ठ के जीवनवृत्त, काल तथा कविता आदि के विस्तृत विवेचन के लिए संस्कृत-कवि-चर्चा—पृ० १४४-१५४ देखिए।

६ शूद्रक

गुप्त-काल में श्रव्यकाव्य के साथ ही साथ दृश्यकाव्य की भी प्रचुर उन्नति हुई। यदि हरिषेण, कालिदास और वत्सभट्टि ने अपनी रसमयी कविता और कोमल कान्त पदावली से जनता को आनन्दित किया तो इसी काल में उत्पन्न हुए महाकवि शूद्रक और विशाखदत्त ने नाटक-ग्रन्थों की रचना कर लोगों का कम मनोरंजन नहीं किया। गुप्त-युग को यदि कालिदास जैसे महाकवि को उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है तो शूद्रक और विशाखदत्त नाटककारों को जन्म देने का श्रेय भी इसी को है। कहने का तात्पर्य यह कि काव्य-कला के साथ ही नाटक का भी इस काल में विशेष अभ्युदय हुआ। पीछे जो वर्णन प्रस्तुत किया गया है वह कवियों का है। अब गुप्तकालीन नाटककारों का संक्षिप्त परिचय दिया जायगा।

शूद्रक इस काल के एक प्रधान नाटककार माने जाते हैं। आपके ऊपर जैसी सरस्वती की कृपा थी वैसी ही लक्ष्मी की भी थी। शूद्रक न केवल कवि थे वरन् राजा भी थे। वे गुप्तकाल के अमूल्य रत्न थे। गुप्त-काल में आपकी सत्ता के प्रमाण यहाँ दिये जाते हैं।

शूद्रक के समय-निरूपण के सम्बन्ध में पश्चिमी तथा पूर्वी विद्वानों में बड़ा मत-भेद है। पुराणों में आन्ध्रभृत्य-कुल के प्रथम राजा शिमुक का वर्णन मिलता है। अनेक विद्वान् राजा शिमुक के साथ शूद्रक की अभिन्नता अङ्गीकार कर इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी में मानते हैं। परन्तु 'मृच्छकटिक' के कर्त्ता की इतनी प्राचीनता स्वीकार करने में बहुतों को आपत्ति है। अतः बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग प्रमाणों के आधार पर आपके विश्वसनीय समय का निरूपण किया जाता है।

वामनाचार्य ने अपनी 'काव्यालंकारसूत्र-वृत्ति' में (शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेषु) शूद्रक-विरचित ग्रन्थ का उल्लेख किया है। 'द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यं' मृच्छकटिक के इस द्यूत-प्रशंसा-परक वाक्य को उद्धृत भी किया है जिससे कह सकते हैं कि आठवीं शताब्दी के पहले ही मृच्छकटिक की रचना की गई होगी। वामन के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी (सप्तम शतक) ने भी 'काव्यादर्श' में 'लिम्पतीव तमोङ्गानि' मृच्छकटिक के इस पद्यांश को अलंकार-निरूपण करते समय उद्धृत किया है। इन बहिरंग प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'मृच्छकटिक' की रचना सप्तम शताब्दी के पहले ही हुई होगी।

समय-निरूपण में अन्तरंग प्रमाणों से भी सहायता मिलती है। मृच्छकटिक के नवम अङ्क में वसन्तसेना की हत्या के लिए आर्य चारुदत्त को, ब्राह्मण होने के कारण, प्राणदण्ड न देकर देश-निर्वासन का दण्ड दिया जाता है,—

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ॥९।३९॥

यह निर्णय ठीक मनुस्मृति के अनुरूप ही है—

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्॥

अतः मृच्छकटिक की रचना मनुस्मृति के अनन्तर हुई होगी। मनुस्मृति का रचना-काल विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है जिसके पीछे मृच्छकटिक को मानना होगा। भास कवि के 'दरिद्र-चारुदत्त' और शूद्रक के मृच्छकटिक में अत्यन्त समानता पाई जाती है। मृच्छकटिक का कथानक विस्तीर्ण है और 'दरिद्र-चारुदत्त' का संक्षिप्त। यदि मृच्छकटिक को भास के रूपक के अनुकरण पर रचा गया मान लें, तो शूद्रक का समय भास के पीछे—अर्थात् तीसरी शताब्दी के पीछे—होना चाहिए।

मृच्छकटिक के नवम अङ्क में कवि ने बृहस्पति को अंगारक अर्थात् मंगल का विरोधी माना है[1]। परन्तु वराहमिहिर ने इन दोनों ग्रहों को मित्र माना है[2]। आज-कल भी मंगल तथा बृहस्पति मित्र ही माने जाते हैं। परन्तु वराहमिहिर के पूर्ववर्ती कोई-कोई आचार्य इन्हें शत्रु मानते थे जिसका उल्लेख 'बृहज्जातक' में पाया जाता है। वराह-मिहिर का परवर्ती ग्रन्थकार बृहस्पति को मंगल का शत्रु कभी नहीं कह सकता। अतः यह सिद्ध है कि शूद्रक का आविर्भाव वराहमिहिर के पहले हुआ था। वराह मिहिर की मृत्यु ५८९ ई० में हुई थी इसलिए शूद्रक का समय छठी शताब्दी के पहले होना चाहिए।

इन सब प्रमाणों का सार यही है कि शूद्रक-भास (तृतीय शतक) के परवर्ती तथा वराहमिहिर (षष्ठ शतक) के पूर्ववर्ती थे अर्थात् मृच्छकटिक की रचना पञ्चम शतक में हुई थी। इस प्रकार शूद्रक का गुप्त-युग में आविर्भाव प्रमाणसिद्ध है।

शूद्रक के इतिवृत्त के विषय में कुछ विशेष पता नहीं चलता। मृच्छकटिक आदि के श्लोकों से पता चलता है कि आप ऋग्वेद, सामवेद, गणितशास्त्र, वैशिकी-कला—नृत्य, गायन, वादन—आदि और हस्ति-शास्त्र में परम प्रवीण थे। भगवान् शिव के अनुग्रह से इन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था। इन्होंने बड़े ठाट-बाट से अश्वमेध किया था तथा सौ वर्ष आयु पाकर अन्त में अग्नि में प्रवेश किया[3]। शूद्रक नामक राजा की संस्कृत-साहित्य में खूब प्रसिद्धि है। जिस प्रकार विक्रमादित्य के विषय में

---

१. अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः। ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः।९।३३।

२. जीवेन्दूष्णकराः कुजस्य सुहृदः।—बृहज्जातक २।१६।

३. ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादात् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा,
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दिनशतसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः॥१४॥
समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदं वेदविदां तपोधनश्च।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव॥१५॥

अनेक किंवदन्तियाँ हैं उसी प्रकार इनके विषय में भी हैं। इसके अतिरिक्त कुछ प्रामाणिक वृत्त का पता नहीं है।

शूद्रक की कीर्ति केवल एक ही ग्रन्थ-रत्न के आधार पर अवलम्बित है। वह है मृच्छकटिक। डा० पिशल आदि विद्वान् मृच्छकटिक को काव्यादर्श के प्रणेता दण्डी की रचना मानते हैं परन्तु इस मत का अब पूर्णतया खण्डन हो चुका है। हाल ही में शूद्रक के नाम से पद्म-प्राभृतक नामक भाण मिला है। भाण का कथानक बहुत ही सुन्दर है अतः इसे शूद्रक-रचित मानने में कोई आपत्ति नहीं। मृच्छकटिक अपने ढङ्ग का एक अनूठा प्रकरण है। चरित्र-चित्रण, ऋतु-वर्णन, अलङ्कारों की छटा, तत्कालीन सामाजिक दशा का जीता-जागता चित्र, प्राकृत-भाषाओं का अपूर्व जमघट तथा नाटकीय गति (Dramatic movement) में यह अपना सानी नहीं रखता। आर्य चारुदत्त का चरित्र अद्वितीय है तथा आदर्श दिखलाया गया है।

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये ॥ (१।४८)

शूद्रक की कविता बड़ी सुन्दर तथा रसमयी है। रूपक की अपूर्व छटा, उत्प्रेक्षा का उपन्यास, सीधे शब्दों का प्रयोग तथा चमत्कार-जनक सूक्तियाँ देखते ही बनती हैं। इस सीमित स्थान में शूद्रक की कविता की चाशनी चखाना नितान्त असम्भव है, फिर भी उदाहरण के लिए एक-दो पद्य दिये जाते हैं[1]—

गता नाशं तारा उपकृतमसाधाविव जने
वियुक्ताः कान्तेन स्त्रिय इव न राजन्ति ककुभः।
प्रकामान्तस्तप्तं त्रिदशपतिशस्त्रस्य शिखिना
द्रवीभूतं मन्ये पतति जलरूपेण गगनम् ॥५।२५॥

उदयति हि शशाङ्कः कामिनीगण्डपाण्डु-
र्ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य गौराः
स्नुतजल इव पङ्के दुग्धधाराः पतन्ति ॥१।५७॥

१० विशाखदत्त

गुप्तकालीन दूसरे प्रसिद्ध नाटककार महाकवि विशाखदत्त हैं। खेद के साथ लिखना पड़ता है कि आपके विषय में कुछ भी इतिवृत्त ज्ञात नहीं है। मुद्राराक्षस की प्रस्तावना से केवल इतना पता चलता है कि विशाखदत्त के पितामह का नाम सामन्त वटेश्वरदत्त था तथा इनके पिता महाराज पृथु थे। विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस के आरम्भ

---

१. देखिए—संस्कृत-कवि-चर्चा पृ० १५४—१७५।

के दो श्लोकों में भगवान् शिव की स्तुति की है। इससे पता चलता है कि कदाचित् ये शैव थे। इनकी जन्म-भूमि के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। इनकी जन्म-भूमि कहाँ थी यह निश्चयपूर्वक कहना बड़ा कठिन है।

विशाखदत्त ने मुद्राराक्षस के अन्त में यह भरत-वाक्य लिखा है जिसका अर्थ है कि 'म्लेच्छों द्वारा सताई हुई पृथ्वी ने जिस राजमूर्ति की दोनों भुजाओं का आश्रय इस समय लिया है वह राजा चन्द्रगुप्त, जिसके बन्धु और भृत्यवर्ग श्रीमन्त हैं, इस पृथ्वी का चिरकाल तक पालन करे।'

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावास्थितस्यानुरूपाम्
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः॥

डा० स्टेन कोनो का, इस भरत-वाक्य में आये हुए 'अधुना चन्द्रगुप्तः अवतु' वाक्य के आधार पर, मत है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में विशाखदत्त का आविर्भाव हुआ था तथा ये कालिदास के समकालीन थे। इस श्लोक में 'चन्द्रगुप्त' का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। 'शक' और 'वाह्लीक' जातियों को उसने पराजित किया था। उसके अनुग्रह से उसके बन्धु और भृत्यवर्ग सुखी तथा समृद्ध थे। साँची के शिलालेख में बौद्ध आम्रकार्द्दव ने भी चन्द्रगुप्त के विषय में यही कहा है—'महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तपादप्रसादाप्यायितजीवितसाधनः'। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाकवि विशाखदत्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में ही प्रादुर्भूत हुआ था।

विशाखदत्त की कीर्ति-लता केवल एक ही ग्रन्थ-रत्न के ऊपर अवलम्बित है। वह ग्रन्थ है मुद्राराक्षस। इसके अतिरिक्त इस नाटककार की अन्य कृति का कुछ भी पता नहीं चलता। मुद्राराक्षस अपने ढङ्ग का एक अनूठा नाटक है। यह संस्कृत नाटकों के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। मुद्राराक्षस की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि समस्त संस्कृत-साहित्य में यही एक ग्रन्थ है जिसे राजनैतिक नाटक कहा जा सकता है। राजनैतिक चालों तथा कूटनीति के दाव-पेचों का ऐसा सुन्दर वर्णन है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकता। विषकन्या का प्रयोग, मुद्रा (मुहर) का छलपूर्वक प्रयोग तथा भिन्न-भिन्न वेषों में दूतों के विचरने का वर्णन पढ़कर तत्कालीन भारतीय उच्च सभ्यता का चित्र आँखों के सामने खिंच जाता है। चाणक्य की गूढ़ राजनैतिक चालों को देखकर कौन आश्चर्य से दाँतों-तले अँगुली नहीं दबाता? समस्त घटनाओं की योजना इस सुन्दर रीति से की गई है कि बिना अन्तिम पृष्ठ तक पढ़े इसकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है कि आगे क्या होनेवाला है। भिन्न-भिन्न कथाओं का ग्रन्थन इस कुशलता से किया गया है कि सब अन्तिम लक्ष्य को ही सिद्ध करने में सहायक होती हैं।

मुद्राराक्षस की भाषा राजनैतिक विषय के उपयुक्त ही है। ग्रन्थ के पढ़ने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लेखक राजनीतिक भाषा लिखने में कितना कुशल है। विशाखदत्त की कविता सुन्दर तथा अलंकारों से युक्त है। परन्तु यह नाटककार अपनी काव्य

कला के लिए उतना प्रसिद्ध नहीं है जितना राजनीतिपूर्ण नाटक लिखने के लिए। विशाख-दत्त की कविता का एक ही उदाहरण यहाँ पर्याप्त होगा—

> धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला, किन्नु नामैतदस्याः,
> नामैवास्यास्तदेतत्, परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः।
> नारीं पृच्छामि नेन्दुं; कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु-
> र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः॥

कौमुदीमहोत्सव

इस नाम का नाटक हाल ही में दक्षिण भारत में मिला है। इसकी लेखिका एक विदुषी है जिसके बारे में कुछ अधिक ज्ञात नहीं है। यह नाटक एक उत्सव के ऊपर लिखा गया है। लेखिका ने वर्णन किया है कि उसका अभिनय भी उसी समय हुआ था। इसमें वर्णन मिलता है कि मगध के राज्य के बारे में झगड़ा था। राजा के पुत्र उत्पन्न होने पर उसके दत्तकपुत्र ने विद्रोह किया। अन्त में वह मारा गया और राजकुमार ने ही सिंहासन को सुशोभित किया। इसके अतिरिक्त और किसी बात पर यह प्रकाश नहीं डालता।

जयाख्य-संहिता

यह पुस्तक हाल ही में गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज़ में निकली है। इसमें वैष्णवों के पञ्चरात्र मत का प्रतिपादन किया गया है। विद्वानों का मत है कि गुप्त-राजा इस सिद्धान्त या मत के माननेवाले थे। अनेक साहित्यिक लेखों के आधार पर यह निर्विवाद सिद्ध हुआ है कि यह पुस्तक पाँचवीं शताब्दी के मध्यभाग में तैयार हुई[1]।

११ सुबन्धु

गत पृष्ठों में गुप्तकालीन संस्कृत-कवियों तथा नाटककारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। गुप्त-काल में पद्य-काव्य तथा नाटक के साथ ही साथ गद्य-साहित्य का भी प्रचुर विकास हुआ। इस काल में केवल एक ही गद्य-कवि का आविर्भाव हुआ। इसका नाम सुबन्धु है। सुबन्धु का नाम संस्कृत-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। आपका संस्कृत-गद्य के इतिहास में एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुबन्धु की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आप कथा साहित्य (Prose Romance) के सर्वप्रथम लेखक हैं। संस्कृत में कथा लिखने की परिपाटी सर्वप्रथम आप ही ने चलाई। बाण आदि गद्य-लेखकों के आप ही पथ-प्रदर्शक थे। यही सुबन्धु की महत्ता का रहस्य है।

महाकवि बाणभट्ट ने सुबन्धु का नामोल्लेख करते समय हर्षचरित के प्रारम्भ में लिखा है कि "कवियों का दर्प 'वासवदत्ता' के कारण नष्ट हो गया।"

> कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया। शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्॥

---

१ गा० [illegible] गायकवाड़ ओरियंटल सीरिज़, नं० ५४ भूमिका पृ० २६—३४।

कादम्बरी के आरम्भ में भी आपने 'अतिद्वयी कथा' के उल्लेख से वासवदत्ता का ही उल्लेख किया है[१]। वाक्पतिराज ने गौड़वहो में भास, कालिदास और हरिचन्द्र के साथ सुबन्धु का भी नाम लिया है[२]। मंख ने 'श्रीकण्ठचरित' में तथा कविराज ने 'राघवपाण्डवीय' में सुबन्धु का स्मरण किया है। कविराज ने तो यहाँ तक लिखा है—कुटिल काव्य-रचना में 'बाण और सुबन्धु ही कुशल हैं[३]।' सर्वप्रथम बाण ने इनका उल्लेख किया है अतः इतना तो निश्चित ही है कि सुबन्धु बाण के पूर्ववर्ती हैं। सुबन्धु ने अपनी वासवदत्ता में उद्योतकर का उल्लेख किया है—"न्यायस्थितिमिव उद्योतकर-स्वरूपां, बुद्धसङ्गतिमिव अलङ्कारभूषिताम्"

उद्योतकर का काल ५०० ई० के आसपास है। अतः यह स्पष्ट सिद्ध है कि सुबन्धु उद्योतकर (५०० ई०) के बाद तथा बाण (सातवीं सदी का पूर्वार्द्ध) के पहले अर्थात् छठी शताब्दी के मध्यकाल में प्रादुर्भूत हुए थे। एक दूसरे प्रकार से भी सुबन्धु का काल-निर्णय किया जा सकता है। आपने 'वासवदत्ता' में निम्नलिखित श्लोक दिया है—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कं कः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥

अर्थात् रसवत्ता नष्ट हो चुकी, नये लोग विलास करने लगे। कौन किसे नहीं खा जाता? सरोवर की भाँति जब पृथ्वी पर विक्रमादित्य की कीर्ति शेष रह गई।

अब प्रश्न यह है कि इस श्लोक में उल्लिखित विक्रमादित्य कौन है? विद्वानों की यह धारणा है कि यह विक्रमादित्य स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ही है। क्योंकि इस राजा के मरने के बाद हूणों के आक्रमण से गुप्त-राज्य की राज्यलक्ष्मी चलायमान हो रही थी तथा देश में अराजकता-सी मच गई थी। अतः इससे सिद्ध है कि सुबन्धु छठी शताब्दी के मध्यकाल में विद्यमान थे।

सुबन्धु की एकमात्र कृति उनकी 'वासवदत्ता' है। जैसा पहले लिखा जा चुका है, 'वासवदत्ता' अपने ढङ्ग की पहली पुस्तक है। सचमुच ही महाकवि बाण के शब्दों में, 'सुबन्धु ने वासवदत्ता लिखकर समस्त कवियों के गर्व को चूर कर दिया।' वासवदत्ता कथा है, आख्यायिका नहीं। महाकवि बाण ने भी इसे 'कथा' कहकर ही स्मरण किया है। यह अपने ढङ्ग का अद्वितीय तथा अनूठा ग्रन्थ-रत्न है। गद्य-काठिन्य में यह अपना सानी नहीं रखता। इसके लेखक के ही शब्दों में यह 'प्रत्यक्षरश्लेषमय प्रबन्ध' है। इस ग्रन्थ के प्रत्येक पद में—नहीं, प्रत्युत प्रत्येक अक्षर में—श्लेष है। अन्य कवियों के द्वारा अप्रयुक्त तथा केवल कोष ही में पाये जानेवाले शब्दों के प्रयोग से यह ग्रन्थ अत्यन्त कठिन हो गया है। इसमें प्रसन्न श्लेषों का सर्वथा अभाव है।

---

१. धिया निबद्धेयमतिद्वयी कथा—कादम्बरी का प्रारम्भ।

२. भासम्मि जलणमित्ते कुन्तीदेवे तहा च रहुआरे। सोबन्धवे च बन्धम्मि हारियन्दे च आणन्दो॥

३. सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः। वक्रोक्तिमार्गनिपुणाः चतुर्थो विद्यते न वा।

सुबन्धु की शैली गौड़ी है। आपने 'ओजःसमासभूयस्त्वमेतत् गद्यस्य जीवितम्' इस काव्य-नियम का पालन करते हुए अपने गद्य-काव्य में लम्बे-लम्बे समासों की भरमार सी कर दी है। वर्णन में अतिशयोक्ति, अलङ्कारों की झनझनाहट तथा कठिन शब्दों का प्रयोग देखते ही बनता है। बाण ने भी गौड़ी शैली का आश्रय लिया है। उन्होंने भी लम्बे समासों तथा अलङ्कारों का प्रचुर प्रयोग किया है; परन्तु बाण के गद्य तथा सुबन्धु की रचना में ज़मीन आसमान का अन्तर है। बाण की शैली सरस है तथा श्लेष-प्रयोग प्रसन्न हैं। परन्तु सुबन्धु की रचना में इससे भिन्न एक अपना ही अनूठापन है। उनके पद्य अत्यन्त सरस और चित्ताकर्षक हैं। एक ही उदाहरण यहाँ पर्याप्त होगा—

विषधरोऽप्यति विषमः खल इति न मृषा वदन्ति विद्वांसः। सकुलद्वेषी पुनः पिशुनः।

—वासवदत्ता।

पण्डितों ने जो यह कहा है कि खल लोग विषधर (सर्प) से भी विषम (बुरे) होते हैं यह बात झूठ नहीं है अर्थात् अक्षरशः सत्य है। सर्प नकुल (नेवला)-द्वेषी होता है, वह नेवले से द्वेष करता है। अपने कुलवालों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देता (न+कुलद्वेषी)। परन्तु खल मनुष्य-कुल-द्वेषी होता है। वह अपने कुलवालों से ही द्वेष करता है और उन्हीं का नाश करता है। अतः इस प्रकार वह सर्प से भी विषम है। इस श्लोक में 'नकुल' शब्द पर कितना सुन्दर श्लेष है।

श्रव्य तथा दृश्य काव्य का ऊपर जो विवरण दिया गया है उससे स्पष्ट होता है कि गुप्त-काल सुवर्ण युग के साथ ही सरस युग भी था। जिस काल में स्वयं कवि-कुल-गुरु कालिदास अपनी कोमल-कान्त पदावली की रचना कर जनता को आनन्द-सागर में विभोर करें उसकी सरसता का वर्णन कैसे किया जा सकता है? सचमुच ही गुप्तकालीन साहित्यिक वातावरण इन कविपुङ्गवों की सरस सूक्तियों से रसमय तथा स्निग्ध हो गया था। जहाँ देखिए वहीं काव्य-चर्चा की धूम थी, कविता का बोलबाला था। समस्त वायुमण्डल काव्यमय हो गया था। इन साहित्यानुरागी सम्राटों की सुशीतल छत्रछाया में बैठकर यदि इन कवियों ने अपनी काव्य-वंशी मीठी-मीठी बजाई तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। अवश्य ही उन्होंने अपने काव्य का अलौकिक सङ्गीत सुना तथा मधुर चाशनी चखा कर कुछ देर के लिए लोगों को तापत्रय से विमुक्त कर दिया होगा। निश्चय ही इन कवि-कोकिलों की सुमधुर काकली ने तत्कालीन भारतीय काव्योद्यान में अकाल में ही बसन्त का प्रादुर्भाव कर दिया था तथा अपनी रसमयी कूक से सब को आनन्द-प्लावित कर दिया था।

१२ भामह

काव्य तथा नाटक के वर्णन के उपरान्त यह उचित प्रतीत होता है कि इनके विधानक शास्त्रों का भी वर्णन यहीं पर कर दिया जाय। अलङ्कार-शास्त्र की उत्पत्ति तो गुप्त-काल के बहुत पहले ही हो चुकी थी। महाक्षत्रप रुद्रदामन् के गिरनारवाले शिला-

लेख में अलङ्कारशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों की उपलब्धि होने के कारण यह स्पष्ट है कि ईसा की दूसरी शताब्दी में काव्यालङ्कार के विषय में कुछ ग्रन्थ अवश्य रचे गये थे जिनके नियमों का पालन करते हुए कवि लोग गद्य-पद्य की रचना किया करते थे। भरत के नाट्यशास्त्र का भी समय गुप्त-काल के पूर्व ही है। गुप्त-काल में अलङ्कार-शास्त्र का, प्रचुर मात्रा में, क्रमिक विकास हुआ। इसी काल में अलङ्कार-शास्त्र के सबसे प्रथम आचार्य का आविर्भाव हुआ था जिनका नाम भामहाचार्य है। कुछ लोग आचार्य भामह को दण्डी और धर्मकीर्ति के पीछे सातवीं शताब्दी के अन्त में मानते हैं परन्तु यह मत नितान्त भ्रममूलक है तथा विद्वानों द्वारा इसका पूर्णतया खण्डन हो चुका है[1]। भामह ने प्रसङ्गवश तर्कदोषों को दिखलाते समय बौद्ध न्याय के सिद्धान्तों का यत्किञ्चित् उल्लेख किया है जिसके परिशीलन से पता चलता है कि भामह दिङ्नाग के न्याय ग्रन्थों से परिचित थे, परन्तु धर्मकीर्ति के न्याय-सिद्धान्तों से बिलकुल अनभिज्ञ थे। भामह ने प्रत्यक्ष प्रमाण की परिभाषा बतलाते हुए जो उसका लक्षण 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्' लिखा है, वह दिङ्नाग ही का लक्षण है। यदि वे धर्म-कीर्ति के पीछे आविर्भूत हुए होते तो धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष लक्षण के अनुसार ही इस लक्षण में 'अभ्रान्तम्' शब्द अवश्य जोड़ते। अतएव भामह का काल दिङ्नाग के बाद तथा धर्मकीर्ति के पहले अर्थात् पाँचवीं शताब्दी का अन्त अथवा छठी का प्रारम्भ है।

भामह का अलङ्कार-शास्त्र में बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्हीं ने पहले-पहल अलङ्कार-शास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ का निर्माण किया। इस ग्रन्थ का नाम काव्या-लङ्कार है। इसमें छः परिच्छेद हैं जिनमें अलङ्कार शास्त्र के सभी ज्ञातव्य विषयों का बड़ी सरल भाषा में, अनुष्टुप् छन्दों में, वर्णन किया गया है। काव्य का लक्षण, उसके भेद, दोष, गुण तथा अलङ्कारों के लक्षण और भेदों का विवेचन बड़ी ही मार्मिक रीति से किया गया है। अन्तिम अध्याय का विषय शब्द-शुद्धि है। भामह ही अलङ्कार सम्प्रदाय (School) के सर्वप्रथम आचार्य माने जाते हैं। पीछे के आलङ्कारिकों पर इनके मत का प्रचुर प्रभाव पड़ा है।

१३ अमरसिंह

प्रसिद्ध कोश 'नामलिङ्गानुशासन' के कर्ता अमरसिंह भी गुप्त-काल ही के एक रत्न थे। इनके व्यक्तिगत जीवनचरित के बारे में कुछ पता नहीं चलता। ये अमरसिंह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्नों में माने गये हैं। ये बौद्ध थे। इन्होंने अमरकोश के आरम्भ में विशिष्ट देवताओं की नामावली देने के पहले भगवान् बुद्ध ही का नाम सर्वप्रथम दिया है। इनका बनाया हुआ 'नामलिङ्गानुशासन' ही इनकी एकमात्र रचना है। इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि संस्कृत-साहित्य में यही सबसे प्राचीन उपलब्ध कोश है। यह ग्रन्थ सरल अनुष्टुप् छन्दों में लिखा गया है तथा बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ का भाष्य क्षीरस्वामी का लिखा हुआ अत्यन्त प्रसिद्ध है। सम्भवतः इन्होंने कोई व्याकरण-

---

[1] पं० बटुकनाथ शर्मा और बलदेव उपाध्याय— भामह का काव्यालङ्कार, भूमिका भाग।

ग्रन्थ भी लिखा था। इनके विषय में यह कहावत चली आती है कि इन्होंने महाभाष्य चुराया था—'अमरसिंहस्तु पापीयान् महाभाष्यमचूचुरत्।' परन्तु इस समय इनके नाम से कोई व्याकरण ग्रन्थ नहीं मिलता।

दर्शनशास्त्र

गुप्त-काल में, अन्यान्य ज्ञान-विभागों के समान, दर्शनशास्त्र की भी प्रचुर उन्नति हुई। भारतीय दर्शनों के कालक्रम के विषय में विद्वानों (भारतीय तथा अभारतीय) में गहरा मतभेद है। फिर भी उपलब्ध साधनों की छान-बीन करने से हम एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँच सकते हैं। दर्शनशास्त्र ही भारतीयों की जाज्वल्यमान आध्यात्मिक विभूति है। इनके द्वारा भारतीयों की विशाल विचारशक्ति, आदरणीय मननशक्ति तथा विपुल पाण्डित्य का पर्याप्त परिचय प्राप्त किया जा सकता है। ये दर्शन भारतीयों की निजी सम्पत्ति हैं। आजकल दर्शनशास्त्रों का जो सबसे प्राचीन रूप प्राप्त होता है वह सूत्रात्मक है। इन्हीं सूत्र ग्रन्थों के साथ-साथ तत्तत् दर्शनों का आविर्भाव नहीं हुआ, प्रत्युत उनके बहुत पहले विद्वानों ने आध्यात्मिक जगत् की जो गहरी छान-बीन की थी उसी के महत्त्वपूर्ण परिणामों का एकत्रीकरण इन सूत्र-ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार सूत्र-ग्रन्थों की रचना एक महत्त्वपूर्ण काल के आरम्भ की सूचना नहीं देती है बल्कि मौलिक अनुसन्धान करनेवाले एक युग की समाप्ति की परिचायिका है। भारतीय छहों दर्शनों के निजी छः सूत्रग्रन्थ हैं जिनकी रचना के विषय में यूरोपीय विद्वान् भिन्न-भिन्न मतों के माननेवाले दीख पड़ते हैं। उनके मतानुसार कुछ दार्शनिक सूत्र-ग्रन्थों की रचना इस गुप्त-काल में भी हुई। डा० याकोबी विज्ञानवाद के मत के खण्डन किये जाने से न्याय-सूत्रों की रचना का काल विज्ञानवादी वसुबन्धु के अनन्तर चौथी शताब्दी में मानते हैं। परन्तु इस मत में विशेष विप्रतिपत्तियाँ हैं। इन सब विषयों को यहाँ दिखलाने का यद्यपि स्थान नहीं है तथापि हमारा यह निश्चित सिद्धान्त है कि सांख्य-सूत्रों को छोड़कर, जो कि बहुत पीछे (१२वीं या १३वीं शताब्दी) के हैं, अन्य दर्शन-सूत्रों की रचना गुप्त-काल का आरम्भ होने के पहले ही हो चुकी थी। गुप्त-काल में इन सूत्र-ग्रन्थों के ऊपर प्रामाणिक भाष्यों का निर्माण हुआ। अतएव गुप्त-काल को हम भारतीय दर्शन के इतिहास में भाष्य-रचना का काल मानते हैं। इस समय में सूत्रग्रन्थों की व्याख्या की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखने के उन्नत विचार से प्रेरित होकर मौखिक व्याख्या को लिखित रूप प्रदान किया गया। इस प्रकार भारतीय दर्शन के इतिहास में भी गुप्त-काल की निजी विशेषता स्पष्ट ही है।

सांख्य

सांख्यदर्शन बहुत ही पुराना है। इसके विशिष्ट सिद्धान्तों की झलक महाभारत तथा पुराणों में ही नहीं बल्कि उपनिषदों में भी दिखाई पड़ती है। इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् इस गुण-त्रय की कल्पना, जगत् के मूल में प्रकृति और पुरुष जैसे द्वैतमूलक सिद्धान्त की स्थापना, प्रकृति से परिणत होनेवाले २५ तत्त्वों

की परिगणना, पुरुषों की बहुलता तथा निष्क्रियता, सत्कार्यवाद तथा परिणामवाद की योजना—ये सब सिद्धान्त सांख्यदर्शन के मौलिक सिद्धान्त हैं जिनके कारण उपनिषदों में महर्षि कपिल को 'आदिविद्वान्' कहा गया है। कपिल की शिष्य-परम्परा में आसुरि तथा पञ्चशिख ने इस तन्त्र का विपुल प्रचार किया था। महर्षि वार्षगण्य भी इस सम्प्रदाय के एक प्राचीन आचार्य माने जाते हैं। इन सब आचार्यों का समय गुप्त-काल के बहुत ही पहले का है। परन्तु इस गुप्त-काल ने भी सांख्य के दो माननीय आचार्यों को जन्म दिया जिनमें पहले आचार्य विन्ध्यवासी हैं तथा दूसरे आचार्य का नाम ईश्वरकृष्ण है।

आचार्य विन्ध्यवासी के विषय में चीनी भाषा के बौद्ध-ग्रन्थों में बहुत कुछ विवरण मिलता है। परमार्थ नामक बौद्ध भिक्षु, चीन देश के तत्कालीन अधिपति के निमन्त्रण पर, चीन देश में गये थे (५४६ ई०)। उन्होंने बौद्ध आचार्य वसुबन्धु का जो जीवन-चरित लिखा है उसमें विन्ध्यवासी के जीवन की एक महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख मिलता है। उस समय अयोध्या की पवित्र नगरी में राजा विक्रमादित्य राज्यसिंहासन पर आसीन थे। वहीं पर वसुबन्धु के गुरु बौद्ध भिक्षु बुद्धमित्र तथा विन्ध्यवासी में गहरा शास्त्रार्थ हुआ था जिसमें विन्ध्यवासी के प्रचण्ड पाण्डित्य तथा प्रखर प्रतिभा के सामने बुद्धमित्र को गहरी मुँह की खानी पड़ी। विजय के उपलक्ष में विक्रमादित्य ने विजयी विन्ध्यवासी का खूब सम्मान किया और तीन लाख सुवर्ण-मुद्राएँ उपहार में दीं। इस विजय के उपरान्त ये आचार्य महोदय विन्ध्य के जंगल में अपने आश्रम में चले आये और थोड़े ही काल के बाद इनका देहान्त हो गया। जब वसुबन्धु लौटकर अयोध्या में आये तब उन्होंने अपने गुरु के पराजय की लज्जाजनक बात सुनी। उन्होंने शास्त्रार्थ के लिए विन्ध्यवासी को ढूँढ़ निकालने का विन्ध्य के जंगलों में सतत प्रयत्न किया परन्तु विन्ध्यवासी इसके कुछ पहले ही इस संसार से चल बसे थे। अतः वसुबन्धु ने विन्ध्यवासी के लिखे हुए 'सांख्यशास्त्र' का खण्डन करने के लिए 'परमार्थसप्तति' नामक पुस्तक लिखी। परन्तु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि विन्ध्यवासी तथा वसुबन्धु के ये ग्रन्थ चीनी भाषा में भी नहीं मिलते। अतः इन पुस्तकों के विषय में हमारा ज्ञान अत्यन्त अल्प है।

(१) विन्ध्यवासी

बहुत से विद्वानों का मत है कि ये विन्ध्यवासी सांख्यकारिका के सुप्रसिद्ध रचयिता ईश्वरकृष्ण ही हैं। इन दोनों आचार्यों की अभिन्नता बतलाने का प्रधान कारण यह माना जाता है कि जिस ग्रन्थ का अनुवाद परमार्थ ने चीनी भाषा में किया था उसका एक नाम 'हिरण्यसप्तति' भी है। इस ग्रन्थ का चीनी भाषा से किया गया अनुवाद ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका से ठीक-ठीक मिलता है। विक्रमादित्य से विन्ध्यवासी को हिरण्य की प्राप्ति हुई थी अतएव उनकी 'हिरण्यसप्तति' ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यसप्तति' ही का दूसरा नाम है। फलतः दोनों ग्रन्थकार एक ही हैं[1]। परन्तु यह एकता बहुत ही निर्बल प्रमाणों की भित्ति पर

विन्ध्यवासी तथा ईश्वर-कृष्ण की एकता

---

१. जे० आर० ए० एस० १९०५ पृ० ४८।

खड़ी की गई है। भारतीय परम्परा इन दोनों ग्रन्थकारों को बिलकुल भिन्न-भिन्न मानती आती है। दोनों के भिन्न-भिन्न मानने के प्रमाण बड़े प्रबल हैं—

(१) इन दोनों ग्रन्थकारों के मतों का उल्लेख जैन, बौद्ध तथा हिन्दू ग्रन्थों में जहाँ कहीं आया वहाँ भिन्न-भिन्न नामों से ही उल्लेख किया गया है। बौद्ध-आचार्य कमलशील ने 'तत्त्व-संग्रह' की पञ्जिका में इन दोनों (विन्ध्यवासी तथा ईश्वरकृष्ण) ग्रन्थकारों का नाम तथा इनके श्लोक अलग-अलग उद्धृत किये हैं[1]।

(२) परमार्थ ने अपने ग्रन्थ में वसुबन्धु के गुरु का नाम 'वार्षगण्य' लिखा है। 'वार्षगण्य' सांख्यशास्त्र के एक बहुत बड़े आचार्य थे और सांख्य, योग तथा वेदान्त के अनेक मान्य ग्रन्थकारों ने इनका बड़े आदर के साथ उल्लेख किया है। परन्तु ईश्वरकृष्ण के गुरु का नाम कहीं नहीं मिलता। डाक्टर वेल्वेल्कर का यह कथन, कि इनके गुरु का नाम 'देवल' था[2], समुचित नहीं प्रतीत होता; क्योंकि 'माठरवृत्ति' के जिस वाक्य के आधार पर यह कथन किया गया है वहाँ पर देवल के नाम के बाद प्रभृति शब्द होने से हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि देवल और ईश्वरकृष्ण के बीच में अनेक सांख्याचार्य हो गये थे[3]। इस कारण भी दोनों की एकता असिद्ध होती है।

(३) परन्तु सबसे प्रबल प्रमाण, जो इन दोनों की भिन्नता सिद्ध करने के लिए दिया जा सकता है, सिद्धान्त-सम्बन्धी है। विन्ध्यवासी के सिद्धान्तों का उल्लेख ब्राह्मण-ग्रन्थों में ही नहीं, बल्कि जैन तथा बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थों में भी बहुलता से मिलता है। ये सिद्धान्त ईश्वरकृष्ण के सिद्धान्त से अत्यन्त भिन्न हैं। कुमारिल ने अपने श्लोकवार्तिक[4] में, भोजराज ने भोजवृत्ति[5] में, मेधातिथि ने मनुभाष्य[6] में, मल्लिषेण ने स्याद्वादमञ्जरी[7] में, गुणरत्न ने सर्व-दर्शन-संग्रह[8] की टीका में तथा शान्तरक्षित ने तत्त्व-संग्रह[9] में विन्ध्यवासी के नाम तथा जिस मत का उल्लेख किया है वह ईश्वर-कृष्ण के मत से नितान्त भिन्न है। मृत्यु के पश्चात् तथा दूसरे शरीर को धारण करने के पूर्व इन दोनों के बीच में ईश्वरकृष्ण एक प्रकार का सूक्ष्मशरीर (लिङ्गशरीर) मानते

---

१. तत्त्वसंग्रह—गा० ओ० सी० पृ० २२।

२. भण्डारकर कामोमेरेशन वाल्यूम पृ० १७६।

३. कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानं ततः पञ्चशिखेन तस्मात् भार्गवोलूकवाल्मीकिहारीतदेवलप्रभृतीनाग-तम् ततस्तेभ्यः ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्।—माठरवृत्ति, चौ० सं० सी० पृ० [illegible]।

४. श्लोकवार्तिक पृ० ३९३ तथा ७०४।

५. भोजवृत्ति ४।२२।

६. मनुस्मृति १।५५।

७. स्याद्वादमञ्जरी पृ० २२।

८. सर्वदर्शनसंग्रह की टीका पृ० १०२-१०४।

९. तत्त्वसंग्रह पृ० ६२६।

हैं[1]। परन्तु यह अन्तराभव देह विन्ध्यवासी को माननीय नहीं है[2]। इसी प्रकार ये विशेषतोदृष्ट नामक अनुमान का एक अपूर्व प्रकार मानते हैं[3] जो ईश्वर-कृष्णकारिका में नहीं मिलता।

इन्हीं प्रबल प्रमाणों के आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि विन्ध्यवासी ईश्वरकृष्ण से बिलकुल भिन्न व्यक्ति हैं।

विन्ध्य के जङ्गलों में रहने के कारण इन प्रसिद्ध सांख्याचार्य का नाम विन्ध्यवासी या विन्ध्यवास था, परन्तु यह तो व्यक्तिगत नाम नहीं है—केवल उपाधिमात्र है। परन्तु कमलशील की पञ्जिका में दिये गये निम्नांकित श्लोक से ज्ञात होता है कि इनका व्यक्तिगत नाम 'रुद्रिल' था। श्लोक यह है[4] :—

यदेव दधि तत्क्षीरं यत् क्षीरं तद्दधीति च।
वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिता॥

इस श्लोक में सांख्य के सत्कार्यवाद की दिल्लगी उड़ाई गई है। बहुत सम्भव है कि यह श्लोक वसुबन्धु की 'परमार्थसप्तति' का हो। वसुबन्धु के गुरु के समसामयिक होने के कारण इनका समय प्रायः निश्चित सा है। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने इनका समय २५० से ३२० ई० तक माना है[5]। यह ठीक जान पड़ता है। ऊपर दिये गये इनके चरित्र के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि ये उत्तर भारत के रहनेवाले थे। विन्ध्यवासी नाम से क्या यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि ये काशी के समीप ही चरणाद्रि (चुनार) अथवा मिर्ज़ापुर के रहनेवाले थे?

(२) ईश्वरकृष्ण

गुप्तकाल के दूसरे सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण थे। इनके विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। कोई-कोई विद्वान् तो विन्ध्यवासी के साथ इनकी एकता मानकर इनके व्यक्तित्व को ही मिटाने पर तुले हुए हैं। परन्तु यह सप्रमाण दिखलाया जा चुका है कि ये विन्ध्यवासी से भिन्न व्यक्ति थे। इनके जीवन-चरित के विषय में अब तक कुछ भी वृत्तान्त ज्ञात नहीं है। इनका काल भी बड़े विवाद का विषय है। इतना तो निश्चित ही है कि ये छठीं शताब्दी

---

१. पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादि सूक्ष्मपर्यन्तम्।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥—सांख्यकारिका, कारिका ४०।

२. अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो विन्ध्यवासिना।—श्लोकवार्तिक पृ० ७०४।
सांख्या अपि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवासिप्रभृतयः।
— मेधातिथिभाष्य पृ० ३२ (ए० सो० सं०)

३. मन्दिद्यमानसद्भाववस्तुबोधात् प्रमाणता।
विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना॥ १४३॥—श्लोकवार्तिक पृ० ३९३।

४. तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका पृ० २२, गा० ओ सी०।

५. तत्त्वसंग्रह की भूमिका पृ० ६१-६४।

के अनन्तर के नहीं हो सकते। ५४६ ई० में परमार्थ ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका को अपने साथ चीन देश में ले गये तथा ५५७—५६९ ई० के भीतर इन्होंने, एक प्रामाणिक टीका के साथ, इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद किया। अतः ईश्वरकृष्ण का समय इससे पूर्व ही होगा। परन्तु कितना पूर्व? कुछ लोग तो इनका समय २०० ई० के लगभग बतलाते हैं परन्तु यह कालनिर्णय उतना ठीक नहीं जँचता। इनके ग्रन्थ पर न्यायभाष्य के रचयिता वात्स्यायन का कुछ प्रभाव दीख पड़ता है। ईश्वरकृष्ण की कारिका में दिया गया अनुमान का लक्षण (न्या० सू० १।१।५ पर) वात्स्यायन-भाष्य के अनुरूप ही है। वात्स्यायन गुप्तकालीन ग्रन्थकार थे, अतः ईश्वरकृष्ण का समय भी गुप्त-काल में ही पड़ता है। बहुत सम्भव है कि वसुबन्धु के सांख्यशास्त्र के खण्डन कर देने के अनन्तर ईश्वरकृष्ण का आविर्भाव हुआ हो तथा इन्होंने सांख्यकारिका लिखकर सांख्य के मत का फिर से उद्धार किया हो। अतः इनका समय वसुबन्धु के अनन्तर होना अधिक युक्तियुक्त तथा ऐतिहासिक प्रतीत होता है। दिङ्नाग के 'न्यायप्रवेश' के अध्ययन से मालूम पड़ता है कि उन्होंने एक जगह सांख्यकारिका का उल्लेख किया है। दिङ्नाग का यह वाक्य[1] —

परार्थाश्चक्षुरादयः संघातत्वात् शयनासनाद्यङ्गविशेषवत्।

ईश्वरकृष्ण की कारिका के—संघातपरार्थत्वात् (का० १६)—ऊपर अवलम्बित प्रतीत होता है। इसकी पुष्टि तिब्बत देश में संरक्षित एक भारतीय दन्त-कथा से होती है।

ईश्वरकृष्ण और दिङ्नाग

सुनते हैं, दिङ्नाग ने जब अपने प्रमाण-समुच्चय के मंगल-श्लोकों को लिखना आरम्भ किया तब पृथ्वी काँपने लगी। सब स्थानों में एक विचित्र प्रकार की ज्योति फैल गई और बड़ा कोलाहल हुआ। इस आश्चर्यजनक घटना को देखकर ईश्वरकृष्ण दिङ्नाग के पास आन्ध्रदेश में वेङ्गी पहाड़ के पास गये। उस समय आचार्य दिङ्नाग भिक्षा के लिए बाहर गये थे। इन्होंने (ईश्वरकृष्ण ने) उनके लिखे हुए शब्दों को बिल्कुल मिटा डाला। दिङ्नाग जब लौट करके आये तब उन्होंने मिटे हुए शब्दों को फिर से लिख दिया। दूसरी बार भी यही बात दुहराई गई। तीसरी बार दिङ्नाग ने ये शब्द अधिक जोड़ दिये कि इन महत्त्वपूर्ण शब्दों को कोई भी न मिटावे। ईश्वरकृष्ण जब तीसरी बार मिटाने आये तब इन शब्दों को पढ़कर वे ठहर गये और दिङ्नाग के आने पर उनका दिङ्नाग से गहरा शास्त्रार्थ हुआ। पराजय होने पर अपने धर्म को छोड़ देने की प्रतिज्ञा उभय पक्ष ने की। सुनते हैं, दिङ्नाग ने ईश्वरकृष्ण को कई बार हराया और जब ईश्वरकृष्ण से बौद्ध धर्म स्वीकार करने के लिए कहा तब वे स्वयं वहाँ से भाग गये परन्तु भागते समय कुछ ऐसे मन्त्रों का उच्चारण किया जिससे आचार्य दिङ्नाग के पास की सब चीजें भस्म हो गईं। तिब्बतीय ग्रन्थों के आधार पर डा० विद्याभूषण ने

---

१. न्यायप्रवेश—गा० ओ० सी० पृ० ५।

इस आख्यायिका का उल्लेख किया है[1] । यदि इसमें कुछ तथ्य हो, तो यही मालूम पड़ता है कि ईश्वरकृष्ण आचार्य दिङ्नाग के समकालीन थे। अतः इनका समय चौथी शताब्दी के मध्य में होना चाहिए।

सांख्य-कारिका

जिस ग्रन्थ के ऊपर ईश्वरकृष्ण की कीर्तिलता अवलम्बित है वह ग्रन्थ 'सांख्य-कारिका' है। सांख्यदर्शन का यही सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। सांख्यशास्त्र के मूल सिद्धान्तों का वर्णन केवल ७० कारिकाओं में इस सुन्दरता से दिया गया है, कि देखकर आश्चर्य होता है। सांख्यशास्त्र का विवरण प्रसङ्गतः देते समय प्राचीन दार्शनिकों ने (जैसे शंकराचार्य ने शांकरभाष्य में तथा सायण माधव ने सर्व-दर्शन-संग्रह में) प्रमाणरूप से सांख्यकारिका को ही उद्धृत किया है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ हैं जिनमें गौड़पादाचार्य का गौड़पादभाष्य, माठराचार्य की माठरवृत्ति तथा वाचस्पति मिश्र-कृत सांख्य-तत्त्व-कौमुदी प्रसिद्ध हैं। इनमें माठरवृत्ति सबसे प्राचीन मानी जाती है। चीनी भाषा में अनुवादित कारिका व्याख्या माठरवृत्ति ही मानी जाती है। अतः माठरवृत्ति का समय भी परमार्थ के पहले छठी शताब्दी का आदिम भाग है। यों माठराचार्य भी गुप्त-काल के ही सांख्याचार्य हैं।

न्याय दर्शन

गुप्त-काल में न्यायदर्शन की भी विशेष उन्नति हुई। न्यायसूत्रों की रचना के विषय में अभी तक विद्वानों में बड़ा मतभेद है। परन्तु इतना निश्चित है कि पूर्व-गुप्त-काल में ही न्याय-सूत्रों की रचना हो गई होगी। गुप्तकाल में न्याय-सूत्रों के ऊपर भाष्य तथा वार्तिक-ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण निर्माण हुआ, यह इस शास्त्र के इतिहास के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। न्यायभाष्य की रचना वात्स्यायन ने तथा न्यायवार्तिक की रचना उद्योतकर ने की है। ये ही गुप्त-काल के प्रसिद्ध न्यायाचार्य हैं।

वात्स्यायन

वात्स्यायन इनका गोत्र-नाम था। इनका व्यक्तिगत नाम पक्षिलस्वामी था। परन्तु सर्वसाधारण में ये अधिकतर अपने गोत्र-नाम से ही प्रसिद्ध हैं। ये दक्षिण भारत के रहनेवाले थे। इनके समय-निर्धारण के विषय में जितना मतभेद है उतना इनके जन्मस्थान के विषय में नहीं। हेमचन्द्र ने अपने 'अभिधान-चिन्तामणि' में वात्स्यायन का एक नाम द्रामिल दिया है[2]। 'द्रामिल' द्राविड़ का ही दूसरा रूप प्रतीत होता है। अतः इनका द्रविड़देशीय होना न्यायसंगत है। सम्भवतः ये काञ्ची के रहनेवाले थे। इनका समय भी अनेक समुचित प्रमाणों के आधार पर प्रायः निश्चित किया जा सकता है। यह तो प्रसिद्ध ही है कि दिङ्नाग ने वात्स्यायन-भाष्य का खण्डन अपने ग्रन्थ प्रमाण-समुच्चय में किया है। अतः ये दिङ्नाग के पूर्ववर्ती हैं। न्यायसूत्र के रचना-

---

१. स० विद्याभूषण — हिस्ट्री पृ० २७४—७५ ।

२. वात्स्यायनो मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः ।
द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः ॥—अभिधानचिन्तामणि ।

काल के विषय में इधर नये अनुसन्धान किये गये हैं। डा० तुशी का कहना है कि न्याय-सूत्रों में दो अलग-अलग विभाग (स्तर) हैं[१]। प्रथम और पञ्चम अध्याय, विषय की अनुरूपता के कारण, एक विभाग को धारण (Represent) करते हैं। दूसरा, तीसरा तथा चौथा अध्याय दूसरे विभाग में आते हैं। डा० तुशी की सम्मति में, नागार्जुन तथा आर्यदेव के समय में, तीसरी शताब्दी के लगभग इन दोनों का संयुक्तीकरण हुआ। इन न्याय-सूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन तीसरी शताब्दी के बाद तथा पाँचवीं शताब्दी के पहले अवश्य विद्यमान थे। अतः इनका समय चौथी शताब्दी के लगभग है।

गौतम-न्याय-सूत्रों के समझने के लिए न्याय-भाष्य ही सबसे प्रथम तथा सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है। वात्स्यायन के पहले भी अनेक आचार्यों का

न्याय-भाष्य

होना अनुमान-सिद्ध है जिनके मतों का उल्लेख 'एके या अपरे' कहकर किया गया है। इस ग्रन्थ में बौद्धों के शून्यवाद आदि सिद्धान्तों का भी विद्वत्तापूर्ण खण्डन है। ब्राह्मण-न्याय को प्रतिष्ठा प्रदान करनेवाला यही सबसे पहला ग्रन्थ है।

वात्स्यायन के बाद उद्योतकर ही न्यायशास्त्र के एक प्रखर आचार्य थे। इनके जीवन-चरित के विषय में हमारी जानकारी बहुत कम है। इनके ग्रन्थ की पुष्पिका देखने

उद्योतकर

से मालूम होता है कि ये भारद्वाज-गोत्र के थे तथा पाशुपत-मत के एक आचार्य थे[२]। डा० विद्याभूषण का अनुमान है कि ये अपना न्यायवार्तिक लिखते समय थानेश्वर में रहते थे[३]। इनके ग्रन्थ में 'श्रुघ्न' नामक स्थान का उल्लेख मिलता है। यह स्थान थानेश्वर से एक सड़क के द्वारा लगा हुआ था। इसी निर्देश के आधार पर इनके निवासस्थान का अनुमान किया जाता है।

उद्योतकर ने ही वात्स्यायन के न्यायभाष्य के ऊपर अपना वार्तिक लिखा है। न्याय-दर्शन के इतिहास में यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा विद्वत्तापूर्ण माना जाता है। महत्त्वपूर्ण माने जाने का कारण यह है कि गौतम के न्याय का दिङ्नाग आदि बौद्ध-दार्शनिकों ने जो खण्डन किया था उन बौद्ध-आलोचनाओं का प्रमाणपूर्वक खण्डन करके इन्होंने गौतम-न्याय की सत्यता को संसार के सामने प्रमाणित किया। इसका पता केवल ग्रन्थ के अनुशीलन ही से नहीं चलता प्रत्युत न्याय-वार्तिक के इस आरम्भ के श्लोक से भी चलता है—

> यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
> कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥

---

१. डा० तुशी—प्रि-दिङ्नाग बुधिस्ट टेक्स्ट्स—गा० ओ० सी०, भूमिका-भाग।

२. इति पाशुपताचार्यश्रीभारद्वाजोद्योतकरकृतौ न्यायसूत्रवार्तिके पञ्चमोऽध्यायः।—न्यायवार्तिक भूमिका (चौ० सं० सी०) पृ० १२४।

३. डा० विद्याभूषण—हिस्ट्री पृ० १२५।

इस श्लोक के ऊपर वाचस्पति मिश्र की 'तात्पर्यटीका' के अवलोकन से इस ग्रन्थ की रचना के कारण का ठीक-ठीक पता चलता है। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि यद्यपि वात्स्यायन ने न्यायशास्त्र की व्याख्या लिख दी थी तथापि दिङ्नाग प्रभृति अर्वाचीन बौद्ध-दार्शनिकों के कुतर्करूपी अन्धकार से आच्छादित होने के कारण यह शास्त्र अपने तत्त्व के प्रकट करने में समर्थ नहीं था। इसी कारण बौद्धों के कुतर्कों से इस शास्त्र की रक्षा करने तथा वास्तविक अर्थ के प्रकाशन करने के लिए उद्योतकर ने यह ग्रन्थ बनाया[1]। उद्योतकर ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने ग्रन्थ में नागार्जुन, वसुबन्धु तथा दिङ्नाग के मतों का भली भाँति खण्डन किया है। इनका केवल एक ही ग्रन्थ इनकी कीर्ति को भारतीय दार्शनिक इतिहास में सदा अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए पर्याप्त है।

उद्योतकर के समय के विषय में विद्वानों में बहुत वाद-विवाद है। परन्तु कुछ ऐसे प्रामाणिक साधन हमें उपलब्ध हैं जिनकी सहायता से हम इनके समय का ठीक-ठीक निर्धारण कर सकते हैं। बाणभट्ट ने जिस 'वासवदत्ता' का उल्लेख, 'हर्षचरित' के आरम्भ में, किया है[2] सुबन्धु ने उसी ग्रन्थ में उद्योतकर के नाम का उल्लेख किया है[3]। इससे स्पष्ट है कि बाणभट्ट के बहुत ही पहले उद्योतकर ने अपने वार्तिक की रचना की। इस प्रबल प्रमाण के होते हुए भी कुछ लोगों का अनुमान है कि उद्योतकर धर्मकीर्ति के समकालीन थे। धर्मकीर्ति बाणभट्ट के पीछे, सातवीं शताब्दी के मध्य में, प्रादुर्भूत होनेवाले बौद्ध-नैयायिक हैं। उन्होंने अनेक न्याय-ग्रन्थों की रचना की है। उनमें से एक ग्रन्थ का नाम है 'वाद-न्याय'। डा० विद्याभूषण का कहना है कि उद्योतकर ने वार्तिक में 'वाद-विधि' नामक जिस ग्रन्थ का उल्लेख किया है वह ग्रन्थ धर्मकीर्ति का ही 'वाद-न्याय है[4]। इसी अनुमान के आधार पर वे उद्योतकर को धर्मकीर्ति का समकालीन मानते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। चीनी ग्रन्थों से पता चलता है कि वसुबन्धु ने भी वाद-विषयक तीन ग्रन्थों की रचना की थी जिनके नाम चीनी भाषा में रोनकि (वाद-विधि), रोनशिकि (वाद-मार्ग), रोनशिन् (वाद-कौशल) हैं। ह्वेनसाँग ने इन ग्रन्थों को देखा था और उसके समय में वसुबन्धु ही इनके रचयिता माने जाते थे। बहुत सम्भव है कि उद्योतकर की 'वाद-विधि' वसुबन्धु की यही 'वाद-विधि' हो, न कि धर्मकीर्ति का 'वादन्याय'। यदि उद्योतकर

---

१. यद्यपि भाष्यकृताकृतव्युत्पादनमेतत्, तथापि दिङ्नागप्रभृतिभिरर्वाचीनैः कुहेतुसंतमससमुत्थापनेन आच्छादितं शास्त्रं न तत्त्वनिर्णयाय पर्याप्तमिति उद्योतकरेण स्वनिबन्धोद्योतेन तदपनीयते इति प्रयोजनवानयं आरम्भः।—तात्पर्यटीका (चौ० सं० सी०) पृ० २।

२. कवीनामगलद् दर्पो नूनं वासवदत्तया। शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्।—हर्षचरित।

३. न्यायस्थितिमिव उद्योतकरस्वरूपां, बौद्धसंगतिमिव अलङ्कारभूषितां............वासवदत्तां ददर्श।—वासवदत्ता (श्रीरंगम् संस्करण)।

४. डा० विद्याभूषण—हिस्ट्री, पृ० १२४।

को धर्मकीर्ति का समकालीन मानें तो वासवदत्ता के उल्लेख का ऐतिहासिक मूल्य क्या हो सकता है ? इसी लिए यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उद्योतकर धर्म-कीर्ति के समकालीन नहीं थे; प्रत्युत धर्मकीर्ति के पूर्ववर्ती बाणभट्ट से भी पहले तथा दिङ्नाग के पीछे इनकी स्थिति मानी जानी चाहिए। संक्षेप में इनका समय छठी शताब्दी का पूर्व भाग माना जा सकता है।

भारतीय न्याय-शास्त्र में उद्योतकर का स्थान बड़ा महत्त्वपूर्ण है। भारतीय न्याय-शास्त्र को कुतार्किक बौद्ध-दार्शनिकों के कुतर्कों से बचाने का श्रेय यदि किसी को प्राप्त है तो उद्योतकर को। यदि आपका आविर्भाव न होता तो न्याय-शास्त्र का जो प्रकाशमान स्वरूप आज दिखाई पड़ता है वह दृष्टि-गोचर न होता। कुतार्किक बौद्धों की आलोचनाओं का खण्डन कर आपने उन्हें निरुत्तर कर दिया तथा इस प्रकार गौतम-न्याय की सत्यता को सिद्ध किया। इससे उद्योतकर का महत्त्व सहज ही जाना जा सकता है।

वैशेषिक दर्शन

अन्य दर्शनों की भाँति वैशेषिक दर्शन की भी गुप्त-काल में अच्छी उन्नति हुई। इस समय में इस दर्शन के मूलभूत कणाद-सूत्र के ऊपर एक प्रामाणिक व्याख्या-ग्रन्थ की रचना हुई। वैशेषिक दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद हैं जिनके विभिन्न नाम कणभुक् और उलूक आदि भी हैं। इन्होंने दस अध्यायों में वैशेषिक दर्शन की रचना की है। प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं तथा प्रत्येक आह्निक में सूत्र हैं जिनकी संख्या निश्चित सी नहीं है। कुल मिलाकर सब सूत्रों की संख्या ३७० है। द्रव्य, गुण, कर्म, समवाय, सामान्य, विशेष तथा अभाव—वैशेषिकों के ये ही प्रमेय हैं। परन्तु सबसे बड़ी विशेषता, जो उनके नामकरण का कारण मानी जाती है, यह है कि ये लोग विशेष नामक एक विशिष्ट पदार्थ की सत्ता स्वीकार करते हैं। वैशेषिक दर्शन तथा न्याय दर्शन की उन्नति तो समानान्तर रूप से हज़ारों वर्ष तक होती आई। अनेक विद्वान् दोनों दर्शनों के सिद्धान्तों पर भाष्य और व्याख्या, टीका तथा टिप्पणी लिखकर जिज्ञासु पाठकों के सामने विशद विवेचन प्रस्तुत करते रहे हैं। दोनों दर्शनों का सम्मिश्रण तो बहुत ही पीछे हुआ है। परन्तु प्राचीनता की दृष्टि से 'कणादसूत्र' का स्थान और काल 'गौतम-सूत्र' की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन है। यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि 'न्याय-सूत्र' के पहले ही 'कणादसूत्रों' की रचना हो गई थी। बौद्ध दार्शनिक-ग्रन्थों में भी जिस ब्राह्मणदर्शन का विशेष उल्लेख तथा खण्डन मिलता है वह यही वैशेषिक दर्शन है। सांख्य दर्शन का भी कुछ खण्डन है परन्तु वैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों के खण्डन से तो पीछे के बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थ बहुत भरे पड़े हैं। यहाँ तक कि अनेक बौद्ध टीकाकारों ने 'न्यायदर्शन' के सूत्रों को भी वैशेषिक दर्शन के सूत्र मानकर ही उल्लेख किया है। इससे प्राचीन काल में वैशेषिकों का महत्त्व स्पष्ट ही प्रतीत होता है। इसी वैशेषिक दर्शन की विशद व्याख्या भी गुप्त-काल में हुई।

प्रशस्तपाद के ग्रन्थ का नाम 'पदार्थ-संग्रह' है। परन्तु यह ग्रन्थ सर्वसाधारण में 'प्रशस्तपादभाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि इसका नाम भाष्य है परन्तु भाष्य के

लक्षणों[1] से सर्वथा रहित होने के कारण यह इस नाम से पुकारे जाने योग्य नहीं है। ग्रन्थकार ने भी कहीं इसको भाष्य नहीं बतलाया है[2]। वैशेषिक सूत्रों पर वास्तविक भाष्य तो 'रावण भाष्य' है जिसके उल्लेख ही केवल पीछे के ग्रन्थों में यत्र-तत्र मिलते हैं परन्तु मूल ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। 'पदार्थ-धर्म-संग्रह' के पहले श्लोक की व्याख्या करते हुए उदयनाचार्य ने भी इसे भाष्य का नाम नहीं दिया है। उनके शब्दों[3] से तो यही प्रतीत होता है कि भाष्य के विस्तृत होने के कारण ही प्रशस्तपाद ने इस ग्रन्थ में वैशेषिक सिद्धान्तों का संक्षेप में प्रतिपादन किया है। अतः उनके मत से भी यह भाष्य नहीं है। कुछ भी हो, यह भाष्य से कम आदरणीय नहीं है। भिन्न-भिन्न समय में इसके ऊपर जो टीकाएँ की गई हैं उनमें वैशेषिक सिद्धान्तों का ख़ूब विवेचन किया गया है। इसकी सबसे प्रधान तथा प्रसिद्ध टीकाएँ श्रीधराचार्यकी 'न्याय-कन्दली' तथा उदयनाचार्य की 'किरणावली' हैं।

प्रशस्तपाद

प्रशस्तपाद के समय-निर्धारण के विषय में ख़ूब वाद-विवाद हुआ है तथा इस समय भी चल रहा है। विवाद का प्रधान विषय यह है कि ये दिङ्नाग के पीछे हुए या पहले ? दोनों के ग्रन्थों में बहुल सादृश्य उपलब्ध होता है। डा० कीथ का मत है कि प्रशस्तपाद ने दिङ्नाग के ग्रन्थों से सहायता ली है। परन्तु रूसी विद्वान् डा० शेरबास्की के अनुसन्धानों से कीथ का मत ग़लत सिद्ध हो गया है। डा० शेरबास्की ने दिखलाया है कि दिङ्नाग के गुरु आचार्य वसुबन्धु के ग्रन्थों में भी 'प्रशस्तपादभाष्य' की छाया पड़ी हुई है। अतः प्रशस्तपाद या तो वसुबन्धु से भी प्राचीन हैं या उनके समसामयिक हैं। यही सिद्धान्त आजकल सब विद्वानों को मान्य है[4]।

पूर्वमीमांसा दर्शन

पूर्वमीमांसा दर्शन का मूल सूत्र जैमिनि के नाम से प्रसिद्ध है। मीमांसा दर्शन के सूत्रों की संख्या दर्शनों के सूत्रों से अधिक है। यह सूत्रग्रन्थ १२ अध्यायों में विभक्त है तथा प्रत्येक अध्याय में पाद हैं। तीसरे, छठे तथा दसवें अध्याय में आठ-आठ पाद हैं और शेष अध्यायों में केवल चार ही चार पाद हैं। इस प्रकार समस्त पादों की संख्या ६० है। प्रत्येक पाद में भिन्न-भिन्न अधिकरण हैं। सब अधिकरणों की संख्या मिलकर ९०७ है। कई सूत्रों से मिलकर एक अधिकरण बनता है। कुल सूत्रों की संख्या २७४५ है।

---

१. सूत्रार्थो वर्ण्यते येन पदैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

२. प्रणम्य हेतुमीश्वरं मुनिं कणादमादरात्।
पदार्थधर्मसंग्रहः प्रवक्ष्यते महोदयः॥—ग्रन्थ का मङ्गलाचरण।

३. स प्रकृष्टो वक्ष्यते। प्रकरणशुद्धेः संग्रहपदेनैव दर्शितत्वात्। वैशद्यं लघुत्वं कृत्स्नत्वेन प्रकर्षः। सूत्रेषु वैशद्याभावात् भाष्यस्य च विस्तरत्वात्।—किरणावली।

४. प्रशस्तपाद के काल निर्णय के विस्तृत वादविवाद के लिए देखिए— ए० बी० ध्रुव, न्याय-प्रवेश (गा० ओ० सी०) भूमिका पृ० १९—२१।

इस दर्शन का सिद्धान्त यही है कि वेद में कर्म-काण्ड की ही प्रधानता है। वेद-विहित कर्मों का अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। स्वर्ग-प्राप्ति ही मीमांसकों का मोक्ष है। देवता मन्त्रमय है। कर्म करने से 'अपूर्व' की सिद्धि होगी और अपूर्व के द्वारा फल की प्राप्ति होती है। अतएव अनुपयुक्त होने के कारण मीमांसक लोग ईश्वर को नहीं मानते।

इस मीमांसा दर्शन के ऊपर गुप्त-काल के आस-पास भाष्य की रचना की गई। इस मीमांसा भाष्य के रचयिता शबरस्वामी हैं। ये मीमांसा दर्शन के प्रामाणिक व्याख्याता माने जाते हैं। इसी भाष्य के ऊपर कुमारिल ने श्लोकवार्तिक, तन्त्र-वार्तिक तथा टुप्टीका लिखकर एक नवीन भाट्ट सम्प्रदाय की स्थापना की। प्रभाकर ने भी शाबरभाष्य के ऊपर बृहती नामक टीका लिखकर एक नवीन 'गुरु' मत को चलाया। मुरारि मिश्र ने, जिनके विषय में 'मुरारेस्तृतीयः पन्था' वाली लोकोक्ति सर्वत्र प्रसिद्ध है, भाष्य के ही ऊपर अपनी टीका लिखकर कुमारिल तथा प्रभाकर मत से पृथक् मीमांसा दर्शन में एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इस प्रकार मीमांसा दर्शन के इन तीन सम्प्रदायों की उत्पत्ति का कारण यही मीमांसा (शबर) भाष्य है। इस कारण मीमांसा दर्शन के साहित्य में इस भाष्य के महत्त्व का सहज ही अन्दाज़ लगाया जा सकता है।

शबरस्वामी

शबरस्वामी के समय के विषय में कुछ मत-भेद सा दिखाई पड़ता है। किंवदन्ती है कि विक्रम-संवत् के संस्थापक राजा विक्रमादित्य के यह पिता थे। सुनते हैं कि शबर-स्वामी के चार स्त्रियाँ थीं जो चारों वर्णों की थीं। उनमें विक्रमादित्य क्षत्रिय जाति की स्त्री से उत्पन्न हुए थे। परन्तु इस किंवदन्ती में ऐतिहासिक सत्य बहुत कम दीख पड़ता है। शायद शबर-भाष्य इतना प्राचीन नहीं है। इस भाष्य में शून्यवाद तथा विज्ञान-वाद के सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है[1]। महायान सम्प्रदाय का तो स्पष्ट ही नामोल्लेख किया गया है[2]। अतः इस उल्लेख से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि इनका आविर्भाव गुप्तों के ही समय में हुआ होगा; क्योंकि महायान सम्प्रदाय का हीनयान से अलग होकर एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में आना इसी युग के आरम्भ में हुआ था। अतः गुप्त-काल में शबरस्वामी का होना अनुमान-सिद्ध है।

अब तक भारतीय दर्शनों के इतिहास का जो वर्णन दिया गया है उससे पाठकों को गुप्त-काल में ब्राह्मण दर्शन के विकास का भली भाँति पता लग गया होगा। जैसा कि पहले कहा गया है, गुप्त-काल भारतीय दर्शन के इतिहास में भाष्यकारों का काल है। इस काल में दर्शनों के सूत्रों के ऊपर प्रामाणिक भाष्यों की रचना हुई। जिस दर्शन के ऊपर (सांख्य) सूत्र ग्रन्थ नहीं था उसके ऊपर भी इस काल में प्रामाणिक ग्रन्थ बने। सांख्य दर्शन में सांख्य-कारिका तथा माठरवृत्ति, न्याय में वात्स्यायन का न्याय-भाष्य और उद्योतकर का वार्तिक, वैशेषिक दर्शन में प्रशस्तपाद का भाष्य और मीमांसा दर्शन पर

---

१. मीमांसासूत्र १।१।५ के भाष्य में।

२. अनेन प्रत्युक्तो महायानिकः पन्थाः।—१।१।५ का भाष्य।

शावरभाष्य—भारतीय दर्शन साहित्य के ये ऐसे अमूल्य रत्न हैं जिनकी रचना के कारण गुप्तों का यह काल भारतीय दर्शन-साहित्य के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

विज्ञान

गुप्त-काल के सार्वजनीन संस्कृत-साहित्य की विपुल अभिवृद्धि तथा व्यापक प्रचार ने अन्य विभागों के समान विज्ञान को भी अछूता नहीं छोड़ा। जिस प्रकार अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्रों की विशेष उन्नति हुई, उसी प्रकार शुद्ध विज्ञान के विषय में भी अनेक नवीन आविष्कार हुए तथा इसकी भी समधिक उन्नति हुई। अनुकूल वातावरण में जिस प्रकार सरस काव्य-नाटक-साहित्य पनपा, उसी भाँति विज्ञान जैसे ठोस विषय का पठन-पाठन भी इस युग में खूब बढ़ा। अनेक विज्ञानों ने पहले-पहल इस युग में अपना स्वतन्त्र रूप प्राप्त किया तथा एक परिमार्जित रूप में शिक्षित जनता के सामने अपने स्वरूप को प्रकट किया। यहाँ केवल शिल्पशास्त्र, वैद्यक तथा ज्योतिष जैसे लोकोपयोगी विज्ञान के विकास का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जायगा। इनमें ज्योतिषशास्त्र की तो इस युग में सर्वाङ्गीण उन्नति हुई। इसी कारण यह गुप्त-युग विज्ञान के इतिहास में भी अपना एक विशेष स्थान रखता है।

शिल्पशास्त्र

गुप्त-युग में शिल्पशास्त्र पर एक अतीव महत्त्वपूर्ण पुस्तक की रचना हुई। इस ग्रन्थ का नाम 'मानसार' है। यह पुस्तक व्यापक विषयों के वर्णन की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखती है। इस ग्रन्थ के रचयिता के नाम का पता नहीं चलता। इसके सम्पादक डाक्टर पी० के० आचार्य का कहना है कि इसकी रचना उज्जयिनी के किसी मानसार नामक नरेश ने की, परन्तु यह बात ठीक नहीं जँचती। दण्डी ने अपने दशकुमार-चरित के आरम्भ में ही पाटलिपुत्र के ऊपर आक्रमण करनेवाले मालवा के किसी मानी मानसार नामक राजा का वर्णन किया है अवश्य, परन्तु इससे हमारा काम कुछ भी नहीं सधता। दशकुमार के राजा मानसार का इस मानसार के साथ कुछ भी सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। 'मानसार' शब्द का तो सीधा-सादा अर्थ यही है कि मान—मापने के प्रकारों—का यह सार—सारांश—है। तन्नामधारी राजा की रचना की कल्पना करना न केवल नितान्त दुरूह तथा क्लिष्ट है, प्रत्युत अनैतिहासिक भी है। क्योंकि गुप्त-काल में (जिस समय इस ग्रन्थ की रचना प्रबल प्रमाणों के आधार पर बतलाई जाती है) मानसार-नामधारी किसी भूमिपति का पता अभी तक नहीं चला है।

'मानसार' शिल्पशास्त्र का अतीव उपयोगी ग्रन्थ है। तक्षण और वास्तु कला के विषयों का वर्णन जितना इसमें पाया जाता है, उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

ज्योतिष

भारतीय ज्योतिष का इतिहास बहुत प्राचीन है। वेदांग में ज्योतिष का नाम आता है। उसमें नक्षत्र-विद्या का वर्णन मिलता है। प्राचीन ज्योतिष का उदय कब हुआ, यह कहना कठिन है। ईसवी सन् के आस-पास पाँच सिद्धान्तों—रोमक, पौलिश

आदि—का नाम मिलता है, परन्तु इनको किसने बनाया, यह ज्ञात नहीं है। इन ग्रन्थकारों के विषय में अभी तक कुछ पता नहीं चलता। आर्यज्योतिष को छोड़कर पौरुष ज्योतिष का प्रारम्भ गुप्त-काल में हुआ। सर्वप्रथम ज्योतिष पर लिखनेवाले ऐतिहासिक व्यक्ति का नाम इसी काल में मिलता है।

पौरुष ज्योतिष के ग्रन्थकारों में आर्यभट का सर्वप्रथम स्थान है। इनकी वंश-परम्परा के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। उन्होंने अपनी पुस्तक के एक छंद में लिखा है—

आर्यभट

'आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्।' इससे प्रकट होता है कि ये कुसुमपुर (पटना) के निवासी थे। इनका जन्म शक ३९८ यानी सन ४७६ ई० में हुआ था। इस आर्यभट से तथा आर्य-सिद्धान्त के रचयिता आर्यभट से समता नहीं की जा सकती। दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। दूसरा आर्यभट नवीं शताब्दी में पैदा हुआ था।

चौबीस वर्ष की अवस्था में आर्यभट ने 'आर्यभट्टीय' नामक पुस्तक की रचना की। इस पुस्तक में दो खण्ड हैं—(१) दशगणिका सूत्र तथा (२) आर्याष्ट शत। कुछ विद्वान् इन खण्डों को पृथक्-पृथक् समझते हैं तथा उनके कथनानुसार ये दोनों पृथक् पुस्तकें हैं। पं० बालकृष्ण दीक्षित का मत है कि ये दोनों आर्यभट्टीय के दो खण्ड हैं। इन्हें पृथक्-पृथक् पुस्तक नहीं माना जा सकता[1]। एक दूसरे का पूरक है। बिना दोनों का अध्ययन किये विषय पूर्ण नहीं होता। दशगणिका सूत्र में 'अङ्कस्थान' का वर्णन है। आर्याष्ट शत में गणित, काल-क्रिया तथा गोल का विवेचन पाया जाता है।

यद्यपि प्राचीन सूर्य-सिद्धान्तों से इसकी समानता नहीं है तथापि इसकी बातें उनसे घटकर भी नहीं मालूम पड़ती। आर्यभट ने सर्वप्रथम गणित तथा नक्षत्रविद्या में सम्बन्ध दिखलाया है। पृथ्वी गोल है तथा अपनी धुरी पर चलती है आदि बातों को प्रकाश में लाने का श्रेय आर्यभट को है। इन्होंने बतलाया कि ग्रहण में राहु का कोई स्थान नहीं है, यह चन्द्रमा तथा पृथ्वी की छाया का फल है।

गणित में अङ्क-स्थान, वृत्त और (π) पाई के मूल्य पर प्रकाश डाला। पाई के वास्तविक मूल्य अर्थात् ३.१४ का पता लगाया। बीजगणित में समीकरण का पर्याप्त विवेचन मिलता है। अङ्क लिखने की नई-नई शैली—अक्षरों द्वारा—को कार्यान्वित किया। व्यंजन क से म तक १ से २५ के तथा य से ह तक ३० से १०० के बोधक समझे जाते थे। स्वरों से १०० या उसकी दसगुनी संख्या का बोध होता था। जैसे कि = १०० और के = दस अरब इत्यादि। संक्षेप में यही कहना उचित है कि आर्यभट ने गणित तथा नक्षत्र-विद्या (Astronomy) में अधिक कार्य किया। उनकी विशेष विवेचना अप्रासङ्गिक होगी।

आर्यभट के कई विद्वान शिष्य थे, जिनका नाम 'लल्ल-सिद्धान्त' में मिलता है। निःशङ्कनन्दी, प्रद्युम्न, श्रीसेन आदि का नाम उल्लिखित है। लल्ल आर्यभट का प्रधान शिष्य था जिसने 'लल्ल-सिद्धान्त' लिखा था। इसका भी वर्णन दिया जाता है।

---

१. भारतीय ज्योतिःशास्त्र (मराठी) पृ० १९० ।

लल्ल

आर्यभटीय के टीकाकार परमेश्वर के कथनानुसार लल्ल आर्यभट का प्रधान शिष्य था। इसके पिता का नाम त्रिविक्रम भट था। इसकी जन्म-तिथि के विषय में मतभेद है। पं० सुधाकर द्विवेदी के कथनानुसार यह शक ४२१ (४९९ ई०) में पैदा हुआ था[1]। परन्तु दूसरे विद्वान् इसकी जन्म-तिथि शक ५६० मानते हैं[2]।

लल्ल ने अपने गुरु आर्यभट के ग्रन्थ पर टीका लिखी जिसका नाम 'शिष्यधी-वृद्धि' है। यह ग्रन्थ नक्षत्र ज्योतिष पर लिखा गया है। जैसा कि इस टीका के नाम से ही विदित होता है, यह विद्यार्थियों को अत्यन्त लाभकर सिद्ध होता है। भास्कराचार्य ने भी इसी ग्रन्थ का अनुशीलन कर सिद्धान्त-शिरोमणि नामक अपना बृहत् ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में भास्कराचार्य ने लल्ल के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। 'रत्नकोश' लल्ल-रचित मौलिक ग्रन्थ है। पं० सुधाकर द्विवेदी के मतानुसार लल्ल ने फलित ज्योतिष पर भी एक ग्रन्थ लिखा था जिसका उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है[3]।

वराहमिहिर

वराह या वराहमिहिर गुप्त-काल का सबसे प्रधान ज्योतिषी था। विद्वानों ने इसकी जन्मतिथि शक ४२७ (५०५ ई०) मानी है। वराह-रचित बृहज्जातक नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि यह आदित्यदास का पुत्र था। इसका जन्मस्थान काम्पिल्ल (कालपी) नगर था। पिता से ज्ञानलाभ कर यह तत्कालीन उज्जयिनी के राजा के यहाँ चला गया[4]। पं० सुधाकर द्विवेदी के मतानुसार वराहमिहिर मगधनिवासी शाकद्वीपीय ब्राह्मण था। जीविका के लिए इसने मगध से उज्जयिनी के लिए प्रस्थान किया था[5]।

ज्योतिर्विदाभरण में उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के दरबार के नवरत्नों में वराहमिहिर का नाम उल्लिखित है—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकु-वेतालभट्ट-घटखर्पर-कालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

परन्तु ये वराहमिहिर ईसवी पूर्व पहली शताब्दी के हैं। इन दोनों में कोई समता नहीं की जा सकती।

वराहमिहिर जैसा कोई विद्वान् नहीं हुआ जिसने तीनों शाखाओं— तन्त्र (गणित), जातक तथा संहिता—पर ग्रन्थ-रचना की हो। भास्कराचार्य तथा ब्रह्मगुप्त ने वराहमिहिर की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनके मतानुसार ऐसा विद्वान् ज्योतिषी नहीं हुआ था। उन

---

१. गणकतरङ्गिणी (संस्कृत) पृ० ८।

२. दीक्षित—भारतीय ज्योतिःशास्त्र (मराठी) पृ० २२७।

३. वही पृ० ११।

४. आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः काम्पिल्लके सवितृलब्धवरप्रसादः ।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार ॥

५. गणकतरङ्गिणी (सं०) पृ० १२।

लोगों ने सारे विद्वानों के मतों का कुछ न कुछ खण्डन किया है, परन्तु वराहमिहिर के प्रति उनकी लेखनी असमर्थ थी।

वराहमिहिर ने तीनों शाखाओं पर ग्रन्थ लिखे। उनके ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—(१) लघु जातक, (२) बृहत् जातक, (३) विवाहपटल, (४) योगमाया, (५) बृहत्संहिता और (६) पञ्चसिद्धान्तिका। बृहत्संहिता एक बहुत बड़ा ग्रन्थ है। यह ज्ञानराशि है। यह ग्रन्थ सुन्दर भाषा में छन्दोबद्ध लिखा गया है, और काव्यमय है। इसमें अनेक विषयों का समावेश है। इसमें सूर्य और चन्द्रमा की गति, तारों का सम्बन्ध तथा ग्रहण आदि का वर्णन मिलता है। १४वें अध्याय में भारतीय भूगोल का दिग्दर्शन है। ऋतु-परिवर्तन, अन्न पर उसका प्रभाव आदि बातें भी बतलाई गई हैं। वास्तु तथा तक्षण कला सम्बन्धी बातें भी वर्णित हैं। जैसा ऊपर बतलाया गया है, वराहमिहिर से पूर्व पाँच सिद्धान्त—रोमक, वशिष्ठ आदि—प्रचलित थे; परन्तु उनके रचयिताओं का पता अद्यावधि नहीं चला। वराह के समय में भी केवल उनके सिद्धान्त भर ज्ञात थे। इन्हीं सिद्धान्तों को लेकर वराहमिहिर ने पञ्चसिद्धान्तिका नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमें उनकी सभी बातें संक्षेप में दी गई हैं। इस प्रकार वराह ने तीनों शाखाओं—तन्त्र या गणित नक्षत्र ज्योतिष (Astronomy), जातक-(कुण्डली) तथा संहिता (फलित ज्योतिष)—पर कार्य किया जिसके कारण उनकी गणना उच्च कोटि के पौरुष ज्योतिषियों में है।

वराहमिहिर के ग्रन्थों में यवन-सिद्धान्त का भी उल्लेख मिलता है। इसी कारण कुछ लोगों की धारणा है कि वे ग्रीस देश में गये थे। किन्तु यह विचार निराधार है। सम्भव है, गुप्त-काल में यवन लोगों से उनका सम्पर्क रहा हो क्योंकि उस समय भारत में विदेशी अधिक संख्या में आते रहे। यही कारण है कि उनकी पुस्तकों में यवन-सिद्धान्त यत्र-तत्र मिलते हैं।

कल्याणवर्मा

सम्भवतः कल्याणवर्मा का जन्म पिछले गुप्त नरेशों के समय में हुआ था। यह सन् ५७८ ई० में पैदा हुआ था। यह एक छोटा राजा था जिसका निवासस्थान देवग्राम बतलाया जाता है। सम्भव है, यह गुप्तों के अधीन था। इसने फलित ज्योतिष पर सारावली नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

आयुर्वेद, राजनीति, कामशास्त्र आदि

भारतवर्ष में आयुर्वेद-शास्त्र बहुत पुराना है। वेदों में भी प्रसंगवश इसका प्रचुर मात्रा में उल्लेख है—सामान्य रूप से नहीं बल्कि विशेष रूप से। अथर्व में तो आयुर्वेद की बहुत-सी आवश्यक बातें मिलती हैं। इसके अनन्तर ब्राह्मण-काल में भी तथा और पीछे भी इस विद्या की बड़ी उन्नति होती रही। जिन ऋषियों ने मनुष्यों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए मोक्ष-विषयक शास्त्रों का प्रणयन किया, उन्हीं ने मनुष्य की शारीरिक उन्नति के लिए—शरीर को नीरोग रखने के लिए—अनेक औषधियों का पता लगाया और तद्विषयक ग्रन्थों की रचना की। परन्तु हमारे दुर्भाग्य से वे सब ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं। यदि वे कहीं उपलब्ध होते तो वैदिक-काल से लेकर आधुनिक-

काल तक वैद्यक विद्या के समग्र इतिहास का पता लगता। अस्तु, जो कुछ भी आज उपलब्ध है वह वैद्यक की महत्ता को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है। आत्रेय पुनर्वसु के द्वारा उपदिष्ट, उनके शिष्य अग्निवेश के द्वारा रचित तथा चरक व दृढ़बल के द्वारा प्रतिसंस्कृत जो ग्रन्थ आजकल चरक-संहिता के नाम से प्रसिद्ध है उसी का यदि सांगोपांग अध्ययन किया जाय तो भली भाँति पता चल सकता है कि वैद्यक विद्या में प्राचीन आर्यों की कितनी गहरी जानकारी थी। जिस समय दूसरे देशों के लोग वैद्यक के साधारण नियमों से भी परिचित नहीं थे, उस समय हमारे पूर्वजों ने इस विद्या में नवीन-नवीन आविष्कार करके इसे पूर्ण बना डाला था। हमारे ही ग्रन्थों का अनुवाद फ़ारसी में हुआ। उसके बाद अरब से होते हुए ये पश्चिमी देशों में भी फैल गये। यह बात हिन्दू आयुर्वेद के इतिहास से परिचित विद्वानों को अज्ञात नहीं है।

गुप्त-काल में अन्य विज्ञानों के समान इस उपयोगी विज्ञान की भी विशेष उन्नति हुई। इस समय इस शास्त्र में अलौकिक अनुसन्धान किये गये जिससे इसकी और भी उन्नति हुई। इस अनुसन्धान करने का सारा श्रेय बौद्ध दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान, तन्त्र शास्त्र के मर्मज्ञ नागार्जुन को प्राप्त है। अब तक जो चिकित्सा चलती थी, वह काष्ठ औषधियों के आधार पर थी। पर इस युग में नागार्जुन ने "रस-चिकित्सा" का आविष्कार किया। सोना, चाँदी, लोहा, ताँबा आदि खनिज धातुओं में भी मनुष्यों के रोगों को निवारण करने की शक्ति विद्यमान है, इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का पता लगाकर आचार्य नागार्जुन ने इस शास्त्र में क्रान्ति सी कर दी। सबसे विचित्र आविष्कार "पारद" का है। इस विलक्षण धातु के भीतरी गुणों का पता लगाकर तथा उसे भस्म करने की क्रिया का आविष्कार कर नागार्जुन ने आयुर्वेद तथा रसायन शास्त्र (Medicime & chemistry) के इतिहास में एक नवीन युग का आरम्भ कर दिया। नागार्जुन की अलौकिक शक्तियों की बात प्राचीन ग्रन्थों में खूब मिलती है। यह युगान्तरकारी आविष्कार गुप्त-काल में ही हुआ जिससे इस शास्त्र के इतिहास में भी गुप्त युग कम महत्त्व का नहीं है।

कामन्दकीय नीतिसार

गुप्त-काल में अर्थशास्त्र ने भी प्रचुर उन्नति की थी। इस शास्त्र की उत्पत्ति तो बहुत पहले ही हो चुकी थी। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र लिखकर इस शास्त्र के मूल सिद्धान्तों का स्थिरीकरण बहुत पहले ही कर दिया था। पीछे के ग्रन्थकारों ने चाणक्य के ही सिद्धान्तों का संक्षिप्त रूप से अपने ग्रन्थों में यथावसर वर्णन किया। ऐसे ग्रन्थों में कामन्दक के नीतिसार का बड़ा ऊँचा स्थान है। यह गुप्त-कालीन विज्ञान-साहित्य की एक प्रधान कृति है। कुछ लोग चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के प्रसिद्ध अमात्य शिखरस्वामी को ही इस लोकप्रिय ग्रन्थ का कर्ता मानते हैं[1]। अतएव इसे गुप्त-कालीन ग्रन्थ मानने में कोई आपत्ति नहीं। डा० याकोबी ने भी इस ग्रन्थ को चौथी शताब्दी का माना है। इस ग्रन्थ के लेखक कामन्दक ने चाणक्य को अपना गुरु माना है। है भी यह अर्थशास्त्र का एक संक्षिप्त संस्करण।

---

१. जे० बी० ओ० आर० एस० भाग १८ (१९३२)।

परन्तु फिर भी राजनीति के अनेक अङ्गों के वर्णन में इसमें स्पष्ट ही मौलिकता दृष्टिगोचर होती है। इस ग्रन्थ में बहुत ही सीधे-सादे सरल श्लोक हैं। सर्गबन्ध न होने पर भी इसके टीकाकार ने इसे महाकाव्य ही माना है। इस ग्रन्थ का विषय शुद्ध राजनीति है। राज्य के सातों अङ्ग, राजा का कर्तव्य, दायभाग का अधिकारी आदि समस्त राजकीय विषयों का वर्णन पूर्ण रीति से मिलता है। गुप्त-कालीन राजनीति की व्यवस्था पर ग्रन्थ का विशेष प्रभाव था। इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि भारतवर्ष तक ही सीमित नहीं रही बल्कि सुदूर-वर्ती बाली द्वीप में भी उपनिवेश बसानेवाले हिन्दुओं ने इसे अपना एक प्रधान राजनीति-ग्रन्थ माना तथा अपने साथ भारत से वहाँ भी ले गये। आज भी बाली की 'कवि' भाषा में नीतिसार का अनुवाद वर्तमान है। इस घटना से इसके प्रकृष्ट महत्व का पता चलता है।

कामशास्त्र

प्राचीन आर्यों ने काम को पुरुषार्थों में तीसरा स्थान दिया है। उनकी दृष्टि में मनुष्य-जीवन की सफलता के लिए इसका कुछ कम महत्त्व न था। जिस प्रकार अर्थ और धर्म विज्ञान का अध्ययन हिन्दू लोगों ने बड़े मनोयोग के साथ किया उसी प्रकार काम-विज्ञान का भी उन्होंने बड़े परिश्रम के साथ परिशीलन किया था। इस विज्ञान का सबसे प्रथम उपलब्ध ग्रन्थ काम-सूत्र है जिसे महर्षि वात्स्यायन ने, मनुष्यों के कल्याण के लिए, बनाया था। इस ग्रन्थ की रचना गुप्तों के इसी उन्नतकाल में हुई थी। इस पुस्तक में आभीरों के समान ही आन्ध्र लोग सामान्य शासक के रूप में वर्णित किये गये हैं। यह घटना २२५ ई॰ के बाद ही की होगी जब आन्ध्रों का साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था। अतएव इस ग्रन्थ को चौथी या पाँचवीं शताब्दी का मानने में कोई आपत्ति नहीं देख पड़ती।

यह ग्रन्थ अर्थशास्त्र की ही शैली में, सूत्र-रूप में, लिखा गया है। अध्यायों के अन्त में विषय के निचोड़ को दिखलानेवाले श्लोक यत्र-तत्र दिये गये हैं। इस ग्रन्थ में सात भाग हैं जिनमें तत्कालीन हिन्दू-समाज के "फैशनेबुल" नागरिकों के उत्सव-प्रिय जीवन का एक बहुत ही जीता-जागता चटकीला चित्र प्रस्तुत किया गया है। इसमें केवल अनुराग का विधान अथवा अनुराग-सिद्धि ही का वर्णन नहीं है बल्कि गृह-निर्माण, उपवन-निवेश, रन्धन-शाला आदि मनुष्य-जीवन के लिए नितान्त आवश्यक विषयों का भी पूरा-पूरा वर्णन किया गया है। साथ ही साथ हिन्दू-गृहस्थों के लिए आरोग्यशास्त्र की दृष्टि से अनेक उपयोगी आचरणों तथा व्यवहारों का भी विवरण दिया गया है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में कामशास्त्र की उत्पत्ति तथा विकास का वर्णन है। इसमें भिन्न-भिन्न ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का निर्देश भी भली भाँति किया गया है जिसके पढ़ने से स्पष्ट ही ज्ञात हो जाता है कि बहुत प्राचीन काल से ही मानव-समाज के लिए नितान्त आवश्यक विषय की ओर हमारे प्राचीन ऋषियों का ध्यान आकृष्ट हुआ था और उन्होंने मनुष्यों की मंगल-कामना के भाव से प्रेरित होकर अनेक उपादेय ग्रन्थों की रचना इस विषय में की थी। गुप्तकालीन समाज की स्थिति से ठीक-ठीक परिचित होने के लिए यह ग्रन्थ अपना विशेष महत्त्व रखता है[1]।

---

१. कामसूत्र के विषय में विशेष जिज्ञासुओं को देखना चाहिए; मजूमदार—सोशल लाइफ इन एंशेंट इंडिया (कलकत्ता)।

धार्मिक साहित्य

गुप्त-काल में अन्य मतों की अपेक्षा ब्राह्मण धर्म की प्रधानता थी। यदि तत्कालीन संस्कृत-साहित्य का अध्ययन किया जाय, तो यह सिद्धान्त स्वयं सिद्ध होता है।

पुराणों का संस्करण

संस्कृत साहित्य की उन्नति में धार्मिक साहित्य का उत्थान भी एक प्रधान अंग था। भारतीय साहित्य में पुराणों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये भारतीय आचार-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र के विश्वकोष हैं। इनमें वैदिक तत्त्वों का संकलन किया गया है। जब वेदों की भाषा लौकिक भाषा से इतनी दूर जा पड़ी कि उसका बोधगम्य होना कठिन हो गया, तब इन ग्रन्थरत्नों की रचना की गई। पुराणों का रचना काल बहुत प्राचीन है। उसका इदमित्थं रूप से निर्णय करना असम्भव नहीं तो कठिन ज़रूर है। पुराण का नाम छांदोग्य उपनिषद् (७, १) में आया है। सनत्कुमार के पास नारदजी ने अपने अधीत विषयों में वेद-चतुष्टय के बाद 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं' का उल्लेख किया है। पर, ये पुराण कौन से हैं? इसका निर्णय करना कठिन है। भाषा की विषमता के कारण यह निश्चित है कि आजकल उपलब्ध पुराणों का उल्लेख इस उपनिषद् में नहीं है। सम्भवतः यहाँ आख्यान-प्रधान वेदांश का ही उल्लेख पुराण के नाम से किया गया है। उपलब्ध पुराणों की रचना सूत्रकाल के भीतर कभी की गई। पर उसमें समय-समय पर परिवर्तन होते रहते थे।

अठारह पुराणों में से केवल सात ऐसे पुराण हैं जिनमें ऐतिहासिक बातों का उल्लेख मिलता है। इन पुराणों में पुरानी वंशावली मिलती है। वंशानुचरित के साथ साथ पुराणों के अन्य लक्षण भी हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव, पुराणं पञ्चलक्षणम्॥

ऐसे पुराणों का निर्माण पहले हो चुका था, परन्तु विद्वानों का अनुमान है कि पुराणों का अन्तिम संस्करण गुप्त-काल में हुआ[1]; इसमें कुछ अत्युक्ति नहीं मालूम पड़ती। पुराणों में कलियुग के राजाओं के वंशों का वर्णन है। गुप्त-नरेशों का उल्लेख वायु, भविष्यत्, विष्णु तथा भागवत पुराण में मिलता है। वायु पुराण (९९।३८३) में निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

अनुगङ्गं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः।

यह वर्णन उस समय का ज्ञात होता है जब गुप्त-साम्राज्य का आदिकाल था; अन्यथा उत्तरी भारत में व्याप्त होनेवाले इस साम्राज्य का इस प्रकार उल्लेख न मिलता। यदि पुराणों का संस्करण गुप्तों के अभ्युदय के अनन्तर किया गया होता, तो इसके व्यापक भूमिभाग का संकेत अवश्य होता। अतः यह संस्करण गुप्तों के आरम्भिक काल में किया गया; यह बात गुप्त-युग के लिए कम महत्त्व की नहीं है। किसी विद्वान् का

१. राखालदास बनर्जी—इम्पीरियल गुप्त पृ० ११२।

यह मत है कि स्कन्दपुराण का नामकरण गुप्त-सम्राट् स्कन्दगुप्त के प्रतिष्ठा-स्वरूप किया गया था[1]।

जैसा ऊपर कहा गया है, गुप्त-काल में वैष्णव धर्म की उन्नति के साथ-साथ धार्मिक साहित्य का भी उत्थान पाया जाता है। धर्मशास्त्र हमारे धर्म का प्रधान स्तम्भ है। श्रुति-स्मृति की आधार-भित्ति पर वैदिक धर्म टिका हुआ है। श्रुति-प्रतिपादित आचार का प्रतिपादन स्मृतियों का मुख्य उद्देश है। श्रुति के अर्थ का अनुसरण स्मृति पद पद पर करती है। कालिदास ने 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्' कहकर इसी तथ्य का वर्णन किया है। इस स्मृतिशास्त्र का इतिहास अनेक शताब्दियों तक फैला हुआ है। ई० पू० ५५० से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक, यानी प्रायः दो हज़ार वर्षों में, स्मृतिशास्त्र लगातार वृद्धि पाता गया। इस लम्बे काल को ग्रंथ-रचना की दृष्टि से तीन विभिन्न कालों (Periods) में विभक्त कर सकते हैं।

धर्मशास्त्र

(१) ई० पू० छठीं शताब्दी से पहली शताब्दी पूर्व—यह धर्मसूत्रों का रचना-काल है। इस काल में सूत्रबद्ध स्मृतियों की रचना हुई। यही मुख्य ग्रन्थ-समुदाय है जिसकी व्याख्या पीछे होती रही या जिसके प्रतिपादित सिद्धान्तों को लेकर पीछे की शताब्दियों में स्मृतियों की रचना हुई।

(२) ई० पू० १०० से लेकर ८०० तक स्मृति-काल—इस काल में श्लोक-बद्ध स्मृतियों की रचना हुई जिनमें अनेक आजकल भी उपलब्ध हैं। सूत्र समझने में सीधे न थे। उनके समझने के लिए टीका या भाष्य की बहुत आवश्यकता होती थी। इन्हीं के आधार पर अर्थ का विस्तार करके इस काल की स्मृतियों की रचना हुई।

(३) ई० पू० आठवीं सदी से अठारहवीं सदी तक—इसे निबन्ध-काल कहते हैं। यह धर्मशास्त्र के इतिहास में प्रकाण्ड विद्वत्ता का समय था। इस काल के पूर्वार्ध में भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न स्मृतियों पर भाष्य या टीका लिखी। मनुस्मृति के विद्वान् भाष्यकार मेधातिथि ने इस काल में अपना सारगर्भित भाष्य लिखा। उत्तरार्ध में निबन्ध लिखे गये। किसी एक विषय पर ऊहापोह-संवलित विवेचनात्मक ग्रंथ को निबन्ध कहते हैं। इस काल में इस प्रकार के बहुत से ग्रंथों की रचना होती रही।

धर्मशास्त्र के इस संक्षिप्त इतिहास का अवलोकन करने से यह भली भाँति पता चलता है कि गुप्तों के समय में स्मृति-काल था। इस समय में बहुत सी श्लोकबद्ध स्मृतियों का निर्माण हुआ। किन-किन का निर्माण हुआ, यह निश्चित रूप से बतलाना कठिन है। प्राचीन ग्रंथकारों के समय का निरूपण निश्चित सत्य प्रमाणों की अनुपलब्धि के कारण ज़रा कठिन काम है। इस विषय में बम्बई के प्रसिद्ध विद्वान् पी० वी० काणे ने श्लाघनीय प्रयत्न किया है। उन्होंने अभी 'धर्मशास्त्र का इतिहास' नामक प्रामाणिक ग्रंथ अँगरेज़ी भाषा में लिखकर प्रस्तुत किया है। इसका केवल एक ही भाग अभी निकला है। सिद्धान्त-प्रतिपादन वाला भाग अभी तक नहीं निकला।

---

१. पी० के० आचार्य—डिक्शनरी आफ़ हिन्दू आर्किटेक्चर पृ० ३१०।

गुप्त-काल में रचित स्मृति-ग्रंथों का विवेचन संक्षेप में नीचे उपस्थित किया जाता है—

१. 'याज्ञवल्क्यस्मृति'—इस ग्रन्थ को पश्चिमी विद्वान् गुप्त-काल का ही बतलाते हैं। जर्मन विद्वान् जाली (Dr Jolly) महोदय इसे ४०० ईसवी का बतलाते हैं परन्तु इस स्मृति में वर्णित धर्म तथा व्यवहार के आधार पर इसका समय गुप्त-काल से प्राचीन ही सिद्ध होता है। काणे ने इसका समय १००-३०० ई० के बीच का बतलाया है।

२. 'पराशरस्मृति'—आजकल उपलब्ध पराशरस्मृति किसी प्राचीन स्मृति का पुनः संस्करण प्रतीत होती है। गरुड़-पुराण में इस स्मृति को प्रामाणिक माना है तथा उससे कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया है जो पराशर स्मृति में ज्यों के त्यों उपलब्ध होते हैं। इस स्मृति के ऊपर माधवाचार्य ने एक बृहद् भाष्य लिखा है जो दोनों ग्रन्थकारों के नाम पर पराशर-माधव के नाम से विख्यात है। "कलौ पाराशरस्मृतिः"—इस कलि में पाराशरस्मृति ही सब स्मृतियों में प्रधान तथा प्रामाणिक बतलाई गई है। इस स्मृति में २६२ श्लोक हैं जो १२ अध्यायों में विभक्त हैं। पराशर ने इस ग्रन्थ में केवल आचार और प्रायश्चित्त का विचार किया है, व्यवहार का बिल्कुल नहीं। पर माधवाचार्य ने क्षत्रिय राजाओं के धर्म-वर्णन के अवसर पर समग्र व्यवहार का विषय अपने बृहत् भाष्य में रख दिया है और यह व्यवहार का अंश ग्रन्थ का लगभग चतुर्थ भाग है। पहले अध्याय में व्यासजी के प्रश्न करने पर पराशर जी ने चातुर्वर्ण्य के आचार के वर्णन का आरम्भ किया है। दूसरे में सब वर्णों के साधारण धर्मों का वर्णन है। तीसरे में जन्म तथा मरण के समय कर्त्तव्य शुद्धि का वर्णन है। चौथे में आत्महत्या का विषय है और कुण्ड, गोलक, परिवेत्ता तथा परिवित्ति के लक्षण हैं। पाँचवें में छोटे-मोटे कुकर्मों के प्रायश्चित्त का विषय है। छठे में पशु, पक्षी आदि की हत्या का प्रायश्चित्त कहा गया है। सातवें में द्रव्यसंशुद्धि, आठवें में अनिच्छा से किये गये पाप का प्रायश्चित्त, नवें में गोहत्या का प्रायश्चित्त, दसवें में अगम्या के गमन का प्रायश्चित्त, ग्यारहवें में अमेध्य भोजन करने और शूद्रान्न के भक्षण का प्रायश्चित्त तथा अन्तिम अध्याय में अनेक आवश्यक विषयों का वर्णन है। पराशरस्मृति का यही सार है।

पराशर ने मनु का नाम अपनी स्मृति में अनेक बार लिया है। ये मत मनुस्मृति में नहीं मिलते। परन्तु अनेक पद्यों में मनुस्मृति के श्लोकों की छाया दीख पड़ती है। पराशर के मत कई बातों में बड़े विलक्षण हैं। पति का अनुगमन करनेवाली सती की प्रशस्त प्रशंसा मिलती है (अध्याय ४ के अन्तिम २ श्लोक)। पराशर ने—औरस, क्षेत्रज, दत्त और कृत्रिम—चार प्रकार के पुत्रों का उल्लेख किया है (अ० ४)। अनेक उल्लेखनीय बातें इस स्मृति में मिलती हैं।

मिताक्षरा, अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका तथा हेमाद्रि आदि पीछे के स्मृतिकारों ने पराशर के मत का उल्लेख किया है। ये उल्लेख उपलब्ध पराशर स्मृति में मिलते हैं। बृहत् पराशरसंहिता नामक एक अन्य धर्म का ग्रन्थ है जो इस स्मृति के पीछे का है तथा अर्वाचीन प्रतीत होता है।

३. 'नारदस्मृति'—इस स्मृति की रचना गुप्त-काल के आदिम काल में हुई थी। इस स्मृति के दो संस्करण मिलते हैं—एक छोटा, दूसरा बड़ा। बड़े संस्करण को

१८८६ ई० में स्मृतिशास्त्र-विशारद डा० जाली ने कलकत्ते की बिब्लिओथिका इंडिका नामक ग्रन्थमाला में प्रकाशित किया है तथा उन्होंने दोनों संस्करणों के अनुवाद भी अँगरेज़ी भाषा में प्रकाशित किये हैं। नारदस्मृति का प्रधान विषय है- व्यवहार। इस ग्रन्थ में १७ अध्याय हैं जिनमें व्यवहार के यावतीय विषयों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। इस विषय में नारद प्रमाण माने जाते हैं। इस ग्रन्थ में १०२८ श्लोक हैं। नारद-स्मृति तथा मनुस्मृति में विशेष समानता दिखलाई पड़ती है। नारद ने मनु के मत को आदर के साथ ग्रहण किया है। मेधातिथि तथा विश्वरूप आदि भाष्यकारों ने नारद-स्मृति का पर्याप्त उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। इससे नारद की प्रामाणिकता का पता चलता है।

४. 'बृहस्पति स्मृति'—इस स्मृति की रचना गुप्त-काल में मानी जाती है। २००—४०० ई० के बीच में कभी इसकी रचना की गई थी[1]। यह स्मृति व्यवहार के ऊपर लिखी गई थी। पर दुर्भाग्यवश यह अंश अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। बृहस्पति ने मनु के मत को ग्रहण किया है। कहीं-कहीं पर इन्होंने मनु के सूत्रभूत सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या की है। इसलिए ये मनु के वृत्तिकार कहे गये हैं। बृहस्पति के ग्रन्थ में व्यवहार के अनेक ज्ञातव्य विषयों का सन्निवेश किया गया है। बृहस्पति ने पहले-पहल व्यवहार को धन-समुद्भव और हिंसा-समुद्भव बतलाकर सिविल और क्रिमिनल ला के पार्थक्य को स्पष्ट किया है। नारद और बृहस्पति के ग्रन्थों में बहुत सादृश्य दीख पड़ता है। मिताक्षरा तथा स्मृतिचन्द्रिका ने बृहस्पति के ग्रन्थ से श्लोकों के उद्धरण दिये हैं। इस प्रकार बृहस्पतिस्मृति व्यवहार के विषय में अपनी ख़ास विशेषता रखती है।

५. कात्यायनस्मृति—इस स्मृति में व्यवहार (क़ानून) का विषय है, पर दुर्भाग्य की बात है कि यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। पीछे के निबन्धकारों ने इस स्मृति से लगभग ९०० श्लोकों को उद्धृत किया है। केवल 'स्मृतिचन्द्रिका' में ६०० श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इसमें मनुस्मृति का नाम भृगु के नाम से निर्दिष्ट हुआ है। नारद और बृहस्पति दोनों स्मृतिकार इस ग्रन्थ में प्रमाण माने गये हैं। मेधातिथि ने नारद के साथ कात्यायन को धर्मशास्त्र के ऊपर प्रमाण माना है। अतः कात्यायन-स्मृति का काल नारद और बृहस्पति के अनन्तर आता है—४००-६०० के बीच में। इसलिए इस ग्रन्थ की रचना गुप्त-काल के अन्तिम भाग में हुई, यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है।

इन स्मृतिकारों के अतिरिक्त कुछ अन्य धर्मशास्त्रकारों का नाम ज्ञात है जो गुप्त-काल में विद्यमान थे। कतिपय विद्वानों की राय है कि यजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार कुण्डिन् पाँचवीं सदी में वर्त्तमान थे।

---

१. काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र पृ० २१०।

(२) बौद्ध-साहित्य

गुप्त-कालीन धार्मिक अवस्था की पर्यालोचना करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस काल में बौद्ध-धर्म की विशेष उन्नति हुई थी। अनुकूल परिस्थिति, राजाओं की धार्मिक सहन-शीलता आदि अनेक कारणों से इस काल में बौद्ध-धर्म की जो उन्नति हुई थी उसका परिचय पीछे दिया जा चुका है। इस धार्मिक उन्नति का प्रचुर प्रभाव तत्कालीन बौद्ध-साहित्य पर पड़े बिना न रह सका। गुप्त-काल ने बौद्ध-धर्म के आचार्यों को जन्म दिया था—उन आचार्यों को, जिन्होंने अपने उर्वर मस्तिष्क से तत्त्वज्ञान की ऐसी भव्य कल्पना उत्पन्न की जो आज भी तत्त्वज्ञानवेत्ताओं के लिए सम्मान तथा आश्चर्य का विषय है। इस काल में वैदिक धर्म के माननेवाले अनेक ब्राह्मण दार्शनिकों का जन्म हुआ जिन लोगों ने बौद्धों के वेद-विरुद्ध तर्कों का, बड़ी विद्वत्ता के साथ, खण्डन किया। ब्राह्मणों के इन आक्रमणों से अपने धर्म तथा दर्शन को बचाने के लिए बौद्ध पण्डितों ने भी अपनी सारी शक्तियाँ लगा दीं तथा जहाँ तक हो सका, इन लोगों ने ब्राह्मण दार्शनिकों की युक्तियों का खण्डन करने में अपनी ओर से कुछ भी नहीं उठा रक्खा। इस प्रकार गुप्त-काल ब्राह्मण तथा बौद्ध दार्शनिकों के विचार-विमर्श की स्पर्द्धा का युग है। इस कारण इस युग में वैदिक तथा बौद्ध दोनों दर्शनों की उन्नति हुई। इसी काल में विज्ञानवाद के संस्थापक मैत्रेयनाथ तथा उस सम्प्रदाय के प्रवर्धक आचार्य वसुबन्धु ने भारत-भूमि को अपनी अलौकिक प्रतिभा से उज्ज्वल किया था। माध्यमिक न्याय के जन्मदाता, 'वादि-वृषभ' आचार्य दिङ्नाग की पाण्डित्यपूर्ण वावदूकता के साक्षात् करने का श्रेय इसी गौरवपूर्ण गुप्त-युग को प्राप्त है। इसी काल में मगधदेशीय आचार्य बुद्धघोष ने सुदूर लङ्का-द्वीप की यात्रा कर, बड़े परिश्रम से, सिंहली भाषा में विरचित 'अट्ठकथा' का अध्ययन कर उसका पालीभाषा में अनुवाद किया था। चाहे जिस दृष्टिकोण से क्यों न देखा जाय, यह गुप्त-युग बौद्ध-साहित्य की समृद्धि का सुवर्ण-युग था। जिस प्रकार यह काल ब्राह्मण-साहित्य के लिए सुवर्ण-युग था उसी प्रकार, या उससे कहीं अधिक मात्रा में, यह समय बौद्ध-साहित्य के विकास, प्रसार तथा प्रचार का सुवर्ण-युग था।

बौद्ध-धर्म के इतिहास से परिचित पाठकों को यह बतलाना न होगा कि कालान्तर में बौद्ध-धर्म के दो प्रधान सम्प्रदाय हो गये थे। एक का नाम हीनयान था और दूसरे का महायान। हीनयान के भी दो प्रधान उपविभाग थे—थेरवाद (स्थविरवाद) तथा वैभाषिक (सर्वास्तिवाद)। इसी प्रकार महायान सम्प्रदाय में भी दो प्रधान स्कूल थे—माध्यमिक तथा योगाचार। गुप्त-काल में इन चारों सम्प्रदायों के साहित्य की उन्नति हुई। पहले के तीन सम्प्रदायों का जन्म तो गुप्त-काल के पहले ही हो चुका था परन्तु चौथे सम्प्रदाय अर्थात् योगाचार को जन्म देने का श्रेय इसी काल को प्राप्त है। अतएव अन्य तीनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का वर्णन करने के पहले योगाचार सम्प्रदाय के आचार्यों का वर्णन करना न्याय-संगत है। यहाँ पर सर्वप्रथम इसी सम्प्रदाय के साहित्य का वर्णन किया जायगा।

आचार्य मैत्रेय या मैत्रेयनाथ

अब तक विद्वानों की यही धारणा रही है कि योगाचार सम्प्रदाय के संस्थापक का नाम असंग या आर्य असंग था। परन्तु आजकल के अनुसन्धान ने इस धारणा को भ्रान्त प्रमाणित कर दिया है। बौद्धों की परम्परा से पता चलता है कि असंग को तुषित-स्वर्ग में भविष्य बुद्ध-मैत्रेय से अनेक ग्रन्थ प्राप्त हुए थे। यह परम्परा ऐतिहासिक दृष्टि से भी सत्य प्रतीत होती है। इसका आधार यह है कि मैत्रेय या मैत्रेयनाथ वास्तव में एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे जिन्होंने असंग को इस मत की शिक्षा दी थी और जो स्वयं योगाचार सम्प्रदाय के वास्तविक संस्थापक थे। इस सम्प्रदाय के अनुसार बोधि (ज्ञान) उसी व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है जो योग का अभ्यासी होगा। इस प्रकार यौगिक प्रक्रिया को विशेष महत्त्व देने के कारण इस सम्प्रदाय का नाम योगाचार पड़ा। इसका दार्शनिक सिद्धान्त विज्ञानवाद के नाम से प्रसिद्ध है। माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य नागार्जुन के द्वारा प्रवर्तित शून्यवाद सिद्धान्त के साथ इसकी कुछ अंश में समानता भी है तथा विषमता भी। शून्यवाद के अनुसार बाह्य जगत् की सत्ता किसी तरह नहीं मानी जा सकती। दृश्यमान जगत् नितान्त असत्य है—सत्ताहीन है। शून्यवादी माध्यमिकों का यही प्रामाणिक सिद्धान्त है। विज्ञानवाद इस सिद्धान्त को पुङ्खानुपुङ्ख रूप से नहीं मानता। उसके सिद्धान्त से केवल विज्ञान की सत्ता वास्तविक है। जगत् में यदि कोई वस्तु सत्य है तो वह विज्ञान ही है। इस विज्ञान की ही वास्तविक सत्ता मानने से दार्शनिक जगत् में यह सिद्धान्त विज्ञानवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इसी विज्ञानवादी योगाचार मत की स्थापना गुप्त-काल के आरम्भ में आचार्य मैत्रेय ने की, यह बात आधुनिक अन्वेषणों के आधार पर निस्सन्देह प्रमाणित की जा सकती है।

आर्य मैत्रेय ने अनेक ग्रन्थों की रचना संस्कृत में की। इनमें से अधिकांश ग्रन्थों का मूल संस्कृत रूप कराल काल के गाल में निविष्ट हो गया है। एक ही दो ग्रन्थ ऐसे हैं जिनका मूल संस्कृत रूप बड़े परिश्रम के बाद यूरोपीय विद्वानों ने खोज निकाला है। परन्तु भोट (तिब्बत) तथा चीन देश की भाषा में अनेक ग्रन्थों के अनुवाद किये गये थे जो अद्यावधि प्रायः उपलब्ध हैं। भोटदेशीय बुस्तोन ने अपने 'धर्म के इतिहास' में मैत्रेय के नाम से इन पाँच शास्त्रों का उल्लेख किया है—१ 'सूत्रालंकार' (सात परिच्छेदों में), २ 'मध्यान्त विभङ्ग या मध्यान्त विभाग', ३ 'धर्मधर्मताविभाग', ४ 'महायान उत्तर-तन्त्र' और ५ 'अभिसमयालंकारकारिका'। इन ग्रन्थों में 'अभिसमयालंकारकारिका' अत्यन्त प्रसिद्ध है। सम्भव है कि 'महायानसूत्रालंकार' नामक ग्रन्थ, जिसको सिलवन लेवी ने असंग का बनाया हुआ बतलाया है, आप ही की रचना हो। यह ग्रन्थ भी कारिकाओं में लिखा गया है। इन ग्रन्थों की आलोचना करने से पता चलता है कि मैत्रेय संस्कृत लिखने में अत्यन्त दक्ष थे तथा श्लोक और आर्या के अतिरिक्त बड़े-बड़े संस्कृत छन्दों में भी बड़ी सुगमता से रचना कर सकते थे। परन्तु असंग कवि नहीं थे। वे एक प्रचण्ड दार्शनिक थे। उनके मौलिक दार्शनिक सिद्धान्तों के कारण ही बौद्ध-धर्म के इतिहास में उनकी प्रसिद्धि है।

आर्य असंग

ये योगाचार सम्प्रदाय के सब से प्रसिद्ध आचार्य थे। ये आचार्य मैत्रेय के शिष्य थे। परन्तु शिष्य ने इतनी प्रसिद्धि प्राप्त की कि लोगों ने गुरु के अस्तित्व ही को भुला दिया। आर्य मैत्रेयनाथ वास्तविक जगत् से हटाकर काल्पनिक जगत् में फेंक दिये गये। लोग इन्हें एक ऐतिहासिक व्यक्ति न मानकर काल्पनिक पुरुष मानने लगे इसका कारण आर्य असंग का व्यापक पाण्डित्य तथा अलौकिक व्यक्तित्व था।

आचार्य असंग का पूरा नाम वसुबन्धु असंग था। परन्तु ये अधिकतर असंग या आर्य असंग के नाम से ही प्रसिद्ध हुए। इनका जन्म पुरुषपुर (आधुनिक पेशावर) में कौशिक-गोत्रीय ब्राह्मण-वंश में हुआ था। अपने तीन भाइयों में यही सबसे बड़े थे। सम्भवतः गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के समय में, चौथी शताब्दी में, आपका आविर्भाव हुआ। पहले ये ब्राह्मणधर्मावलम्बी थे परन्तु आचार्य मैत्रेयनाथ ने इन्हें बौद्ध-धर्म की दीक्षा दी। इन्होंने अपने पूज्य गुरु के द्वारा स्थापित योगाचार सम्प्रदाय की प्रसिद्धि तथा समृद्धि में प्राणपण से योग दिया। कालान्तर में उसकी प्रसिद्धि के कारण आप ही थे। अपने छोटे भाई वसुबन्धु को योगाचार सम्प्रदाय में दीक्षित कर इन्होंने बड़े महत्त्व का कार्य किया।

इनके बनाये हुए ग्रन्थों का पता विशेष कर चीनी भाषा में किये गये अनुवादों से चलता है। १ "महायान सम्परिग्रह"—परमार्थ के द्वारा (सन् ५६३ ई०) चीनी भाषा में इसका अनुवाद किया गया था। आज भी जापान में इस ग्रन्थ का बड़ा आदर है। २ "प्रकरण आर्यवाचा।" ३ "महायानाभिधर्मसंगीति-शास्त्र" ह्वेनसांग (६२५ ई०) नामक प्रसिद्ध चीनी यात्री द्वारा अनुवादित। ४ "वज्र-छेदिका टीका" धर्मगुप्त (५९०-६१६ ई०) के द्वारा अनुवादित। ५ "योगाचारभूमि-शास्त्र" या "सप्तदश भूमि-शास्त्र"—भोटदेशीय बौद्ध लोग इस ग्रन्थ को असंग की ही रचना बतलाते हैं। ह्वेनसांग ने भी इसको इन्हीं आचार्य की कृति बतलाया है। परन्तु कुछ लोग इस ग्रन्थ को इनका रचा हुआ न मानकर इनके गुरु का बतलाते हैं। यह ग्रन्थ बहुत ही बड़ा है और उसका केवल एक ही अंश "बोधिसत्त्वभूमि" संस्कृत में मिला है। यह गद्य-ग्रन्थ है और अभिधर्म ग्रन्थों की शैली पर लिखा गया है।

आचार्य वसुबन्धु

आचार्य वसुबन्धु की विशेष प्रसिद्धि होने के कारण उनकी मृत्यु के कुछ ही अनन्तर उनके जीवन-चरित लिखे गये। ४०१ ई० से लेकर ४०९ ई० के भीतर कुमारजीव ने सबसे पहले आचार्य वसुबन्धु का जीवन-चरित लिखा था। उसके अनन्तर परमार्थ (४९९-५६९ ई०) ने वसुबन्धु का दूसरा जीवन-चरित लिखा। सुप्रसिद्ध जापानी संस्कृत विद्वान् नैञ्जियो का कथन है कि कुमारजीव का लिखा हुआ वसुबन्धु का जीवन-चरित ७३० ई० में नष्ट हो गया। अतएव कुमारजीव के द्वारा दिये गये विवरण से हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं। परन्तु परमार्थ की लिखी हुई जीवनी का अनुवाद चीनी भाषा में

आज भी उपलब्ध है[1]। आचार्य के महत्त्वपूर्ण जीवनचरित को जानने के लिए यही एक प्रामाणिक साधन है। सातवीं शताब्दी में भारतवर्ष में आनेवाले चीनी यात्री ह्वेन्साँग तथा इत्सिङ्ग ने अपने यात्रा-विवरणों में आचार्य वसुबन्धु के नाम का केवल सादर उल्लेख ही नहीं किया है प्रत्युत उनके विषय में अनेक ज्ञातव्य विषयों का विवरण भी प्रस्तुत किया है। इन्हीं साधनों के आधार पर वसुबन्धु का जीवन-चरित यहाँ दिया जाता है।

जीवन-चरित

आचार्य वसुबन्धु का जन्म गान्धार देश के पुरुषपुर (पेशावर) नामक नगर में कौशिकगोत्रीय एक ब्राह्मण-कुल में हुआ था। ये तीन भाई थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता असंग का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। इनके सबसे छोटे भाई का नाम 'वसुबन्धुविरिञ्चिवत्स' था। इनका नाम साहित्य में विशेष प्रसिद्ध नहीं है। इस प्रकार वसुबन्धु अपने पिता के दूसरे लड़के (मँझले भाई) थे। जहाँ इनका जन्म हुआ था उस स्थान पर इनके नाम का स्मारक प्रस्तर-खण्ड भी प्राचीन काल के लोगों ने लगा रक्खा था। ह्वेन्साँग जब गान्धार से होकर भारतवर्ष में आया था तब उसने उस प्रस्तर खण्ड को देखा था। बहुत दिनों तक आचार्य गान्धार देश में ही रहे। प्रौढ़ावस्था में ये अयोध्या आये। यहाँ पर स्थविर बुद्धमित्र ने इन्हें हीनयान सम्प्रदाय में दीक्षित किया। इस समय बुद्धमित्र की शिक्षा का आचार्य वसुबन्धु पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। अपने गुरु की देख-रेख में इन्होंने हीनयान में प्रचुर पाण्डित्य प्राप्त किया।

आचार्य वसुबन्धु वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) में बड़े ही कुशल थे। बोलने में बड़े पटु थे। परमार्थ ने इनके जीवन की एक विशेष घटना का उल्लेख किया है जिससे इनकी वाग्मिता का विशेष परिचय मिलता है। एक बार अयोध्या में 'विन्ध्यवासी' नाम के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण सांख्याचार्य आये थे। वहाँ बुद्धमित्र से इनका शास्त्रार्थ हुआ जिसमें बुद्धमित्र हार गये। वसुबन्धु उस समय अयोध्या में नहीं थे। अतएव विन्ध्यवासी के साथ इन्हें प्रत्यक्ष शास्त्रार्थ करने का अवसर नहीं मिल सका। जब ये बाहर से लौटकर आये तब इन्होंने ब्राह्मण तार्किक के हाथों अपने पूज्य गुरुदेव के पराजय की बात सुनी। यह सुनकर ये बड़े दुखी हुए और इन्होंने विन्ध्यवासी को शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा। परन्तु विन्ध्यवासी उस समय इस धरा-धाम को छोड़कर स्वर्ग को चले गये थे। अतएव प्रत्यक्ष शास्त्रार्थ के द्वारा अपनी प्रबल इच्छा की शान्ति होते न देख इन्होंने विन्ध्यवासी की 'सांख्यसप्तति' के विरोध खण्डन में एक नया ग्रन्थ रच डाला। इस पुस्तक का नाम इन्होंने 'परमार्थसप्तति' रक्खा। यह

---

१. प्रसिद्ध जापानी विद्वान् ताकाकसु ने इस ग्रन्थ का अँगरेजी में अनुवाद किया है। देखिए—जे० आर० ए० एस० १९०५।

ग्रन्थ बौद्ध-दार्शनिकों में अत्यन्त प्रसिद्ध रहा। 'तत्त्वसंग्रह' के पञ्जिकाकार 'आचार्य कमलशील' ने अपनी पञ्जिका में इस ग्रन्थ का सादर उल्लेख किया है[1]।

इसी प्रकार वसुबन्धु को सर्वास्तिवाद मत के माननीय विद्वान् 'संघभद्र' ने जब विवादार्थ ललकारा तब आप पीछे न हटे, प्रत्युत उनकी चुनौती को स्वीकार कर शास्त्रार्थ के लिए डट गये। बात यह हुई कि वसुबन्धु ने वैभाषिक सम्प्रदाय के सिद्धान्त का प्रतिपादक सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' लिखा। आचार्य संघभद्र को इस ग्रन्थ में बहुत से अप-सिद्धान्त दीख पड़े। अतएव 'अभिधर्मकोश' के खण्डन में उन्होंने 'न्यायानुसार शास्त्र' नामक एक नवीन ग्रन्थ की रचना की तथा 'वसुबन्धु' को शास्त्रार्थ करने के लिए चुनौती दी। परन्तु 'परमार्थ' के कथनानुसार जान पड़ता है कि वार्धक्य के कारण उन्होंने शास्त्रार्थ के निमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया। परन्तु ह्वेनसाँग से पता चलता है कि वसुबन्धु ने संघमित्र की चुनौती को स्वीकार किया और उनको मध्यदेश में खींच लाने का उद्योग किया जिससे कि यह शास्त्रार्थ विद्वानों की मण्डली के समक्ष हो सके। किन्तु इसी समय के लगभग 'संघभद्र' की ऐहिक लीला समाप्त हो गई। सुनते हैं कि संघभद्र ने, अपनी मृत्यु के समय, अपने ग्रन्थ को अपने प्रबल विपक्षी आचार्य वसुबन्धु के पास भेज दिया जिन्होंने ग्रन्थ की बड़ी प्रशंसा करते हुए अपनी महान् उदारता का परिचय दिया तथा उस पर एक सुन्दर टीका लिखकर अपनी गुणग्राहिता का उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित किया।

वसुबन्धु और संघभद्र

आचार्य वसुबन्धु दीर्घजीवी थे। मृत्यु के समय इनकी आयु ८० वर्ष की थी। अपने जीवन के आरम्भ-काल से लेकर मृत्यु के दस वर्ष पहले तक ये वैभाषिक (हीनयान) मत के माननेवाले थे। इस उम्र तक इन्होंने जो ग्रन्थ लिखे थे उन सब में हीनयान के सिद्धान्तों की विशद व्याख्या है। सत्तर वर्ष की उम्र में अपने पूज्य ज्येष्ठ भ्राता 'असंग' की प्रेरणा तथा शिक्षा से ये महायान सम्प्रदाय के योगाचार मत में दीक्षित हुए। इन अन्तिम दस वर्षों में इन्होंने योगाचार मत के सिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन्होंने भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों में भ्रमण करने में अपने जीवन के अनेक वर्ष बिताये। शाकल तथा कौशाम्बी में भी इन्होंने कुछ दिनों तक निवास किया था। अयोध्या तो इनकी मानों दूसरी जन्म-भूमि ही थी। यहीं रहकर आपने विद्योपार्जन करके कीर्ति प्राप्त की, महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन कर यश-अर्जन किया, तथा इसी अयोध्या में अस्सी वर्ष की अवस्था में इन्होंने इस पार्थिव-शरीर को छोड़कर निर्वाण-पद को प्राप्त किया।

योगाचार मत में दीक्षा

आचार्य वसुबन्धु का काल-निर्णय आज भी विद्वानों के लिए शास्त्रार्थ का विषय बना हुआ है। परन्तु इतना तो निश्चित ही है कि आप गुप्त-काल में आविर्भूत हुए।

---

[1] एवं '[illegible]'प्रभृतिभिः कोशपरमार्थसप्ततिकादिष्वभिप्रायप्रकाशनात् पराक्रान्तम्। अतस्तत [illegible]—तत्त्वसंग्रह [illegible] गा० ओ० सी० नं० ३० पृ० १२१.

कुछ वर्ष पहले आपके काल-निर्णय के सम्बन्ध में भारतीय तथा विदेशीय पुरातत्त्ववेत्ताओं में गहरा शास्त्रार्थ चलता रहा[1]। परन्तु आजकल तत्कालीन अनेक प्रमाणों की उपलब्धि से इनके समय का निर्णय निश्चयपूर्वक किया जा सकता है। डा० ताकाकुसु ने इनका समय ४२० ई०—५०० ई० के भीतर रक्खा था[2]। पश्चात् उन्होंने आचार्य वसुबन्धु के काल को इस समय से कुछ पूर्व का बतलाया[3]। दूसरे सुप्रसिद्ध जापानी संस्कृत-विद्वान् ओगीहारा (Wogihara) भी इसी मत को मानते हैं[4]। इस प्रकार आचार्य वसुबन्धु का समय इन विद्वानों के मत से पाँचवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है। परन्तु यह मत ठीक नहीं ज्ञात होता। ५४६ ई० में परमार्थ चीन देश में पहुँचे। अतः ५००—५४६ ई० के बीच में ही दिङ्नाग, उनके शिष्य शंकरस्वामी, ईश्वरकृष्ण तथा उनकी सांख्यकारिका के टीकाकार माठर आदि ग्रन्थकारों का होना —जिनके ग्रन्थों का अनुवाद परमार्थ ने चीनी भाषा में किया था— एक प्रकार से असंभव ही प्रतीत होता है। ये समस्त ग्रन्थकार वसुबन्धु के बाद हुए, ग्रन्थों की रचना की, और इतनी प्रसिद्धि प्राप्त की कि उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद को, परमार्थ द्वारा एक विदेशीय भाषा में करने की, आवश्यकता प्रतीत हुई। इन सब घटनाओं का समावेश केवल ४६ वर्ष के अल्प काल में होना सम्भव प्रतीत नहीं होता। अतः उपर्युक्त मत को (वसुबन्धु को पाँचवीं शताब्दी में मानना) हम ठीक तथा उचित नहीं समझते। वसुबन्धु का समय इस काल से कम से कम १०० वर्ष पूर्व था। इसके लिए उपयुक्त अनेक प्रमाण भी हैं। 'शतशास्त्र' तथा 'बोधिचित्तोत्पादनशास्त्र' आचार्य वसुबन्धु द्वारा रचे गये बतलाये जाते हैं तथा इन्हीं पुस्तकों का 'कुमारजीव' ने ४०४-५ ई० के भीतर अनुवाद किया था। इसी समय में उन्होंने आचार्य वसुबन्धु का एक जीवन-चरित भी लिखा था जिसका अनुवाद चीनी भाषा में, ४०१—४०६ ई० में, हुआ[5]। अतः निश्चित है कि आचार्य वसुबन्धु का जन्म इसके पूर्व चतुर्थ शताब्दी में हुआ होगा। प्रो० मैकडॉनल इसी मत को मानते हैं[6]। डा० विद्याभूषण ने भी तिब्बतीय ग्रन्थों के आधार पर इसी मत का समर्थन किया है[7]। डा० स्मिथ ने भी इस विषय में पेरी नामक फ्रेञ्च विद्वान् के मत का सविस्तर उल्लेख कर इसी मत का समर्थन किया है[8]। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने प्रबल प्रमाणों के आधार पर इसी मत को

काल-निर्णय

---

१. इ० ए० १९११ पृ० १७०, (पाठक); २६४ (हार्नली); ३१२ (नरसिंहाचार्य)। वही १९१२ पृ० १, (डी० आर० भण्डारकर); १५ (हरप्रसाद शास्त्री); २४४ (पाठक)।

२. जे० आर० ए० एस० १९०५ पृ० ३३ (और आगे भी)।

३. वही १९१४ पृ० १०१३ (और आगे भी)।

४. इ० आर० इ० भाग १२ पृ० ५९५।

५. नैन्जियो — सूची परिशिष्ट १—६४।

६. हि० सं० लि० पृ० ३२५

७. जे० ए० सो० बं० १९०५ पृ० २२७।

८. अ० हि० इ० पृ० ३२८-३२९ (तृतीय संस्करण)।

पुष्ट किया है[1]। ऊपर कहा जा चुका है कि आचार्य वसुबन्धु ने ८० वर्ष का दीर्घ जीवन प्राप्त किया था, अतः आपका काल २८०—३६० ई० तक मानना तर्कसम्मत तथा उचित प्रतीत होता है। आचार्य वसुबन्धु का यही काल पुरातत्त्ववेत्ताओं के द्वारा प्रधानतया मान्य है।

आचार्य वसुबन्धु और उनके सम-सामयिक गुप्त-नरेश

वसुबन्धु का गुप्त नरेशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसके लिए हमारे पास निम्नांकित लेखकों के लेख प्रमाणस्वरूप हैं—(१) परमार्थ—(५४६-५६६ ई०), (२) ह्वेन्साँग—(६३१-६४८ ई०), (३) वामन—(लगभग ८०० ई०)।

परमार्थ ने लिखा है कि अयोध्या के राज विक्रमादित्य पहले सांख्यदर्शन को मानते थे परन्तु वसुबन्धु ने अपनी वाक्-चातुरी से उन्हें बुद्ध-धर्म में अनुराग रखने के लिए प्रलोभन दिया। राजा ने अपने पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का भार आचार्य वसुबन्धु को सौंपा। इन्हीं राजा के प्रेम से वसुबन्धु यावज्जीवन अयोध्या ही में रहे तथा यहीं अन्त में निर्वाण-पद में लीन हो गये[2]। ह्वेन्साँग ने भी परमार्थ के इसी कथन को, कुछ भिन्न शब्दों में, दुहराया है[3]। सुप्रसिद्ध हिन्दू-आलंकारिक आचार्य 'वामन' ने भी अपने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में वसुबन्धु का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त के पुत्र चन्द्रप्रकाश के साथ बतलाया है[4]। वामन की वृत्ति का आवश्यक अंश यह है—

सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा,
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः।

आश्रयः कृतधियामित्यस्य च वसुबन्धु साचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम्।

वामनाचार्य ने अपने उपर्युक्त ग्रन्थ में शब्द-गुण का वर्णन करने के पश्चात् अर्थ-गुण का विवेचन करते हुए अर्थ की प्रौढ़ि (ओज) का पाँच भागों में विभाग किया है। उसमें पाँचवें प्रकार का ओज 'साभिप्रायत्व' है। इसका अर्थ यह है कि कविता में जिस किसी वस्तु का वर्णन किया जाय, जो कुछ विशेषण दिया जाय उसका कुछ अभिप्राय—अर्थ—मतलब होना चाहिए। बिना अभिप्राय के योंही निरर्गल कहना अनुचित है। इसी 'साभिप्राय' के उदाहरण को समझाने के लिए वामन ने उपर्युक्त श्लोक दिया है। श्लोक का भावार्थ यह है कि 'यह चन्द्रगुप्त का पुत्र चन्द्रप्रकाश नामक युवक राजा विद्वानों का आश्रय होने के कारण अपने परिश्रम में सफलीभूत हुआ।' वामन का कथन है कि इस श्लोक में 'आश्रयः कृतधियां' यह विशेषण साभिप्राय—अर्थगर्भित—है; क्योंकि इस चन्द्रप्रकाश के यहाँ वसुबन्धु साचिव्य (मन्त्री का कार्य) करते थे। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वसुबन्धु चन्द्रगुप्त के पुत्र चन्द्रप्रकाश के यहाँ मन्त्री थे।

---

१. तत्त्वसंग्रह—भूमिका पृ० ६३-६६।

२. स्मिथ—अ० हि० इ० पृ० ३३२ (तृतीय संस्करण)।

३. वही पृ० ३३४ (तृ० सं०)।

४. वामन—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, अधिकरण ३, अध्याय २।

अब प्रश्न यह है कि यह चन्द्रगुप्त कौन था तथा यह चन्द्रप्रकाश कौन सा गुप्त-नरेश है जिसके यहाँ आचार्य वसुबन्धु रहते थे। वामन ने अपने ग्रन्थ में जो उपरिलिखित श्लोक दिया है वह, ज्ञात होता है कि, किसी प्राचीन कवि के ग्रन्थ से लिया गया है जो गुप्त-नरेशों की प्रशंसा में निर्मित था। अतः श्लोक की प्रामाणिकता स्पष्ट सिद्ध है। अब समस्या यह है कि यह चन्द्रगुप्त कौन था ? क्या यह चन्द्रगुप्त प्रथम है अथवा चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) ? वसुबन्धु का जो काल-निर्णय (२८० ई० से ३६० ई० तक) ऊपर किया गया है उस पर विचार करने पर तो यही ज्ञात होता है कि वामन के द्वारा उल्लिखित यह चन्द्रगुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम ही होगा। क्योंकि हम जानते हैं कि इस गुप्त-नरेश ने ३२० से ३३० ई० तक राज्य किया है। यदि चन्द्रगुप्त की समानता चन्द्रगुप्त प्रथम से ठीक जम जाती है तो चन्द्रप्रकाश अवश्य ही सम्राट् समुद्रगुप्त हैं। 'चन्द्रप्रकाश' को सम्राट् समुद्रगुप्त की उपाधि मानने में हमें कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं दीख पड़ती। यह सर्वविदित है कि गुप्त-नरेशों की अनेक उपाधियाँ थीं। किसी ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी तो दूसरे ने द्वादशादित्य की तथा तीसरे ने प्रकाशादित्य की। ऐसी दशा में युवा समुद्रगुप्त ने यदि 'चन्द्रप्रकाश' की उपाधि धारण की हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? गुप्त-नरेशों की उपाधि-बहुलता को देखते हुए हमें तो समुद्रगुप्त की उपाधि 'चन्द्रप्रकाश' मानने में कुछ भी आपत्ति नहीं देख पड़ती। हिन्दू-धर्मावलम्बी समुद्रगुप्त के बौद्ध-धर्मावलम्बी वसुबन्धु को आश्रय देने की बात भी कुछ आपत्तिजनक नहीं। अवश्य ही गुप्त-सम्राट् वैदिक धर्मानुयायी तथा महाभागवत थे परन्तु उनके सिक्कों और लेखों के अध्ययन से यह स्पष्ट विदित होता है कि गुप्त-नरेश कितने उदारचेता, धर्म-सहिष्णु तथा विशालहृदय थे। उन्होंने बौद्ध-धर्म के प्रति केवल धार्मिक सहिष्णुता ही नहीं दिखलाई प्रत्युत दान इत्यादि देकर इसे प्रोत्साहन भी दिया। सुप्रसिद्ध सम्राट् हर्षवर्धन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। ऐसी अवस्था में महाभागवत समुद्रगुप्त का एक बौद्ध-धर्मानुयायी आचार्य को आश्रय देने में आश्चर्य की कौन सी बात है, या आपत्ति ही कौन सी है ? सम्भव है कि युवा समुद्रगुप्त ने अपनी युवावस्था में, अपनी सहज विद्यानुरागिता के कारण, आचार्य वसुबन्धु को अपने यहाँ आश्रय दिया हो। डा० स्मिथ ने भी इसी मत का समर्थन किया है।[1] अतः यह अधिक सम्भव है कि आचार्य वसुबन्धु समुद्रगुप्त के समसामयिक तथा आश्रित हों।

आचार्य वसुबन्धु की जिह्वा जिस प्रकार पर-पक्ष के खण्डन में कुशल थी उसी प्रकार उनकी लेखनी भी स्वपक्ष के मण्डन में द्रुत गति से चलती थी। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। चीनी भाषा के त्रिपिटक में इनके नाम से छत्तीस ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है[2]। परन्तु इसमें बड़ा सन्देह है कि ये सब ग्रन्थ इन्हीं आचार्यपाद के लिखे हैं, क्योंकि वसुबन्धु नाम के छः आचार्यों का पता चीनी तथा तिब्बतीय साहित्य से लगता है। फिर भी

ग्रन्थ

---

१. अ० हि० इ० पृ० ३३१ (तृतीय संस्करण)।

२. विनयतोष भट्टाचार्य- तत्त्वसंग्रह—भूमिका पृ० ६९-७०।

आधुनिक अन्वेषण के आधार पर आचार्य वसुबन्धु की वास्तविक महत्त्वपूर्ण कृतियों का यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जाता है।

आचार्य वसुबन्धु के द्वारा लिखे गये ग्रन्थों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहले ग्रन्थ वे हैं जिनका सम्बन्ध हीनयान सम्प्रदाय से है और दूसरे वे हैं जिनका सम्बन्ध महायान सम्प्रदाय से है तथा जो आचार्य के योगाचार मत में दीक्षित हो जाने पर लिखे गये थे।

(क) हीनयान-सम्बन्धी ग्रन्थ

१. 'परमार्थसप्तति'—यह ग्रन्थ विन्ध्यवासी-विरचित 'सांख्यसप्तति' नामक सांख्यग्रन्थ के खण्डन में लिखा गया था। पहले कहा जा चुका है कि किस प्रकार विन्ध्यवासी ने वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में हराया था, जिसका बदला विन्ध्यवासी के अकाल-काल-कवलित हो जाने पर आचार्य वसुबन्धु ने यह ग्रन्थ लिखकर लिया।

२. 'तर्कशास्त्र'—इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद मिलता है जिसका नाम 'जु-शिह लुन' है[१] और जिसे परमार्थ ने ५५० ई० में अनुवादित किया था। यह ग्रन्थ बौद्ध-न्याय पर लिखा गया है। इसमें तीन परिच्छेद हैं। पहले में पञ्चावयव, दूसरे में जाति तथा तीसरे में निग्रहस्थान का विशद वर्णन है। डा० विद्याभूषण ने इस ग्रन्थ का संक्षिप्त विवरण दिया है[२]।

३. 'वादविधि'—यह ग्रन्थ न्यायशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। इस ग्रन्थ का चीनी भाषा तथा तिब्बतीय भाषा में अनुवाद हुआ था। चीनी भाषा में इस ग्रन्थ का नाम 'लुन शिह' था[३]। किसी समय इसका मूल संस्कृत अंश भी अत्यन्त प्रसिद्ध था। इस ग्रन्थ से अनेक पारिभाषिक लक्षणों का उद्धरण देकर उद्योतकर ने अपने 'न्यायवार्तिक' में उनका खण्डन किया है[४]। परन्तु बड़े दुःख की बात है कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का मूल संस्कृत अंश आज तक उपलब्ध नहीं हुआ है[५]। 'न्यायवार्तिक' में उद्धृत 'वाद-विधि' के रचयिता के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। डा० विद्याभूषण इसे 'धर्मकीर्ति' का लिखा 'वादन्याय' मानते हैं। कीथ ने भी इनके मत का समर्थन किया है। परन्तु जैसा कि सुप्रसिद्ध इटैलियन विद्वान् डा० तुशी (Tucci) ने सप्रमाण दिखलाया है, इस ग्रन्थ के रचयिता वसुबन्धु ही हैं। उद्योतकर के पहले भी दिङ्नाग ने अपने 'प्रमाण-समुच्चय' में इस 'वादविधि' का निर्देश किया है[६]।

१. नैञ्जियो—कैटलाग आफ दी चाइनीज त्रिपिटक—नं० १२५२।

२. विद्याभूषण—हिस्ट्री आफ इण्डियन लाजिक पृ० २६८—६९।

३. इण्डियन हि० क्वा० भाग ४ पृ० ६३५।

४. न्यायवार्तिक—बनारस संस्कृत सीरीज पृ० ११७, १३६, १५०।

५. विद्याभूषण—हिस्ट्री. इ० ला० पृ० २६७।

६. 'वादविधि' के विषय के लिए देखिए—डा० विद्याभूषण—जे० आर० ए० एस० १९१४ पृ० ६०१—६०६। डा० कीथ—इ० हि० क्वा० भाग ४, पृ० २२१—२२७। रङ्गस्वामी ऐयङ्गर—जे० बी० ओ० आर० एस० भाग १२, पृ० ५८७—५९१। डा० तुशी—इ० हि० क्वा० भाग ४ (१९२८) पृ० ६३०—३६।

४. "गाथा-संग्रह"–इसका अनुवाद तिब्बतीय भाषा में उपलब्ध है। इसमें, 'धम्मपद' की तरह, २४ गाथाओं का संग्रह है तथा उनकी बड़ी ही सुन्दर टीका भी है जिसमें उन गाथाओं के सिद्धान्तों को समझाने के लिए बहुत सी मनोरंजक कहानियाँ भी कही गई हैं[१]।

५. 'अभिधर्मकोश'—यह आचार्य वसुबन्धु की रचनाओं में सबसे प्रसिद्ध तथा सबसे महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ की रचना वैभाषिक सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन करने के लिए की गई है, जैसा कि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं कहा है—

काश्मीरवैभाषिकनीतिसिद्धः प्रायो मयायं कथितोऽभिधर्मः[२] ।८।४०

इस ग्रन्थ में ८ परिच्छेद हैं जिनके नाम क्रमशः ये हैं—१. धातुनिर्देश, २. इन्द्रिय-निर्देश, ३. लोकधातुनिर्देश, ४. कर्मनिर्देश, ५. अनुशयनिर्देश, ६. आर्यपुद्गलनिर्देश, ७. ज्ञाननिर्देश, ८. ध्याननिर्देश।

इस प्रकार ६०० कारिकाओं का यह ग्रन्थ, ग्रन्थकार के भाष्य के साथ, बौद्ध-धर्म के सभी धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त रूप में निचोड़ उपस्थित करता है। यद्यपि यह ग्रन्थरत्न हीनयान के सर्वास्तिवाद मत को लक्ष्य करके लिखा गया है तथापि यह इतना व्यापक है कि बौद्ध-धर्म के समस्त मतों को यह मान्य तथा प्रमाणभूत है[३]। प्राचीन काल में इस ग्रन्थ की बड़ी प्रसिद्धि थी। बाणभट्ट ने अपने हर्ष-चरित में शाक्य-भिक्षु दिवाकरमित्र के आश्रम का वर्णन करते हुए यहाँ तक लिखा है कि वहाँ के रहनेवाले शाक्य-शासन में कुशल सुग्गे भी 'कोश' का उपदेश दे रहे थे[४]। यह 'कोश' आचार्य वसुबन्धु-कृत 'अभिधर्मकोश' ही था[५], जिसने अपने जन्म के २५० वर्ष के भीतर ही इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। इस पर लिखी गई टीकाओं से भी इसकी विपुल प्रसिद्धि का पता चल सकता है। तिब्बतीय त्रिपिटकों से इस ग्रन्थ पर लिखी गई निम्नलिखित टीकाओं का पता मिलता है[६]—भाष्य वसुबन्धुकृत; भाष्य टीका (तत्त्वार्थ) स्थिरमतिकृत; स्फुटार्था यशोमित्रकृत; लक्षणानुसारिणी पुण्यवर्धनकृत; औपयिकी शान्तिस्थिरदेवकृत; मर्मप्रदीपवृत्ति दिङ्नागकृत।

इस ग्रन्थ का संस्कृत मूल अप्राप्य सा है। सब से पहले बेल्जियन विद्वान् डा० पुसें (Poussin) ने, चीनी भाषा के अनुवाद की सहायता से, फ्रेंच भाषा में इस ग्रन्थ का अनुवाद करते समय वसुबन्धु की मूल कारिकाओं का संस्कृत में पुनर्निर्माण किया था।

---

१. डा० विंटरनित्स—हिस्ट्री आव इंडियन लिटरेचर भाग २, पृ० ३५८–५९।

२. अभिधर्मकोश—(काशी विद्यापीठ संस्करण) पृ० २३५।

३. डा० विंटरनित्स हि० इ० लि० भाग २, पृ० ३५७।

४. त्रिशरणपरैः, परमोपासकैः, शुकैरपि शाक्यशासनकुशलैः कोशं समुपदिशद्भिः। —हर्षचरित, उच्छ्वास ८, पृ० २३७। (निर्णयसागर संस्करण)।

५. कोशो बुद्धसिद्धान्तो [illegible]। शंकर—हर्ष-चरित की टीका पृ० २३७।

६. अभिधर्मकोश (का० वि० पी०) भूमिका।

उसी आधार पर राहुल सांकृत्यायन ने अपनी नई टीका के साथ उसका एक संस्करण निकाला है[1]।

(ख) महायान-सम्बन्धी ग्रन्थ

कहा जा चुका है कि इनके जेठे भाई असंग ने इन्हें महायान सम्प्रदाय में दीक्षित किया। जब आचार्य वसुबन्धु महायान सम्प्रदाय में दीक्षित हुए तब उन्हें अपने जीवन में लिखित महायान की निन्दा का स्मरण कर इतनी ग्लानि हुई कि उन्होंने अपनी जिह्वा काटने का निश्चय कर लिया। परन्तु इनके जेठे भाई ने इनसे कहा कि जिह्वा काटने से क्या लाभ ? जिस बुद्धि के द्वारा तुमने हीनयान-धर्म की सेवा की है उसी से पुनः महायान की सेवा करो। तब से इन्होंने महायान-सम्प्रदाय के ग्रन्थों की रचना प्रारम्भ की। महायान सम्प्रदाय-सम्बन्धी ग्रन्थों के नाम नीचे दिये जाते हैं— १. सद्धर्मपुण्डरीक की टीका। ५०८-५३५ ई० के बीच इसका अनुवाद चीनी भाषा में हुआ है। २. 'महापरिनिर्वाणसूत्र की टीका'—३८६-५८६ ई० के बीच इसका चीनी भाषा में अनुवाद हुआ। ३. 'वज्रछेदिका प्रज्ञापारमिता की टीका'—चीनी भाषा में अनुवादित (३८६ ई० ५३४ ई० के बीच में)। ४. विंशतिका—ग्रन्थकार की टीका के साथ। इस ग्रन्थ का संस्कृत मूल सेल्वन लेवी ने नैपाल से खोज निकाला है। उन्होंने, १९२५ ई० में, पेरिस से इनका देवनागरी संस्करण निकाला है। विज्ञानवाद के विषय में आचार्य वसुबन्धु के सिद्धान्तों को जानने के लिए ये दोनों ग्रन्थ अमूल्य हैं[2]। ५. त्रिंशिका – स्थिरमति की टीका के साथ। तिब्बतीय बुस्तोन ने आचार्य वसुबन्धु के नाम से इन ग्रन्थों का उल्लेख किया है[3]—१. पञ्चस्कन्धप्रकरण, २. व्याख्या युक्ति, ३. कर्म-सिद्धिप्रकरण, ४. महायानसूत्रालंकार टीका, ५. प्रतीत्यसमुत्पादसूत्रटीका, ६. मध्यान्त-विभाग भाष्य।

ऊपर दिये गये वसुबन्धु के विवरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य अपने समय के अत्यन्त लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् थे। समस्त देश में आपका आदर था तथा आप बड़े सम्मान की दृष्टि से देखे जाते थे। आपने बौद्ध-दार्शनिक-साहित्य की कितनी उन्नति की, इसका यथार्थ रूप से वर्णन करना कठिन है। पीछे के बौद्ध-आचार्यों पर आपके विचारों का प्रचुर प्रभाव पड़ा।

आचार्य वसुबन्धु को अपने ही सदृश विद्वान् तथा प्रतिभाशाली शिष्य प्राप्त करने का भी सौभाग्य प्राप्त था। इनके चार बड़े-बड़े शिष्य हुए जिनका नाम तिब्बतदेशीय बुस्तोन ने अपने इतिहास में दिया है। ये शिष्य (१) स्थिरमति, (२) दिङ्नाग, (३) आर्य विमुक्तसेन और (४) गुणप्रभ थे। आचार्य स्थिरमति तथा दिङ्नाग का वर्णन

---

१. काशी विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित।

२. इन ग्रन्थों में निहित दार्शनिक सिद्धान्तों के लिए देखिए—इ० हि० क्वा० भाग ४, पृ० ३६—४३।

३. डा० विंटरनित्स—हि० इं० लि० भाग २, पृ० ३६०।

आगे किया जायगा। विमुक्तसेन और गुणप्रभ भी अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् थे तथा बौद्ध-धर्म की इन्होंने बड़ी सेवा की। गुणप्रभ हर्षवर्धन के गुरु कहे जाते हैं।

आचार्य स्थिरमति

आप वसुबन्धु के शिष्य थे। उनके चारों शिष्यों में आप ही उनके पट्ट शिष्य माने जाते हैं[1]। इन्होंने अपने गुरु के ग्रन्थों पर महत्त्वपूर्ण व्याख्या लिखी है। इस प्रकार आचार्य वसुबन्धु के गूढ़ अभिप्रायों को समझाने के लिए स्थिरमति ने व्याख्या रचकर एक आदर्श शिष्य का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया है। आप चौथी शताब्दी के अन्त में विद्यमान थे। इनके निम्नलिखित ग्रन्थों का पता चलता है जिनका अनुवाद तिब्बतीय भाषा में आज भी उपलब्ध है[2]—१. 'आर्यरत्नकूटधर्मपर्याय'... 'काश्यपपरिवर्त टीका'—तिब्बतीय अनुवाद के साथ-साथ इसका चीनी अनुवाद भी मिलता है। २. 'सूत्रालंकारवृत्तिभाष्य'—यह ग्रन्थ वसुबन्धु की 'सूत्रालंकार-वृत्ति' की विस्तृत व्याख्या है। इस ग्रन्थ को डा० सिल्वन लेवी ने सम्पादित कर प्रकाशित किया है। ३. 'त्रिंशिकाभाष्य'—वसुबन्धु की 'त्रिंशिका' के ऊपर यह एक महत्त्वपूर्ण भाष्य है। इस ग्रन्थ के मूल संस्कृत को सिल्वन लेवी ने नेपाल से खोज निकाला है तथा फ्रेंच भाषा में अनुवाद करके इसे प्रकाशित किया है। ४. 'पञ्चस्कन्धप्रकरणवैभाष्य'। ५. 'अभिधर्मकोशभाष्यवृत्ति'—यह ग्रन्थ वसुबन्धु के [illegible] के ऊपर टीका है। इसका संस्कृत मूल नहीं मिलता परन्तु तिब्बतीय भाषा में इसका अनुवाद आज भी उपलब्ध है। ६. 'मूलमाध्यमकारिकावृत्ति'—कहा जाता है, यह आचार्य नागार्जुन के प्रसिद्ध ग्रन्थ की टीका है। ७. 'मध्यान्तविभाग-सूत्रभाष्य टीका'—आचार्य मैत्रेय ने मध्यान्तविभाग नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा था। उसी पर आचार्य वसुबन्धु ने अपना भाष्य लिखा। इस ग्रन्थ में योगाचार के मूल सिद्धान्तों का विस्तृत स्पष्टीकरण है। इसी भाष्य के ऊपर 'स्थिरमति' ने यह टीका बनाई है जो उनके सब ग्रन्थों से अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। योगाचार के गूढ़ सिद्धान्तों के समझने के लिए यह टीका नितान्त उपयोगी है। अब तक इस ग्रन्थ का तिब्बतीय अनुवाद ही प्राप्त था परन्तु पं० विधुशेखर भट्टाचार्य तथा डा० तुशी ने, तिब्बतीय अनुवाद से, इस ग्रन्थ का संस्कृत में पुनर्निर्माण किया है[3]।

दिङ्नाग

आचार्य दिङ्नाग का नाम बौद्ध-साहित्य के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। जिस समय ब्राह्मण तार्किकों ने बद्धपरिकर होकर, अपनी प्रबल युक्तियों से, बौद्ध-दर्शन का खण्डन किया था, उस समय उनका खण्डन कर बौद्ध-दर्शन की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का श्रेय इन्हीं आचार्य महोदय को है। इनके पहले

---

१. डा० इ० ओबेरमिलर—इ० हि० क्वा० भाग ६ (१९३३) पृ० १०१९।

२. वही—पृ० १०२०।

३. इस ग्रन्थ का केवल प्रथम भाग ही 'कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज' में (नं० २४) निकाला है।

बौद्धों में न्यायदर्शन पर कोई सुव्यवस्थित ग्रन्थ न था। दिङ्नाग ने सबसे पहले बौद्धों में न्याय-शास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा। इस प्रकार आप मध्यकालीन भारतीय न्याय शास्त्र के जन्मदाता माने जाते हैं। आप प्रचण्ड विद्वान्, प्रगल्भ वक्ता तथा ऐसे उद्भत दार्शनिक थे जिससे लोहा लेना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य था। शास्त्रार्थ-पटुता के कारण ही ये 'तर्कपुङ्गव' के नाम से सर्वत्र प्रसिद्ध थे। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। आपके विपक्षी भी आपकी योग्यता के कायल थे। साक्षात् सरस्वती आपकी जिह्वा पर निवास करती थी।

जीवन-वृत्तान्त

इनका जन्म काञ्ची के पास सिंहवक्र नामक ग्राम में, एक ब्राह्मण के घर, हुआ था[1]। आपके प्रथम गुरु 'नागदत्त' नामक वात्सीपुत्रीय मत के एक प्रसिद्ध पण्डित थे। इन्होंने आपको बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया। उसके पश्चात् आप आचार्य वसुबन्धु के शिष्य हुए। निमन्त्रण पाकर आप नालन्दा-महाविहार में गये जहाँ पर आपने सुदुर्जय नामक ब्राह्मण तार्किक को शास्त्रार्थ में हराया। शास्त्रार्थ करने के लिए आप उड़ीसा और महाराष्ट्र में भ्रमण किया करते थे। आप अधिकतर उड़ीसा में रहा करते थे। आप तन्त्र-मन्त्रों के विशेष ज्ञाता थे। तिब्बतीय ऐतिहासिक लामा तारानाथ ने इनके (दिङ्नाग के) विषय में लिखा है कि एक बार उड़ीसा के राजा के अर्थ-सचिव भद्रपालित (जिसे दिङ्नाग ने बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया था) के उद्यान में हरीतकी वृक्ष की एक शाखा बिल्कुल सूख जाने पर दिङ्नाग ने मन्त्र-द्वारा उसे, सात ही दिन के अन्दर, फिर से हरा-भरा कर दिया। इस प्रकार बौद्ध-धर्म में अपनी सारी शक्तियों को लगाकर इन्होंने अपने धर्म की अनुपम सेवा की। अन्त में ये उड़ीसा के एक जङ्गल में निर्वाण-पद में लीन हो गये।

ऊपर कहा गया है कि ये वसुबन्धु के पट्टशिष्यों में से थे। अतः इनका समय ईसा की चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्ध तथा पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध (३४५-४२५ ई०) है[2]।

ग्रन्थ

आपने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है जिनका विवरण नीचे दिया जाता है—१—प्रमाण-समुच्चय—यह दिङ्नाग का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है[3]। यह संस्कृत में अनुष्टुप् छन्दों में लिखा गया था। परन्तु बड़े दुःख की बात है कि इसका संस्कृत मूल उपलब्ध नहीं है। हेमवर्मा नामक एक भारतीय पण्डित ने एक तिब्बतीय विद्वान् के सहयोग से इस ग्रन्थ का तिब्बतीय भाषा में अनुवाद किया था। इस ग्रन्थ में छः परिच्छेद हैं, जिनमें न्याय-शास्त्र के समस्त सिद्धान्तों का विशद प्रतिपादन है। इनका विषय-क्रम यों है।—(१) प्रत्यक्ष, (२) स्वार्थानुमान, (३) परार्थानुमान, (४) हेतुदृष्टान्त, (५) अपोह, (६) जाति। २—'प्रमाणसमुच्चयवृत्ति' यह पहले ग्रन्थ की व्याख्या है। इसका

---

१. दिङ्नाग के जीवन-चरित के लिए देखिए—डा० विद्याभूषण—हिस्ट्री आफ इंडियन लाजिक, पृ० २७२—७४।

२. डा० विनयतोष भट्टाचार्य—तत्त्वसंग्रह, भूमिका पृ० ७३।

३. विशेष विवरण के लिए देखिए—डा० विद्याभूषण—हि० इं० ला०, पृ० २७४—२८६।

संस्कृत मूल नहीं मिलता परन्तु तिब्बतीय अनुवाद उपलब्ध है[1]। ३—'न्यायप्रवेश'—आचार्य दिङ्नाग का यही एक ग्रन्थ है जो मूल संस्कृत में उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थ के रचयिता के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है[2]। कुछ लोग इसे दिङ्नाग के शिष्य 'शंकरस्वामी' का बतलाते हैं। परन्तु वास्तव में यह दिङ्नाग की ही कृति है। इसमें सन्देह करने का तनिक भी स्थान नहीं है। यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज़ (नं० ३८) में प्रकाशित हुआ है जिसका सम्पादन प्रिंसिपल ए० बी० ध्रुव ने किया है। इस ग्रन्थ का तिब्बतीय भाषा में भी अनुवाद मिलता है तथा गायकवाड़ सीरीज़ नं० ३९ में छपा है। ४—'हेतुचक्रडमरु' इस ग्रन्थ का दूसरा नाम 'हेतुचक्रनिर्णय' भी बतलाया जाता है। इसमें नौ प्रकार के हेतुओं का संक्षिप्त वर्णन है। अब तक इस ग्रन्थ का तिब्बतीय अनुवाद ही मिलता था परन्तु दुर्गाचरण चटर्जी ने इस ग्रन्थ का संस्कृत में पुनर्निर्माण किया है[3]। इसके देखने से पता लगता है कि 'जहोर' नामक स्थान के 'बोधिसत्त्व' नामक किसी विद्वान् ने, भिक्षु धर्माशोक की सहायता से, तिब्बतीय भाषा में इसका अनुवाद किया था। ५—'प्रमाणशास्त्र न्यायप्रवेश' इसके अनुवाद तिब्बतीय तथा चीनी भाषा में मिलते हैं। ६—आलम्बनपरीक्षा। ७—'आलम्बन परीक्षावृत्ति' यह नं० ६ की टीका है। ८—'त्रिकालपरीक्षा' इसके संस्कृत मूल का पता नहीं है परन्तु तिब्बतीय भाषा में इसका अनुवाद मिलता है। ९—'मर्मप्रदीपवृत्ति'—यह दिङ्नाग के गुरु आचार्य वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोश' की टीका है। संस्कृत मूल का पता नहीं। तिब्बतीय अनुवाद मिलता है[4]।

बौद्ध न्याय को सुव्यवस्थित करने में दिङ्नाग का बड़ा हाथ है। उनके पहले महर्षि गौतम तथा वात्स्यायन ने अनुमान वाक्य के पंचावयवों का वर्णन किया था। परन्तु इसका खण्डन करके दिङ्नाग ने सर्वप्रथम यह दिखलाया कि केवल तीन ही अवयवों से काम चल सकता है[5]। इसी प्रकार इन्होंने स्थान-स्थान पर, महर्षि वात्स्यायन के अन्य मतों का भी खण्डन किया है। उदाहरणार्थ प्रत्यक्ष और अनुमान के जो लक्षण

---

१. डा० विद्याभूषण—हि० इं० ला०, पृ० २९९—३००।

२. इस विषय के सम्बन्ध में विस्तृत वाद-विवाद के लिए देखिए—प्रिंसिपल ए० बी० ध्रुव-न्यायप्रवेश-भूमिका पृ० ६—१३।

३. हेतुचक्रनिर्णय—इं० हि० क्वा० भाग ९ (१९३३) पृ० २६६—७२। इस ग्रन्थ के अँगरेज़ी अनुवाद के लिए देखिए—वही पृ० ५११-१४।

४. दक्षिण भारतीय ग्रन्थमाला में 'कुन्दमाला' नामक एक अभिनव नाटक प्रकाशित हुआ है इसके सम्पादक पं० रामकृष्ण कवि इसे आचार्य दिङ्नाग की रचना मानते हैं। परन्तु वर्तमान लेखक के पास ऐसे प्रबल प्रमाण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि यह दिङ्नाग की कृति नहीं है।

५. पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यत इति। एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्युच्यन्ते।—न्यायप्रवेश पृष्ठ १ (बड़ौदा संस्करण)।

महर्षि गौतम तथा वात्स्यायन ने दिये थे उनका खण्डन कर इन्होंने अपना नया ही मत स्थिर किया है। पीछे के ब्राह्मण दार्शनिकों ने अत्यन्त विस्तार के साथ इनके मत का खण्डन किया है। उद्योतकर ने अपने 'न्यायवार्तिक' की रचना ही इसी लिए की कि कुतार्किक दिङ्नाग के द्वारा निर्धारित मतों का खण्डन करके वात्स्यायन के मतों का मण्डन किया जाय[1]। इसी प्रकार प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट ने भी अपने 'श्लोकवार्तिक' में, बड़ी ही मार्मिकता के साथ, दिङ्नाग के मतों का खण्डन किया है। कुमारिल भट्ट ने यद्यपि एक स्थल को छोड़कर अन्यत्र इनके नाम का निर्देश नहीं किया है तथापि उनके टीकाकार पार्थसारथि मिश्र ने दिङ्नाग के नाम का ही उल्लेख नहीं किया है, प्रत्युत उनकी मूल संस्कृत कारिकाओं को भी उद्धृत किया है जिनको लक्ष्य में रखकर कुमारिल भट्ट ने अपना खण्डन लिखा है और जो 'प्रमाणसमुच्चय' के तिब्बतीय अनुवाद में आज भी उपलब्ध है[2]। ब्राह्मण दार्शनिकों द्वारा किये गये इस प्रचण्ड आक्रमण को देखकर ही हम आचार्य दिङ्नाग की अलौकिक महत्ता को समझ सकते हैं। बौद्ध नैयायिकों के तो ये सर्वस्व हैं। इनकी अगाध विद्वत्ता, प्रामाणिकता और महत्ता का अनुमान केवल इसी बात से किया जा सकता है कि इनके 'प्रमाण-समुच्चय' के ऊपर, कालान्तर में, बड़े-बड़े विद्वानों द्वारा दस टीकाएँ लिखी गई[3]। इससे बढ़कर अधिक महत्त्व की बात और क्या हो सकती है? आपकी सबसे बड़ी महत्ता तथा विशेषता यह है कि आप ही मध्यकालीन भारतीय दर्शन के आदि-आचार्य तथा जन्म-दाता है। आपने ही मध्यकालीन न्याय को जन्म दिया। इसी काल से भारतीय दार्शनिक इतिहास में एक नये युग का प्रारम्भ होता है और इस नवीन युग के प्रवर्तक तथा निर्माण-कर्त्ता आचार्य दिङ्नाग थे। अतः भारतीय दर्शन में आपका एक विशेष स्थान है। यही आपकी सर्वश्रेष्ठ महत्ता है। अतएव इस कथन में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है कि आप अपने गुरु वसुबन्धु के अनुरूप शिष्य थे।

शंकरस्वामी

चीनदेशीय ग्रन्थों से पता चलता है कि शंकरस्वामी दिङ्नाग के शिष्य थे। डा० विद्याभूषण उन्हें दक्षिण भारत का निवासी बतलाते हैं[4]। चीनी त्रिपिटक के अनुसार शंकरस्वामी ने हेतुविद्यान्यायप्रवेशशास्त्र या न्यायप्रवेशतर्कशास्त्र नामक बौद्ध न्याय-ग्रन्थ बनाया था जिसका चीनी भाषा में अनुवाद ह्वेनसाँग ने ६४७ ई० में किया था। इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है कि यह ग्रन्थ दिङ्नाग-रचित

---

१. यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥—न्यायवार्तिक पृ० १ मङ्गलश्लोक।

२. कुमारिल एण्ड दिङ्नाग शीर्षक लेख।—इ० हि० क्वा०।

३. डा० विद्याभूषण हिस्ट्री, भूमिका पृ० १४।

४. डा० विद्याभूषण—हिस्ट्री पृ० ३०२।

न्यायप्रवेश से भिन्न है या नहीं। डा० कीथ तथा डा० तुशी न्यायप्रवेश को दिङ्नाग की रचना न मानकर शंकरस्वामी की रचना मानते हैं[1]।

धर्मपाल

धर्मपाल काञ्ची (आन्ध्रदेश) के रहनेवाले थे। ये उस देश के एक बड़े मन्त्री के जेठे पुत्र थे। लड़कपन से ही ये बड़े चतुर थे। एक बार उस देश के राजा और रानी इनसे इतने प्रसन्न हुए कि उन लोगों ने इन्हें एक बहुत बड़े भोज में आमन्त्रित किया। उसी दिन सायंकाल को इनका हृदय सांसारिक विषयों से इतना उद्विग्न हुआ कि इन्होंने बौद्ध-भिक्षु का वस्त्र धारण कर संसार छोड़ दिया। ये बड़े उत्साह के साथ विद्याध्ययन में लग गये और इस प्रकार अपने समय के एक गम्भीर विद्वान् बन गये। ये नालन्दा-महाविहार में आये और वहाँ शिक्षक नियुक्त हुए। धीरे-धीरे इन्होंने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। यहाँ तक कि ये नालन्दा-महाविहार के कुलपति (प्रिंसिपल) बन गये। इनका समय छठीं शताब्दी का मध्यभाग है। इस प्रकार इनका आविर्भाव-काल गुप्त युग के प्रायः अन्त में है। ह्वेन्सांग ने ६३० ई० में जिस समय कौशाम्बी की यात्रा की उस समय उसने उस महाविहार के ध्वंसावशेष देखे थे जहाँ पर रहकर धर्मपाल ने ब्राह्मण पण्डितों के सिद्धान्त का खण्डन किया था[2]।

ये योगाचार मत के माननेवाले दार्शनिक विद्वान् थे। इस प्रकार ये वसुबन्धु के ही सम्प्रदाय के आचार्य हैं। माध्यमिक ग्रन्थों के व्याख्याकार चन्द्रकीर्ति इन्हीं के शिष्यों में थे। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की थी—१. आलम्बनप्रत्ययध्यानशास्त्र व्याख्या, २. विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि व्याख्या[3], और ३. शतशास्त्रवैपुल्य व्याख्या (६५० ई० में चीनी भाषा में अनुवादित)।

माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य

योगाचार-साहित्य की विपुल समृद्धि का वर्णन पीछे किया जा चुका है। गुप्त-कालीन बौद्ध साहित्य की सबसे विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण घटना 'योगाचार' सम्प्रदाय की उत्पत्ति तथा विकास है। परन्तु इसी काल में बौद्ध-दर्शन के अन्य सम्प्रदायों की भी प्रचुर उन्नति हुई। इसके लिए भी हमारे पास अनेक प्रमाण हैं। माध्यमिक मत की उत्पत्ति गुप्त-काल के पहले ही हुई थी परन्तु उसका विशद प्रचार तथा समधिक उन्नति इसी समय में हुई। पहले आचार्य नागार्जुन (द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्ध) ही माध्यमिक मत के संस्थापक माने जाते थे। परन्तु आधुनिक गवेषणा ने इस कथन

---

१. डा० कीथ—दी आथरशिप आफ् न्यायप्रवेश, इ० हि० क्वा० भाग ४ (१९२८) पृ० १४—२२। प्रिंसिपल [illegible]—न्यायप्रवेश-भूमिका पृ० १३, डा० तुशी—जै० ओ० ए० एस०, जनवरी १९२८।

२. डा० विद्याभूषण—हिस्ट्री पृ० ३०२-३।

३. डा० विंटरनित्स—हि० इ० लि० भाग २, पृ० ३६१। [illegible] विद्याभूषण ने इस ग्रन्थ का नाम 'विद्यामात्रसिद्धिशास्त्रव्याख्या' लिखा है। पृ० ३०३।

को असत्य प्रमाणित कर दिया है[1]। माध्यमिक मत की उत्पत्ति आचार्य नागार्जुन से पहले की है। नागार्जुन ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को रचकर इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को सुव्यवस्थित मात्र कर दिया। इन्होंने 'माध्यमिक कारिका', 'युक्तिषष्ठिका', 'शून्यतासप्तति' आदि मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन कर तथा 'प्रज्ञापारमितासूत्रशास्त्र' और 'दशभूमिविभाषाशास्त्र' नामक भाष्य-ग्रन्थों की रचना कर सदा के लिए शून्यवाद की नींव दृढ़ कर दी। इनके सुप्रसिद्ध शिष्य आर्यदेव (२००-२५० ई० के लगभग) ने 'चतुःशतक' नामक प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ तथा 'चित्तविशुद्धिप्रकरण' नामक नीतिमय काव्य को रचकर शून्यवाद सम्प्रदाय के मार्ग को और भी विशद बनाया। ये दोनों आचार्य गुप्त-काल के पहले ही आविर्भूत हुए थे। परन्तु गुप्तकालीन इस सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों ने भी इनके ग्रन्थों पर व्याख्या तथा भाष्य लिखकर सम्प्रदाय की समृद्धि एवं पुष्टि में उचित रीति से योग दिया। उनमें से कुछ सुप्रसिद्ध आचार्यों का ही वर्णन यहाँ किया जाता है।

१ स्थविर बुद्धपालित

आप पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे। आप महायान-सम्प्रदाय के प्रमाणभूत आचार्यों में से हैं। नागार्जुन की 'माध्यमिक कारिका' के ऊपर उनकी ही लिखी 'अकुतोभया' नामक व्याख्या का जो अनुवाद आजकल तिब्बतीय भाषा में मिलता है उसके अन्त में माध्यमिक दर्शन के व्याख्याता आठ आचार्यों के नाम पाये जाते हैं। स्थविर बुद्धपालित भी उनमें से एक हैं[2]। इन्होंने नागार्जुन की माध्यमिक कारिका के ऊपर एक नवीन वृत्ति लिखी है जिसका मूल संस्कृत-रूप अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। इसके तिब्बतीय अनुवाद को मैक्स वालेज़र नामक जर्मन विद्वान् ने, बिब्लोथिका बुद्धिका नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थमाला (नं० १६) में सम्पादित कर प्रकाशित किया है। बुद्धपालित प्रासंगिक मत के उद्भावक माने जाते हैं[3]। इस मत का सिद्धान्त यह है कि अपने मत का मण्डन करने के लिए शास्त्रार्थ में विपक्षी से ऐसे तर्कयुक्त प्रश्न पूछे जायँ जिनका उत्तर देने से उसके कथन स्वयं ही परस्पर-विरोधी प्रमाणित हो जायँ तथा वह उपहासास्पद बनकर पराजित हो जाय। इनके इस न्याय-सिद्धान्त को माननेवाले अनेक शिष्य भी हुए। बुद्धपालित की इतनी प्रसिद्धि इसी कारण है।

२ भावविवेक

ये गुप्तकाल के दूसरे विख्यात माध्यमिक आचार्य थे। चीनी लोगों ने इनका नाम 'भा विवेक' लिखा है। इन्हीं का नाम 'भव्य' भी था। इन तीनों नामों से इनकी सुप्रसिद्धि है। ये बौद्ध न्याय में 'स्वातन्त्र' मत के उद्भावक थे[4]। इस मत के अनुसार

---

१. नागार्जुन के विस्तृत इतिहास के लिए देखिए—डा० विद्याभूषण—प्रो० फ० ओ० का लेख-संग्रह-भाग २, पृ० १२५-२० । डा० विंटरनित्स—हिस्ट्री भाग २ पृ० ३४१-४८ ।

२. डा० विद्याभूषण—फ० ओ० का लेख-संग्रह भाग २, पृ० १२० ।

३. डा० शेरवास्की—दी सेंट्रल कंसेप्शन आफ् निर्वाण पृ० ३५ ।

४. डा० शेरवास्की—दी सेंट्रल कंसेप्शन आफ् निर्वाण पृ० ३५ ।

माध्यमिक सिद्धान्तों की सत्ता प्रमाणित करने के लिए स्वतन्त्र प्रमाणों को देकर विपक्षी को पराजित करना चाहिए। इनके नाम से अनेक ग्रन्थ मिलते हैं जिनका तिब्बतीय या चीनी भाषाओं में केवल अनुवाद ही मिलता है। मूल संस्कृत ग्रन्थ की अभी तक कहीं प्राप्ति नहीं हुई है। इनके ग्रन्थों के नाम ये हैं—१ 'माध्यमिक कारिका व्याख्या'—इस ग्रन्थ में नागार्जुन के ग्रन्थ की व्याख्या की गई है। इसका तिब्बतीय अनुवाद ही मिलता है[1]। २. 'मध्यमहृदयकारिका'—डा० विद्याभूषण ने इनके नाम से इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है[2]। सम्भवत: यह माध्यमिक दर्शन पर कोई मौलिक ग्रन्थ होगा। ३. 'मध्यमार्थसंग्रह'—इस ग्रन्थ का तिब्बतीय भाषा में अनुवाद मिलता है। ४. 'हस्तरत्न' या 'करमणि'—इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद मिलता है। इसमें इन आचार्य ने यह सिद्ध किया है कि वस्तुओं का वास्तविक रूप, जिसे 'तथता' या 'धर्मता' कहते हैं, सत्ता-विहीन है। इसी प्रकार इसमें आत्मा को भी मिथ्या सिद्ध किया गया है[3]।

डा० पुसें ने इस विषय को समझाने का बड़ा प्रयत्न किया है[4] कि 'भावविवेक' का 'स्वातन्त्र' मत से क्या अभिप्राय था और इसके विषय में उन (भावविवेक) के विचार क्या थे।

३ चन्द्रकीर्ति

इन दोनों आचार्यों के प्रशिष्य चन्द्रकीर्ति ने इनके अनन्तर माध्यमिक सम्प्रदाय की प्रगति को अक्षुण्ण रक्खा तथा छठी शताब्दी में आप ही इसके प्रतिनिधि थे। माध्यमिक मत के सुप्रसिद्ध आठ आचार्यों में से एक आप भी हैं। तारानाथ के कथनानुसार ये दक्षिण भारत के समन्त नामक किसी स्थान में पैदा हुए थे[5]। लड़कपन में ही ये बड़े बुद्धिमान् थे। आपने भिक्षु बनकर अति शीघ्र समस्त पिटकों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। बुद्धपालित तथा भावविवेक के प्रसिद्ध शिष्य कमलबुद्धि नामक आचार्य से इन्होंने नागार्जुन के समस्त ग्रन्थों का अध्ययन किया[6]। पीछे आप धर्मपाल के भी शिष्य थे। महायान दर्शन में आपने प्रगाढ़ विद्वत्ता प्राप्त की। अध्ययन समाप्त करने पर इन्होंने नालन्दा महाविहार में अध्यापक का पद स्वीकार किया। योगाचार सम्प्रदाय के विख्यात आचार्य चन्द्रगोमिन् के साथ इनकी बड़ी स्पर्द्धा थी। इन दोनों आचार्यों की पारस्परिक स्पर्द्धा तथा मैत्री का उल्लेख आगे विस्तार के साथ किया जायगा। आपने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना की थी।

---

१. डा० विंटरनित्स—हिस्ट्री भाग २ पृ० ३४५।

२. डा० विद्याभूषण नागार्जुन, प्रो० फ० ओ० का० भाग २, पृ० १२६।

३. डा० पुसें—दी माध्यमिकस एण्ड दी तथता इ० हि० क्वा० भाग ६, (१६३३) पृ० ३०—३१। [illegible] आर्यदेव के चीनी अनुवादवाले ग्रन्थ के नाम का अँगरेजी में 'जेम इन हैंड' या 'जेवेल इन हैंड' ऐसा अनुवाद किया है।

४. डा० पुसें—दी मिडिल पाथ-इ० हि० क्वा० भाग ४, (१६२८) पृ० १६४।

५—६. डा० विण्टरनित्स हिस्ट्री—भाग २, पृ० ३६३।

१—माध्यमिकावतार—इसका तिब्बतीय अनुवाद मिलता है। यह एक मौलिक ग्रन्थ है जिसमें 'शून्यवाद' की विशद व्याख्या की गई है। २—प्रसन्नपदा—यह नागार्जुन की माध्यमिक कारिका की सुप्रसिद्ध टीका है जो मूल संस्कृत में उपलब्ध हुई है तथा प्रकाशित हुई है[1]। यह टीका बड़ी ही प्रामाणिक मानी जाती है। इसका गद्य दार्शनिक होते हुए भी अत्यन्त सरस है, प्रसाद-गुण-विशिष्ट और गम्भीर है। इसके बिना नागार्जुन का भाव ठीक-ठीक समझना कठिन है। ३—चतुःशतक टीका—यह ग्रन्थ आर्यदेव के चतुःशतक नामक ग्रन्थ की व्याख्या है। चतुःशतक का कुछ ही आरम्भिक भाग संस्कृत मूल में मिला है। पं० विधुशेखर शास्त्री ने चतुःशतक के ८ से लेकर १६ परिच्छेदों तक का तिब्बतीय भाषा से संस्कृत में पुनर्निर्माण किया है। उसके साथ ही साथ उन्होंने चन्द्रकीर्ति की व्याख्या (चतुःशतक के ऊपर) के महत्त्वपूर्ण अंशों का भी तिब्बतीय भाषा से संस्कृत में अनुवाद किया है[2]। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ के आरम्भिक परिच्छेदों की चन्द्रकीर्ति की टीका मूल संस्कृत में भी मिली है। मूल तथा टीका का पता डा० हरप्रसाद शास्त्री ने ही नेपाल से लगाया तथा उन्हीं ने उसे सम्पादित किया है[3]। यह टीका 'प्रसन्नपदा' से भी अधिक महत्त्व की मानी जाती है; क्योंकि इस ग्रन्थ में सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए अनेक सुन्दर आख्यान तथा उदाहरण दिये गये हैं।

ये प्रासंगिक मत के प्रधान प्रतिनिधि थे तथा अपने समय के माध्यमिक सम्प्रदाय के सबसे बड़े विद्वान् तथा व्याख्याता थे। डा० शेरबास्की ने भी इनको व्यतिरेकी प्रमाणों से अद्वैत को सिद्ध करनेवाला महनीय आचार्य माना है[4]।

वैभाषिक सम्प्रदाय के आचार्य

इस युग में हीनयान के वैभाषिक सम्प्रदाय के साहित्य की वृद्धि भी हुई। चीन-देशीय ग्रन्थों से हमें इस सम्प्रदाय के दो बड़े-बड़े आचार्यों के आविर्भाव का पता लगता है।

१ मनोरथ

वैभाषिक सम्प्रदाय के ये पहले आचार्य थे और बड़े विद्वान् थे। ये आचार्य वसुबन्धु के मित्र थे। अतएव यह निश्चित है कि ये ईसा की चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध में हुए और इस प्रकार सम्राट् समुद्रगुप्त के समकालीन थे[5]।

---

१. यह ग्रन्थ बिब्लोथिका बुद्धिका (रूस) नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमाला में छपा है।

२. पं० विधुशेखर शास्त्री—चतुःशतक आफ् आर्यदेव, विश्वभारती सीरीज नं० २ (कलकत्ता) १९३१।

३. मेम्वायर्स आफ् एशियाटिक सोसाइटी आफ् बंगाल भाग ३, नं० ८, पृष्ठ ४४९—५१४ (कलकत्ता), १९१४।

४. "A mighty Champion of the purely negative method of establishing monism." । डा० शेरबास्की—दी सेंट्रल कंसेप्शन आफ् निर्वाण पृ० ६६।

५. डा० विण्टरनित्स—हिस्ट्री पृ० २६६।

२ संघभद्र

आप 'मनोरथ' के समकालीन ही थे। परन्तु वसुबन्धु के मित्र न होकर उनके बड़े भारी प्रतिस्पर्द्धी थे। वसुबन्धु के साथ आपका घोर विरोध था, जिसका कारण यह था कि आपकी सम्मति में वसुबन्धु ने अपने 'अभिधर्मकोश' में, जो वैभाषिक सिद्धान्त के प्रतिपादन करने के लिए लिखा गया था, बहुत से ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो इस सम्प्रदाय (वैभाषिक) के मूल-ग्रन्थ 'विभाषा' में हैं ही नहीं। अतएव संघभद्र ने 'अभिधर्मकोश' का खण्डन करने में अपने जीवन के अमूल्य लम्बे बारह वर्ष लगाये तथा इसके फल-स्वरूप कोशकरका[1] नामक ग्रन्थ की रचना हुई। इसके अनन्तर उन्होंने वसुबन्धु को शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा। वसुबन्धु उनको मध्यदेश में बुलाकर शास्त्रार्थ करना चाहते थे। इसी बीच 'संघभद्र' की मृत्यु हो गई। अतः दोनों आचार्यों में शास्त्रार्थ न हो सका। इस घटना से संघभद्र की मृत्यु के समय का ठीक-ठीक पता लग सकता है। यह उस समय की घटना है जब वसुबन्धु वैभाषिक मत के माननेवाले थे और उन्होंने अभी तक योगाचार मत को स्वीकार नहीं किया था। ऐसा प्रसिद्ध है कि आचार्य वसुबन्धु अपनी मृत्यु के केवल दस वर्ष पहले अपने ज्येष्ठ भ्राता असंग के द्वारा योगाचार मत में दीक्षित हुए। अतएव वसुबन्धु की मृत्यु के दस वर्ष पहले 'संघभद्र' की मृत्यु हुई थी। वसुबन्धु की मृत्यु ३६० ई० में हुई। अतएव संघभद्र की मृत्यु दस वर्ष पहले अर्थात् ३५० ई० में हुई होगी। अतः इनका समय २८० ई० से लेकर ३५० ई० है[2]। इसी नाम के एक दूसरे आचार्य भी थे जिन्होंने ४८९ ई० में चीन में जाकर विभाषाविनय नामक ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद किया[3]। इनके दो ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद मिलता है। संस्कृत मूल का बिलकुल पता नहीं चलता। १—'कोशकरका'—यह वही ग्रन्थ है जिसे संघभद्र ने बारह वर्ष तक सतत परिश्रम कर, वसुबन्धु के 'अभिधर्मकोश' के खण्डन में, लिखा था। वसुबन्धु के साथ शास्त्रार्थ न हो सकने के कारण संघभद्र ने अपनी मृत्यु के समय इस ग्रन्थ को उनके पास भेज दिया। वसुबन्धु ने इसका नाम बदलकर 'न्यायानुसार शास्त्र' रख दिया। यह ग्रन्थ अब इसी नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में एक लाख बाईस हजार श्लोक हैं। यह ग्रन्थ साधारण पाठकों के लिए अत्यन्त ही कठिन है तथा अत्यन्त विस्तृत भी है। संघभद्र ने स्वयं लिखा है कि यह ग्रन्थ उन लोगों के काम के लिए है जो दर्शन-सिद्धान्तों के विशेषज्ञ हैं। इसी लिए साधारण पाठकों को विभाषा शास्त्र की जानकारी प्राप्त कराने के लिए आपने एक दूसरा ग्रन्थ बनाया जिसमें इस ग्रन्थ का सार संकलित किया गया। इस ग्रन्थ का नाम २—'समयप्रदीपिका' है। इसमें 'विभाषा' दर्शन के समस्त सिद्धान्तों का बड़ी ही सुन्दर रीति

---

१. करका शब्द का अर्थ संस्कृत में हिमवृष्टि है। चूँकि यह ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' के खण्डन के लिए लिखा गया था, इसी लिए ग्रन्थकार ने इसका नाम 'कोशकरका' (अभिधर्मकोश के लिए हिमवृष्टि) रख दिया।

२. डा० विनयतोष भट्टाचार्य—तत्त्वसंग्रह भूमिका, पृ० ६८—६९।

३. डा० नैञ्जो—कै० ना० त्रि० नं० ६५।

से प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ में १०,००० श्लोक हैं। ह्वेन्सांग ने सप्तम शताब्दी के मध्य में इन दोनों ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। ये ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं[1]।

जिस प्रकार वसुबन्धु अयोध्या में रहते थे उसी प्रकार संघभद्र का भी कार्यक्षेत्र अयोध्या ही था। यहीं पर आपने इन दोनों ग्रन्थों की रचना की।

स्थविरवाद सम्प्रदाय के आचार्य

हीनयान का सबसे प्राचीन सम्प्रदाय थेरवाद या स्थविरवाद है। विद्वानों का मत है कि बौद्ध-धर्म के चारों सम्प्रदायों में यही सबसे प्राचीन है तथा बुद्ध ने इसी की शिक्षा दी थी। इस सम्प्रदाय के सब ग्रन्थ पाली भाषा में लिखे गये हैं। अत्यधिक प्राचीन होने के कारण पाली ग्रन्थों की रचना अशोक के पहले ही हो चुकी थी। परन्तु गुप्त-काल में ही इन ग्रन्थों पर अनेक प्रामाणिक टीकाएँ, पाली में, लिखी गई। अतः पाली-साहित्य की उन्नति की दृष्टि से भी गुप्त-काल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसी युग में मूल पाली-धर्मग्रन्थों के सबसे प्रामाणिक टीकाकार उत्पन्न हुए जिनकी टीकाएँ साहित्य तथा धर्म दोनों की दृष्टि से अमूल्य हैं। इस काल में तीन सुप्रसिद्ध टीकाकार हुए जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है।

१ आचार्य बुद्धघोष

इनका जन्म मगध में बुद्ध-गया के बोधिवृक्ष के पास ही एक ब्राह्मण-वंश में हुआ था। इन्होंने वेदादिक समस्त हिन्दू धर्मशास्त्रों का अच्छी तरह अध्ययन किया। इनसे किसी विहार में एक बौद्ध थेर (स्थविर) से परिचय हुआ जिन्होंने इनको बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया। इनके गुरु का नाम रेवत था। इनकी वाग्मिता भगवान् बुद्ध के ही समान थी, इसी कारण लोग इन्हें बुद्धघोष कहने लगे। सिंहाली भाषा में लिखे गये 'अट्ठकथा' नामक विख्यात टीका-ग्रन्थों के अध्ययन के लिए आप सिंहल द्वीप (लंका) में गये। उस समय वहाँ महानाम नामक राजा राज्य कर रहा था। अनुराधपुर के महाविहार में इन्होंने 'अट्ठकथाओं' का अनुशीलन किया और वहाँ के भिक्षुओं से इन्होंने उनका पाली भाषा में अनुवाद करने की सम्मति माँगी। इनकी योग्यता की परीक्षा करने के लिए भिक्षुओं ने इनको अनेक गाथाओं पर टीकाएँ लिखने का काम दिया। आप इतने बड़े अगाध विद्वान् तथा शास्त्रज्ञ थे कि आपने इन गाथाओं में से केवल दो गाथाओं को चुनकर उनके ऊपर एक अत्यन्त महत्त्व तथा विद्वत्ता से पूर्ण ग्रन्थ की रचना ही कर डाली। इस ग्रन्थ का नाम विशुद्धिमग्ग है। भिक्षुओं ने आपकी प्रचण्ड विद्वत्ता देखकर अत्यन्त आश्चर्य प्रकट किया तथा प्रसन्न होकर आपको इन अट्ठकथाओं का पालीभाषा में अनुवाद करने की आज्ञा दे दी। आज्ञा के मिल जाने पर आप अपने कार्य में, परिश्रम के साथ, जुट गये और वहीं अनुराधपुर के महाविहार में रहकर आपने उन अट्ठकथाओं का पाली भाषा में अनुवाद

---

१. इन अनुवादों के लिए देखिए—प्रभातकुमार मुकर्जी— इंडियन लिटरेचर एब्राड; इ० हि० क्वा० भाग २, (१९२६) पृ० ७७१-७२।

कर डाला। इस प्रकार अपना कार्य सफलतापूर्वक समाप्त कर आप लंका द्वीप से विदा होकर बोधगया में आये। यहाँ आकर आपने आदर तथा श्रद्धा के साथ बोधिवृक्ष की पूजा की। फिर वे अपना शेष जीवन यहीं रहकर बिताने लगे[1]।

बुद्धघोष का समय निश्चित रूप से निर्धारित किया जा सकता है। बुद्धघोष का समकालीन लंका द्वीप का राजा 'महानाम' पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राज्य करता था। ४२८ ई० में चीन देश के राजा ने इसके पास अपना दूत भेजा था। इसलिए महानाम का समय ४१३—४३५ ई० तक माना जाता है। बुद्धघोष का भी यही समय है। इसकी पुष्टि इस घटना से होती है कि इनकी समन्तपासादिका नामक टीका का चीनी भाषा में अनुवाद ४८६ ई० में हुआ था[2]। अतः निश्चय है कि आचार्य बुद्धघोष पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में हुए थे।

आपके नाम से बहुत से ग्रन्थ हैं। ये सब ग्रन्थ आपही की कृति हैं, इसमें विद्वानों को बड़ा सन्देह है, तथापि निम्नलिखित ग्रन्थ निश्चित रूप से आपकी ही रचना बताये जाते हैं। १—'विशुद्धिमग्ग'—संघपाल नामक बौद्ध थेर की प्रार्थना पर आपने यह ग्रन्थ बनाया था। विशुद्धि प्राप्त करने के मार्ग—शील, समाधि और प्रज्ञा—का इसमें बहुत ही सुन्दर वर्णन है। एक प्रकार से यह ग्रन्थ तीनों त्रिपिटकों का सारांश है। डा० विमलचरण ला ने इस ग्रन्थ को बौद्ध-धर्म का 'ज्ञान-कोश' बतलाया है[3]। २. 'समन्तपासादिका'—विनयपिटक के समस्त ग्रन्थों की यह टीका है। इस ग्रन्थ में भौगोलिक तथा ऐतिहासिक जानकारी के लिए भी बहुत सी बातें हैं। ३—'कंखा वितरणी'—यह विनय-सम्बन्धी पातिमोक्ख नामक ग्रन्थ की टीका है। ४—'सुमंगलविलासिनी'—यह 'दीघनिकाय' की सुप्रसिद्ध टीका है। इसमें इतिहास की बहुत सी सामग्री भरी पड़ी है और बहुत से आख्यान भी हैं जिनसे बौद्ध-कालीन भारत के सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक इतिहास पर अत्यधिक प्रकाश पड़ता है। ५—'पपंचसूदनी'—यह 'मज्झिमनिकाय' की सुविस्तृत टीका है जो बुद्धमित्त नामक थेर के प्रार्थना करने पर लिखी गई थी। ६—'सारत्थपकासिनी'—यह 'ज्योतिपाल' थेर के प्रार्थना पर लिखी गई थी। यह 'संयुक्त-निकाय' की टीका है। ७—'मनोरथपूरणी'—यह भदन्त नामक थेर की प्रार्थना पर लिखी 'अङ्गुत्तरनिकाय' की टीका है। इनके अतिरिक्त 'गन्धवंश' ने 'अभिधर्मपिटक' की ८—'परमत्थकथा' नामक टीका तथा ९—'खुद्दकपाठ', १०—'सुत्तनिपात',

---

१. इनके विस्तृत जीवन-चरित के लिए देखिए—डा० विमलचरण ला—लाइफ आफ बुद्धघोष, (कलकत्ता) और ए हिस्ट्री आफ पाली लिटरेचर भाग २, पृ० ३८७-९१। डा० विंटरनित्स—हिस्ट्री भाग २, पृ० १९०-९२ तथा ६०९-११।

२. डा० विंटरनित्स—हिस्ट्री भाग २, पृ० १९०।

३. बुद्धघोष के समस्त ग्रन्थों के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—डा० विमलचरण ला—ए हिस्ट्री आफ पाली लिटरेचर (१९३३ ई०) भाग २, पृ० ३९९—४८१।

११—'जातक', १२—'अपदान' पर भी इनकी टीकाओं का उल्लेख किया है। १३—'धम्मपद' के ऊपर विस्तृत टीका भी इन्हीं की बतलाई जाती है। परन्तु 'जातक' तथा 'धम्मपद' की टीकाओं के विषय में विद्वानों को बड़ा सन्देह है कि ये इनकी रचनाएँ नहीं हैं[1]।

आचार्य बुद्धघोष का नाम तब तक आदर तथा सम्मान के साथ लिया जायगा जब तक भगवान् बुद्ध के चलाये मार्ग का एक भी पथिक इस भूतल पर बचा रहेगा। इनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता, अपूर्व उत्साह, अदम्य अध्यवसाय तथा अश्रान्त परिश्रम को देखकर कौन ऐसा विद्वान् होगा जो आश्चर्य में न डूब जाय। संस्कृत के गम्भीर विद्वान् होते हुए भी ये पाली भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनके ग्रन्थ इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा व्यापक पाण्डित्य के जाज्वल्यमान उदाहरण हैं। वे केवल बौद्ध-धर्म के लिए ही उपयोगी नहीं हैं प्रत्युत भारतीय राजनीतिक, सामाजिक, दार्शनिक तथा आर्थिक इतिहास के ज्ञान के अमूल्य भाण्डार हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। पाली भाषा के सर्वप्रथम सब से उत्कृष्ट प्रामाणिक टीकाकार बुद्धघोष ही हैं।

२ बुद्धदत्त

आचार्य बुद्धदत्त बुद्धघोष के ही समकालीन थे। इनका जन्म उरगपुर (आधुनिक नाम उरियाउर) नामक प्रसिद्ध नगर में हुआ था। आप भी पाली-साहित्य के अध्ययन के लिए लंका द्वीप गये थे। जब आप वहाँ से लौट रहे थे तब रास्ते में आपकी बुद्धघोष से भेंट हुई, जब वे भारतीय बौद्ध भिक्षुओं की प्रार्थना पर सिंहली 'अट्ठकथा' के अध्ययन तथा अनुवाद करने के लिए सिंहल द्वीप जा रहे थे। बुद्धघोष के उदात्त कार्य से बुद्धदत्त अत्यन्त प्रसन्न हुए और उनसे स्पष्ट शब्दों में कहा कि जब आप अपनी टीका लिख चुकिएगा तब, संक्षेप करने के लिए, उसको मेरे पास भेजिएगा। बुद्धघोष ने ऐसा ही किया तथा अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार बुद्धदत्त ने कई ग्रन्थों में उन ग्रन्थों का निचोड़ संक्षेप में लिखा[2]। ये कुमारगुप्त प्रथम के समकालीन थे। अतः आपका समय पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनका यहाँ उल्लेख किया जाता है। १. 'अभिधम्मावतार'—यह ग्रन्थ बौद्ध सिद्धान्त के जिज्ञासुओं के लिए बड़े काम का है। इसमें बुद्धदत्त ने बुद्धघोष के द्वारा 'अभिधर्म' के ऊपर की गई टीका का सारांश उपस्थित किया है। यह ग्रन्थ गद्य-पद्य-मिश्रित है। २. 'रूपारूपविभाग'—यह ग्रन्थ गद्य में है। इन दोनों को लंदन की पाली टेक्स्ट सोसाइटी ने प्रकाशित किया है। ३. 'विनयविनिश्चय', ४. 'उत्तर विनिश्चय'—इन दोनों ग्रन्थों में 'विनयपिटक' के सिद्धान्त का सारांश दिया गया है। ये दोनों ग्रन्थ पद्य में हैं और बुद्धघोष की 'समन्तपासादिका' के, एक प्रकार से, संक्षिप्त संस्करण हैं। नं० ३ में ३१ और नं० ४ में २३ परिच्छेद हैं। पहले ग्रन्थ में ३१८३ श्लोक हैं तथा दूसरे में ६६६। ये दोनों ग्रन्थ बड़ी ही

---

१. डा० विंटरनित्स – हिस्ट्री—भाग २, पृ० १९२।

२. डा० विमलचरण ला—हिस्ट्री आफ पाली लिटरेचर भाग २, पृ० ३८४—८७। डा० विंटरनित्स—हिस्ट्री भाग २, पृ० २२०।

ललित भाषा में लिखे गये हैं। ५. 'मधुरत्थविलासिनी' —यह 'बुद्धवंश' की टीका है। बुद्धदत्त ने इन सब ग्रन्थों की, कावेरी नदी के किनारे कृष्णदास के द्वारा बनाये गये विहार में रहते हुए, रचना की[1]।

३ धम्मपाल[2]

ये पाली त्रिपिटकों के अन्तिम प्रसिद्ध टीकाकार हैं। इनका समय बुद्धघोष के कुछ ही पीछे पड़ता है अतः आप पाँचवीं शताब्दी के मध्य भाग (लगभग) में आविर्भूत हुए। इनका जन्म काञ्ची में हुआ था। सातवीं शताब्दी में जब ह्वेनसाँग ने काञ्ची की यात्रा की थी तब वहाँ के भिक्षुओं ने उससे कहा था कि धम्मपाल का जन्म यहीं हुआ था। धम्मपाल बड़े ही विद्वान् टीकाकार थे। पारिभाषिक शब्दों की उनकी व्याख्या बड़ी ही सरस तथा सरल है। उनका व्याख्या करने का ढङ्ग भी अनूठा है। धम्मपाल को व्याख्या बुद्धघोष की व्याख्या से बड़ी समानता रखती है। अतः सिंहल-द्वीप में इन्होंने भी सिंहली 'अट्ठकथाओं' का, अनुराधपुर में रहकर, अवश्य अनुशीलन किया होगा। इनकी टीकाएँ धर्म के अतिरिक्त भारतीय इतिहास के लिए भी बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं। 'खुद्दकनिकाय' के जिन ग्रन्थों के ऊपर बुद्धघोष ने टीका नहीं लिखी थी उनके ऊपर इन्होंने टीकाएँ लिखीं और इस प्रकार बुद्धघोष के कार्य की आपने पूर्ति की। आपके टीकाग्रन्थ का नाम 'परमत्थदीपनी' है। इन्होंने निम्नलिखित ग्रन्थों पर ये टीकाएँ लिखी हैं[3]। १—'विमानवत्थु टीका'—इस टीका में लगभग ६८ कहानियों का संग्रह है जिनके द्वारा बुद्ध-धर्म में स्वर्ग तथा नरक की कल्पना के भाव को हम आसानी से समझ सकते हैं। २—'पेतवत्थु टीका'—इस टीका में प्रेतों के विषय की कहानियों का संग्रह किया गया है। इनमें से कुछ सिंहली अट्ठकथाओं से ली गई हैं और कुछ परम्परागत हैं। ३—'थेरीगाथा टीका'—इसमें सुप्रसिद्ध 'थेरीगाथा' की टीका है और इनकी लेखिका थेरियों का पूरा ऐतिहासिक परिचय दिया है। ४—'थेरगाथा टीका'—इस ग्रन्थ में इन गाथाओं के लिखनेवाले जितने थेर थे उनका ऐतिहासिक विवरण दिया गया है। ५—इतिवुत्तक, ६—उदान टीका, ७—चरियापिटक टीका—ये तीनों ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित हैं अतः इनके सम्बन्ध में कुछ विवरण प्राप्त नहीं है।

आचार्य चन्द्रगोमिन्

चान्द्र व्याकरण के कर्ता, सुप्रसिद्ध बौद्ध वैयाकरण, आचार्य चन्द्रगोमिन् भी गुप्त-युग की ही एक जाज्वल्यमान विभूति थे। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी तथा आपका

१. इन ग्रन्थों के विशेष विवरण के लिए देखिए — डा० ला —हिस्ट्री भाग २, पृ० ३६६—६६।

२. वही, पृ० ३८१ ३८८ ।

३. इन टीकाओं की अन्तरंग परीक्षा के लिए देखिए —डा० ला—हिस्ट्री भाग २, पृ० ४८१—५१६। डा० विण्टरनित्स—हिस्ट्री भाग २, पृ० २०५—७।

पाण्डित्य अगाध था। वावदूकता में भी आप अद्वितीय थे। व्याकरण जैसे नीरस तथा कठिन विषय में आपकी बुद्धि जितनी पैनी थी, साहित्य जैसे सरस विषय में भी उतनी ही तीव्र थी। व्याकरण के तो आप आचार्य हैं। आपने एक नये व्याकरण-सम्प्रदाय की सृष्टि की है जो आपके नाम से, चान्द्र व्याकरण के नाम से, प्रसिद्ध है। पाणिनीय व्याकरण पर भी आपके व्याकरण का कम प्रभाव नहीं पड़ा है। वामन और जयादित्य ने काशिकावृत्ति में चन्द्रगोमिन् के अनेक सूत्रों को अपनाकर पाणिनीय व्याकरण के द्वारा असिद्ध प्रयोगों को, आपके सूत्रों की सहायता से, सिद्ध किया है। आपने न केवल एक नये व्याकरण-सम्प्रदाय को जन्म दिया प्रत्युत उत्तर भारत में, दुर्दैव से लुप्तप्राय होनेवाले, पतञ्जलि के महाभाष्य को दक्षिण भारत से लाकर तथा उसका पुनरुद्धार कर पुनरुज्जीवित भी किया। इस कारण पाणिनीय व्याकरण के ऊपर भी आपका कुछ कम ऋण नहीं है। नूतन व्याकरण सम्प्रदाय की स्थापना करने के साथ-साथ आपने इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण के पुनरुद्धार तथा पल्लवित करने का भी श्लाघनीय प्रयत्न किया। इसका उल्लेख वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ में इस प्रकार किया है[1]—

> यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।
> काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः॥
> पर्वतादागमं[2] लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।
> स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥

चन्द्रगोमिन् वैयाकरण होने के अतिरिक्त एक विदग्ध साहित्यिक तथा कुशल नाटककार भी थे।

आचार्य चन्द्रगोमिन् का संबंध उत्तर भारत से ही था। ये आचार्य स्थिरमति के पट्टशिष्य थे। सुनते हैं, ये लंका द्वीप भी गये थे। वहाँ से लौटते समय दक्षिण भारत में वररुचि नामक पण्डित के घर इन्हें महर्षि पतञ्जलि का महाभाष्य प्राप्त हुआ[3]। आपने इसका उद्धार किया तथा इसमें त्रुटियाँ देख चान्द्र व्याकरण बनाया। इस प्रकार प्रचुर प्रसिद्धि प्राप्त करने पर ये एक बार नालन्दा पधारे जहाँ पर माध्यमिक दर्शन के विख्यात व्याख्याता आचार्य चन्द्रकीर्ति रहते थे। वहीं पर इन दोनों आचार्यों में दार्शनिक विषय पर गहरा शास्त्रार्थ हुआ। आचार्य चन्द्रगोमिन् योगाचार-सम्प्रदाय के आचार्य थे तथा आचार्य चन्द्रकीर्ति माध्यमिक मत के अगाध विद्वान् थे। इस प्रचण्ड शास्त्रार्थ में आचार्य

---

१. वाक्यपदीय द्वितीयकाण्ड कारिका नं० ४८८-८९।

२. पुण्यराज ने 'वाक्यपदीय' की अपनी टीका में पर्वत शब्द की व्याख्या यों की है—'पर्वतात्—त्रिकूटैकदेशवर्तित्रिलिङ्गैकदेशात्।' इससे ज्ञान होता है कि इस शब्द (पर्वत) से भर्तृहरि को तैलङ्ग (त्रिलिङ्ग) देश अभीष्ट है। उत्तरीय भारत में जब व्याकरण महाभाष्य नष्ट हो गया तब तैलङ्ग देश में ही उसका पठन-पाठन होता था। वहीं से चन्द्राचार्य (चन्द्रगोमिन; गोमिन् = पूज्यः—आचार्यः 'गोमिन् पूज्ये') तथा भर्तृहरि के गुरु वसुरात ने इसका उद्धार कर उत्तरीय भारत में प्रचार किया।

३. डा० विद्याभूषण—हिस्ट्री० पृ० ३३४।

चन्द्रगोमिन् माध्यमिक मत का खण्डन तथा अपने योगाचार मत का मण्डन इतनी सुन्दरता से करते थे कि श्रोता लोग मन्त्रमुग्ध से होकर आनन्दोल्लास में चिल्ला उठते कि "अहो ! आर्य नागार्जुन का मत (माध्यमिक) किसी के लिए औषध है परन्तु किसी के लिए विष है, लेकिन आर्य असंग (योगाचार) का सिद्धान्त तो समस्त जन के लिए अमृतरूप ही है"[1]। इस प्रकार इन्होंने नालन्दा में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। एक बार विमनस्क होकर इन्होंने अपने चान्द्र व्याकरण की मूल प्रति को व्यर्थ समझकर कुएँ में फेंक दिया। लेकिन उसी समय इनके सामने तारा और अवलोकितेश्वर प्रकट हुए और कहा कि "यद्यपि चन्द्रकीर्ति घमण्ड में चूर है, परन्तु आगे चलकर अन्त में तुम्हारा ही व्याकरण संसार के लिए अधिक उपयोगी होगा।" यह कहकर उन्होंने उस ग्रन्थ को कुएँ से बाहर निकाला। उसी दिन से वह कुआँ भी चन्द्रकूप के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस प्रकार यद्यपि चन्द्रकीर्ति इनके प्रतिस्पर्द्धी थे तथापि वे इनके अलौकिक गुणों के नितान्त प्रशंसक थे। जब नालन्दा-महाविहार के भिक्षुओं ने चन्द्रगोमिन् का स्वागत करने से इन्कार कर दिया तब चन्द्रकीर्ति ने ही बड़े कौशल से इनके स्वागत का आयोजन किया और बड़े ठाट-बाट और शान से इन्हें नालन्दा-महाविहार में ले आये। इस प्रकार आचार्य चन्द्रगोमिन् और चन्द्रकीर्ति परस्पर प्रतिस्पर्द्धी होते हुए भी एक दूसरे के प्रशंसक तथा गुणग्राही थे तथा आपस में मैत्री-भाव रखते थे।

डा० विद्याभूषण ने चन्द्रगोमिन् का समय वामन तथा जयादित्य के बाद इसी लिए माना है कि काशिका वृत्ति में इनका कहीं उल्लेख नहीं मिलता[2]। परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। काशिकावृत्ति के लेखकों ने चन्द्रगोमिन् के व्याकरण-सूत्रों को अपने ग्रन्थ में स्थान दिया है। अतः आप काशिकाकार (६५० ई०) से अवश्य पहले के हैं[3]। चान्द्र व्याकरण के एक सूत्र की वृत्ति में इन्होंने 'अजयत् गुप्तो हूणान्' वाक्य अनद्यतनभूत के उदाहरण में दिया है। स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ने ४५५ ई० में हूणों को पराजित किया था[4]। अतः चन्द्रगोमिन् का आविर्भाव-काल पञ्चम शताब्दी के मध्य-भाग के बाद ही है। वसुबन्धु के प्रशिष्य होने के कारण भी इनका इस काल में आविर्भाव मानना उचित ही है। डा० लिबिश तथा विंटरनित्स भी इनका समय पाँचवीं शताब्दी का उत्तरार्ध तथा छठी शताब्दी का पूर्वार्ध मानते हैं[5]।

आपके काव्य, नाटक तथा व्याकरण ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१—'शिष्यलेख-धर्मकाव्य'—यह काव्य-ग्रन्थ किसी शिष्य को पत्र रूप में लिखा गया

---

१ डा० विद्याभूषण—हिस्ट्री पृ० ३२४-२५। तिब्बतीय ऐतिहासिक तारानाथ ने चन्द्रगोमिन् का जीवन-चरित तिब्बतीय भाषा में लिखा है। उसी के आधार [illegible] पुस्तक में आपका विस्तृत चरित दिया है। अतः अधिक जानकारी [illegible]।

२. डा० विद्याभूषण—हिस्ट्री पृ० ३३५।

३. डा० बैल्वेलकर—सिस्टम्स् आव संस्कृत ग्रामर, पृ० ५८।

४. डा० स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया पृ० ३०९ (तृतीय संस्करण)।

५. डा० विंटरनित्स—हिस्ट्री इ० लि० भाग २ पृ० ३६५ नोट ४।

है। इसमें बौद्ध सिद्धान्तों का विवेचन सुन्दर कविता में किया गया है। वल्लभदेव की 'सुभाषितावली' में यही चन्द्रगोमिन् कवि चन्द्रगोपिन् के नाम से स्मरण किये गये हैं। वल्लभदेव ने इनके चार श्लोकों को उद्धृत किया है जो सांसारिक विषयों की निन्दा में लिखे गये हैं[1]। इन्हीं में से एक श्लोक शिष्यलेख में भी मिलता है। २—'आर्य-साधन-शतक[2]।' ३—'आर्य तारान्तरबलिविधि[3]।' चन्द्रगोमिन् भगवती तारा के अनन्य उपासक थे। उन्हीं की स्तुति में इस शतक तथा स्तोत्र की रचना हुई है। ४—'लोकानन्द'—यह एक बौद्ध नाटक है। इसका मूल संस्कृत नहीं मिलता, परन्तु तिब्बतीय भाषा में इसका अनुवाद आज भी उपलब्ध है। इस ग्रन्थ के नायक मणिचूड़ ने दया-परवश होकर अपनी स्त्री तथा लड़कों को एक ब्राह्मण को दे दिया था। इसी आख्यान का वर्णन नाटक रूप में है[4]। ५—'चान्द्र व्याकरण' चन्द्रगोमिन् का सबसे विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अब तक यह ग्रन्थ केवल तिब्बतीय भाषा में मिलता था परन्तु जर्मनी के आजकल के सबसे बड़े संस्कृत वैयाकरण डा० ब्रूनो लाइबिश (Bruno Leibich) ने सतत परिश्रम कर इस चान्द्र व्याकरण के पूरे सम्प्रदाय-ग्रन्थों को मूल संस्कृत में खोज निकाला है तथा उन्हें प्रकाशित भी किया है[5]। चान्द्र व्याकरण के मूल सूत्र छः अध्यायों में हैं जिनके ऊपर ग्रन्थकार की अपनी वृत्ति है। इसके अतिरिक्त धातुपाठ, लिङ्गानुशासन, गणपाठ, उपसर्गवृत्ति, वर्णसूत्र, उणादि शब्दसूची आदि व्याकरण के आवश्यक अंग भी चन्द्रगोमिन् के बनाये हुए मिलते हैं। इनमें से कुछ प्रकाशित हुए हैं तथा कुछ अप्रकाशित हैं[6]।

---

१. चन्द्रगोपिन् (चन्द्रगोमिन्) के नाम से 'सुभाषितावलि' में उद्धृत चारों पद्य यहाँ दिये जाते हैं। इसी से पाठक चन्द्रगोमिन् की सरसहृदयता, विदग्धता तथा काव्य-चातुरी का अनुमान कर सकते हैं। श्लोक के अन्त मे 'सुभाषितावलि' का नम्बर दिया गया है।

विषस्य विषयाणां च, दूरमत्यन्तमन्तरम्। उपभुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि॥ नं० ३३६८

कामं विषं च विषयाश्च निरीक्ष्यमाणाः, श्रेयो विषं न विषयाः परिसेव्यमानाः।
एकत्र जन्मनि विषं विनिहन्ति पीतं, जन्मान्तरेषु विषयाः परितापयन्ति॥ नं० ३३८४

दुर्गन्धिपूतिविकृतैररविन्दमिन्दुमिन्दीवरं च तुलयन्ति यदङ्गनाङ्गैः।
तस्यानपायि फलमुग्रमिदं कवीनां, तास्वेव गर्भनिलयं यदमी विशन्ति॥ नं० ३४४८

केचित् भयेन हि भजन्ति विनीतभावमन्ये जना विभवलोभकृतप्रयत्नाः।
केचिच्च साधुजनसंसदि कीर्तिलोभात् सद्भाववाञ्जगति कोऽपि न साधुरस्ति॥ नं० ३४४९

२. डा० विंटरनित्स—हि० इ० लि० भाग २ पृ० ३७९ नोट १।

३. डा० विद्याभूषण—स्रग्धरा स्तोत्र—भूमिका पृ० २०—२१।

४. डा० कीथ—संस्कृत ड्रामा—पृ० १६८।

५. डा० लाइबिश ने चान्द्र व्याकरण को १९०२ ई० में लाइपजिग (जर्मनी) से प्रकाशित किया था। उसके बाद उन्होंने उणादिसूची और धातुपाठ को भी वहीं से प्रकाशित किया है।

६. डा० बेल्वेल्कर—सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर पृ० ५९—६१।

चीन देश में बौद्ध-साहित्य का प्रसार

अब तक जो बौद्ध-साहित्य की वृद्धि का वर्णन किया है वह इस भारतभूमि में ही किये गये बौद्धों के परिश्रम का फल था। गुप्तों का काल बौद्ध-साहित्य के लिए सुवर्ण-युग था और इसकी अभिवृद्धि में भारत के उत्तर तथा दक्षिण के दोनों भागों ने मिलकर सहयोग किया था। इसका पता अब तक प्रस्तुत किये गये विवरण से अच्छी तरह लग सकता है। उत्साही बौद्ध भिक्षुगण भारतभूमि में ही अपने धर्म तथा साहित्य की वृद्धि कर शान्त होकर चुपचाप नहीं बैठ गये, प्रत्युत राष्ट्रीयता की जो लहर गुप्त-काल में बह रही थी उससे प्रभावित होकर इन लोगों ने समस्त एशिया को बौद्ध बनाने तथा धार्मिक और सांस्कृतिक सत्ता सुदूर देशों में जमाने के लिए वह कार्य कर दिखाया जो भारतीय इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। इस कार्य में न तो सूर्य की किरणों से भी अभेद्य हिमाचल के तुङ्ग शिखरों ने उनके मार्ग में किसी प्रकार की बाधा पहुँचाई और न अगाध, अगम्य भारतीय समुद्र ने ही उनके उत्साह को भंग करने का साहस किया। इन उत्साही बौद्धों ने इसी काल में चीनी तुर्किस्तान, चीन, जापान, सुमात्रा, जावा तथा बाली आदि देशों एवं द्वीपों में अपनी सभ्यता फैलाई, बौद्ध-धर्म का प्रचार किया, बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद प्रस्तुत किया और अपने धर्म की अभिवृद्धि करने के लिए किसी भी उपाय को उठा नहीं रक्खा।

गुप्त-काल में भारत का चीन देश के साथ विशेष सम्पर्क हुआ। बौद्ध-धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक चीनी यात्रियों ने कष्ट सहकर इस देश की यात्रा की और इसी समय में भारतीय बौद्ध भिक्षुओं ने चीन देश में जाकर अपने धर्म का झण्डा फहराया तथा अनेक संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में प्रामाणिक अनुवाद प्रस्तुत किया। ऐसे अध्यवसायी भिक्षुओं में कुमारजीव, बुद्धभद्र, बुद्धयश, धर्मरक्ष, गुणवर्मन, गुणभद्र, बोधिधर्म, संघपाल, परमार्थ, उपशून्य, बोधिरुचि और बुद्धशान्त का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है जो इस विशाल भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों से समुद्र और हिमालय को पार कर सुदूर चीन देश पहुँचे तथा जिन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया और जिनकी कीर्ति अपनी मातृभूमि में संस्मरणीय हो जाने पर भी आज भी चीन की कर्मभूमि में लहरा रही है। इन सभी बौद्धों के कार्यों का संक्षिप्त परिचय तक देना यहाँ स्थानाभाव के कारण असंभव है, परन्तु कुमारजीव और परमार्थ जैसे विद्वानों के अलौकिक कार्यों का परिचय न देना इन विद्वानों के प्रति अनादर दिखलाना है। अतः यहाँ पर केवल इन्हीं दो बौद्ध आचार्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

१ कुमारजीव

आपके पूर्वज भारत में किसी राजा के मन्त्री थे। इनके पिता ने इस पद को छोड़ने के साथ ही भारत को भी छोड़ दिया और चीनी तुर्किस्तान के कूचा नामक स्थान में चले गये। वहीं पर वहाँ के राजा की भगिनी जीवा के साथ इनका विवाह हुआ। कुमारजीव इन्हीं के पुत्र हैं। आप आयु के सातवें वर्ष में कुमारजीव भिक्षु बन गये तथा इनकी माता भी भिक्षुणी बन गईं। वे अपने पुत्र को कुभा में ले गईं जहाँ से

बन्धुदत्त के शिष्य हो गये। ३५२ ई० में ये अपने जन्म-स्थान के लौट आये जहाँ पर ये तीस वर्ष तक रहे। पहले ये सर्वास्तिवादी थे परन्तु सूर्यसोम की शिक्षा से ये महायान सम्प्रदाय में दीक्षित हुए। ३८३ ई० में चीनी जनरल ने कूचा पर आक्रमण कर उस पर अधिकार कर लिया। ये भी कैदी बनाकर चीन देश में लाये गये। परन्तु इनके पहुँचने के पहले ही इनकी कीर्ति चीन देश में पहुँच चुकी थी। राजा ने आपका स्वागत किया और आप राज-गुरु बनाये गये। यहीं रहकर इन्होंने बुद्ध के धर्म पर व्याख्यान देना प्रारम्भ किया। अब तक चीनी भाषा में चीनी भाषानभिज्ञ भारतीय पण्डितों के द्वारा संस्कृत-ग्रन्थों के जो अनुवाद हुए थे, वे केवल शाब्दिक अनुवाद थे। न तो वे ठीक थे और न सरस ही। चीनी भाषा तथा संस्कृत से अभिज्ञ होने से आपने जो अनुवाद किये वे ही प्रामाणिक सिद्ध हुए और इतनी शताब्दियों के व्यतीत हो जाने पर भी आज भी वर्तमान हैं। आपकी सहायता के लिए ८०० भिक्षु नियुक्त किये गये थे और स्वयं चीन देश का राजा भी उस विद्वन्मण्डली में उपस्थित होकर हस्तलिखित प्रतियों को मिलाया करता था। इन्होंने ९८ संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में किया है जिनमें 'सुखावती व्यूह', 'सद्धर्मपुण्डरीक', 'सर्वास्तिवाद प्रातिमोक्ष', 'सूत्रालंकार', 'शतशास्त्र', 'द्वादश-निकाय-शास्त्र', 'ब्रह्मजालसूत्र', 'सुराङ्गमसमाधि' आदि ग्रन्थों के अनुवाद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त आपही ने सर्वप्रथम बौद्धधर्म के आचार्य अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव तथा वसुबन्धु का चरित्र लिखकर इनकी कीर्ति को चीन देश में चिरस्थायी बनाया। विपुल कीर्ति अर्जन कर, ४१५ ई० के लगभग, कुमारजीव ने निर्वाण पद को प्राप्त किया[1]।

२ परमार्थ[2]

आप दूसरे बौद्ध विद्वान् हैं जिनका नाम संस्कृत पुस्तकों के चीनी भाषा में अनुवाद के साथ सम्बद्ध है। चीन के धार्मिक नरेश 'चीनी अशोक' सम्राट् उटी (Wuti) ने ५०२—५४९ ई० तक राज्य किया। वे बौद्ध-धर्म के बहुत बड़े पक्षपाती थे। चीन देश में उन्होंने मौर्य्य सम्राट् अशोक के समान ही कीर्ति तथा यश प्राप्त किया। ५३९ ई० में उन्होंने भारत से संस्कृत पुस्तकों के लाने के लिए विद्वानों का एक दल भेजा। यह दल ५४६ ई० में बहुत सी पुस्तकों को लेकर चीन पहुँचा। इसी दल के साथ परमार्थ चीन देश को गये। ये उज्जैन के रहनेवाले बौद्ध-भिक्षु थे। ५४८ ई० में ये राजधानी नैन्किङ्ग में पहुँचे और बीस वर्ष तक लगातार संस्कृत-ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करते रहे। इन्होंने ५० संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया जिनमें ३२ ग्रन्थों का अनुवाद आज भी उपलब्ध है। परमार्थ अभिधर्म के विशेष ज्ञाता थे। क्योंकि पाँच को छोड़कर इनके अन्य ग्रन्थ अभिधर्म से ही सम्बन्ध रखते हैं। इनकी महत्ता इसी कारण है कि मूल

---

१. इनकी जीवनी तथा ग्रन्थों के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—प्रभातकुमार मुकर्जी, इंडियन लिटरेचर एब्राड (कलकत्ता)।

२. परमार्थ की जीवन तथा ग्रन्थों के विशेष विवरण के लिए देखिए—वही।

संस्कृत ग्रन्थों के नष्ट हो जाने पर भी इनके द्वारा अनूदित चीनी भाषा के ग्रन्थों से ही अनेक ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का पता हमें चलता है। यदि इनके ये अनुवाद न रहते तो अनेक बौद्ध विद्वानों का कोई नाम तक नहीं जानता तथा वे सर्वदा के लिए अज्ञान के गहरे गर्त में विलीन हो जाते। इनके अनुवादित ग्रन्थों में से कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के नाम ये हैं— १. अश्वघोष का 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र', २—असंगकृत 'महायानसम्परिग्रह शास्त्र', ३—वसुबन्धु-कृत 'विज्ञप्तिमातृतासिद्धि', ४—'मध्यान्तविभग सूत्र', ५—'तर्क-शास्त्र', ६—'बुद्धगोत्र-शास्त्र', ७—'अभिधर्मकोश व्याख्या', ८—वसुवर्मनकृत 'चतुःसत्यशास्त्र', ९—गुणमतिकृत 'लक्षणानुसार शास्त्र'।

इन बौद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त 'सुवर्णसप्ततिशास्त्र' के नाम से इन्होंने ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका का, (सम्भवत: माठराचार्य की) वृत्ति के साथ, चीनी भाषा में अनुवाद किया। इन अनुवाद-ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने वसुबन्धु का जीवन-चरित भी लिखा था। ५६९ ई० में लगभग २० वर्ष तक साहित्यिक कार्य कर, विपुल कीर्ति-सम्पादन करके, परमार्थ ने अपनी जन्मभूमि से सुदूर चीन देश में अपनी ऐहिक लीला संवरण की।

इस प्रकार गुप्त-काल में बौद्ध-धर्म का प्रचुर प्रचार हुआ तथा उसके साहित्य का विशेष अभ्युदय हुआ। भारत के बाहर भी इस धर्म के शान्ति-सन्देश पहुँचे और मानव-समाज को सांसारिक प्रपञ्चों से हटकर विशुद्धि के—शील तथा समाधि के—मार्ग पर चलने का अमृतमय उपदेश दिया गया। अतएव जिस प्रकार गुप्त-काल हिन्दू-धर्म तथा संस्कृत-साहित्य के विपुल अभ्युदय के कारण इनके लिए सुवर्ण-युग था उसी प्रकार वह बौद्ध-धर्म और साहित्य की अभिवृद्धि तथा प्रसार के कारण यदि उनके लिए सुवर्ण-युग कहा जाय तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं होगी।

(३) जैन-साहित्य

गुप्त-काल जैन-साहित्य के इतिहास के लिए विशेष महत्त्व रखता है। यों तो ब्राह्मण तथा बौद्ध-साहित्य के लिए भी गुप्त-काल कुछ कम महत्त्व का नहीं है परन्तु जैन-साहित्य के लिए उसे कुछ ऐसी विशेषता प्राप्त है जिससे यह काल जैन साहित्य के इतिहास में सुवर्ण-युग कहलाने योग्य है। ब्राह्मण-साहित्य की उत्पत्ति तो बहुत पहले हो चुकी थी; कवियों तथा लेखकों द्वारा पहले से ही अनेक माननीय ग्रन्थों की रचना की जा चुकी थी। गुप्त-काल में उसे केवल प्रोत्साहन मिला जिससे उसकी आश्चर्यजनक उन्नति तथा सर्वाङ्गीण विकास हुआ। बौद्ध-साहित्य की भी ठीक ऐसी ही अवस्था थी। गुप्त-काल के पहले भी बौद्ध-दर्शन के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी; कवियों तथा दार्शनिकों ने, संस्कृत भाषा का आश्रय लेकर, बुद्ध के जीवन, सिद्धान्त एवं उपदेशों को पहले से श्रद्धालु जनता के सामने लाकर उपस्थित कर दिया था। गुप्त-काल में परिस्थिति अनुकूल थी; चारों तरफ शान्ति का वातावरण विद्यमान था। गुप्तों की धार्मिक सहिष्णुता ने लोगों के मन में एक धर्म के प्रति अन्धविश्वास तथा दूसरे धर्म के प्रति अकारण विद्वेष के भाव को जड़ से नष्ट कर दिया था, इस कारण

गुप्त-काल में बौद्ध-साहित्य को प्रचुर प्रोत्साहन मिला। उसमें बहुमूल्य ग्रन्थ रचे गये तथा चारों तरफ़ उसका समधिक प्रसार हुआ। इस प्रकार, गुप्त-काल ब्राह्मण तथा बौद्ध-साहित्य के लिए प्रसार का युग था। परन्तु जैन-साहित्य के लिए यह प्रसार का ही काल नहीं प्रत्युत इससे भी बढ़कर किसी अंश में लिखित साहित्य के आविर्भाव का युग था। गुप्त-काल में यदि ब्राह्मण और बौद्ध साहित्यरूपी वृक्ष फूला-फला तो जैन-साहित्य, अनेक अंशों में, पल्लवित हुआ।

जैन-साहित्य का काल-क्रम निर्धारित करने में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। जैन लोग इतिहास के बड़े प्रेमी थे। विज्ञ पाठक इस बात को भली भाँति जानते हैं कि जैनों ने अपने प्राचीन आचार्यों की जीवन-घटनाओं को पट्टावलियों में लिपिबद्ध कर रक्खा है। परन्तु अपने धर्म तथा साहित्य के प्रति विशेष श्रद्धाभाव के कारण उनमें कुछ ऐसी ऐतिहासिक असंबद्धता सी है जो भारतवर्ष के ज्ञात तथा प्रचलित इतिहास के साथ उन घटनाओं का समुचित मेल नहीं होने देती। अतएव ग्रन्थकारों का काल-निर्णय करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। आज-कल के यूरोपीय विद्वानों ने जैन-साहित्य की बहुत कुछ छानबीन की है। उन्होंने बड़े परिश्रम से उसका काल-क्रम निश्चित करने का प्रशंसनीय उद्योग किया है। परन्तु उनके मत में तथा जैनियों के परम्परागत मत में बहुत अन्तर प्रतीत होता है। आजकल की खोज जिन जैन-ग्रन्थ-कर्ताओं को बहुत ही आधुनिक मान रही है उन्हीं को जैन परम्परा ने विशेष प्राचीनता दे रक्खी है। इस परिच्छेद में जैन-लेखकों का काल-क्रम नूतन अनुसन्धान के अनुसार ही माना गया है, यद्यपि प्राचीन परम्परा की भी अवहेलना नहीं की गई है और स्थान-स्थान पर उसका भी निर्देश कर दिया गया है।

इस काल की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि इसी समय में जैन आगम लिपिबद्ध हुआ। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इसी काल में जैन न्याय, क्रमबद्ध रूप में, संकलित किया गया। इससे पहले जैन न्याय का आविर्भाव अवश्य हो चुका था लेकिन उसका सिलसिलेवार निर्माण नहीं हुआ था। अतः जैन न्याय को क्रमबद्ध करने का श्रेय इस गुप्त-काल को ही प्राप्त है। इस युग में जो लेखक पैदा हुए उन्होंने कर्कश न्याय तथा मधुर काव्य दोनों पर, समान शक्ति के साथ, अपनी लेखनी चलाई। एक ही व्यक्ति ने न्याय और काव्य दोनों विषयों पर ग्रन्थ लिखे, एक ही व्यक्ति दार्शनिक तथा कवि दोनों था। इस कारण जैन कवियों और जैन दार्शनिकों का अलग-अलग परिचय देना कठिन है। यहाँ उनका सम्मिलित परिचय, काल-क्रम के अनुसार, दिया जाता है।

जैन आगमों का लिपिबद्ध होना

जैन-धर्म के मूल ग्रन्थ भगवान् महावीर के उपदेशों के संग्रह माने जाते हैं। ये ग्रन्थ आगम के नाम से प्रसिद्ध हैं। महावीर के निर्वाण के अनन्तर उनके उपदेशों को प्रामाणिक रूप देने तथा उनको ठीक-ठीक निर्धारित करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। चौथी शताब्दी ई० पू० में पाटलिपुत्र में इसी कार्य के लिए एक सभा हुई परन्तु उसका निर्णय अन्तिम नहीं माना गया। जैन आगमों का अन्तिम रूप-निर्धारण इसी गुप्त-युग में हुआ। वीर संवत् ९८० (सन् ४५३ ई०) में गुजरात की राजधानी वलभी नगरी में

'देवर्धिगणि' (जिनका दूसरा नाम क्षमाश्रमण भी था) के सभापतित्व में एक महती सभा हुई। इसी सभा में जैन आगमों के ठीक ठीक स्वरूप और संख्या का अन्तिम तथा मान्य निर्णय किया गया। जो आगम अब तक केवल विद्वानों के स्मृति-पट पर ही अंकित रहते थे वही इस समय लिपिबद्ध कर दिये गये। इस घटना का उल्लेख विनय विजयगणि ने कल्प-सूत्र की अपनी सुखबोधिका टीका में इस प्रकार किया है—

वलहिपुरंमि नयरे। देवड्ढि पमुह सयल संघेहिं।
पुव्वे आगम लिहिउ। नवसय असी आनु वीराउ॥

इस सभा में यह निर्णय किया गया कि मूल जैन आगम के चौरासी ग्रन्थ ही प्रामाणिक हैं जिनमें ४१ सूत्र-ग्रन्थ हैं, बहुत से प्रकीर्णक, १२ निर्युक्ति (टीका) तथा एक महाभाष्य है। इकतालीस सूत्र-ग्रन्थों में ११ अंग, १२ उपाङ्ग, ५ छेद, ५ मूल तथा ८ विविध ग्रन्थ माने जाते हैं। इस प्रकार गुप्तों का राज्य-काल जैन आगमों के स्थिर तथा निर्धारित किये जाने के कारण जैन-साहित्य और धर्म के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

जैन-न्याय की क्रमबद्ध रचना

गुप्त-काल के पहले जैन-साहित्य के इतिहास में न्याय-शास्त्र ने अपना स्वतन्त्र रूप धारण नहीं किया था। तत्त्वज्ञान और धर्म की पुस्तकों के अंतर्गत ही न्याय के सिद्धान्तों का भी समावेश कर दिया गया था। परन्तु वलभी की सभा के साथ-साथ उत्पन्न होनेवाले ऐतिहासिक युग ने जैन-न्याय को एक स्वतन्त्र सत्ता प्रदान की। इस काल में जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों (श्वेताम्बर तथा दिगम्बर) के अनेक विद्वान् न्याय के अध्ययन की ओर, बड़े अनुराग तथा उत्साह से, दत्तचित्त हुए। उन्होंने न्याय-शास्त्र पर स्वतन्त्र तथा प्रामाणिक ग्रन्थ रचे। इस काल में लिखे गये ग्रन्थ ही जैन न्याय के सबसे मौलिक ग्रन्थ माने जाते हैं जिन पर पीछे के लेखकों ने अनेक छोटी-बड़ी टीकाएँ लिखकर न्याय-शास्त्र का विशेष रूप से प्रसार किया। बौद्ध न्याय और इस जैन न्याय को भारतीय न्याय-शास्त्र का मध्य युग (Mediæval School of Indian logic) कहा जाता है।

अब उन जैन दार्शनिकों का वर्णन किया जायगा जो जैन-न्याय-शास्त्र को जन्म देकर सर्वदा उसके परिवर्धन तथा प्रचार में लगे रहे।

१ आचार्य सिद्धसेन दिवाकर

इन आचार्यों में सर्वप्रथम विद्वान् सिद्धसेन दिवाकर हुए। आप ही जैन-न्याय के जन्मदाता हैं। इनके गुरु का नाम वृद्धवादिसूरि था। दीक्षा ग्रहण कर लेने पर इनका नाम कुमुदचन्द्र रक्खा गया। इनकी अलौकिक शक्तियों के विषय में जैनियों में एक अत्यन्त प्रसिद्ध आख्यायिका प्रचलित है। सुनते हैं, इन्होंने एक बार अपनी प्रार्थना के प्रभाव से उज्जयिनी के महाकाल के मन्दिर में शिवजी के लिङ्ग को बिल्कुल भग्न कर दिया था तथा अपने कल्याणमन्दिर नामक स्तोत्र का पाठ कर इन्होंने उसी स्थान पर जैन तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित कर दी थी। जैनी लोग राजा विक्रमादित्य के साथ भी इनका सम्बन्ध मानते हैं। उनका विश्वास है कि विक्रमादित्य को आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने सदुपदेशों के बल पर ब्राह्मण-धर्म से जैन-धर्म में दीक्षित किया था।

इस विषय में बड़ा मतभेद है कि यह उज्जयिनी का राजा विक्रमादित्य कौन था। डा० विद्याभूषण का कहना है कि ये विक्रमादित्य मालवा के यशोधर्मदेव ही हैं और विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में जिन क्षपणक के नाम का उल्लेख है वे सिद्धसेन दिवाकर ही हैं[1]। अतः सिद्धसेन दिवाकर का समय पाँचवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और छठी शताब्दी का पूर्वार्ध माना गया है। इसी काल में रहकर सिद्धसेन ने उन बहुमूल्य ग्रन्थों की रचना की जिनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जायगा।

सिद्धसेन दिवाकर को श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ही अपने-अपने सम्प्रदाय का मानते हैं। इस बात से इनके गौरव का कुछ-कुछ अनुमान किया जा सकता है। इनके रचे ३२ ग्रन्थ कहे जाते हैं जिनमें से २१ ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। इनमें से कतिपय प्रसिद्ध ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है—१—'न्यायावतार'—इस ग्रन्थ में, संस्कृत में, ३२ कारिकाएँ हैं जिनमें प्रमाण और नय का विशद तथा सुसम्बद्ध विवेचन किया गया है। जैन-न्याय का यही सर्वप्रथम ग्रन्थ माना जाता है। इसी ग्रन्थ की सुदृढ़ भित्ति पर जैन न्याय का विशाल प्रासाद खड़ा है। यह ग्रन्थ द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिका नामक बृहत्काय ग्रन्थ का एक भाग माना जाता है। २—'सम्मतितर्कसूत्र'—इस ग्रन्थ में जैन दर्शन के मूल सिद्धान्तों का, बड़ी प्रामाणिकता से, वर्णन किया गया है। प्रसङ्गानुसार न्याय का भी थोड़ा-बहुत वर्णन है। इस पर अनेक टीकाएँ हैं। अभयदेव की 'तत्त्वबोधिनी' टीका के साथ यह ग्रन्थ काशी की यशोविजय जैन-ग्रन्थमाला में तथा 'तत्त्वार्थविधायिनी' टीका के साथ पूना की आर्हतमतप्रभाकर सीरीज़ में प्रकाशित हुआ है। विद्वत्ता की दृष्टि से यह ग्रन्थ बड़ा गम्भीर माना जाता है। ३—'तत्त्वानुसारिणी तत्त्वार्थ टीका' मौलिक ग्रन्थ लिखने के अतिरिक्त इन्होंने उमास्वामी के (अथवा श्वेताम्बरों के अनुसार उमास्वाति के), जिनका आविर्भाव-काल दिगम्बर पट्टावलियों के आधार पर सन् १३५–२१६ ई० है, सर्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' पर एक प्रामाणिक टीका भी लिखी जिसे 'तत्त्वार्थटीका' कहते हैं। ४—'कल्याणमन्दिरस्तोत्र'—सिद्धसेन दिवाकर न्याय जैसे नीरस विषय पर लिखनेवाले शुष्क दार्शनिक ही नहीं थे बल्कि सरस सूक्तियों के निर्माता भी थे। इनके नाम से कई स्तोत्र मिलते हैं। उनमें सबसे प्रसिद्ध यही कल्याणमन्दिरस्तोत्र है जिसका पाठ करने से शिव-लिङ्ग के स्थान पर पार्श्वनाथ की मूर्ति का आविर्भाव कर इन्होंने अपनी अलौकिक शक्तियों का परिचय दिया था। जैनियों में इस स्तोत्र की खूब प्रसिद्धि है। यह ग्रन्थ काव्यमाला के सप्तम गुच्छक में प्रकाशित हुआ है। इसमें सब मिलाकर ४४ श्लोक हैं। स्तोत्र वास्तव में भक्तिभाव से ओत-प्रोत है। माधुर्य और प्रसाद गुण की भी कमी नहीं है सीधे-सादे शब्दों के द्वारा की गई पार्श्वनाथ की स्तुति, अपनी सरलता तथा मधुरता के कारण, श्रद्धालु जनों के हृदय को स्पर्श करती हुई भक्तिभाव का उद्रेक करती है यहाँ, नमूने के तौर पर, दो उदाहरण दिये जाते हैं—

अस्मिन्नपारभववारिनिधौ मुनीश मन्ये न मे श्रवणगोचरतां गतोऽसि ।
आकर्णिते तु तव गोत्रपवित्रमन्त्रे किंवा विपद्विषधरी सविधं समेति ॥

---

१. विद्याभूषण — हिस्ट्री — पृ० १७३–७४ ।

जन्मान्तरेऽपि तव पादयुगं न देव मन्ये मया महितमीहितदानदक्षम् ।
तेनेह जन्मनि मुनीश पराभवानां जाता निकेतनमहं मथिताशयानाम् ॥

५—'द्वात्रिंशिकास्तोत्र'—इस स्तोत्र का दूसरा नाम वर्धमानद्वात्रिंशिका है; क्योंकि इसमें भगवान् महावीर की स्तुति, संस्कृत के ३२ पद्यों में, विशद रूप से की गई है। इन पद्यों में जैन-धर्म के अनुसार 'जिन' के समस्त गुणों का वर्णन किया गया है तथा हिन्दू देवताओं के गुणों एवं नामों का भी उनके ऊपर आरोप किया गया है।

इन स्तोत्रों की परीक्षा करने से यही फल निकलता है कि सिद्धसेन दिवाकर संस्कृत भाषा के विशेष मर्मज्ञ थे। इसके अतिरिक्त इनके दार्शनिक पाण्डित्य के विषय में कुछ अधिक कहना व्यर्थ सा है। जिन्होंने 'सम्मतितर्क' जैसे दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की, 'तत्त्वार्थटीका' का निर्माण कर 'उमास्वाति' के ग्रन्थ को साधारण जनों के लिए भी बोधगम्य बनाया, और 'न्यायावतार' की रचना कर जिन्होंने जैन न्याय को जन्म दिया, उन आचार्य के दार्शनिक पाण्डित्य के विषय में कुछ कहना कोरी विडम्बना है।

२ जिनभद्रगणि

इनका जन्म संवत् ५४१ वि०, अर्थात् ४८४ ई०, में हुआ था। ये विशेषतः 'क्षमा-श्रमण' नाम से विख्यात थे तथा ५२८–५८८ ई० तक अपने सम्प्रदाय के आचार्य रहे। इन्होंने अपने ग्रन्थ में सिद्धसेन दिवाकर के द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका नामक ग्रन्थ की (जिसका एक अंश 'न्यायावतार' है) यत्र-तत्र आलोचना की है। इनका प्रधान ग्रन्थ आवश्यक निर्युक्ति की टीका है जिसका नाम 'विशेषावश्यक भाष्य' है।

३ सिद्धसेनगणि

ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय के थे। ये भास्वामी के शिष्य थे जो दिन्नगणि के शिष्य सिंहसूरि के पीछे सम्प्रदाय के आचार्य हुए। ये उन देवर्धिगणि के समसामयिक थे जो महावीर के निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् ४५३ ई० के लगभग हुए तथा, जैसा ऊपर कहा गया है, जिनकी अध्यक्षता में जैन आगमों का अन्तिम बार रूप-निर्धारण किया गया था[1]। देवर्धिगणि के समसामयिक होने के कारण सिद्धसेनगणि का आविर्भाव-काल छठी शताब्दी का मध्य-भाग माना जा सकता है। इन्होंने उमास्वाति के प्रसिद्ध ग्रन्थ तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर तत्त्वार्थटीका नाम की एक प्रामाणिक टीका लिखी है। इस टीका में सिद्धसेन दिवाकर के अनेक उल्लेख मिलते हैं। इस टीका में प्रमाण तथा नय के विषय बहुत ही विशद रूप से विस्तार के साथ वर्णित हैं। नेमिचन्द्र के प्रवचनसारोद्धार नामक ग्रन्थ पर टीका लिखनेवाले सिद्धसेन सूरि, सिद्धसेन दिवाकर तथा सिद्धसेनगणि से बिलकुल भिन्न व्यक्ति हैं। ये गुप्त-काल के ग्रन्थकार नहीं हैं प्रत्युत बहुत ही पीछे, १२वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, इनका आविर्भाव हुआ था[2]।

---

१. डा० विद्याभूषण—हिस्ट्री—पृ० १४२।

२. डा० विन्टरनित्स—हिस्ट्री—भाग २, पृ० ५८० टि० १।

४ समन्तभद्र

इनके समय के विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। श्री के० बी० पाठक ने इनका समय धर्मकीर्ति के बाद और कुमारिल के पहले, अर्थात् आठवीं शताब्दी के अन्त में, माना है[1]। डा० विद्याभूषण ने इनका समय ६०० ई० के लगभग माना है[2]। परन्तु, हाल ही में, श्री युगलकिशोर मुख्तार ने इन मतों का खण्डन किया है। उन्होंने, किसी प्रामाणिक वंशावली के आधार पर, इनका समय ४१६ ई० में स्थिर किया है[3]। यह मत न केवल जैन-परम्परा के अनुकूल है अपितु अनेक साधक प्रमाण भी इसके पक्ष में हैं। इसी मत के अनुसार हम भी समन्तभद्र को गुप्त-काल ही में आविर्भूत मानते हैं[4]।

ये अपने समय के बड़े प्रसिद्ध जैन दार्शनिक माने जाते हैं। पीछे के जैन-साहित्य में, विद्वत्ता तथा प्रगाढ़ पाण्डित्य के लिए, इनके नाम का उल्लेख विशेष आदर के साथ किया गया है। विद्यानन्द ने आप्तमीमांसा की अपनी टीका के अन्त में इनकी प्रशस्त प्रशंसा इन शब्दों में की है—

येनाशेषकुनीतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोषिताः
सद्वाच्येऽप्यकलङ्कनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः।
स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृत् भूयाद्विभुर्भानुमान्
विद्यानन्दफलप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाऽग्रणीः॥

इसी प्रकार प्रभाचन्द्र ने भी इनके 'रत्नकरण्डक' की टीका में इनकी सविशेष प्रशंसा की है—

येनाज्ञानतमो विनाश्य निखिलं भव्यात्मचेतोगतं
सम्यक्ज्ञानमहांशुभिः प्रकटितः सागारमार्गोऽखिलः।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरविः संसृत्सरिच्छोषको
जीयादेव समन्तभद्रमुनिपः श्रीमत्प्रभेन्दुर्जिनः॥

ये दक्षिण भारत के रहनेवाले थे और दिगम्बर सम्प्रदाय को मानते थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। १. 'युक्त्यनुशासन'—यह ग्रन्थ जैन-दर्शन-विषयक है। २. 'रत्नकरण्डश्रावकाचार'—इस ग्रन्थ का दूसरा नाम उपासकाध्ययन है। इसमें श्रावकों के व्रतों तथा नियमों का विशद रूप से वर्णन किया गया है। ३. 'स्वयंभूस्तोत्र'—इसका दूसरा नाम चतुर्विंशति जिनस्तवन है। इसमें चौबीसों जिनों या तीर्थङ्करों की स्तुति है। पहले 'जिन' से स्तोत्र का आरम्भ किया गया है। जिन को यहाँ पर 'स्वयम्भू' नाम दिया गया है।

---

१. पाठक—जे० बी० बी० आर० ए० एस० वर्ष १८९२ पृ० २२७।

२. विद्याभूषण—हिस्ट्री—पृ० १८३।

३. एनाल्स आफ भण्डारकर इन्स्टिट्यूट भाग १५ (१९३३-३४) प्रथम + द्वितीय संख्या।

४. जैनी लोग इनका समय और भी प्राचीन मानते हैं तथा इनका काल दूसरी शताब्दी के आसपास बतलाते हैं।

इसी कारण इस स्तोत्र का नाम 'स्वयम्भू-स्तोत्र' रक्खा गया है। इनका सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ, जो इनकी कीर्ति को सदैव अमर बनाये हुए है, उमास्वाति के 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' की प्रसिद्ध टीका है जिसका नाम ४. 'गन्धहस्तिमहाभाष्य' है। इस टीका का भूमिका-भाग 'देवागमस्तोत्र' अथवा 'आप्तमीमांसा' है। यह ग्रन्थ न्याय-संबंधी सिद्धान्तों के विवेचन से भरा पड़ा है। इतना ही नहीं, समन्तभद्र ने तात्कालिक समस्त दर्शनों के सिद्धान्तों की आलोचना तथा प्रत्यालोचना की है। पीछे के ब्राह्मण दार्शनिकों ने भी आप्तमीमांसा का अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र उल्लेख किया है। वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' में, स्याद्वाद के खण्डन के प्रसङ्ग में, शाङ्करभाष्य के ऊपर टीका लिखते समय आप्तमीमांसा का श्लोक उद्धृत किया है। कुमारिलभट्ट ने भी समन्तभद्र के मत तथा सिद्धान्त का खण्डन किया है। 'आप्तमीमांसा' में संस्कृत के ११५ श्लोक हैं। यह १० परिच्छेदों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में स्याद्वाद का विस्तृत तथा प्रामाणिक विवरण दिया गया है। प्रसङ्गवश 'भाव', 'अभाव', 'अस्ति' तथा 'नास्ति' जैसे नैयायिक सिद्धान्तों के विषय में बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है।

ऊपर की पंक्तियों के पढ़ने से पाठकों को स्पष्ट विदित हो गया होगा कि समन्तभद्र का स्थान जैन दर्शन के इतिहास में कितना महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने जैन दर्शन के सिद्धान्तों की मार्मिक विवेचना तो की ही है, साथ ही साथ सरस स्तोत्रों की रचना कर तथा श्रावकों के आचारों का विस्तृत विवरण लिखकर इन्होंने साधारण जैन जनता के ऊपर भी बड़ा भारी उपकार किया है। यही कारण है कि दार्शनिक होने पर भी इनकी उपाधि 'कवि' है।

५ देवनन्दि

ये जैन-दर्शन के एक विख्यात आचार्य थे। इन्होंने उमास्वाति के ग्रन्थ पर सर्वार्थसिद्धि नाम की टीका लिखी है। परन्तु जैन दर्शन के इतिहास में इसी कारण इनका इतना नाम नहीं है। 'देवनन्दि' की कीर्ति का स्तम्भ 'जैनेन्द्रव्याकरण' है जिसकी रचना कर इन्होंने जैनियों के लिए वही कार्य किया है जो पाणिनि ने ब्राह्मणधर्मवालों के लिए तथा चन्द्राचार्य ने बौद्धधर्मावलम्बियों के लिए किया। यद्यपि जैनी लोग, आदर दिखलाने के लिए, महावीर को ही 'जैनेन्द्रव्याकरण' का कर्ता मानते हैं पर वास्तव में इसके कर्ता 'पूज्यपाद' ही थे। 'पूज्यपाद' देवनन्दि का ही दूसरा नाम था[1]। गुप्तों के समृद्ध युग में ही इस व्याकरण की उत्पत्ति हुई। प्रोफेसर के० बी० पाठक ने इस विषय के अनेक प्रमाण दिये हैं[2] जिन्हें आजकल के सब विद्वान् मानते हैं[3]।

काशिका के कर्ता वामन और जयादित्य को जैनेन्द्रव्याकरण का पता था। बोपदेव ने भी इस व्याकरण का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस व्याकरण के दो संस्करण किये गये थे। पहला बड़ा संस्करण था तथा दूसरा छोटा।

---

१. यशःकीर्तिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः। श्रीपूज्यपादापराख्यो गुणनन्दी गुणाकरः॥

२. इं० ए० अक्टूबर १९१४।

३. बेल्वेल्कर—सिस्टम्स आफ संस्कृत ग्रामर, पृ० ६४-६५।

छोटे संस्करण में लगभग ३००० सूत्र हैं जिस पर अभयनन्दी ने टीका लिखी है। बड़े संस्करण में ७०० सूत्र अधिक हैं जिनपर सोमदेव ने शब्दार्णवचन्द्रिका नामक टीका लिखी है। प्रो० पाठक का कहना है कि बड़ा संस्करण ही प्रामाणिक तथा प्राचीन है[1]। जान पड़ता है, इस व्याकरण पर पाणिनि की अष्टाध्यायी की विशेष छाया पड़ी है। एक प्रकार से यह व्याकरण-सम्प्रदाय पाणिनि-व्याकरण का ही एक संक्षिप्त संस्करण है। अपने सम्प्रदायवालों के लिए एक स्वतन्त्र व्याकरण प्रस्तुत करने के साम्प्रदायिक विचार से ही इसकी रचना हुई थी। 'पूज्यपाद' ने इस व्याकरण के अतिरिक्त, प्राचीन आचार्यों की परिपाटी का अनुसरण कर, दो नीतिमय काव्यग्रन्थों की भी रचना की थी[2]। इनमें से एक है इष्टोपदेश और दूसरे का नाम है समाधिशतक। ये दोनों ग्रन्थ दिगम्बर जैन ग्रन्थ-भण्डार, काशी से प्रकाशित हैं।

इस प्रकार 'पूज्यपाद' देवनन्दि का नाम जैन साहित्य में एक नवीन तथा स्वतन्त्र जैन व्याकरण की रचना करने के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है।

गुप्त-कालीन जैन दर्शन के इतिहास का अध्ययन करने से तीन ऐसी विशेष घटनाएँ हमारे सामने आती हैं जिनसे यह गुप्त-काल जैन धर्म तथा साहित्य के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। पहली घटना तो यह है कि इसी काल में जैन आगमों के अन्तिम संस्करण हुए अथवा अन्तिम बार उनके रूप निर्धारित कर लिपिबद्ध किये गये। सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि धार्मिक दृष्टि से यह घटना कितने महत्त्व की है। दूसरी घटना है, जैन न्याय के व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त करने की। न्याय-संबंधी कतिपय सिद्धान्तों के दर्शन तो हमें गुप्त-युग के पूर्ववर्ती जैन-साहित्य के कुछ ग्रन्थों में भी होते हैं, परन्तु जैन-न्याय का एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में आविर्भाव इसी गुप्त-काल में हुआ, जिसका श्रेय आचार्य सिद्धसेन दिवाकर को प्राप्त है। तीसरा महत्त्वपूर्ण घटना जैनेन्द्र व्याकरण की रचना है। यह घटना जैन-साहित्य के लिए अभूतपूर्व है। जैनियों के लिए उनके स्वतन्त्र दर्शन के अनुरूप ही एक स्वतन्त्र व्याकरण की आवश्यकता तत्कालीन जैन आचार्यों को प्रतीत हुई। 'पूज्यपाद' देवनन्दि ने इस आवश्यकता की पूर्ति कर उस मार्ग का प्रदर्शन किया जिसका, नवीं शताब्दी में शाकटायन ने और ११वीं शताब्दी में हेमचन्द्र ने अनुसरण किया। जैन धर्म तथा साहित्य के इस अभ्युदय पर दृष्टिपात करते हुए इस गुप्त-काल को जैन दर्शन का सुवर्ण-युग कहना कदापि अनुचित न होगा। जिस काल में जैन आगमों को लिपिबद्ध स्वरूप प्राप्त हुआ, जिस काल ने जैन न्याय को जन्म देकर भारतीय दर्शन में स्याद्वाद की एक नई विचारधारा प्रवर्तित की, जिस काल को संस्कृत व्याकरण के इतिहास में एक नवीन व्याकरण सम्प्रदाय उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है, उस काल को जैन-साहित्य के लिए भी 'सुवर्ण-युग' की उपाधि देना ही समीचीन होगा।

उपसंहार

---

१. डा० बेल्वेल्कर—सिस्टम्स आव संस्कृत ग्रामर, पृ० ६५।

२. विंटरनित्स—हिस्ट्री—भाग २ पृ० ५६१।

गुप्त-कालीन शिक्षा-प्रणाली
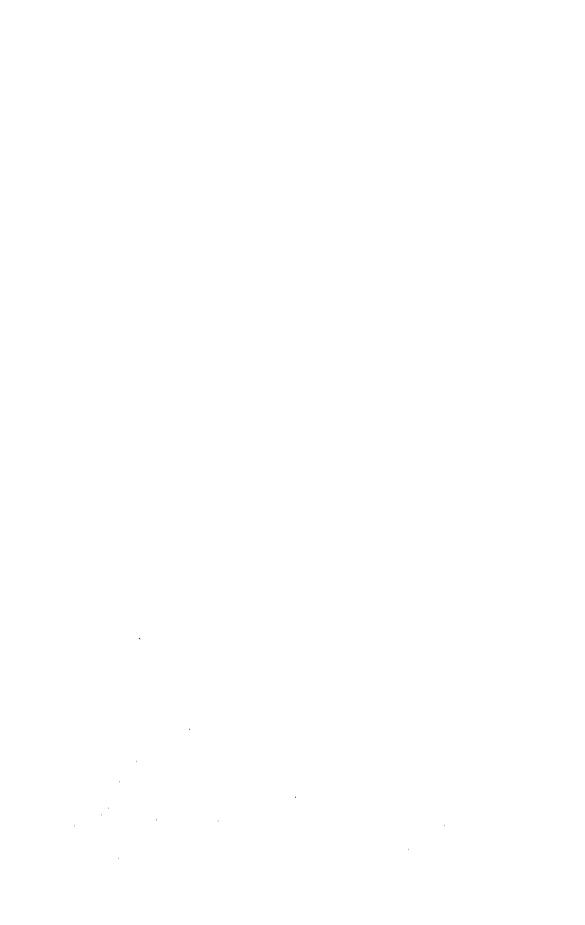
भारत में शिक्षा का प्रारम्भ अत्यन्त प्राचीन काल से पाया जाता है। भारतीय हिन्दुओं में सर्वत्र धार्मिक भाव विस्तृत है। कोई भी कार्य, चाहे वह सांसारिक हो या पारमार्थिक, धार्मिकता से पृथक् नहीं हो सकता। शिक्षा का प्रारम्भ भी धार्मिक भावना के साथ किया जाता था। अतएव सहसा शिक्षा-सम्बन्धी कार्य का विवेचन न कर प्रथम इसके धार्मिक कृत्य का वर्णन करना युक्तिसंगत होगा।

विद्यारम्भ

आधुनिक काल में 'अक्षरारम्भ' से शिशुओं की शिक्षा आरम्भ होती है। यह कार्य बालक की छोटी अवस्था में ही किया जाता है। प्रारम्भिक पूजन-विधि के साथ बालक के अक्षर लिखने के समय से ही शिक्षा-सम्बन्धी संस्कार समाप्त हो जाते हैं। दूसरे धर्म-ग्रन्थों में इसे 'विद्यारम्भ संस्कार' भी कहा गया है[1]। परन्तु प्राचीन काल में इस विद्यारम्भ संस्कार की प्रथा पीछे प्रचलित हुई, जिस समय कि भारत में लेखन-कला का प्रादुर्भाव हुआ[2]। लेखन-कला के प्रादुर्भाव से पहले भारत में वैदिक शिक्षा का स्वरूप मौखिक था। गुरु शिष्य को वेद-मंत्र उच्चारण करने की विधि बतलाता तथा शिष्य अपने शिष्य को। इस प्रकार वैदिक शिक्षा कंठगत रूप में परम्परा से चलती आ रही थी। उस समय 'विद्यारम्भ संस्कार' का अस्तित्व नहीं था। बालक छोटी अवस्था में ही गुरु के समीप जाकर शिक्षा ग्रहण करता था। पहले कहा जा चुका है, हिन्दुओं में कोई प्रारम्भिक कार्य धार्मिक भाव से पृथक् नहीं था। अतएव प्राचीन भारत में, शिक्षा ग्रहण करने के समय, एक धार्मिक कृत्य का सम्पादन किया जाता था जिसका उल्लेख समस्त ग्रन्थों में 'उपनयन' नाम से किया गया है[3]। उपनयन से यह तात्पर्य समझा जाता था कि उस संस्कार के पश्चात्

उपनयन

वह बालक गुरु के साथ या गुरु द्वारा ब्रह्मचर्य-जीवन में लाया जाता था[4]। स्मृति-ग्रन्थों में उपनयन से दूसरा जन्म माना जाता था[5]। इसी लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य का (जिनको उपनयन के योग्य बतलाया गया है) द्विज नाम से उल्लेख मिलता है। वेदों में उपनयन का क्या सिद्धान्त था,

---

१. संप्राप्ते पंचमे वर्षे अप्रसुप्ते जनार्दने।
एवं सुनिश्चिते काले विद्यारंभं तु कारयेत्।—विष्णुधर्मोत्तर।

२. डा० बूलर का मत था कि भारतीय लेखन-कला की उत्पत्ति ई० पू० ८०० वर्ष में हुई। परन्तु इनके मत का खण्डन करते हुए महामहोपाध्याय गौरीशंकर ओझा जी ने सिद्धान्त स्थिर किया है कि लिखने की कला संहिता-काल (ईसा पूर्व १६००-१२०० वर्ष) में ज्ञात थी।—प्राचीन लिपिमाला पृ० १-१६।

३. दास—दी एडुकेशनल सिस्टम आफ एंशेंट हिन्दू, पृ० ६६ और ७१।

४. भारतीय कामेमोरेशन वाल्यूम, पृ० २२४।

५. मनु० २।१४६; वशिष्ठ० २।३; विष्णु० ३०।४४-४६; बौधायन १।२।३।६।

यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता[1]। केवल ब्रह्मचारियों के जीवन तथा कार्य का विवेचन पाया जाता है। पीछे के स्मृति-ग्रन्थों में उपनयन से गुरु के समीप जाने का तात्पर्य प्रकट होता है। अतएव प्रत्येक समय जब विद्यार्थी गुरु के समीप जाता तो उपनयन कर्म करता था। यहाँ तक कि विवाहित पुरुष के भी उपनयन करने का वर्णन मिलता है[2]। इससे ज्ञात होता है कि भारत में लेखन-कला के साथ-साथ अन्य निरुक्त तथा व्याकरण आदि शास्त्रों का विकास हुआ और वेद के कंठस्थ करने के पूर्व कुछ प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य समझी जाने लगी। उसी समय से, उपनयन से प्रारम्भिक शिक्षा न होकर, विद्यारम्भ संस्कार का जन्म हुआ और तभी से बालक शिक्षा आरम्भ करने लगा। इन सब कारणों तथा आश्रम-सिद्धान्त के प्रचार से उपनयन संस्कार, एक शारीरिक संस्कार रह गया। इसमें प्रथम तीनों वर्णों के लिए उपनयन कर्म आवश्यक कर्तव्य समझा गया। इस उपनयन-काल से उनका दूसरा जन्म समझा जाता था। इन बातों पर विचार करते हुए स्मृतिकारों ने पूर्व उपनयन के समय को हटाकर वर्णानुसार बालक के कुछ अवस्था प्राप्त कर लेने पर इस काल को स्थिर किया है[3]।

मनु आदि स्मृति-ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि जो द्विज उपनयन संस्कार से वंचित रहता था वह 'व्रात्य' कहलाता था[4]। इससे छुटकारा पाने के लिए 'व्रात्य' को प्राजापत्य प्रायश्चित्त आदि करने की आवश्यकता पड़ती थी[5]। इस प्रकार धार्मिक कृत्यों को समाप्त कर ब्रह्मचारी विद्याभ्यास करने गुरु-गृह में जाता था।

विद्यार्थी गुरु के प्रति श्रद्धा तथा आदर का भाव रखता था[6]। उपनयन से द्विजमात्र का दूसरा जन्म माना जाता है, अतएव गुरु को धार्मिक पिता कहा जाता था।

गुरु-शिष्य का सम्बन्ध

गुरु अपना समस्त ज्ञान शिष्यों को बतलाता था। प्राचीन काल में दो प्रकार के गुरु वर्तमान थे। एक को आचार्य कहते थे जो निःशुल्क शिक्षा देता था। विद्यार्थी सुख से आचार्य के घर में निवास करते हुए विद्योपार्जन करते थे। शिष्यों की उत्कट भक्ति के कारण आचार्य उनको अपने पुत्र के सदृश मानता था[7]। दूसरे प्रकार के शिक्षक का नाम उपाध्याय था। वह विद्यार्थियों से शुल्क (फ़ीस) लेकर उन्हें शास्त्रों का ज्ञान कराता था[8]। वह शिष्य के निवासस्थान, भोजन तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध करता था। इन नियमों

---

१. अलटेकर—एडुकेशन इन एंशेंट इंडिया, पृ० ७।

२. वही, पृ० ८।

३. मालवीय कामेमोरेशन वाल्यूम, पृ० २२०।

४. मनु० २।३९–४०; याज्ञ० ३७–३८।

५. विष्णु० ५७।२।

६. दास—एडुकेशन सिस्टम आफ् एंशेंट हिन्दू, पृ० १०४–५।

७. पुत्रमिवैनमनुकांक्षन्। आप० धर्म० सू० १।२।८।

८. एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थं उपाध्यायः स उच्यते ॥—मनु० १।१४१।

के होते हुए भी उपाध्याय को नियमित रूप से शुल्क नहीं मिलता था। निर्धन विद्यार्थी गुरु के गृह कार्य करना स्वीकार कर उपाध्याय के पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए आता था[१]। इस प्रकार विद्यार्थी को शिक्षा दी जाती थी। प्राचीन ग्रन्थों में कहीं भी गुरु के वेतन का उल्लेख नहीं मिलता। इसी लिए उपाध्याय कुछ फ़ीस लिया करते थे। इतना होते हुए भी बृहस्पति ने तीव्र बुद्धिवाले विद्यार्थी को शिक्षा देना अनिवार्य बतलाया है[२]। प्राचीन भारत में अधिकतर ब्राह्मण ही शिक्षक का कार्य करते थे। परन्तु यह कोई निरपवाद नियम नहीं था; क्योंकि जनक, प्रवाहन, जैवलि और अश्वपति सरीखे क्षत्रिय नरेश भी गुरु का कार्य करते थे[३]। उस समय द्विज को ही वैदिक शिक्षा दी जाती थी। शूद्र इस शिक्षा से वंचित थे; परन्तु पता चलता है कि उन्हें अन्य धार्मिक ग्रन्थ—स्मृति, पुराण तथा रामायण व महाभारत—पढ़ने का अधिकार था[४]। इस प्रकार समस्त वर्णों की शिक्षा होती थी। ईसा से पहले की शताब्दियों में हिन्दुओं की शिक्षा-प्रणाली में गुरु और शिष्य का साक्षात् सम्बन्ध रहा। अर्थात् शिष्य गुरु-गृह में जाकर विद्याभ्यास करता था। वह किसी शिक्षण-संस्था में जाकर अध्ययन नहीं करता था।

आश्रम

स्मृति-ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि उपनयन के बाद विद्यार्थी को गुरु-गृह में निवास करना चाहिए। उसे अन्तेवासिन् कहा जाता था। दूसरे धर्मग्रन्थों में ऐसे विद्यार्थियों को 'आचार्यकुलवासिन्' कहा गया है[५]। प्राचीन काल में शांतिमय स्थान में विद्याभ्यास किया जाता था। इसके लिए नगरों से दूर जंगल में भी कुछ स्थान थे। परन्तु अधिकतर गुरु नगरों में रहते थे जहाँ की जनता उनके विद्यार्थियों की सहायता कर सके तथा उसकी उपयोगिता समझे[६]। विद्यार्थी गुरु के साथ रहते थे; इसलिए प्रत्येक गृहस्थ-शिक्षक अपने घर में १० या १५ से अधिक शिष्य नहीं रख सकता था[७]। जातकों में धनवान् विद्यार्थी के निमित्त गुरु-गृह में प्रबन्ध का वर्णन मिलता है[८]; परन्तु निर्धन सर्वथा त्याज्य नहीं होते थे। इस प्रकार गुरु के आश्रम में रहकर विद्योपार्जन किया जाता था।

---

१. अलटेकर—एडुकेशन इन एंशेंट इंडिया, पृ० ६६ व ७६। धमंतेवासिका आचरियस्स कम्मं कृत्वा रत्तिं सिप्पमुग्गण्हंति आचरिय भागदायका गेहे जेट्ठपुत्ता विय हुत्वा सिप्पमेव उग्गण्हंति (तिलमुट्ठ जातक नं० २५२)।

२. स्मृतिचन्द्रिका पृ० १४५।

३. बृहदा० उपनिषद् २।१।१४ तथा छान्दोग्य उप० ५।४१।

४. शांतिपर्व—५०, ४०; ३२८, ४६।

५. छान्दोग्य उपनिषद् २।२३।२।

६. जातक नं० ४३८।

७. अलटेकर—एडुकेशन इन एंशेंट इंडिया, पृ० १००।

८. तिलमुट्ठ जातक, नं० २५२।

आधुनिक काल में प्रायः सभी मनुष्य प्राचीन प्रणाली की शिक्षा-संस्थाओं से परिचित होंगे। विद्यार्थी ब्राह्म मुहूर्त्त में उठते थे। शौच तथा स्नान आदि नित्य-क्रिया से निवृत्त होकर संध्योपासन करते थे। उस समय अग्निहोत्र करना भी विद्यार्थी का नित्य-कर्म समझा जाता था। इन समस्त कार्यों से निवृत्त होकर शिष्य गुरु से पाठ पढ़ता तथा उसका अभ्यास करता था। सबेरे के समय केवल शुल्क देनेवाले (Paying) शिष्य पाठ पढ़ते थे। निर्धन विद्यार्थी दिन के समय गुरु के गृह-कार्य में संलग्न रहता था। उसके पठन-पाठन में किसी प्रकार की कमी न होने देने के लिए उपाध्याय उसको रात्रि में शास्त्र का अभ्यास कराते थे। दिन में विद्यार्थी भिक्षान्न को ग्रहण करता था जिसका विधान स्मृतियों में मिलता है[१]। परन्तु वह भिक्षाटन एक बार करे या दो बार, इस विषय में मतभेद है[२]। समस्त विद्यार्थी भिक्षान्न ही नहीं ग्रहण करते। यह आचार्य तथा उसके शिष्यों के लिए आवश्यक प्रतीत होता है। धनवान् शिष्य तो कभी भिक्षाटन नहीं करते थे। परन्तु अन्य विद्यार्थियों के लिए आचार्यान्न या भिक्षान्न के ग्रहण करने का वर्णन मिलता है[३]। विद्यार्थी के दैनिक जीवन में संध्या-समय समिधा लाने का काम भी आवश्यक समझा जाता था। शिष्य गुरु के साथ निवास कर, पूर्वोक्त दैनिक कार्य करता हुआ, विद्याभ्यास करता था[४]। प्राचीन काल में साधारण जीवन तथा उच्च विचार ही विद्या का आदर्श समझा जाता था। अतएव ब्रह्मचारी को जूता पहनने, छाता लगाने, सुगन्धित पदार्थों व विषय-भोग की वस्तुओं का उपयोग करने, बाल रखने आदि बातों का निषेध किया गया है। इस प्रकार विद्यार्थी को तपस्वी का जीवन व्यतीत करना पड़ता था।

विद्यार्थी की दिनचर्या

प्रत्येक वर्ष के श्रावण मास से शिष्य अपना पठन-पाठन प्रारम्भ करता था जिसे 'उपाकर्म' कहा जाता था। प्राचीन काल में केवल छः मास तक वेद का अध्ययन किया जाता था। इस प्रकार विद्यार्थी श्रावण से आरम्भ कर माघ या पौष के अन्त में 'उत्सर्जन' करता था। परन्तु ब्राह्मण-काल तथा उपनिषदों के समय में जब वेद के साथ वेदांगों—व्याकरण, छंद, निरुक्त, कल्प, शिक्षा तथा ज्योतिष—का भी पढ़ना आवश्यक हो गया, तब छः मास का पठन-काल पर्याप्त नहीं था। अतएव शिक्षा एक वर्ष तक दी जाने लगी। श्रावण से पौष तक वेद तथा दूसरे षण्मास में वेदांग का अध्ययन होने लगा। इस विद्याभ्यास-काल में शिष्य को प्रत्येक मास की पूर्णिमा, प्रतिपद तथा अष्टमी को अवकाश मिलता था जिसका उल्लेख वेदोत्तर साहित्य में पूर्ण रूप से मिलता है[५]। दुर्दिन में भी गुरु शिक्षण का कार्य बन्द कर देता। यदि गुरु-गृह में कोई अतिथि आता तो अतिथि-पूजा

विषय तथा अध्ययन-काल

१. गोभिल गृ० सू० २।१०; मनु० २।६५।

२. जैमिनि गृ० सू० १।१८; आप० धर्म सू० १।१।३,२४-२५।

३. भैक्षाचार्यवृत्तिः स्यात्—मानव गृ० सू० १।१ २।

४. मालवीय कामेमोरेशन वाल्यूम; पृ० २३२।

५. गौतम ध० सू० २।७; बौधायन ध० सू० १।११।

का महत्ता को ध्यान में रखकर समस्त विद्यार्थियों को छुट्टी दे दी जाती थी[१]। आधुनिक काल की तरह प्राचीन भारत में कोई वार्षिक लम्बी छुट्टी (गर्मी का अवकाश) होती थी या नहीं, इसके विषय में कुछ निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। यदि छुट्टी होती रही हो तो भी इसमें संदेह ही है कि इस वार्षिक अवकाश में शिष्य गुरु-गृह से अपनी मातृ-भूमि को जाता था। उस समय गुरु का आश्रम बहुत दूर होता था और मार्ग भी सुरक्षित नहीं थे। समस्त स्मृतिग्रन्थों में इस आशय का उल्लेख मिलता है कि शिष्य १२ वर्ष तक वेद का अध्ययन करता था। परन्तु यही अंतिम अवधि नहीं थी। विद्यार्थी इससे अधिक समय तक भी विद्याभ्यास कर सकता था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णन मिलता है कि विद्या-भाण्डार अधिक होने के कारण भारद्वाज लगातार तीन जन्म तक पठन-पाठन करते रहे[२]। बौधायन ने उल्लेख किया है कि मनुष्य को युवावस्था में विवाह अवश्य कर लेना चाहिए[३]। इन सबका तात्पर्य यह है कि प्रायः २५ वर्ष की अवस्था तक ही ब्रह्मचारी गुरु से शिक्षा ग्रहण करता था।

ऊपर कहा गया है कि ब्रह्मचारी श्रावण में उपाकर्म तथा पौष में उत्सर्जन करता था। उस समय अधिकतर वेदाध्ययन ही किया जाता था परन्तु वेदों में अन्य प्रकार के साहित्य का भी उल्लेख मिलता है, जिसमें इतिहास, पुराण और नाराशंसिगाथा का नाम सम्मिलित है[४]। इससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में इतिहास, पुराण आदि को लोग अवश्य सुनते व पढ़ते रहे होंगे[५]। ब्राह्मण तथा उपनिषद्-काल में पूर्वोक्त इतिहास-पुराण के साथ-साथ वेदांग का भी अध्ययन प्रारम्भ हो गया। शतपथ ब्राह्मण[६] तथा छान्दोग्य उपनिषद्[७] में इस पाठ्य-क्रम का वर्णन मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि ऋषि नारद वेद व वेदांग के अतिरिक्त राशि, धनुष-कला, सर्प-विद्या तथा निधि-कला में भी निपुण थे। इस समय दर्शन, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद तथा कला-कौशल का विकास हुआ और इनका पर्याप्त रूप से अभ्यास भी किया जाता था[८]। इन सबका मुख्य कारण यही था कि वेद के अर्थ समझने, यज्ञ-वेदि तथा नक्षत्रों के ज्ञान के लिए वेदांग का पठन आवश्यक हो गया[९]। इसके सिवा यज्ञ-यागादि में, सूक्ष्म विचार के कारण, वेदाध्ययन ब्राह्मण जाति तक ही सीमित हो गया। अतएव अन्य वर्णों का ध्यान धनुष-विद्या, धर्मशास्त्र, सर्पविद्या तथा कला-कौशल की ओर आकृष्ट हुआ। इसी कारण वेदोत्तर काल में पूर्वोक्त विषय के पठन-पाठन का प्रारम्भ और विकास हुआ।

१. अलटेकर—एडुकेशन इन एंशेंट इंडिया, पृ० १०४।

२. ३।१०।११।३।

३. कृष्णकेशो ऽग्नीनादधीतेतिश्रुतेः।—बौ० धर्म० सू० १।२।३१।

४. अथर्ववेद १५।६।१०।

५. तैत्तिरीय आरण्यक २.६।

६. ११।३।८।८।

७. ७।१।२।

८. अलटेकर—एडुकेशन इन एंशेंट इंडिया, पृ० १२६।

९. दास—दी एडुकेशनल सिस्टम आफ एशेंट हिन्दूज, पृ० ४९-५०।

गुरु के आश्रम में शिक्षा समाप्त कर ब्रह्मचारी चार मास से अधिक समय नहीं व्यतीत करता था[1]। उस समय आधुनिक ढंग की परीक्षा न होती थी। प्रत्येक दिन गुरु पठित पाठ को सुनकर ही अगला पाठ प्रारम्भ करता था[2]। वर्ष के अंत में, या गुरु-गृह छोड़ने के समय, ब्रह्मचारी को किसी प्रकार की परीक्षा नहीं देनी पड़ती थी। शिक्षा समाप्त होने पर गुरु शिष्य को अंतिम शिक्षायुक्त आशीर्वाद देता था जिसे 'समावर्तन संस्कार' कहते थे। समावर्तन में ब्रह्मचारी को निम्नलिखित शिक्षा दी जाती थी[3]—"सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्य्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसने न प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ते तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्म्मकामाः स्युः यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।"

समावर्तन

यह शिक्षा प्राप्त कर ब्रह्मचारी अपनी मातृभूमि को लौटता तथा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। प्राचीन काल में आचार्य को गुरु-दक्षिणा देने की भी प्रथा थी। समावर्तन के बाद ब्रह्मचारी, धन के रूप में, कुछ दक्षिणा अवश्य देता था[4]। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर भी वह, गुरु के आज्ञानुसार, स्वाध्याय नहीं छोड़ता था; वरन् प्रति वर्ष आचार्य के समीप जाकर दो मास तक अपने ज्ञान की वृद्धि करता था[5]।

बौद्ध धर्म के अभ्युदय के साथ-साथ प्राचीन हिन्दू शिक्षा-पद्धति में भी परिवर्तन हुआ। बौद्ध-कालीन शिक्षा गुरु के आश्रम या गृह में न होती थी वरन् भिक्षुगण मठों

---

१. अथाशुचिकराणि समावृतस्य भैक्षचर्या तस्य चैव गुरुकुले वास ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यः।—बौ० ध० सू० २।१।४६।

२. ऋक्-प्रातिशाख्य पटल १५।

३. वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशासति।—तैत्ति० उपनि० १।११।

४. बृहदा० उपनि० ४।१।

५. निवेशे वृत्ते संवत्सरे संवत्सरे द्वौ द्वौ मासौ समाहित आचार्यकुले वसेद्भूयः श्रुतमिच्छन्निति श्वेतकेतुः। तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्। निवेशे वृत्ते नैयमिकानि श्रूयन्ते।—आप० ध० सू० १।४।१३ (१९–२१)।

और विहारों में शिक्षा देते तथा शास्त्रों का प्रतिपादन करते थे। संघ में प्रविष्ट होने के पूर्व प्रत्येक व्यक्ति प्रव्रज्या और उपसम्पदा ग्रहण करता तथा प्रवेश कर लेने पर किसी एक उपाध्याय (भिक्षु शिक्षक) के समीप स्थिर रूप से विद्याभ्यास करता था। इन मठों में केवल भिक्षु ही पठन-पाठन नहीं करते थे, बल्कि बौद्धधर्मावलम्बी धनी-मानी लोगों के पुत्रों को भी शिक्षा दी जाती थी। इनको केवल साहित्य, व्याकरण तथा कोष की शिक्षा दी जाती थी। तिलमुट्ठी जातक में उल्लेख मिलता है कि तक्षशिला में बनारस, राजगृह, मिथिला तथा उज्जयिनी आदि नगरों के बालक शिक्षा प्राप्त करने के निमित्त जाते थे[1]। कालान्तर में ये विहार बौद्ध-शिक्षा-संस्था के रूप में परिवर्तित हो गये। प्रायः १६ वर्ष की अवस्था में ये विद्यार्थी अध्ययन प्रारम्भ करते थे परन्तु इनके पठन-काल की अवधि निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। नये छात्रों को सर्वप्रथम पाली तथा संस्कृत पढ़ना अत्यावश्यक होता था। तत्पश्चात् उन्हें विनय, सूत्त, पातिमोख तथा अन्य शास्त्रों का अध्ययन करना पड़ता था। अध्ययन-काल में विद्यार्थी का समस्त प्रबन्ध गुरु को करना पड़ता था। जातकों में धनवान् बालक के लिए शिक्षक द्वारा भोजन तथा निवास के प्रबन्ध किये जाने का वर्णन मिलता है[2]। भगवान् बुद्ध ने भी शिष्यों के समस्त भार उपाध्याय के सिर रखने का आदेश दिया है[3]। मिलिन्द-पन्हो में भी इन बातों का समर्थन किया गया है[4]। चीनी यात्री इत्सिंग ने वर्णन किया है कि बौद्ध शिक्षक रुग्ण विद्यार्थी की शुश्रूषा करते थे[5]। इस कथन से साहित्यिक प्रमाणों की पुष्टि होती है।

(मार्जिन में: बौद्ध शिक्षा-प्रणाली)

बौद्ध संस्थाओं में धार्मिक मतानुसार सब वर्णों को एक-सी शिक्षा दी जाती थी। हिन्दू-शास्त्रों की तरह पठन-क्रम में 'वर्ण'गत भेद-भाव का सर्वथा अभाव था। बौद्ध शिक्षक त्रिपिटक का अध्ययन कराते थे। इसके अतिरिक्त जातकों में १८ शिल्पों का उल्लेख मिलता है जिनकी शिक्षा का प्रबन्ध तक्षशिला में किया गया था। इन शिल्पों में मुख्यतः धनुष-कला[6], आयुर्वेद[7], मन्त्र-विद्या[8], सर्प-विद्या[9] और निधि-कला[10] के नाम मिलते हैं। मज्झिम निकाय में भी १८ शिल्पों के नामों का उल्लेख मिलता है[11]।

---

१. नं० २५२, २७८, ४८९ और ३३६।
२. तिलमुट्ठ जातक नं० २५२।
३. दीघनिकाय ३ पृ० १८९।
४. भा० १ पृ० १४२।
५. टाकाकुसु—इत्सिङ्ग पृ० १२०।
६. भीमसेन जातक नं० ८०।
७. महावग्ग ७।१।६।
८. अनभिरति जा० नं० १८५।
९. कम्पेय जा० नं० ४, २५६।
१०. परन्तप जातक नं० ४१६।
११. भा० ४ पृ० २८१ व ८२; अंगुत्तरनिकाय १ पृ० ८५।

इनमें व्यवहार, गणित, कृषि-कला, व्यापार-कला, नृत्य, गान तथा चित्र-कला आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बौद्ध शिक्षक और विद्यार्थी इतने से ही सन्तुष्ट न होते थे वरन् धार्मिक वाद-विवाद तथा खण्डन-मण्डन के लिए हिन्दूधर्म-ग्रन्थों का भी अच्छा अभ्यास करते थे[१]। इस प्रकार वैदिक या हिन्दू शिक्षा के पश्चात् बौद्धों ने कुछ नवीनता के साथ अपनी पृथक् परिपाटी चलाई। इनके यहाँ भी हिन्दू ढंग पर मौखिक शिक्षा ही दी जाती थी[२]। बौद्धों की शिक्षा-प्रणाली तथा उनकी संस्थाओं का विस्तृत विवेचन कर यहाँ गुप्त-कालीन शिक्षा-प्रणाली पर विचार करने का प्रयत्न किया जायगा।

गुप्त-कालीन शिक्षा

गुप्त-नरेशों ने धार्मिक अभ्युदय के साथ-साथ, शिक्षा-प्रचार के लिए प्रचुर प्रयत्न किया। इन्होंने प्राचीन संस्कृत भाषा को अपनाया। इनके समय के समस्त लेख तथा साहित्यिक ग्रन्थ संस्कृत ही में लिखे गये जिनका वर्णन अन्यत्र किया जा चुका है। उस समय भारतवर्ष संसार के समस्त देशों से अधिक शिक्षित था। चीन, जापान तथा सुदूर देशों से विद्याभ्यास के निमित्त यात्री भारत में आया करते थे। बौद्ध भिक्षु और हिन्दू आचार्यगण शिक्षण में विशेष भाग लेते थे। प्रत्येक मठ या संघाराम शिक्षालय का कार्य करता था। चीनी यात्री फ़ाहियान तथा ह्वेनसाँग ने सहस्रों 'संथागारों' का वर्णन किया है जिनमें शिक्षा दी जाती थी। गुप्तों की राजधानी पाटलिपुत्र तो विद्या का केन्द्र हो गया था। फ़ाहियान लिखता है, 'सब में सात-आठ सौ भिक्षु रहते हैं। आचार-विचार, पठन-पाठन की विधि दर्शनीय है। चारों ओर से महात्मा श्रमण विद्यार्थी—सत्य और हेतु के जिज्ञासु—इस स्थान का आश्रय लेते हैं। यहाँ एक ब्राह्मण-कुमार आचार्य हैं, नाम मंजुश्री है[३]।' फ़ाहियान यहाँ तीन वर्ष रहा। वह संस्कृत भाषा और संस्कृत ग्रन्थों का अभ्यास करता तथा विनयपिटक लिखता था। इसी प्रकार ह्वेनसाँग ने भी अनेक विद्यालयों का सुन्दर वर्णन किया है।

प्राचीन काल की तरह गुप्त-काल में भी गुरु (आचार्य) ही शिष्य की शिक्षा का भार ग्रहण करता था। वह शिक्षा इहलौकिक तथा पारलौकिक विषय सम्बन्धी होती

शिक्षा का ढंग

थी। आचार्य केवल विद्यार्थियों को कोई विशिष्ट बात न बतलाकर उनके मानसिक विकास के लिए उद्योग करता था। कविवर कालिदास ने ठीक ही कहा है कि विद्या के कारण ज्ञान तथा नम्रता आती है[४], जो मानसिक विकास के परिणाम हैं। गुरु के सम्पर्क से मूर्ख तो गुणवान् और आलसी उद्योगी हो जाता था[५]। यदि विद्यार्थी किसी कारणवश असावधानी करता तो आचार्य उसे

---

१. मिलिन्द पन्हो १ पृ० ३४।

२. वही पृ० २१।

३. फाहियान का यात्रा-विवरण, पृ० ५६।

४. सम्यगागमिता विद्या प्रबोधविनयाविव।—रघु० १०।७१।

५. वाटर, भा० १ पृ० १५६; बील भा० १ पृ० ७८।

साधारण ताड़ना भी देता था[1]। ब्रह्मचारी, प्राचीन परिपाटी के अनुसार, शिक्षा प्रारम्भ करने तथा समाप्त करने के समय क्रमशः उपाकर्म[2] तथा उत्सर्जन[3] संस्कार करता था। विद्याभ्यास के लिए प्रायः बारह वर्ष व्यतीत करने पड़ते थे[4]। परन्तु यह अवधि कोई निश्चित नहीं थी। सातवीं सदी के चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है कि ब्रह्मचारी सोलह वर्ष तक पढ़ता था[5]। आधुनिक काल की तरह एक साथ सैकड़ों विद्यार्थियों को शिक्षा नहीं दी जाती थी परन्तु अल्प संख्या में शिष्य गुरु के समीप जाकर पठन-पाठन करते थे। विद्यार्थियों को गुरु के आश्रम में रहते हुए अनेक कठिन कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि ब्रह्मचारी को निकलते हुए सूर्य तथा नग्न स्त्री को नहीं देखना चाहिए[6]। विद्यार्थी अंजलि से जल न पिये, सोते हुए को न जगाये, जुआ न खेले तथा धर्मद्रोही दुष्ट पुरुषों के साथ न रहे[7]। इस प्रकार याज्ञवल्क्य-स्मृति में स्नातक के धर्म का सविस्तर विवरण मिलता है[8]। प्रायः बारह वर्ष तक विद्याध्ययन करने के पश्चात् ब्रह्मचारी समावर्तन संस्कार करता था। आचार्य सुन्दर शब्दों में शिष्य को उपदेश देकर उसे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का आदेश देता था[9]। यद्यपि ब्रह्मचारी आचार्य के गृह में निवास करता था, तथापि ह्वेन्सांग (छठी सदी) के कथनानुसार उसे भोजन, वस्त्र आदि के लिए चिन्तित नहीं होना पड़ता था। परन्तु शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् शिष्य, गुरु-दक्षिणा के रूप में, कुछ द्रव्य देता था। कालिदास के वर्णन से ज्ञात होता है कि कौत्स ने, निर्धन होने पर भी, गुरु की दक्षिणा चुकाने के निमित्त महाराज रघु से याचना की थी[10]। इस पूर्वोक्त कथन से गुप्त-समय में शिक्षा के स्वरूप का आभास मिलता है।

गुप्त-काल में शिक्षा प्रायः दो मुख्य भाषाओं में होती थी। शिक्षित समाज के लिए संस्कृत तथा साधारण जनता के लिए प्राकृत का उपयोग होता था। गुप्तों से

---

१. अन्यत्र पुत्राच्छिष्याद्वा शिष्ट्यर्थं ताडयेत्तु तौ। —मनु० ४।१६४।
न निन्दा ताडने कुर्यात् पुत्रं शिष्यं च ताडयेत्। —याज्ञ० १-१५५।

२. अध्यायानामुपाकर्म श्रावण्यां श्रवणेन वा। —याज्ञ० १।१४२।
श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि। —मनु० ४।९५।

३. जलान्ते छन्दसां कुर्यादुत्सर्गं विधिवद्बहिः। —याज्ञ० १।१४३।
पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः। —मनु० ४।९६।

४. प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पञ्च वा। —याज्ञ० १।३६।

५. ताकाकुसु – इत्सिंग, पृ० १७०।७।

६. नेक्षेतार्कं न नग्नां स्त्रीं न च संसृष्टमैथुनाम्। —याज्ञ० १।१३५।

७. जलं पिबेन्नाञ्जलिना न शयानं प्रबोधयेत्।
नाक्षैः क्रीडेन्न धर्मघ्नैर्व्याधितैर्वा न संविशेत्। वही १।१३८।

८. स्नातकधर्मप्रकरणम् (१।१२९-१६६)।

९. मुकर्जी—सिलवर जुबिली वाल्यूम जि० ३ भा० १ पृ० २३०—३१।

१०. बील—लाइफ, पृ० ११३।

पहले प्राकृत की प्रधानता थी परन्तु गुप्त-नरेशों ने संस्कृत को अपनाया। लेख तथा ग्रन्थ प्राकृत के बदले संस्कृत में लिखे जाने लगे। गुप्त-काल में समस्त राजकीय कार्य इसी शुद्ध भाषा (संस्कृत) में होता था। इस प्रकार उस समय मनुष्य संस्कृत तथा प्राकृत (शौरसेनी + मागधी) के द्वारा समाज में अपने भावों को अभिव्यक्त करता था[1]। गुप्तों के शासन-काल में प्रचलित लिपि 'गुप्त-लिपि' कही जाती है, जो प्राचीनतम ब्राह्मी लिपि का ही एक रूप है। इसी प्रकार अंकों की लिखावट में भी पहले से भिन्नता वर्तमान थी।

शिक्षा-क्रम

गुप्त-काल में प्राचीन परिपाटी से वेदाध्ययन करने का प्रचार था; परन्तु वेदार्थ समझे बिना पठन-पाठन करनेवाला द्विज शूद्र के सदृश समझा जाता था[2]। पिछले लेखों में कई व्यक्तियों के लिए 'वेदार्थद' (वेद के अर्थ की व्याख्या करनेवाला) उपनाम मिलते हैं[3]। इस समय विभिन्न व्यक्ति वेदों की शाखाओं का अध्ययन करते थे। गुप्त-लेखों में तैत्तिरीय, बह्वृच शाखा आदि का उल्लेख मिलता है[4]; परन्तु स्मृतिकारों ने इस बात का आदेश किया है कि अपनी शाखा का अध्ययन किये बिना दूसरी शाखा नहीं पढ़नी चाहिए[5]। गुप्त-कालीन लेखों में उपाध्याय तथा चतुर्वेदी[6] नाम मिलते हैं जिससे प्रकट होता है कि एक व्यक्ति कई वेदों का पठन-पाठन करता था। प्रत्येक शाखा तथा वेद के आचार्य अलग-अलग थे, जो अध्यापन का कार्य करते थे। वेदाध्ययन सर्वदा नहीं किया जाता था वरन् कुछ विशिष्ट अवसरों पर अनध्याय मनाया जाता था[7]। याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मचारी के लिए सन्ध्या समय, मेघ-गर्जन, विद्युत्-दर्शन, भूकम्प-काल, अशौच, अर्धरात्रि आदि समयों में वेद के अनध्याय का आदेश किया है[8]। दौड़ते हुए, दुर्गन्धित स्थान में तथा आश्रम में किसी शिष्ट पुरुष के आ जाने पर वेदाध्ययन करने का निषेध किया है[9]।

---

१. इ० हि० का० भा० ५ पृ० ३०८-९।

२. योऽधीत्य विधिवद्वेदं वेदार्थं न विचारयेत्।
स संमूढः शूद्रकल्पः पात्रतां न प्रपद्यते ॥ — पद्मपुराण आदिकाण्ड ५३।८६।

३. इ० ए० भा० १४ पृ० ६९।

४. का० इ० इ० भा० ३ नं० ५६, ६०।

५. एकवेदेऽपि शाखानां मध्ये योऽन्यतमां श्रयेत्।
स्वशाखां तु परित्यज्य शाखारण्डः स उच्यते ॥ — वशिष्ठ०

६. फ्लीट — गुप्त-लेख नं० १६, ३७ व ५५।

७. दास — एडुकेशनल सिस्टम आफ एंशेंट हिन्दू, पृ० ११०—१३।

८. संध्यागर्जितनिर्घातभूकम्पोल्कानिपातने।
समाप्य वेदं द्युनिशमारण्यकमधीत्य च। — याज्ञ० १।१४५।
देशेऽशुचावात्मनि च विद्युत्स्तनितसंप्लवे।
भुक्त्वार्द्रपाणिरम्भोन्तरर्धरात्रेऽतिमारुते। ,, १।१४९।

९. धावतः पूतिगन्धे च शिष्टे च गृहमागते। ,, १।१५०।

पूर्वोक्त बातों से ज्ञात होता है कि गुप्तों के शासन-काल में वेद पढ़ने की प्रणाली का सुचारु रूप से प्रचार था। वेद के साथ-साथ अन्य विद्याओं का भी अभ्यास किया जाता था। गुप्त-लेखों में चौदह प्रकार के विद्यास्थान का उल्लेख मिलता है[1], जिसका वर्णन स्मृति में भी मिलता है। इसमें चारों वेद, छः वेदांग (छन्द, शिक्षा, निरुक्त, कल्प, व्याकरण तथा ज्योतिष), पुराण, न्याय, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र की गणना की गई है[2]। गुप्त-काल में गुरु (जिनके लिए लेखों में आचार्य तथा उपाध्याय[3] शब्द मिलते हैं[4]) इन शास्त्रों के अतिरिक्त दर्शन आदि के भी गम्भीर विद्वान् होते थे। बुधगुप्त के लेख में योगदर्शन के आचार्य यशस्नात तथा वसुदत्त के नामों का उल्लेख मिलता है[5]। लेखों के आधार पर ज्ञात होता है कि स्मृति तथा पुराणों[6] के अतिरिक्त लोग इतिहास का भी अध्ययन करते थे। कई ताम्रपत्रों में 'महाभारते शतसहस्र्यां संहितायां.........व्यासेन' उल्लिखित मिलता है[7] जिससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। उस समय प्रारम्भ में व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी जिसमें काशिका तथा पतञ्जलि-कृत महाभाष्य विशेष उल्लेखनीय हैं। ह्वेनसांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि व्याकरण के अतिरिक्त हस्त-कला, प्रस्तर, आयुर्वेद, ज्योतिष तथा तर्क-विद्या का भी अभ्यास कराया जाता था[8] (जिसका वर्णन ऊपर किया गया है)। गुप्त-काल में आयुर्वेदिक शिक्षा का विकास पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। डा० राय ने लिखा है कि छठी शताब्दी में हिन्दू भस्म, वाष्पी-करण तथा उद्‌धनन की रीति से पूर्ण परिचित थे[9]। इस आयुर्वेदीय शिक्षा का विकास पूर्ण रूप से हुआ जिसका प्रभाव भारत से बाहर भी दिखलाई पड़ता है। 'बावर' साहब ने मध्य एशिया से आयुर्वेद-सम्बन्धी एक पुस्तक खोज निकाली है जिसकी तिथि ईसा की चौथी शताब्दी मानी जाती है। इस वैद्यक-ग्रन्थ में औषध तथा अस्त्र-चिकित्सा का पूर्णतया वर्णन मिलता है। यह पुस्तक संस्कृत-भाषा तथा गुप्त-लिपि में लिखी गई है[10]।

---

१. चतुर्दशविद्यास्थानविदित—(गु० ले० नं० २५)।

२. पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥—याज्ञ० १।३।

३. उपाध्याय प्रायः शुल्क लेकर अध्यापन का कार्य करता था (मनु० २।१४१, विष्णु० २९।२)। परन्तु कालिदास ने उस गुरु की निन्दा की है जो विद्या दान से ही धनोपार्जन करता है (मालवि-का० १।५।१७)—'यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजो वदन्ति'।

४. का० इ० इ० भा० ३ नं० ७६; सहानी—सारनाथ कैटलाग पृ० २३९। नं० D (f) 2।

५. का० इ० इ० भा० ३ नं० ६७।

६. गुप्त-काल में स्मृति तथा पुराणों के निर्माण का वर्णन अन्यत्र देखिए, जिससे तत्कालीन मनुष्यों के ज्ञान का परिचय मिलता है।

७. फ्लीट गु० ले० नं० ३१।

८. वाटर भा० १, पृ० १५५।

९. सर पी० सी० राय—हिस्ट्री आफ हिन्दू कैमिस्ट्री भा० २।

१०. इंडिया एंड सेंट्रल एशिया, पृ० ६—७।

वैद्यक के अतिरिक्त शिल्प-सम्बन्धी ग्रन्थों के निर्माण से शिल्प-कला के प्रचार का भी आभास मिलता है[1]। इन सबके अतिरिक्त साहित्य, नाटक तथा काव्य-शास्त्र ने भी बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त कर लिया था[2]। इन्हीं की प्रचुरता का परिणाम है कि गुप्त-काल में सर्वत्र इनका पठन-पाठन होता था। बाण ने लिखा है कि दिवाकरसेन के आश्रम में धर्मशास्त्र और दर्शन का शिक्षण होता था[3]। अन्य धर्मों के विचारों का खण्डन करने के लिए उस समय हिन्दू बौद्ध तर्क तथा दर्शन का भी अध्ययन करते थे जब कि प्राचीन काल में केवल वेदों के पठन-पाठन का प्रचार था तथा शिष्य छः मास तक (उपाकर्म से उत्सर्जन पर्य्यन्त) वेदाभ्यास करते थे। वेदांगों तथा अन्य शास्त्रों के पाठ्य विषय होने के कारण ब्रह्मचारियों के अध्ययन-काल में असुविधा उत्पन्न होने लगी कि किस विषय को किस समय पढ़ना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में वेदों को शुक्ल पक्ष, वेदांग को कृष्ण पक्ष[4] तथा अन्य शास्त्रों को अवकाश में पढ़ने का समय निर्धारित किया गया[5]। इस प्रकार समस्त शास्त्रों का विधिपूर्वक अध्ययन होता था।

गुप्त-पूर्व-काल में प्रारम्भिक तथा उच्च शिक्षा में कुछ विशेष अन्तर नहीं दृष्टिगोचर होता था। वैदिक शिक्षा के कंठगत होने के कारण समस्त लोगों को मौखिक शिक्षा-प्रणाली की ही शरण लेनी पड़ती थी। परन्तु विद्यारम्भ संस्कार की उत्पत्ति से तथा लिखने की प्रथा के प्रादुर्भाव के कारण बालकों को ५ या ६ वर्ष की अवस्था में ही अक्षर-ज्ञान कराया जाने लगा। उस समय वैदिक शिक्षा देने से पहले बालकों को उच्चारण तथा व्याकरण का बोध कराया जाता था। इस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षा चूडाकरण[6] से लेकर प्रायः आठ वर्ष की अवस्था तक होती थी। एक जातक कथा में काशी के सेठ के पुत्र का वर्णन मिलता है जो लकड़ी की तख़्ती लेकर अक्षर-ज्ञान करने जाता था[7]। परन्तु बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा के प्रमाण पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते हैं।

प्रारम्भिक शिक्षा

गुप्त-काल में अक्षर-स्वीकरण या विद्यारम्भ संस्कार का प्रचार प्रचुर मात्रा में था। प्रायः बालक को, ६ वर्ष की अवस्था से, अक्षर-ज्ञान कराया जाता था। गुप्त-कला तथा तत्कालीन साहित्य से इसका पर्याप्त प्रमाण मिलता है। सारनाथ के मूर्ति-संग्रहालय में गुप्त-कालीन भारतीय वेष में लकड़ी की तख़्ती (लिपि-फलक) धारण किये एक बालक

---

१. जे० बी० ओ० आर० एस० १९२३, पृ० ३० ।

२. अलटेकर—एजुकेशन इन एंशेंट इंडिया, पृ० १४० ।

३. हर्षचरित—उच्छ्वास ८ ।

४. अत ऊर्ध्वं तु छन्दांसि शुक्लेषु नियतः पठेत् ।
वेदाङ्गानि च सर्वाणि कृष्णपक्षेषु संपठेत् ॥—मनु० ४।९८ ।

५. वेदोपकरणे चैव स्वाध्याये चैव नैत्यिके ।
नानुरोधोऽस्त्यनध्याये होममंत्रेषु चैव हि ॥ वही २।१०५ ।

६. वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुञ्जीत ।—अर्थशास्त्र १।२ ।

७. कठाहक जातक नं० १२५ ।

की मूर्त्ति सुरक्षित है जिससे छोटे बच्चे के अक्षर-ज्ञान करने का तात्पर्य ज्ञात होता है[1]। कालिदास ने भी वर्णन किया है कि रघु को पाँच वर्ष की उम्र में ही, जिस समय उसका चूड़ाकरण समाप्त हो चुका था, लिपि-ज्ञान कराया गया[2]। ऊपर बतलाया जा चुका है कि गुप्त-समय में प्राकृत का स्थान संस्कृत ने ले लिया। इससे यह प्रकट होता है कि ईसा की तीसरी शताब्दी के पश्चात् बालकों को संस्कृत का ही ज्ञान कराया जाता होगा। इस प्रकार, प्रारम्भिक शिक्षा में, संस्कृत व्याकरण और कोष का आवश्यक रूप से ज्ञान कराया जाता था जिससे उच्च शिक्षा में सरलता तथा प्रवेश सुगम हो जाता था। ललितविस्तर नामक बौद्ध ग्रन्थ में प्रारम्भिक पाठशाला के लिए 'लिपिशाला' तथा उसके शिक्षक के लिए 'दारकाचार्य' नाम मिलते हैं[3]। स्मृति-ग्रन्थों में प्रारम्भिक शिक्षा-विषयक वर्णन प्रायः नहीं है। मनु का कथन है कि ब्राह्मण-बालक, आपत्काल के सिवा[4], अ-ब्राह्मण गुरु से विद्या न पढ़े[5]। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि ब्राह्मण तथा अन्य वर्णों के भी गुरु बालकों को शिक्षा देते थे। प्राचीन काल में जब उपनयन से विद्या का प्रारम्भ होता था तो विद्याभ्यासी मनुष्यों की संख्या प्रायः पचहत्तर फी सदी थी परन्तु उपनयन के शारीरिक संस्कार हो जाने पर इस संख्या में न्यूनता होने लगी। गुप्त-काल में ऐसे मनुष्यों की संख्या पचास फी सदी तक वर्तमान थी।[6] छोटी अवस्था के बालकों में नीति का पालन थोड़ी मात्रा में भी होना अस्वाभाविक है। उस समय थोड़ी उम्र के बच्चों को स्वतन्त्रता के साथ अक्षर-ज्ञान कराया जाता था। पढ़ने, न पढ़ने, खेलने-कूदने तथा भोजन आदि में उन्हें पूरी स्वतंत्रता दी जाती थी। गुप्त-कालीन इस विवरण से प्रारम्भिक शिक्षा-प्रणाली का आभास मिलता है। चीनी यात्री ह्वेन्त्साँग तथा इत्सिंग ने लिखा है कि ६ वर्ष की अवस्था में प्रारम्भिक शिक्षा आरम्भ की जाती थी। सर्व-प्रथम लिपि का ज्ञान कराया जाता था। उसके बाद कुछ समय तक औपक्रम ढंग से गणित की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार ९ वर्ष की अवस्था तक बालक अभ्यास करता था[7]। गुप्त-काल के अनुगमन समय की वार्ता से पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं कि गुप्तों के शासन-काल में कैसी अवस्था रही होगी।

---

१. सहानी—सारनाथ कैटलाग पृ० १९३—९४ नं० O(a) 12।

२. स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।
लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥—रघु० ३।२८।

३. लिपिशालामुपनीयते स्म कुमारः। तत्र विश्वामित्रः नाम दारकाचार्यः।—ललितविस्तर, अध्याय १०।

४. अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते।—मनु० २।२४१।

५. नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्।
ब्राह्मणे चा ननूचाने काङ्क्षन्गतिमनुत्तमाम्।—मनु० २।२४२।

६. अलटेकर—एडुकेशन इन एंशेंट इंडिया पृ० २१९।

७. इत्सिंग अध्याय ३४; वाटर भा० १ पृ० १५४

गुप्तों के शिक्षा-क्रम के वर्णन से ज्ञात होता है कि समस्त शास्त्रों (चौदह विद्याओं) का अभ्यास कराया जाता था। इस प्रकार शिक्षा समाप्त कर ब्रह्मचारी गृहस्थ-आश्रम में प्रवेश करता था। समावर्तन-संस्कार के समय ब्रह्मचारी की कोई विशेष परीक्षा नहीं ली जाती थी। उस समय दशावरा परिषद् नामक एक संस्था थी[1] जो संकट के समय धर्म-अधर्म-विषयक बातों को निश्चित करती थी। प्रायः इसी संस्था के द्वारा ब्रह्मचारी की विद्वत्ता की परीक्षा की जाती थी; परन्तु यह कोई नियमित कार्य न था। इस रीति से भारतवर्ष में शिक्षा-प्रणाली का प्रचुर प्रचार था। शिक्षा के प्रचार का विशेष श्रेय जंगलों में स्थित ऋषियों को था जिनके आश्रमों में ब्रह्मचारी आश्रय पाते थे। डा० रवीन्द्रनाथ टैगोर का कथन है कि भारतीय सभ्यता का मूल-स्रोत जंगलों से ही प्रारम्भ हुआ[2]। डा० एनी बेसेंट ने भी, सुंदर शब्दों में, इन्हीं बातों का वर्णन किया है। उनका कथन है कि भारतीय शिक्षा के लिए जंगल ही अत्यन्त उपयुक्त थे जहाँ ऋषियों तथा आचार्यों ने विद्याभ्यास का पाठ पढ़ाया। वहाँ जीवन की संकटमय स्थितियों से निवृत्ति प्राप्त करने का ज्ञान कराया जाता तथा अज्ञान के अन्धकार में छिपी हुई सचाई को प्राप्त करने का मार्ग बतलाया जाता था[3]। इन सब वर्णनों के आधार पर यह प्रकट होता है कि प्राचीन काल में शिक्षा का समुचित प्रचार था। जंगलों के अतिरिक्त नगरों में भी शिक्षा-सम्पादन होता था। गुप्त-काल में पाटलिपुत्र शिक्षा का प्रधान केन्द्र था जिसका वर्णन फ़ाहियान ने किया है।

स्त्री-शिक्षा

प्राचीन भारत में स्त्री-शिक्षा के विकास की तुलना आधुनिक प्रगति से करने पर हमारे आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। प्राचीन समय में पुरुष तथा स्त्री दोनों को समान रूप से शिक्षा-कार्य सम्पादन करना पड़ता था। बालिकाएँ भी विद्याभ्यास के निमित्त ब्रह्मचर्य धारण करती थीं। ब्रह्मचर्य की विशिष्ट अवधि समाप्त हो जाने पर ही उनकी शादी की जाती थी[4]। तत्कालीन स्त्री-समाज में शिक्षा का पूर्ण प्रचार था। घोषा तथा लोपामुद्रा नामक स्त्रियाँ इतनी विदुषी थीं कि उनके बनाये वैदिक मन्त्र उनकी विद्वत्ता की सूचना देते हैं[5]। उस समय स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर समस्त यज्ञ-कार्य करते थे। पुरुष तथा स्त्री अपने-अपने स्थल-सम्बन्धी वैदिक ऋचाओं का उच्चारण स्वयं करते थे[6]। रामायण में भी

---

१. याज्ञ० १।९; पराशर० ८।३५।

चतुर्वेद्यो विकल्पी च अंगविद्धर्मपाठकः। त्रयश्चाश्रमिणो मुख्याः पर्षदेषा दशावरा।

२. विश्वभारती क्वार्टरली १९२४ पृ० ६४।

३. कमला लेक्चर्स १९२५ पृ० २६–२७।

४. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।—अथर्व० ११।५।१८।

५. ऋग्वेद संहिता १०।३९; ४०।१।१७९।

६. सं होत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति।—ऋक्० १०।८५।१०।

कौशल्या तथा तारा के यज्ञ-सम्बन्धी कार्य का वर्णन मिलता है[1]। इन सब बातों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत की स्त्रियाँ पूर्ण शिक्षिता थीं और उनकी शिक्षा का भी पुरुषों जैसा ही प्रबन्ध किया जाता था।

प्राचीन परम्परा क्षीण होते हुए भी कुछ न कुछ उस प्रणाली पर चली आती थी। मनु के समय में भी स्त्री-शिक्षा की प्रथा थी। उनके कथनानुसार स्त्रियों का उपनयन होना चाहिए। परन्तु उसकी कार्य-प्रणाली में वैदिक मंत्रों के उच्चारण का निषेध किया है[2]। मनु ने वर्णन किया है कि जिस यज्ञ में स्त्री का सहयोग रहे, उसके उत्सव में ब्राह्मणों को भोजन न करना चाहिए[3]। इस कथन से प्रकट होता है कि ईसवी सन् के अनन्तर कई शताब्दियों तक स्त्रियों को वैदिक शिक्षा नहीं दी जाती थी। परन्तु अन्य प्रकार के विद्याध्ययन से स्त्रियाँ वंचित नहीं रहती थीं। बौद्ध-ग्रन्थ ललित-विस्तर से ज्ञात होता है कि सभ्य स्त्रियों में लिखने-पढ़ने, कविता करने तथा शास्त्राध्ययन का प्रचार था। गुप्त-काल में स्त्रियों का उपनयन नहीं होता था परन्तु विद्याभ्यास के पूर्व उनके लिए कुछ प्रारम्भिक संस्कार अवश्य किये जाते थे। याज्ञवल्क्य तथा नारद-स्मृति में इसका वर्णन मिलता है[4]। वात्स्यायन के वर्णन से प्रकट होता है कि गुप्त-कालीन स्त्री-समाज को, साधारण शिक्षा के अतिरिक्त, शिल्प-शास्त्र की भी शिक्षा दी जाती थी। उच्चकुल की स्त्रियाँ गान और नृत्यकला, चित्रकला तथा गृह को सुसज्जित करने का भी ज्ञान प्राप्त करती थीं[5]। कालिदास ने लिखा है कि यक्ष की स्त्री पति के नाम-संयोजक अक्षरों के साथ पद्यमय गीतों का निर्माण करती थी[6]। शकुन्तला के द्वारा कमल-पत्र पर प्रेम-पत्र लिखे जाने का उल्लेख मिलता है। वात्स्यायन ने भी ऐसे अनेक प्रेम-पत्रों का वर्णन किया है[7]। मालविकाग्निमित्र नाटक में स्पष्ट उल्लेख है कि मालविका गणदास से गान और नृत्य सीखती थी तथा अग्निमित्र को दो कला-निपुण युवतियाँ उपहार में देने का वर्णन मिलता है[8]। इन्दुमती की मृत्यु के समय अज

---

१. सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मंत्रवित्कृतमंगला ॥—अयो० का० २०।१५।
ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मंत्रविद्विजयैषिणी।—किष्किन्धा का० १६।१२।

२. अमंत्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥—मनु० २।६६।

३. नाश्नीयात्तत्र यज्ञे ग्रामयाजि हुते तथा।
स्त्रिया क्लीबेन च हुते भुञ्जीत ब्राह्मणः क्वचित् ॥—वही ४।२०५।

४. याज्ञ० १।१३। येषां स तु कृताः पित्रा संस्कारविषयः क्रमात्।—नारद० १३।२३।

५. कामशास्त्र १।३।१६।

६. मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।—मेघ०।

७ कामशास्त्र ५।४।५१-५२।

८. मालविका० (काले अनु०) पृ० ५५-५६।

का विलाप कम हृदयग्राही नहीं है; जब कि उसने अपनी पत्नी को, सचिव तथा गृहिणी के अतिरिक्त, कला-मर्मज्ञ बतलाया है[1]। यदि कालिदास के पहले अज्ञ होने की कथा में कुछ तथ्य है तो उनकी स्त्री के परम विदुषी होने का पता लगता है। इस प्रकार शिक्षा का विकास चरम सीमा को पहुँच गया था। स्त्रियाँ विदुषी तथा समस्त शास्त्रों की ज्ञाता होती थीं इस कारण राज्य का शासन करने में भी उन्हें कठिनाई न पड़ती थी। ऐसी अनेक स्त्रियों के उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली थी। गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता ने, अपने पति के देहावसान के पश्चात्, सुचारु रूप से राज्य का शासन किया था[2]। इन समस्त विवरणों से गुप्त-कालीन स्त्री-शिक्षा की आदर्श उच्च प्रणाली का आभास मिलता है।

राजकुमारों की शिक्षा

राज्य-शासन का सुचारु रूप से संचालन करने के लिए यह परम आवश्यक है कि राजकुमारों को प्रारम्भ से ही विशिष्ट रूप से शिक्षा दी जाय। गुप्त-शासन आदर्श होने के कारण उसमें राजकुमारों की शिक्षा तथा राजाओं के गुणों का वर्णन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। धर्मशास्त्र-विषयक ग्रन्थों से राजकुमारों की शिक्षा पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। प्रारम्भिक शिक्षा[3] (लिपि, गणित) समाप्त करने के पश्चात् राजकुमारों को शासन-सम्बन्धी तथा नीति-विषयक शिक्षा दी जाती थी। भागवत पुराण में लिखा है कि कृष्णचन्द्र को—वेद, वेदांग के अतिरिक्त—धनुर्वेद, आन्वीक्षिकी तथा राजनीति की शिक्षा दी गई थी[4]। याज्ञवल्क्य ने राजकुमारों के लिए आन्वीक्षिकी, दण्डनीति, वार्ता[5] तथा त्रयी (तीनों वेदों) को अध्येतव्य बतलाया है[6]। बृहस्पति ने, अनावश्यक विषयों को हटाकर, केवल वार्ता तथा नीति को ही उनके लिए उपयोगी बतलाया है[7]। कामन्दकीय नीतिसार में चारों विद्याओं को राजनीति की चार मूल कहा गया है[8]। कालिदास के वर्णन से ज्ञात होता है कि इन चारों विद्याओं को राजाओं ने कुलविद्या का नाम दिया था। प्रत्येक राजकुमार को कुलविद्या में निपुण होने पर ही पिता विवाह करने की आज्ञा देता था[9]। ईसा की

---

१. गृहिणीसचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।—रघु० ८।६७।

२. ए० इ० भा० १५ पृ० ४१।

३. रघुवंश सर्ग ३।२८।

४. १०।४५।२५ २७।

५. वायुपुराण (५।१०।२८) में वाणिज्य, कृषि, पशु-पालन आदि विषयों को 'वार्ता' कहा गया है।

६. स्वरन्ध्रगोप्ताऽऽन्वीक्षिक्यां दण्डनीत्यां तथैव च।
विनीतस्त्वथ वार्तायां त्रय्यां चैव नराधिपः॥—याज्ञ० १।३११।

७. दास—दि एडुकेशनल सिस्टम आफ एंशेंट हिन्दू, पृ० २८१।

८. कामन्दकीय नीतिसार ८।४२।

९. तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः।
पश्चात् पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता।—रघु० १७।३।

छठी सदी के पूर्वार्द्ध में वर्तमान पंचतंत्र के वर्णन से स्पष्ट प्रकट होता है कि विष्णुशर्म्मा ने राजकुमारों को पाँच तंत्रों या तंत्राख्यायिका की शिक्षा दी थी। परन्तु इन तंत्रों का जन्म कई शताब्दी पहले ही हो चुका था[1]। इन उपर्युक्त विवरणों से गुप्त-कालीन राजकुमारों के शिक्षा-क्रम का पूर्ण ज्ञान होता है। इन सिद्धान्तों की पुष्टि करनेवाले साहित्यिक तथा ऐतिहासिक प्रमाण भी मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि गुप्त-नरेशों के शासन-काल में राजकुमारों की शिक्षा का विकास हो गया था। मृच्छकटिक के वर्णन से ज्ञात होता है कि शूद्रक एक बहुत विद्वान् राजा था तथा वेद, गणित, कला और हस्ति-विद्या का ज्ञाता था[2]। गुप्त-लेखों से इन साहित्यिक प्रमाणों की पुष्टि होती है। गुप्त-काल से पूर्व ईसा की दूसरी शताब्दी का शासक, संस्कृत का पुनरुत्थानकर्त्ता रुद्रदामन् शब्द, अर्थ, गान्धर्व तथा न्याय आदि विद्याओं का ज्ञाता था[3]। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयागवाला प्रशस्ति में उस शासनकर्ता के अनेक गुणों का उल्लेख मिलता है। प्रशस्ति-लेखक हरिषेण ने समुद्रगुप्त को सब शास्त्रों का ज्ञाता बतलाया है[4]। उसे 'कवि-राज' की उपाधि मिली थी[5] तथा उसकी कविता विद्वानों के लिए अनुकरणीय थी। कविता के अतिरिक्त वह गायन और वादन कलाओं का पूर्ण ज्ञाता था। इन विषयों में उसने नारद को नीचा दिखलाया था[6]। उसको इस कला का समर्थक एक सोने का सिक्का भी मिला है जिसमें वीणा बजाते हुए समुद्रगुप्त का चित्र अंकित है[7]। इन समस्त गुणों से युक्त होकर समुद्रगुप्त शासन करता था[8]। गुप्त-शासन में दण्डनीति को विशेष स्थान प्राप्त था। समुद्रगुप्त तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विभिन्न नीति का आश्रय लेकर गुप्त-साम्राज्य को इतना सुविशाल तथा सम्पन्न बनाया था। बाण के वर्णन से ज्ञात होता है कि मागध गुप्तों का कुमारगुप्त नामक नरेश धनुष-विद्या में पूर्ण अभ्यस्त था[9]।

प्राचीन भारत में राजा, शासन-प्रबन्ध करते हुए, प्रजा के मानसिक विकास पर भी पर्याप्त ध्यान रखता था। उस समय किसी राजकीय शिक्षालय का वर्णन नहीं मिलता,

---

१. जे० आर० ए० एस० १६१० पृ० ६६६।

२. 'ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादात् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।'

× × ×

'समरव्यसनी प्रमादशून्यः ककुदं वेदविदां तपोधनश्च।
परवारणबाहुयुद्धलुब्धः क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव॥'—अ० १. श्लो० ४-५।

३. शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां।— गिरनार का लेख (ए० इ० भा० ८ पृ० ४७)

४. शास्त्रतत्त्वार्थभर्तुः।

५. विद्वज्जनोपजीव्यकाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य।

६. प्रयाग की प्रशस्ति।

७. वीणा अंकित मुद्रा (Lyrist type of Coin)।

८. कीर्तिराज्यं भुनक्ति।

९. हर्षचरित (कावेल व टामस अनु०) पृ० १२०।

परन्तु तत्कालीन जितने शिक्षालय वर्तमान थे, उन सबको शासकों से सहायता मिलती थी। इन विद्यालयों को प्रत्येक प्रकार की सहायता देकर राजा शिक्षा के प्रचार में सहयोग करता था। गुप्त-नरेशों ने तत्कालीन शिक्षालयों की सहायता करते हुए एक विद्यालय की भी स्थापना की थी जिसका नाम 'नालंदा-विहार' था। इस स्थान पर नालंदा के नाम से ही संतुष्ट होकर (आगे इसका वर्णन करने का प्रयत्न किया जायगा) गुप्त-शासकों की आर्थिक सहायता का विचार करना समुचित है। गुप्त लेखों में राजाओं द्वारा, शिक्षा-प्रचार के लिए, ग्रामों के अग्रहारदान का वर्णन मिलता है। ये दान आचार्यों तथा शिक्षा प्राप्त करनेवाले ब्रह्मचारियों के निमित्त दिये जाते थे। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के गया ताम्रपत्र में ब्रह्मचारी गोपदेव स्वामिन् के लिए अग्रहार का उल्लेख मिलता है[१]। सिवानी लेख में आचार्य देवशर्मा को ब्रह्मपूरक नामक ग्राम दान में देने का वर्णन मिलता है[२]। इन सब उदार दानों के अतिरिक्त विद्वान् ब्राह्मण को आर्थिक सहायता देने का भी आदेश स्मृतिकारों ने किया है[३]।

आर्थिक सहायता

आर्थिक सहायता देकर ही गुप्त-नरेश शांत नहीं बैठ जाते थे, प्रत्युत आचार्यों तथा शिक्षालयों के सुचारु प्रबंध तथा उनके कल्याण का सर्वदा चिंतन किया करते थे। कालिदास ने राजा की शुभचिंतना तथा विद्यालय में गुरु-शिष्य सम्बन्धी अनेक बातों का सुंदर वर्णन किया है[४]। गुप्त-नरेश सर्वदा विद्वानों का सम्मान करते तथा विद्वन्मण्डली से समागम रखते थे। पण्डित भी इनकी राजसभा के सदस्य थे। राजा सादर उनका स्वागत करता था। इस प्रकार गुप्त-नरेश शिक्षालयों की सहायता कर, विद्वानों का समादर कर तथा स्वयं विद्यानुरागी होकर शिक्षा-प्रचार में अथक परिश्रम और उत्साह दिखलाते थे। इन्हीं कारणों से कालिदास ने वर्णन किया है कि राजा आश्रमवासियों के षष्ठांश पुण्य को पाता था[५]। इस संक्षिप्त विवरण से ही गुप्त-नरेशों के शिक्षाप्रचार-सम्बन्धी कार्य का अनुमान किया जा सकता है। शासक के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति भी, यथासमय, विद्यालयों को आर्थिक सहायता दिया करते थे।

नालंदा महाविहार

नालंदा[६] नामक स्थान विहार प्रान्त में, राजगृह से आठ मील उत्तर की ओर, स्थित है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी में यहीं पर बौद्ध महाविहार की स्थापना हुई।

---

१. भारद्वाज सगोत्राय...ब्रह्मचारिन् ब्राह्मन् गोपदेव...स्वामिने (का० इ० इ० भा० ३ नं० ६०)।

२. तैत्तिरीयाध्वर्य्यवे देवशर्मा आचार्यः (वही नं० ५६)।

३. कामन्दकीय नीतिसार १।१८।

४. रघुवंश सर्ग ५।१-३१।

५. तपो रक्षन्स विघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च संपदः।
यथा स्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक्॥—रघु० १७।६५।

६. लेख तथा बौद्ध व जैन साहित्यिक प्रमाणों से यह स्थिर किया गया है कि इसका वास्तविक नाम नालंदा है। इन प्रमाणों के सम्मुख इसके नामकरण में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह जाता।

यह महाविहार बौद्ध संसार में शिक्षा के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध था तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता को प्राप्त था। नालंदा की उन्नति गुप्त-नरेशों की राजकीय सहायता के कारण हुई; परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि गुप्तों ने इसी विहार को क्यों अपनाया।

बौद्ध चीनी यात्रियों ने, अपने विवरण में, नालंदा महाविहार का वर्णन किया है। सबसे प्रथम ४१० ई० में फाहियान ने नालंदा स्थान की यात्रा की थी, परन्तु उसने इस महान् शिक्षा-केन्द्र का कुछ भी उल्लेख नहीं किया है। इसके पश्चात् नालंदा एकाएक उन्नत अवस्था को प्राप्त हुआ। सातवीं सदी के चीनी यात्री ह्वेनसाँग के वर्णन से नालंदा विहार की विशालता का पता चलता है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि उसमें पूर्वकाल में इसकी पूर्ण उन्नति हो चुकी थी। नालंदा के संस्थापकों में गुप्त-नरेशों की संख्या अधिक है। शक्रादित्य सम्भवत: गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम ने (शासन-काल ४१४—४५४ ई०) इस सुविशाल विहार की स्थापना की[1]। इसकी वृद्धि में गुप्त-नरेशों का ही विशेष हाथ था[2]। उस स्थान पर एकत्रित बौद्ध समाज में शक्रादित्य ने एक, उसके दक्षिण बुधगुप्त, बुधगुप्त के निर्मित विहार के पूरब तथागतगुप्त ने, इसके पूरब-दक्षिण बालादित्य ने तथा वज्र ने इससे उत्तर दिशा में एक-एक विहार बनवाया। इन गुप्त-नरेशों के पश्चात् मध्यभारत के किसी राजा ने भी एक विहार का निर्माण किया था[3]। इन समस्त राजाओं की सहायता से प्रकट होता है कि नालंदा अवश्य एक सुविशाल स्थान हो गया होगा। यशोवर्मन् के नालंदा-लेख से ज्ञात होता है कि नालंदा में ऊँचे-ऊँचे मन्दिर और विहार वर्तमान थे जो बादलों को छूते दिखलाई पड़ते थे[4]। यह उपनिवेश एक बृहत् प्राचीर से परिवेष्टित था जिसमें दक्षिण ओर द्वार वर्तमान था[5]।

उत्पत्ति तथा संस्थापकगण

इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है कि नालंदा-महाविहार का नाम बहुत विख्यात था और यह शिक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र बन गया था। यह निश्चित रूप से नहीं

इसके विवाद तथा प्रमाण के लिए देखिए—(अ) बड़गाँव की प्रशस्ति—आ० स० रि० १९१५—१६ भा० १ पृ० १२। (ब) प्रोसिडिंग आफ फिफ्थ ओरियंटल कान्फरेंस १९३० भा० १ पृ० ३८६—४००।

१. विशेष जानकारी के लिए देखिए मेरा लेख—नालंदा महाविहार के संस्थापक (ना० प्र० पत्रिका नया सं० भा० १५ अं० २।)

२. वाटर्स—ह्वेनसाँग भा० १ पृ० २८६।

३. बील—लाइफ आफ ह्वेनसाँग पृ० ११० —११।

४. यस्यामम्बुधरावलेहिशिखरश्रेणीविहारावली,
मालेवोर्ध्वविराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञा भुवः ॥—इ० ए० भा० २० पृ० ४३।

५. बील- लाइफ पृ० १०६; वाटर्स भा० २ पृ० १६४-१७१।

कहा जा सकता कि इस स्थान पर कितने विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। भिन्न भिन्न प्रमाणों के अनुसार भिक्षुओं की संख्या दस सहस्र[1] और तीन हज़ार[2] मिलती है। निश्चित संख्या कुछ भी हो, परन्तु इस स्थान पर सातवीं सदी में पाँच सहस्र विद्यार्थी अवश्य शिक्षा प्राप्त करते थे। ह्वेनसाँग के वर्णन से ज्ञात होता है कि उस समय भिक्षुओं को वस्त्र, भोजन, निवासस्थान, औषध आदि अन्य आवश्यक सामग्रियों का प्रबन्ध नहीं करना पड़ता था[3] बल्कि वह संघ के प्रबन्ध का विषय था। विद्यार्थी शांति-पूर्वक शिक्षा ग्रहण करते थे। नालंदा की आधुनिक खुदाई से इन उपर्युक्त बातों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। खुदे हुए संघाराम में, प्रत्येक गृह में, एक या दो विद्यार्थियों के रहने का आयोजन मिलता है। प्रत्येक कमरे में, शयनार्थ, एक या दो प्रस्तर के आसन, दीपक तथा पुस्तक रखने के लिए ताखे दिखलाई पड़ते हैं। हर एक संघाराम में इस प्रकार के सैकड़ों कमरे मिलते हैं। उनके बीच में बृहत् आकार के चूल्हे तथा भोज्य सामग्री के लिए गृह बनाये गये हैं। आधुनिक समस्त खुदाई तथा अग्रहार-दान-लेखों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विद्यार्थियों को हर प्रकार की सुविधा दी गई थी जिसमें वे निर्विघ्न होकर अध्ययन करें। चीनी यात्रियों के कथनानुसार विभिन्न व्यक्तियों ने सौ ग्राम अग्रहार दान में दिये थे[4]।

विद्याभ्यास के लिए सुविधाएँ

जैसा ऊपर कहा गया है, नालंदा के इस विशाल शिक्षा-केन्द्र में सहस्रों भिक्षु अध्ययन करते थे। यहाँ की विद्वत्ता तथा शिक्षा की इतनी अधिक प्रसिद्धि थी कि सुदूर प्रान्तों से विद्यार्थी यहाँ अध्ययन करने आते थे। नालंदा-महा-विहार में प्रवेश पानेवाले विद्यार्थियों का इतना जमघट हो जाता था कि अधिकारी वर्ग ने एक प्रवेश-परीक्षा स्थापित कर रक्खी थी। यह परीक्षा इतनी ऊँची श्रेणी की होती थी कि दस में दो या तीन विद्यार्थी प्रविष्ट हो पाते थे[5]। इस परीक्षा का संचालन एक पण्डित द्वारा होता था जिसे 'द्वार-पण्डित' कहते थे। यह विहार के मुख्य द्वार पर निवास करता था। आधुनिक खुदाई में विहार के मुख्य द्वार के दोनों ओर के गृहों को द्वार-पण्डित का निवास-स्थान बतलाया जाता है।

शिक्षा-क्रम

नालंदा में शिक्षा का क्रम उच्च श्रेणी का था। भिक्षुगण केवल बौद्ध-साहित्य के ही पढ़ने में समय नहीं व्यतीत करते थे प्रत्युत ब्राह्मण-धर्म-सम्बन्धी वेद आदि ग्रंथों का भी अनुशीलन करते थे। इसके अतिरिक्त हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्साशास्त्र तथा अर्थविद्या आदि की भी शिक्षा दी जाती थी। वादविवाद के निमित्त वेदान्त तथा सांख्य दर्शनों

---

१. बील—लाइफ आफ ह्वेनसाँग पृ० ११२।

२. इत्सिंग पृ० १५४।

३. लाइफ पृ० ११३।

४. इत्सिंग पृ० ६५।

५. वाटर्स भा० २ पृ० १६५।

का पठन-पाठन किया जाता था। इन शास्त्रों के अध्ययन के लिए भारत के बाहर से भी विद्यार्थी आते थे, जो नालंदा के दिग्गज विद्वानों से अपनी शंकाओं का समाधान कराते थे[१]।

गुरु तथा शिष्यों की संख्या-गणना से प्रतीत होता है कि प्रत्येक शिक्षक प्रायः ६ या १० विद्यार्थियों के अध्यापन का भार ग्रहण करता था[२]। इसलिए गुरु अपने शिष्यों पर पूर्ण रूप से ध्यान देता था। इस गणना से प्रकट होता है कि अध्यापन के लिए सम्भवतः सौ व्याख्यान अवश्य होते थे[३]। नालंदा के समस्त विद्यार्थी नियमों का सुचारु रूप से पालन करते थे तथा शिक्षण-कार्य में निपुण विद्वान् भिक्षु गुरु के प्रति सम्मान का भाव रखते थे।

अधिकारी-वर्ग तथा कुलपति

नालंदा-महाविहार के सुप्रबंध के लिए कुछ विभिन्न कार्यों के निमित्त पृथक्-पृथक् अधिकारी थे जो अपने-अपने कार्य का संचालन करते थे। प्रत्येक संघाराम के लिए 'द्वार-पण्डित' नियुक्त होता था जिस पर भिक्षुगण के 'प्रवेश' का भार था। कर्मदान नामक एक निरीक्षक पदाधिकारी होता था जो सम्भवतः अपेक्षित समस्त सामग्री एकत्रित करता था। स्थविर (पुरोहित) धार्मिक कार्य करता था। शिक्षा का भार कुलपति पर रहता था[४]। महान् विद्वान् तथा विशिष्ट व्यक्ति ही इस पद को सुशोभित करते थे। सर्वप्रथम धर्मपाल, तत्पश्चात् उनके शिष्य शीलभद्र नालंदा के कुलपति थे। चन्द्रपाल बुद्ध-धर्म के प्रवर्तन में, गुणमति और स्थिरमति समकालीन विद्वानों में यशस्विता में, प्रभामति बुद्धि-चातुरी में तथा जीनयति वाद-विवाद में प्रख्यात थे[५]। ये विद्वान् केवल शिक्षण-कार्य में ही दक्ष नहीं थे प्रत्युत अनेक ग्रंथों की रचना करने के कारण भी प्रसिद्ध थे। शिक्षा-कार्य की सरलता के लिए नालंदा में एक बृहत् पुस्तकालय भी था जिसमें सब शास्त्रों के ग्रन्थ एकत्रित थे। इन ग्रन्थों की सहायता से सहस्रों विद्यार्थी भिन्न-भिन्न विज्ञानों का पठन-पाठन करते थे। इन्हीं ग्रंथों की प्रतिलिपि करने के लिए चीनी यात्री नालंदा में रुके रहते थे। बौद्धों के धार्मिक साहित्य का ऐसा संग्रह अन्यत्र नहीं था[६]।

नालंदा की महत्ता

बौद्ध-शिक्षालयों में नालंदा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुप्त-नरेशों के संस्थापन-काल से लेकर कई शताब्दियों तक इसका नाम विख्यात था। इसे बौद्ध संसार में सर्वोच्च शिक्षा-केन्द्र मानना उचित प्रतीत होता है। महान् बौद्ध विद्वान् यहीं के शिक्षक या विद्यार्थी थे जिनकी संख्या अन्य शिक्षालयों से बहुत अधिक है। चीन और तिब्बत में बौद्ध-धर्म तथा भारतीय सभ्यता फैलाने का श्रेय नालंदा के विद्वानों को ही है। इसकी प्रसिद्धि के कारण ही, भारत के

---

१. वाटर्स भा० २ पृ० १६५।

२. अलटेकर—एडुकेशन इन एंशेंट इंडिया पृ० २६६।

३. लाइफ आफ ह्वेनसाँग पृ० ११२।

४. बील—बुधिस्ट रेकर्ड आफ वेस्टर्न वर्ल्ड भा० २ पृ० १७१।

५. वाटर्स भा० २, पृ० १६५।

६. विद्याभूषण—हिस्ट्री आफ इंडियन लॉजिक, पृ० ५१६।

अतिरिक्त, विद्याभ्यास के लिए अन्य दूर-दूर के देशों से यात्री आते थे। चीनी यात्री हुेनसाँग और इत्सिंग इसके उदाहरण हैं, जिन्होंने बहुत समय नालंदा में ही व्यतीत किया था। आठवीं शताब्दी में तिब्बत के शासक ने, बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए, नालंदा के भिक्षु शांतिरक्षित को बुलवाया था। इसके अन्तर्राष्ट्रीय यश से प्रभावान्वित होकर जावा द्वीप के राजा बलपुत्रदेव ने नालंदा में एक विहार बनवाया तथा अपने मित्र बंगाल के पाल नरेश देवपाल से उसकी रक्षा के लिए पाँच ग्राम दान में दिलवाये[१]। उपर्युक्त विवरणों से नालंदा विहार की महत्ता का आभास मिलता है। गुप्त नरेशों ने नालंदा की स्थापना कर अपने विद्या-प्रेम का परिचय दिया तथा उस युग में विद्या-प्रचार होने से दोनों का नाम अजर-अमर हो गया।

---

१. नालंदागुणवृन्दलुब्धमनसा भक्त्या च शौद्धोदने
नानासद्गुणभिक्षुसंघवसतिः तस्यां विहारः कृतः।
सुवर्णद्वीपाधिपमहाराजश्रीबलपुत्रदेवेन वयं विज्ञापिताः। यथा मया श्री नालंदायां विहारः कृतः.................॥—ए० इ० भा० १७ पृ० ३१० ॥

गुप्त-कालीन सामाजिक अवस्था

वर्ण-व्यवस्था

भारतीयों के सामाजिक जीवन की सब से मुख्य संस्था वर्ण-व्यवस्था है। इसी की भित्ति पर हिन्दू-समाज का भवन अवलम्बित है। अत्यन्त प्राचीन काल से अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करती हुई यह व्यवस्था आज भी अक्षुण्ण रीति से वर्तमान है। प्राचीन काल में भारत के उन्नयन का बहुत कुछ श्रेय इसी वर्ण-व्यवस्था को है। संसार के इतिहास में ऐसी व्यवस्था अन्यत्र नहीं पाई जाती। इसकी उत्पत्ति तथा विकास के विषय में इस संकुचित स्थान पर विचार करना अप्रासंगिक सा होगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वैदिक काल के पश्चात् वर्ण शब्द जाति का बोधक हो गया। स्मृतिकारों ने त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य) को 'द्विज' नाम से संबोधित किया है[1]। यद्यपि हिन्दू शास्त्रकारों ने, ईसा के पूर्व ही, चारों वर्णों के पृथक्-पृथक् सामाजिक स्थान तथा कार्य निर्दिष्ट कर दिये थे[2], फिर भी उस समय आधुनिक काल के सदृश न तो उपजातियाँ थीं और न चारों वर्णों में इतना भेद-भाव ही था। महाभारत-काल में चारों वर्णों के मनुष्य राजसभा में सदस्य होते थे। उस काल में बत्तीस मनुष्यों की राजसभा में चार वेदवित् ब्राह्मण, आठ अस्त्रकुशल क्षत्रिय, इक्कीस धनवान् वैश्य तथा तीन पवित्र विनयी शूद्र सदस्य होते थे[3]। यद्यपि बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रभाव से वर्ण-व्यवस्था को गहरा धक्का पहुँचा था[4] तथापि उसका अस्तित्व सदा बना रहा। हिन्दू-धर्म के पुनरभ्युदय के साथ ही साथ इस संस्था की भी फिर से उन्नति हुई। गुप्त-काल से पहले ही वर्ण-व्यवस्था का पूरा विकास हो गया था तथा नाना उपजातियाँ भी बन गई थीं[5]। महर्षि वात्स्यायन ने, अपने 'कामसूत्र' में, इसका विशद विवेचन किया है। उस समय समाज चार वर्णों में विभक्त हो गया था तथा इन वर्णों और आश्रमों का पालन करना आवश्यक हो गया था[6]।

---

१. ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा: वर्णा: स्त्वाद्यास्त्रयो द्विजा: ।—याज्ञ० १।१० ।
चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा: ।
त्रयो वर्णा द्विजातयो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या: । - वशिष्ठ० अ० २।१।२ ।

२. मनु० १।८८-९१ ।

३. महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय ८५ ।

४. न जच्चा ब्राह्मण होति न जच्चा होति खत्तिय ।—सुत्तनिपात ।

५. बैनर्जी—गुप्त लेक्चर्स पृ० ११८ ।

६. वर्णाश्रमाचारस्थितिलक्षणत्वाच्च लोकयात्राया: ।—कामसूत्र पृ० २० ।

गुप्त-कालीन समाज में ब्राह्मणों का सबसे अधिक आदर और सम्मान था[१]। अपनी प्रकाण्ड विद्वत्ता, शुचि आचरण, विशालहृदयता और लोकोत्तर व्यवहार-कुशलता से इन्होंने चारों वर्णों में श्रेष्ठता प्राप्त की थी। अन्य तीनों वर्ण इनकी प्रधानता को स्वीकार करते हुए इनके प्रदर्शित मार्ग पर चलते थे[२]। सब लोग ब्राह्मणों के शुभाशीर्वाद के लिए लालायित रहते थे[३]। मनु ने ब्राह्मणों के छः कर्तव्यों—पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान लेना और देना—का वर्णन किया है[४]। इनमें तीन कर्तव्यों—पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना—का पालन क्षत्रिय भी कर सकता था परन्तु शेष तीन कर्तव्यों का पालन ब्राह्मण को छोड़कर अन्य कोई भी नहीं कर सकता था। शिक्षण का सारा कार्य ब्राह्मणों के ही हाथ में था। समस्त प्रजा में शिक्षा का प्रचार कर ब्राह्मण उनकी बुद्धि का विकास करता था। वैदिक यज्ञों का विधान कर वह प्रजा के लिए सस्य तथा समृद्धि को उत्पन्न करने का हेतु था। दान देकर वह दुखियों की आत्मा को सन्तुष्ट करता तथा दान को ग्रहण कर अनेक प्राणियों को उनके पाप-पुंज से मुक्त करता था।

ब्राह्मण और उनके कर्तव्य

प्रजा की आध्यात्मिक उन्नति करते हुए वह राज-कार्यों में भी कुछ कम हाथ नहीं बँटाता था। अर्थ-शास्त्र में राज्य की अष्टादश प्रकृति का वर्णन किया गया है। उन प्रकृतियों में से एक पुरोहित भी था जो अत्यन्त प्रधान प्रकृति समझा जाता था। युवराज के बाद इसी का स्थान था। पुरोहित ब्राह्मण होता था जो राजा को धार्मिक विषयों में सलाह दिया करता था। वह, देवताओं की स्तुति करके, राज्य पर आनेवाली अनेक अदृष्ट बाधाओं को दूर भगाता था। जिस प्रकार राजा सांसारिक कठिनाइयों (शत्रु की चढ़ाई आदि) से राज्य की रक्षा करता था उसी प्रकार पुरोहित भी अदृष्ट, आध्यात्मिक बाधाओं तथा विपत्तियों से राष्ट्र को सुरक्षित रखता था। इसी लिए वह राष्ट्रगोपा भी कहा जाता था[५]। परन्तु पुरोहित का कार्य केवल धार्मिक विषयों में राजा को सलाह ही देना नहीं था प्रत्युत वह राजनीति के गूढ़ रहस्यों को भी जानता था। पुरोहित केवल राजा के साथ लड़ाई ही में नहीं जाता था बल्कि, वह समराङ्गण में उतरकर अपने बलशाली बाहुओं का पराक्रम भी दिखाता था[६]। इस प्रकार ब्राह्मण पुरोहित अपनी आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा राज्य की अदृष्ट बाधाओं को दूर करता था तथा

---

१. सोशल लाइफ इन एंशेंट इंडिया पृ० १०० ।

२. त्रयो वर्णा: ब्राह्मणस्य वशे वर्तेरन् तेषां ब्राह्मणो धर्मान् प्रब्रूयात् ।—वशिष्ठ० १।४०, ४१ ।

३. ब्राह्मणानां प्रशस्तानामाशिषः (यशस्यमायुष्यम्) ।—कामसूत्र पृ० ३८० ।

४ अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः ॥—मनु० १०।७५ ।
षट् कर्माभिरतो नित्यं देवतातिथिपूजकः ।—पराशर० १।३८ ।

५—६. दीक्षितर—हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीट्यूशन्स पृ० ११५ ।

अपनी शारीरिक शक्ति के द्वारा राष्ट्र की दुष्ट विपत्तियों (शत्रु का आक्रमण आदि) का नाश करने में संलग्न रहता था। इन्हीं अलौकिक गुणों के कारण मनु ने ब्रह्मविद् ब्राह्मण को ही सेनापति, दण्डनेतृ आदि उच्च पद देने की व्यवस्था की है[1]।

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥

पहले ब्राह्मणों के जो प्रधान षट्कर्म बतलाये गये हैं वे उनके साधारण धर्म हैं। परन्तु किसी आकस्मिक दुर्घटना के घटित हो जाने पर अथवा विपत्ति पड़ने पर उनके लिए आपद्धर्म का विधान है। इस विपत्ति के समय में वे, अपने साधारण धर्म को छोड़कर, अन्य कार्य भी कर सकते थे।

आपद्धर्म

मनु ने लिखा है कि यदि ब्राह्मण अपने उक्त कर्मों से जीविका न चला सके तो उसे क्षत्रिय का कर्म करना चाहिए[2]। समयानुसार ब्राह्मण के लिए शस्त्र धारण करने का भी विधान किया गया है[3]। प्रसिद्ध चीनी यात्री फ़ाहियान तथा ह्वेनसाँग ने अनेक ब्राह्मण राजाओं का वर्णन किया है। गुप्तों के समकालीन कदम्ब राजा भी ब्राह्मण ही थे। आपत्काल में ब्राह्मण के लिए वैश्यवृत्ति से भी जीविका-निर्वाह करने का उल्लेख पाया जाता है[4]। मनु ने भी ब्राह्मण को कृषि तथा गोरक्षा कर जीविका चलाने का आदेश दिया है[5]। उन्होंने यह भी लिखा है कि यदि ब्राह्मण अपने धर्म से अपना निर्वाह न कर सके तो उसे वैश्य की भाँति व्यापार करके अपने जीवन का निर्वाह करना चाहिए[6]। परन्तु व्यापार करते हुए भी वह हथियार, विष, मांस, सुगन्धित द्रव्य, दूध, दही, घी, तेल, मधु, गुड़, कुश और मोम आदि वस्तुएँ न बेचे[7]। महाकवि शूद्रक ने लिखा है कि चारुदत्त ब्राह्मण होते हुए भी वणिक् का कार्य करता था तथा वह 'सार्थवाह' नाम से प्रसिद्ध था[8]।

ब्राह्मण के कर्तव्यों का पहले जो वर्णन किया है उससे स्पष्ट प्रकट होता है कि उसका जीवन कितना महान् था। वह अपनी जीविका के लिए किसी से कुछ भी द्रव्य ग्रहण नहीं करता था। अपने प्रिय शिष्यों के, भैक्ष्यवृत्ति से उपार्जित, धन-धान्य से ही वह अपनी जीविका चलाता था। संतोष ही उसका धन था और शुद्धाचरण ही उसकी निधि थी। वह

सुविधाएँ

---

१. मनुस्मृति १२।१०० ।

२. अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा ।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः ॥—मनु० १०।८१ ।

३. प्राणत्राणे वर्णसंकरे वा ब्राह्मणवैश्यौ शस्त्रमाददीयेनाम् ।—वशिष्ठ० अ० २ ।

४. षट्कर्मसहितो विप्रः कृषिकर्म च कारयेत् ।—पराशर० २।२ ।

५. कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्य जीविकाम् ।—मनु० १०।८२ ।

६. विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम् ।—मनु० १०।८५ ।

७. [illegible]
क्षीरं क्षौद्रं दधि घृतं तैलं मधु गुडं कुशान् ।—मनु० १०।८८ ।

८. मृच्छकटिक ।

अपना समस्त समय परोपकार ही में व्यतीत करता था। अतः ऐसे निर्लोभ, निर्धन व्यक्ति से कर ग्रहण न करना तथा सब प्रकार के करों से मुक्त कर उसे अनेक सुविधाएँ प्रदान करना उचित ही था। प्राचीन काल में ब्राह्मणों से कर नहीं लिया जाता था। मनु ने लिखा है कि धनाभाव होने पर भी राजा श्रोत्रिय ब्राह्मण से कर न ले तथा उसके राज्य में रहनेवाला कोई भी ब्राह्मण भूख से पीड़ित न होने पावे[1]। जिस राजा के राज्य में श्रोत्रिय भूखा रह जाता है उसका राज्य दरिद्र हो जाता है[2]। नारद आदि स्मृतिकारों ने भी श्रोत्रिय ब्राह्मण को सदा राजकर से मुक्त करने का विधान किया है[3]। कठिन से कठिन अपराध करने पर भी ब्राह्मण को कभी प्राणदण्ड नहीं दिया जाता था। मनु ने लिखा है कि अत्यन्त कठोर अपराध करने पर भी ब्राह्मण को प्राणदण्ड न देना चाहिए, बल्कि उसे समस्त धन के साथ राज्य से बाहर निकाल देना चाहिए[4]। ब्राह्मण-वध से बढ़कर दूसरा कोई भी पातक इस संसार में नहीं है। अतः राजा को ब्राह्मण-वध का विचार तक कभी मन में नहीं लाना चाहिए[5]। महाकवि शूद्रक ने भी वसन्तसेना की हत्या के अपराध में पकड़े गये ब्राह्मण चारुदत्त को अवध्य बतलाया है[6]। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों को और भी अन्य सुविधाएँ प्राप्त थीं। प्राचीन काल में ब्राह्मण ज्ञान का भाण्डार समझा जाता था। वह समस्त विद्याओं का कोष था। उसकी ग़लती का कारण उसका क्षणिक प्रमाद समझा जाता था। इसी लिए मनु आदि स्मृतिकारों ने उसे अवध्य बतलाया है।

ब्राह्मणों की उपजातियाँ

ऊपर कहा गया है कि गुप्त-काल में उपजातियों का विकास अधिक पाया जाता है। प्रायः ब्राह्मण-जाति में भिन्न-भिन्न उपजातियों के बनने के तीन मुख्य कारण—देश-धर्म, निरामिष भोजन तथा वैदिक शाखा—माने जाते हैं। स्मृतियों में तो देशधर्म का विचार किया गया है परन्तु गुप्त-कालीन लेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि, शाखा और गोत्र का उल्लेख करके ही, ब्राह्मणों का भेद किया जाता था। इनमें तैत्तिरीय[7], राणा-

---

१. म्रियमाणोऽप्याददीत न राजा श्रोत्रियात्करम् ।
न च क्षुधास्य संसीदेच्छ्रोत्रियो विषये वसन् ॥—मनु० ७।१३३।

२. यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा ।
तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति ॥ वही ७।१३४।

३. सदा श्रोत्रियवर्ज्यानि शुल्कान्याहुः प्रजानता ।
गृहोपयोगी यच्चैषां न तु वाणिज्यकर्मणि ॥—नारद० ४।१४।

४. न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम् ।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम् ॥—मनु० ८।३८०।

५. न ब्राह्मणवधाद्भूयानधर्मो भुवि विद्यते ।
तस्मादस्य वधं राजा मनसापि न चिन्तयेत् ॥—वही ८।३८१।

६. अयं हि पातकी विप्रोऽवध्यो मनुरब्रवीत् ।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ॥—मृच्छकटिक ९।३९।

७. का० इ० इ० भा० ३ नं० ५६।

यनीय[1], मैत्रायणी[2], माध्यन्दिन[3], वाजसनेयी[4] आदि शाखाओं के तथा कौत्स[5], भारद्वाज[6], औपमन्य[7], गौतम[8], कण्व[9] आदि गोत्रों के नामों का उल्लेख है। मथुरा-संग्रहालय में स्थित एक नागमूर्ति पर उत्कीर्ण लेख से प्रकट होता है कि गुप्त-काल में ब्राह्मणों की तीन प्रवरवाली शाखा भी वर्तमान थी[10]। इन ब्राह्मणों के नामों के साथ भट्ट[11], चतुर्वेदी[12], उपाध्याय[13] आदि का प्रयोग भी पाया जाता है। इस प्रकार जाति-भेद बढ़ता गया। भिन्न भिन्न रीति रिवाजों के कारण भेदभाव बढ़ता गया। जैसा कहा गया है, भोजन के नियम ने भी जाति में भेदभाव पैदा करने में पर्याप्त सहायता पहुँचाई। इससे मांसाहारी और शाकाहारी ये दो भेद हो गये। इसी प्रकार भेद बढ़ते-बढ़ते सैकड़ों उपजातियाँ हो गईं। बहुत पीछे जाकर, बारहवीं शताब्दी के बाद, ब्राह्मणों में पंचगौड़ तथा पंचद्राविड़ की उत्पत्ति हुई।

प्राचीन समय से अनुलोम विवाह की प्रथा चली आती है। भिन्न-भिन्न स्मृतिकारों ने इन अनुलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तति का भिन्न भिन्न नाम रक्खा है[14]।

अनुलोम विवाह

ब्राह्मण—ब्राह्मण-कन्या के अतिरिक्त—क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र की कन्या से भी विवाह कर सकता था; परन्तु इन विवाहों को प्रोत्साहन नहीं मिलता था। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण के द्वारा क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कन्या में उत्पन्न सन्तति को क्रमशः अम्बष्ठ, उग्र तथा निषाद नाम दिया है[15]। वशिष्ठ ने ब्राह्मण के इन पुत्रों को दाय का अधिकारी माना है[16]। मनु भी इन पुत्रों को

---

१. का० इ० इ० भा० ३ नं० १६।

२. वही नं० १६।

३. वही नं० २१, २६।

४. वही नं० २२, २६।

५. वही नं० २१।

६. वही नं० २२, २५, ६०।

७. वही नं० २३।

८. वही नं० ६७।

९. वही नं० २६।

१०. श्रीब्रह्मनेलस्य समानत्रिप्रवरकपुत्रस्य (U. १६)।
[illegible] — कैटलाग आफ आर्क्यालाजिकल म्यूजियम मथुरा पृ० ६०

११. का० इ० इ० भा० ३ नं० १२।

१२. वही नं० १६, ३७, ५५।

१३. वही नं० ७७।

१४. मनु० १०।८—४०।

१५. विप्रान्मूर्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम्।
अम्बष्ठः शूद्र्यां निषादो जातः पारशवोऽपि वा।—याज्ञ० १।९१।

१६. [illegible] इंडिया पृ० ५८।

ब्राह्मण ही बतलाते हैं[१]। कुछ विद्वानों का मत है कि अनुलोम विवाह की स्त्री ब्राह्मण के साथ यज्ञ करने के योग्य नहीं होती[२]। इस प्रकार के अनुलोम विवाहों के अनेक उदाहरण संस्कृत-साहित्य तथा लेखों में मिलते हैं।

समाज में ब्राह्मणों के समान क्षत्रियों का भी ऊँचा स्थान था। क्षत्रियों का मुख्य कर्तव्य दान देना, यज्ञ करना तथा विद्याध्ययन करना था। विष्णुस्मृति में लिखा है कि क्षत्रिय का प्रधान कर्तव्य प्रजा का पालन करना है[३]। राज्य-प्रबन्ध में अधिकतर क्षत्रियों का ही हाथ था।

क्षत्रिय और उनके कर्तव्य

राज्य के शासक, सेनापति तथा योद्धा प्रायः ये ही होते थे। क्षत्रियों की भी शिक्षा पर्याप्त मात्रा में होती थी। प्राचीन काल में क्षत्रिय के लिए राजन्य शब्द का प्रयोग मिलता है। बौद्ध-काल में क्षत्रियों की बड़ी प्रधानता थी तथा ये ब्राह्मणों से भी उच्च श्रेणी के माने जाते थे। उस काल में बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रतिष्ठापक भगवान् बुद्ध और महावीर क्षत्रिय-जाति में ही उत्पन्न हुए थे। तत्कालीन धार्मिक विद्वान् मंखलीपुत्त गोसाल, पकुद्ध कच्चायन, अजितकेश कम्मबलि आदि पुरुष क्षत्रिय ही थे। जैन तथा बौद्ध आगमों में क्षत्रियों की बड़ी प्रधानता बतलाई गई है और यहाँ तक लिखा है कि धर्म-प्रवर्त्तक सदा क्षत्रिय-कुल में ही (ब्राह्मण-कुल में नहीं) उत्पन्न होते हैं[४]। प्राचीन काल में जनक, प्रवाहन तथा जैवलि आदि क्षत्रियों ने शिक्षक का कार्य किया था और देवापी ने पुरोहित का भी कार्य किया था[५]।

परन्तु बौद्ध-काल के पीछे क्षत्रियों की इतनी प्रधानता नहीं रह गई थी। उनमें भी शिक्षा का प्रचुर प्रचार था। प्रयागवाली प्रशस्ति में सम्राट् समुद्रगुप्त को बहुत बड़ा विद्वान् तथा 'कविराज' कहा गया है[६]। राजा शूद्रक भी ऋग्वेद, सामवेद, गणित, वैशिकी, हस्तविद्या आदि का ज्ञाता था[७]। और भी अनेक राजाओं के विद्वान् होने का उल्लेख मिलता है। आपत्काल में, ब्राह्मणों की भाँति, क्षत्रियों के भी अनेक धर्म बतलाये गये हैं। आपत्ति के समय वे कृषि तथा वाणिज्य कर सकते थे।

---

१. स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान् सुतान् ।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान् ॥—मनु० १०।६ ।

२. घुरये — कास्ट एंड रेस इन इंडिया पृ० ६० ।

३. क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालनम् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन रक्षयेत् नृपतिः सदा ॥
त्रीणि कर्माणि कुर्वीत, राजन्यस्तु प्रयत्नतः ।
दानमध्ययनं यज्ञं ततो योगनिषेवणम् ॥—विष्णु० ५।३—४ ।

४. जातक—२२, ५२ महावीर की जन्मकथा ।

५. घुरये — कास्ट एंड रेस इन इंडिया पृ० ५१ ।

६. प्रज्ञानुषङ्गोचितसुखमनसः शास्त्रतत्त्वार्थभर्तुः, प्रतिष्ठापितकविराजशब्दस्य ।—का० इं० इं० नं० १ ।

७. मृच्छकटिक, अ० १ श्लो० ४, ५ ।

ब्राह्मणों की भाँति क्षत्रियों का जीवन भी उन्नत था। ह्वेन्सांग ने लिखा है कि ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वागाडम्बर से दूर, जीवन में सरल, पवित्र तथा मितव्ययी होते थे। क्षत्रियों में—आजकल की तरह—मांस, मदिरा आदि दुर्व्यसनों का सर्वथा अभाव था।

गुप्त-काल में क्षत्रियों में अनेक उपजातियाँ नहीं थीं। क्षत्रिय प्रायः एक वर्ग था तथा वह सर्वदा सत्कर्मों में लगा रहता था। इस काल में क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र की कन्या से अनुलोम विवाह करते थे[1]।

वैश्य जाति तथा उसके कर्त्तव्य

तीसरा वर्ण वैश्यों का था जिनका प्रधान कर्म वाणिज्य करना था[2]। गुप्त-कालीन लेखों से ज्ञात होता है कि वैश्य लोग विभिन्न छोटी-छोटी समितियाँ बनाकर अपना व्यवसाय करते थे। व्यवसाय की भिन्नता के कारण उनकी उप-समितियाँ भी उसी नाम से पुकारी जाती थीं[3]। 'लक्ष्मीः वाणिज्य-माश्रिता' इस उक्ति के अनुसार वाणिज्य-व्यवसायी वैश्यों के पास अपार सम्पत्ति थी। फाहियान ने लिखा है कि "जनपद के वैश्यों के मुखिया लोग नगर में सदाव्रत और औषधालय स्थापित करते हैं। देश के निर्धन, अपंग, अनाथ, विधवा, निःसन्तान, लूले, लँगड़े और रोगी लोग इस स्थान पर जाते हैं। उन्हें सब प्रकार की सहायता मिलती है[4]। फाहियान ने सेठ सुदत्त के बनवाये हुए विहार को देखा था[5]। ह्वेनसांग ने भी लिखा है कि तीसरा वर्ण वैश्यों या व्यापारियों का था जो पदार्थों का विनिमय करके लाभ उठाता था[6]।

वैश्यों का वाणिज्य कार्य कोई निन्दित कार्य नहीं समझा जाता था। ब्राह्मण और क्षत्रिय भी इस कार्य को करते थे। परन्तु समाज में वैश्यों का विशेष आदर न था। मनु तथा वशिष्ठ ने अतिथि वैश्य को, शूद्र के समान, भृत्य के साथ भोजन कराने का विधान किया है[7]। याज्ञवल्क्य ने शूद्र के बराबर ही वैश्यों के लिए अशौच का वर्णन किया है[8]। यह दशा होते हुए भी वैश्यों के राज्यकार्य करने, राजमन्त्री होने तथा

---

१. विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोर्द्वयोः।—मनु० १०।१०।

२. वाणिज्यं कर्षणं चैव गवां च परिपालनम्।
ब्राह्मणक्षत्रसेवा च वैश्यकर्म प्रकीर्तितम्॥—विष्णुस्मृति ५।६।
वाणिज्यं कारयेत् वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च।—मनु० ८।४१०।
कृषिकर्म च वाणिज्यं वैश्यवृत्तिरुदाहृता॥—पराशर० १।६८।

३. का० इ० इ० नं० १६, १८ दामोदरपुर ताम्रपत्र।

४. फाहियान का यात्रा-विवरण पृ० ६०।

५. वही पृ० ४०।

६. वाटर—ह्वेन्सांग जि० १ पृ० १६८।

७. वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ।
भोजयेत्सह भृत्यैः तावानृशंस्यं प्रयोजयन्॥—मनु० ३।११२।

८. [illegible]

युद्ध में लड़ने के अनेकों उदाहरण मिलते हैं[१]। गुप्त-काल में कोटिवर्ष विषय (उत्तरी बंगाल) के शासन में प्रथम श्रेष्ठी, प्रथम सार्थवाह और प्रथम कुलिक का बहुत बड़ा स्थान था[२]। फ़ाहियान ने कितने वैश्य राजाओं का वर्णन किया है।

उपजातियाँ

प्राचीन काल में वैश्य एक जाति थी। इसकी गणना द्विजों में होती थी। इस जाति के लोग अनेक प्रकार के व्यवसाय करते थे। ये लोग मागध, रथकार, कर्मकार, मणिकार, गोपाल और वणिक् आदि अनेक नामों से पुकारे जाते थे[३]। कुछ समय के बाद ब्राह्मण लोग वैश्यों के कुछ कार्यों को निन्दनीय मानकर उनकी गणना शूद्रों में करने लगे। पीछे विभिन्न कामों के कारण वैश्यों में अनेक उपजातियाँ उत्पन्न हो गई[४]। अन्य वर्णों के सदृश वैश्य भी शूद्र कन्या से अनुलोम विवाह करता था[५]। परन्तु शूद्रों के साथ अधिक संसर्ग रखने के कारण वैश्य, उच्च वर्णों की दृष्टि में, निम्न कोटि का समझा जाने लगा। इन्हीं कारणों से वैश्यों में अनेक उपजातियाँ पाई जाती हैं।

कायस्थ

ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के अतिरिक्त कायस्थ की भी गणना द्विजाति में होती थी। कायस्थों की गणना किसी उपजाति में नहीं थी तथा इनका कोई अलग भेद नहीं था। गुप्त-काल में जो मनुष्य राज्य में लेखक का काम करता था वह कायस्थ के नाम से प्रसिद्ध था। दामोदरपुर के ताम्र-पत्रों से ज्ञात होता है कि प्रथम कायस्थ शासन में भाग लेता था तथा प्रान्तीय सभा का वह भी एक सदस्य रहता था[६]। प्रथम कायस्थ शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है कि उस समय कायस्थों का कोई समूह अवश्य होगा। यह कहना कठिन है कि कायस्थ (लेखक) किस जाति के वंशज थे। ओझा जी ने लिखा है, 'ब्राह्मण क्षत्रिय आदि, जो लेखक अर्थात् अहल्कार का काम करते थे, कायस्थ कहलाते थे'[७]। शूद्रक ने भी कायस्थों को न्यायालय-लेखक बतलाया है[८]।

राजकीय कार्यों तथा न्यायालयों में लेखक का काम करने के कारण कायस्थों को षड्यन्त्रों और कूटनीति-विषयक राज्य की सारी गुप्त बातों का ज्ञान था। शूद्रक ने इसी कारण कायस्थों की उपमा सर्पों से दी है[९]। उनका आचरण जैसा भी हो,

---

१. प्राणत्राणे वर्णसंकरे वा ब्राह्मणवैश्यौ शस्त्रमाददीयेताम् ।—वशिष्ठ०, अ० २।

२. दामोदरपुर ताम्रपत्र का लेख (ए० इ० भा० १५)।

३. वाजसनेयी संहिता ३०।५।

४. सोशल लाइफ इन एंशेंट इंडिया पृ० १०३।

५. वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन्षडेते उपसदाः स्मृताः।—मनु० १०।१०।

६. Ep. Ind Vol. xV.

७. ओझा—मध्यकालीन भा० संस्कृति पृ० ४७।

८. अधिकारिणः अहो नगररक्षिणां प्रमादः। भो श्रेष्ठिकायस्थौ ! न मयेति व्यवहारपदं प्रथम-मभिलिख्यताम् ।—मृच्छ० अ० ९।

९. नानावाशककङ्कपक्षिरुचिरं कायस्थसर्पास्पदं ।
नीतिक्षुण्णतटं च राजकरणं हिंस्रैः समुद्रायते ।—मृच्छ० ९।१४।

परन्तु कायस्थ किसी विशेष जाति के लिए प्रयुक्त नहीं मिलता। पीछे अन्य पेशेवालों के समान इनकी भी एक पृथक् जाति बन गई।

शूद्र

वर्ण-व्यवस्था के अंतिम वर्ग का नाम शूद्र था। तीनों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—की सेवा करना ही शूद्रों का मुख्य कर्तव्य माना जाता था[1]। परन्तु आधुनिक काल की तरह यह वर्ण अस्पृश्य नहीं समझा जाता था। समाज में शूद्रों का उचित स्थान था। ऊपर कहा गया है कि पवित्र तथा विनयी शूद्र महाभारत-काल में राजसभा के सदस्य थे। द्विजातियों के समान शूद्रों को भी पंचमहायज्ञ करने का अधिकार था[2]। स्मृतिकारों ने शूद्रों को वेदों के अध्ययन का अधिकारी नहीं बतलाया है परन्तु वे मंत्र-रहित यज्ञ कर सकते थे[3]। इसी कारण शूद्रों को सत् तथा असत् भागों में बाँटा गया था। इनमें सत् शूद्र ही यज्ञ का अधिकारी था[4]।

पीछे के समय में शूद्रों का स्थान समाज में नीचा समझा जाने लगा। उनसे अस्पृश्य की तरह व्यवहार होने लगा। शूद्रों के साथ यात्रा करना तथा उनसे किसी वस्तु का स्पर्श हो जाना भी अनुचित समझा जाता[5]। सत् शूद्र के अतिरिक्त असत् से भोजन ग्रहण करने का निषेध किया गया है[6]। इतना होते हुए भी शूद्रों को समाज से पृथक् रखने का विचार नहीं था। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य शूद्र-कन्या से विवाह करता था। शूद्र अतिथि के आने पर उसको नौकरों के साथ भोजन कराया जाता था[7]। शूद्रों की अवस्था आधुनिक समय से तो बहुत ही उन्नत थी।

शूद्र लोग शनैः-शनैः सेवा-कार्य से हटकर दूसरे काम भी करने लगे। मनु ने भी आजीविका के अभाव के कारण शूद्रों को क्षत्रिय और वैश्यों के काम करने का विधान किया है[8]। इस प्रकार हिन्दू-समाज में बहुत से कार्य—कृषि, वाणिज्य तथा

---

१. पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम्।—मनु० ८।४१०।
ब्राह्मणक्षत्रवैश्यांश्च चरेन्नित्यममत्सरः।
कुर्वंस्तु शूद्रः शुश्रूषां लोकाञ्जयति धर्मतः।—विष्णु० ५।८।
शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा परमो धर्म उच्यते।।—पराशर० १।६६।

२. पंचयज्ञ विधानं च शूद्रस्यापि विधीयते।—विष्णु० ५:६।

३. घुरये—कास्ट एंड रेस इन इंडिया पृ० ८५।

४. शूद्रोपि द्विविधो ज्ञेयः श्राद्धी चैवेतरस्तथा।—विष्णु० ५।१०।

५. घुरये—कास्ट एंड रेस इन इंडिया पृ० ८४।

६. श्राद्धी भोज्यः तयोरुक्तो ह्यभोज्यो हीतरः स्मृतः।—विष्णु० ५।१०।
शूद्रान्नेनोदरस्थेन यः कश्चित् म्रियते द्विजः।
स भवेत्सूकरो ग्राम्यः तस्य वा जायते कुले।।—वशिष्ठ० ६।२६।

७. मनु० ३।११२।

८. शूद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षन् क्षत्रमाराधयेद्यदि।
धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत्।।—मनु० १०।१२१।

कारीगरी— शूद्रों के हाथ में भी आने लगे। इन कार्यों के कारण शूद्र भी धनवान् होने लगे। स्मृतिकारों ने तो धनवान् शूद्र को ब्राह्मण का बाधक बतलाया है[१]। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शूद्र धनवान् होते ही नहीं थे। मनु ने तो कहा है कि शूद्र राजा के राज्य में निवास नहीं करना चाहिए[२]। इससे ज्ञात होता है कि उस समय शूद्र राजा भी वर्तमान थे। मतिपुर का राजा शूद्र-जाति का था इसकी पुष्टि ह्वेनसाँग के वर्णन से होती है। साधारणतया दण्ड-विधान में शूद्रों को अधिक कठोर दण्ड दिया जाता था। समाज में यदि चारों वर्णों से एक ही अपराध हो तो शूद्र ही कठिन दण्ड सहन करता था[३]। यहाँ तक कि साधारण अपराध करनेवाले शूद्र को प्राणदण्ड दिया जाता था[४]। गुप्त-काल में इस प्रकार के कठोर दण्ड के उदाहरण नहीं मिलते। फ़ाहियान लिखता है, 'राजा न प्राणदण्ड देता है और न शारीरिक दण्ड देता है। अपराधी को अवस्थानुसार उत्तम साहस वा मध्यम साहस का अर्थदण्ड दिया जाता है[५]।

शूद्रों में भेद पीछे उत्पन्न हुआ। मुख्यतया यह भेद भिन्न-भिन्न कामों से हुआ। कुछ काम ऐसे भी थे जो नीच समझे गये और उन्हीं के नाम से—चर्मकार, कुम्भकार, धोबी आदि—वे प्रसिद्ध हुए और उनका रूप एक उपजाति का हो गया। ओझा जी का मत है कि मध्यकाल में पेशे के अनुसार शूद्रों में बहुत उपजातियाँ बन गई थीं[६]।

भारत में चारों वर्णों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी जातियाँ हैं जो अस्पृश्य समझी जाती हैं तथा जो अंत्यज के नाम से प्रसिद्ध हैं। ह्वेनसाँग ने लिखा है कि बहुत से ऐसे वर्ग हैं जो अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में से कोई भी नहीं मानते। शूद्रों के बाद अंत्यजों की गणना होती है। शूद्र तथा अंत्यजों में बहुत अन्तर है। शूद्र अंत्यज हो सकते हैं परन्तु अंत्यज शूद्र नहीं हो सकते[७]। अंत्यजों की उत्पत्ति प्रतिलोम विवाह से ज्ञात होती है। ब्राह्मणी तथा शूद्र से उत्पन्न सन्तान को शास्त्रकारों ने चाण्डाल कहा है[८]। इसकी गणना सर्वदा अंत्यज में है। समाज में चाण्डाल नीच दृष्टि से देखे जाते हैं। ये चारों वर्णों

अंत्यज

१. शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते।—मनु० १०।१२९।

२. न शूद्रराज्ये निवसेन्नाधार्मिकजनावृते। मनु० ४।६१।

३. घुरये - कास्ट एंड रेस इन इंडिया पृ० ७०।

४. शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति॥—मनु० ८।२६७।

५. फ़ाहियान का यात्रा-विवरण पृ० ३१।

६ ओझा—मध्य-कालीन भारतीय संस्कृति पृ० ४७।

७. घुरये—कास्ट एंड रेस इन इंडिया।

८. शूद्रादायोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमो नृणाम्।
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसंकराः॥—मनु० १०।१२।

के साथ निवास नहीं कर सकते। गाँवों तथा नगरों के बाहर अंत्यज रहते हैं। चाण्डाल, रथकार तथा निषाद नाम के अंत्यजों का उल्लेख मिलता है[१]। फ़ाहियान ने लिखा है कि 'दस्यु को चाण्डाल कहते हैं'[२]। वे नगर के बाहर रहते हैं। जब वे नगर में प्रवेश करते हैं तो सूचना देने के लिए लकड़ी से ढोल बजाते चलते हैं जिससे लोग उनके मार्ग से हट जायँ तथा उनका स्पर्श बचाकर चलें। केवल चाण्डाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं[३]। इस वर्णन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में चाण्डालों का स्थान बहुत ही नीचा था। इन्होंने समाज में सबसे नीच वृत्ति को अपनाया था। ये श्मशानों की रखवाली करते और शवों का कफ़न आदि लेते थे।

हिन्दू-समाज के इन भिन्न-भिन्न विभागों के पश्चात् इनके पारस्परिक सम्बन्ध का भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इस सम्बन्ध का वर्णन यहाँ अनुचित न होगा।

वर्णों का पारस्परिक सम्बन्ध

चारों वर्णों में परस्पर अच्छा सम्बन्ध था तथा आपस में विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित था[४]। सवर्ण विवाह होने पर भी अन्य वर्णों से विवाह करना धर्मशास्त्र के प्रतिकूल नहीं था।

प्राचीन काल में पिता के वर्ण से पुत्र का वर्ण निश्चित किया जाता था। परन्तु पीछे माता के वर्ण से पुत्र का वर्ण निश्चित किया जाने लगा। शनैः-शनैः ये बातें लुप्त होने लगीं और विवाह अपने वर्णों में ही सीमित हो गया। बारहवीं शताब्दी के पश्चात् विवाह के लिए कठिन नियम बनने लगे जिससे आज तक विवाह केवल उपजातियों तक ही सीमित दिखाई पड़ता है।

आधुनिक काल के समान प्राचीन भारत में स्पृश्यास्पृश्य का इतना अधिक प्रचार नहीं था। ब्राह्मण अन्य वर्णों का भोजन ग्रहण कर सकता था[५]। फ़ाहियान के

स्पृश्यास्पृश्य

चाण्डाल-विषयक वर्णन से ज्ञात होता है कि चाण्डालों की नीच वृत्ति तथा उनके वर्णसंकर होने के कारण उनको छूना अनुचित समझा जाता था। यों तो छुआछूत का यत्र-तत्र सर्वथा अभाव नहीं था परन्तु वर्तमान काल जैसा भेद बहुत पीछे उत्पन्न हुआ। पीछे की स्मृतियों में सात प्रकार की अस्पृश्य जातियों का उल्लेख है[६]। स्मृतिकारों ने कुछ ऐसे भी काल का

---

१. घुर्ये—कास्ट एंड रेस इन इंडिया पृ० ७४।

२. फाहियान के वर्णन से दस्यु चाण्डाल के समान नहीं माने जा सकते। यह वर्णन अनभिज्ञता के कारण किया गया है।

३. फाहियान का यात्रा-विवरण पृ० ३१।

४. विप्रस्य त्रिषु वर्णेषु नृपतेर्वर्णयोः द्वयोः।
वैश्यस्य वर्णे चैकस्मिन् षडेतेऽपसदाः स्मृताः ॥—मनु० १०।१०।

५. शुष्कान्नं गोरसं स्नेहं शूद्रवेश्मन आहृतम्।
पक्वं विप्रगृहे भुक्तं भोज्यं तन्मनुरब्रवीत् ॥—पराशर० ११।२०।

६. रजकः चर्मकारश्च नटो बुरुड एव च।
कैवर्तमेदभिल्लाश्च सप्तैते चान्त्यजाः स्मृताः ॥—अत्रि० १९९।

उल्लेख किया है जिसमें इन अस्पृश्य जातियों का स्पर्श गर्हित नहीं माना जाता था[1] तथा कुछ ऐसे भी कालों का विधान किया है जिनमें इनके स्पर्श का प्रायश्चित्त करना आवश्यक समझा जाता था[2]।

चाण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहकस्तथा ।
मागधा योगवाश्चैव सप्तैतेऽन्यावसायिनः ॥—अंगिरस० ।

१. देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च ।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टो न विद्यते ॥—अत्रि० २४६ ।

२. रजकं चर्मकारं च नटं धीवरमेव च ।
बुरुडं च तथा स्पृष्ट्वा शुद्ध्येदाचमनाद्द्विजः ॥—अंगिरस० १७ ।
चाण्डालेन च संस्पृष्टः स्नानमेव विधीयते ॥—अत्रि० २३६ ।
चाण्डालदर्शने सद्य आदित्यमवलोकयेत् ।
चाण्डालस्पर्शने चैव सचैलं स्नानमाचरेत् ॥—पराशर० ६।२४ ।

गुप्त-कालीन धार्मिक अवस्था

धार्मिक दृष्टि से भी गुप्त-साम्राज्य-काल का कुछ कम महत्त्व नहीं है। इसी काल में भागवत धर्म का प्रचुर प्रचार, बौद्ध धर्म का उद्धार तथा जैन धर्म का विस्तार हुआ था। भारत के इन तीन प्रधान धर्मों ने गुप्त-सम्राटों की सुशीतल छाया का आश्रय पाकर अत्यन्त विस्तार प्राप्त किया। इन तीनों धर्मों की उन्नति हुई तथा सब ने आदर के साथ जनता में स्थान प्राप्त किया। इस अध्याय में इन्हीं धर्मों के विकास का वर्णन किया जायगा। परन्तु इन धर्मों का वर्णन करने से पहले गुप्त-काल के पहले की धार्मिक अवस्था का परिचय प्राप्त कराना अत्यन्त आवश्यक है। अतः यहाँ पर इसका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है कि गुप्तों के पहले भारत की धार्मिक अवस्था कैसी थी।

वैदिक धर्म

भारतवर्ष का प्राचीनतम धर्म वैदिक धर्म था। इस धर्म में कर्मकाण्ड की प्रधानता थी। इसमें यज्ञ-यागादि पर विशेष ध्यान दिया गया तथा इसे अत्यधिक महत्त्व मिला। यहाँ तक कि दैनिक कार्यों में पञ्च यज्ञ का विधान किया गया। इस काल में अश्वमेध, गोमेध आदि यज्ञों का बोलबाला था। सर्वसाधारण में भी इन यज्ञविधानों के प्रति बड़ी श्रद्धा थी तथा स्वर्ग-प्राप्ति का यह साक्षात् सोपान समझा जाता था। इन्द्र, विष्णु, सोम, अग्नि, वरुण, उषा आदि देवताओं की पूजा बड़े आदर के साथ होती थी। इन्द्र आर्य्यों का सर्वसम्मत वीर नेता था। अग्नि तथा सोम सर्वपूज्य देवता थे। वर्णाश्रम-धर्म का समुचित विभाग था। कहने का तात्पर्य यह कि इस काल में कर्मकाण्ड की प्रधानता थी तथा यज्ञ-यागादि को विशेष महत्त्व प्राप्त था। परन्तु आगे चलकर कर्मकाण्ड की प्रधानता जाती रही तथा ज्ञान-काण्ड का समय आया। यह काल उपनिषदों का है। कर्मकाण्ड-काल में दर्शन की ओर विशेष ध्यान नहीं था परन्तु इस काल में दार्शनिक समस्याओं के सुलझाने की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। इस काल में ईश्वर, आत्मा, जीव, संसार आदि की सत्ता पर विशेष विचार किया गया तथा पतितपावनी गङ्गा और पुण्यतोया सरस्वती के पावन तट पर ध्यानावस्थित ब्रह्मर्षियों ने इस संसार की भिन्न-भिन्न दार्शनिक ग्रन्थियों को सुलझाया। दार्शनिक विचारों की सतत भावना, ईश्वर तथा जीव की सिद्धि का महत्त्व और मानव-जीवन की असारता पर विचार ही इस काल का सार था। क्रमशः इसका विस्तार बढ़ता गया और इसका प्रचुर प्रचार हुआ। परन्तु कुटिल काल के प्रभाव से शनैः-शनैः वैदिक धर्म का प्रचार कम होने लगा। वैदिक हिंसा ने जनता के हृदय में घृणा का भाव पैदा कर दिया। नित्यप्रति विहित अश्वमेध तथा गोमेध में जनता की रुचि को आकृष्ट करने की क्षमता नहीं रही। वह किसी नये धर्म को अपनाना चाहती थी। ऐसे ही समय में दो प्रसिद्ध धर्मों—जैन तथा बौद्ध—का उदय हुआ। इन धर्मों ने लोगों के चित्त को बहुत आकृष्ट किया। यहाँ इन धर्मों का इतिहास दिया जाता है।

यह धर्म अत्यन्त प्राचीन है। इसके जन्मदाता पार्श्वनाथ माने जाते हैं। वर्द्धमान महावीर ने—जो वैशाली के राजकुमार थे—इस धर्म में बड़ा सुधार किया तथा इसे पुनरुज्जीवन प्रदान किया। महावीर ने इस धर्म का बड़ा ही प्रचार किया। वैदिक काल से यज्ञों में पशुहिंसा का जो नग्न नृत्य होता था, उसका महावीर ने घोर विरोध किया। इन्होंने यज्ञहिंसा का कठोर प्रतिवाद कर अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इनका 'अहिंसा परमो धर्मः' ही सिद्धान्त था। वेदों ने पशुहिंसा का विधान किया था अतः महावीर ने वेदों की प्रामाणिकता में सन्देह कर उसकी महत्ता को मानने से इन्कार कर दिया। जैन धर्म में कर्म की प्रधानता मानी गई अतः इस धर्म के अनुयायी ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते। इस धर्म में छः द्रव्य (जीव, पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म तथा काल), नौ तत्त्व (जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पाप तथा पुण्य) और तीन रत्न (सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र) इन सब को ही परम श्रेय बतलाया गया है। जैनी वर्णाश्रम-धर्म को नहीं मानते। ये घोर तपस्या के समर्थक हैं। इनके यहाँ २४ तीर्थंकरों का जन्म माना जाता है तथा महावीर सबसे अन्तिम तीर्थंकर माने जाते हैं। इन तीर्थंकरों ने समय-समय पर जन्म लेकर जैन धर्म का उद्धार किया था। इनकी सबसे बड़ी विशेषता अहिंसा के सिद्धान्त का पालन है। ये इतने कट्टर अहिंसावादी हैं कि सन्ध्या के बाद, हिंसा के डर से, भोजन नहीं करते तथा फूँक फूँककर पैर रखते हैं। वस्तुतः अहिंसा में इनकी बड़ी ही आस्था है। इस धर्म के अनुयायी प्रायः धनी-श्रेणी के लोग हैं।

जैन धर्म

अन्य धर्मों की भाँति जैन धर्म में भी अनेक सम्प्रदाय हैं। यों तो इस धर्म में चार सम्प्रदाय—दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी तथा लोन्का—हैं परन्तु प्रथम दो सम्प्रदाय ही विशेष महत्त्व के माने गये हैं। ये ही दो प्रधान सम्प्रदाय हैं। इस विषय में विद्वानों में बड़ा मतभेद है कि जैन धर्म में इन दो सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव कब हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि दिगम्बर महावीर के तथा श्वेताम्बर पार्श्वनाथ के अनुयायी हुए परन्तु इसके लिए कोई निश्चित मत नहीं है। महावीर के निर्वाण के पश्चात् (ईसा पूर्व ४६७) इस संस्था के मुखिया गणधर नाम से प्रसिद्ध थे। इस मुखिया के स्थान पर एक के बाद दूसरा आदमी नियुक्त होता था। कालान्तर में मानव-स्वभाव-सुलभ भिन्नता के कारण इन गणधरों के विचार में भिन्नता आने लगी। इस विचार-भिन्नता के कारण इन गणधरों में भी श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दो सम्प्रदाय हो गये। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि जैनों की वलभी की सभा (सन् ५२६ ई०) में (ध्रुवसेन प्रथम के शासन-काल में) ये दोनों सम्प्रदाय स्पष्ट रीति से भिन्न हो गये। इन दोनों सम्प्रदायों में साधारण आचरण की बातों में भी भिन्नता पाई जाती है परन्तु प्रधान सिद्धान्त एक ही है। दिगम्बरों का कथन है कि उनके तीर्थङ्कर नंगे रहते हैं। स्त्री मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकती। महावीर ने कभी विवाह नहीं किया। केवल ज्ञान प्राप्त करने पर जैन साधु भोजन नहीं ग्रहण करते। साधु को सदा नंगा रहना चाहिए। परन्तु श्वेताम्बर धर्मानुयायी इस बात को

सम्प्रदाय

नहीं मानते। इन दोनों—श्वेताम्बर और दिगम्बर—सम्प्रदायों की उत्पत्ति के बाद स्थानकवासी तथा लोन्का सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई।

जैन धर्म का विस्तार

यों तो भारत में जैन धर्म का भी प्रचुर प्रचार हुआ परन्तु बौद्ध धर्म के समान नहीं। इसका प्रधान कारण राजाश्रय न प्राप्त कर सकना था। बौद्ध धर्म सम्राट् अशोक का आश्रय पाकर एक प्रान्तीय धर्म से बढ़कर संसार-व्यापी धर्म बन गया परन्तु जैन धर्म को कभी ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। जैन धर्म का अधिक प्रचार दक्षिण तथा पश्चिमीय भारत में हुआ। उस समय मथुरा उसका केन्द्र समझा जाता था। इससे अधिक जैन धर्म की वृद्धि न हो सकी। कालान्तर में इस धर्म का ह्रास होने लगा।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्म के प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्ध हैं। कपिलवस्तु के पास के एक शाल-वन में इनका जन्म हुआ था। संसार की अनित्यता को देखकर बुद्ध का चित्त चंचल हो उठा। कठिन तपस्या करने पर भी इन्हें कुछ लाभ नहीं प्रतीत हुआ। एक दिन, जब ये गया के बोधि वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे, इन्हें ज्ञान अथवा 'बोधि' प्राप्त हुआ और उसी समय से आपने अपने धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम आपने सारनाथ में बौद्ध धर्म का उपदेश किया; तत्पश्चात् अन्य प्रदेशों में जाकर लोगों को ये धर्म का उपदेश देने लगे। बौद्ध धर्म 'मध्यम-मार्ग' के नाम से प्रसिद्ध है। इसका अर्थ यह है कि न तो अत्यधिक भोग-विलास से निर्वाण मिल सकता है और न कठोर तपस्या से ही। इन दोनों मार्गों के बीच का मार्ग ही कल्याणकारक है। बौद्धधर्मानुयायी वेदों को प्रमाण नहीं मानते तथा इनके लिए कुछ भी आदर नहीं प्रकट करते। इस धर्म में ईश्वर तथा आत्मा का सर्वथा अभाव है। ये लोग इन दोनों की सत्ता में विश्वास नहीं करते। बौद्ध लोग जाति-व्यवस्था को नहीं मानते। अतः वर्णाश्रम-धर्म पर इनका विश्वास नहीं है। ये जाति-व्यवस्था कर्मानुसार मानते हैं, जन्मानुसार नहीं। चार आर्य सत्य, अष्टाङ्गिक मार्ग, प्रतीत्य-समुत्पाद आदि सिद्धान्तों का बौद्ध धर्म में बड़ा आदर है। बुद्ध, धर्म तथा संघ ये त्रिरत्न अत्यन्त पवित्र और पूजनीय समझे जाते हैं।

सम्प्रदाय

प्राचीन बौद्ध धर्म में केवल एक ही सम्प्रदाय था। इसे हीनयान कहते थे। इसमें बुद्ध को एक महापुरुष मानकर उनकी पूजा की जाती थी। वे ईश्वर नहीं माने जाते थे। अब तक उनकी पूजा, मूर्ति बनाकर, नहीं की जाती थी। परन्तु कनिष्क के समय में बौद्ध धर्म की एक बड़ी सभा हुई जिसमें प्राचीन सम्प्रदाय का हीनयान तथा नवीन सम्प्रदाय का महायान नाम रक्खा गया। महायान सम्प्रदाय में बुद्ध को देवता समझकर उनकी पूजा की जाने लगी। बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ बनीं तथा इस प्रकार साकार उपासना प्रारम्भ हुई। हीनयान में भक्ति को स्थान नहीं था परन्तु महायान में भक्ति की प्रधानता दिखाई पड़ने लगी। इसके पीछे तन्त्रयान और वज्रयान के पृथक् सम्प्रदाय बन गये। परन्तु पूर्वोक्त दो यान ही अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् मौर्य्य सम्राट् अशोक ने इस धर्म को राजाश्रय दिया। उसने न केवल समस्त भारत में अपने दूत भेजकर इस धर्म का प्रचार कराया वरन भारत के बाहर चीन, जापान, बर्मा, लंका, स्याम, मिस्र तथा ग्रीस आदि देशों में भी अपने धर्मदूतों के द्वारा इस धर्म का प्रचुर प्रचार कराया। अतः जो बौद्ध धर्म, कुछ ही काल पहले, एक प्रान्तीय धर्म था वह अशोक के द्वारा संसार-व्यापी प्रधान धर्म बना दिया गया। इस प्रकार बौद्ध धर्म का असाधारण प्रचार हुआ।

प्रचार

अहिंसा का सिद्धान्त, वेदों की अप्रामाणिकता, चौबीस तीर्थंकरों का जन्म आदि अनेक बातों को जैन तथा बौद्ध धर्म में एकसा देखकर कुछ विद्वानों की यह धारणा थी कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की एक शाखा मात्र है—कोई स्वतन्त्र धर्म नहीं। महावीर भगवान् बुद्ध के कोई शिष्य थे, जिन्होंने जैन धर्म का प्रचार किया। परन्तु उन लोगों की यह धारणा नितान्त निर्मूल है। सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् याकोबी ने उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन बड़ी विद्वत्ता के साथ किया है। उनके कथनानुसार जैन धर्म बौद्ध धर्म से अत्यन्त प्राचीन है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में सम्राट् अशोक के लेखों में निग्रन्थों (जैनों) का स्पष्टतया पृथक् उल्लेख मिलता है। अतः इन कारणों से जैन तथा बौद्ध धर्मों को एक ही नहीं समझना चाहिए बल्कि ये दोनों दो पृथक्-पृथक् धर्म हैं तथा जैन धर्म बुद्ध-धर्म से अत्यन्त प्राचीन है।

जैन तथा बौद्ध धर्म में पार्थक्य

वैदिक धर्म का संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है। कालान्तर में वैदिक धर्म में विहित पशुहिंसा ने जनता के हृदय में घृणा का भाव उत्पन्न कर दिया था। शुष्क कर्मकाण्ड के मार्गानुसरण से जनता ऊब गई थी तथा यज्ञ-यागादि के विधान में उसकी रुचि नहीं रह गई थी। उपनिषद्-काल के ज्ञानकाण्ड से भी उसे पूर्ण संतोष प्राप्त नहीं हो सका। जन-साधारण की दृष्टि में आत्मा तथा परमात्मा की सत्ता-संबंधी शास्त्रार्थ में कुछ महत्त्व नहीं था। उनके शुष्क मस्तिष्क में गूढ़ दार्शनिक तत्त्वों का प्रवेश ही क्योंकर हो सकता था। जनता तो किसी भक्तिप्रधान धर्म की प्रतीक्षा कर रही थी। ऐसे ही उपयुक्त समय में भागवत-धर्म का उदय हुआ। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि यह धर्म कब उत्पन्न हुआ; परन्तु यह निःसन्देह है कि अति प्राचीन काल से भारत में इसका प्रचलन था।

भागवत-धर्म का उदय

महाभारत में नारायणीय मत या सात्वतों की वासुदेव की उपासना भागवत धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस धर्म में भक्ति को प्रधान स्थान दिया गया तथा इसी को मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग बतलाया गया। यह धर्म अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित था। यह तो निश्चित ही है कि गुप्तों के उत्कर्ष के साथ ही साथ भागवत धर्म की विशेष उन्नति हुई। परन्तु इस काल से बहुत पहले ही भारत में इसका पर्याप्त प्रचार हो चुका था। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में ग्रीक दूत मेगस्थनीज़ ने मथुरा के समीप शूरसेनों द्वारा वासुदेव

भागवत धर्म की प्राचीनता

की पूजा किये जाने का उल्लेख किया है[1]। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के घोसुण्डी के शिलालेख में 'पूजा-शिला-प्राकार' शब्द मिलता है। विद्वानों का मत है कि यह 'पूजा-शिला' शब्द शालग्राम-शिला के लिए प्रयुक्त हुआ है[2]। अतः इससे स्पष्ट सिद्ध है कि उस प्राचीन काल में विष्णु की पूजा प्रचलित थी। महावैयाकरण पाणिनि ने अपने सूत्रों में वासुदेव के नाम का उल्लेख किया है[3]। इन सब प्रमाणों से ज्ञात होता है कि कम से कम ईसा पूर्व छठी शताब्दी में वासुदेव-पूजा का प्रचुर प्रचार हो गया था। अतः वासुदेव-पूजा की प्राचीनता में लेशमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता।

बौद्ध धर्म पर भागवत धर्म का प्रभाव

बौद्ध धर्म पर भागवत धर्म का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। पहले कहा जा चुका है कि भागवत धर्म भक्ति-प्रधान धर्म था। ईसा की पहली शताब्दी में, कनिष्क के समय में, एक नये बौद्ध पन्थ महायान का प्रादुर्भाव हुआ। इस पन्थ की उत्पत्ति के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। कोई विद्वान् इसे बाहरी प्रभाव[4] बतलाता है तो कोई स्वयं हीनयान से इसकी उत्पत्ति बतलाता है[5]। परन्तु इन दोनों मतों को मानना युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। संन्यास तथा निवृत्ति-प्रधान हीनयान से कर्म तथा प्रवृत्ति-मय महायान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? महायान में भक्ति प्रधान मानी जाती थी। अतः इस पर भागवत धर्म का प्रभाव अवश्य पड़ा। महायान में तीन बातों की प्रधानता थी––भक्ति की स्थिति, निर्वाण-पद की प्राप्ति तथा बुद्ध को देवता मानकर उनकी साकार उपासना करना। भागवत धर्म भक्ति-प्रधान था अतः महायान में जो भक्ति का प्रबल प्रवाह आया उसका उद्गम-स्थान भागवत धर्म ही था[6]। महायान के सिद्धान्तों पर गीता का विशेष प्रभाव पड़ा। इस समय बुद्ध को देवता मानने तथा उनकी साकार उपासना की जो प्रथा चल पड़ी वह भी भागवत धर्म की कृपा का फल है। भागवत-धर्म में देवताओं की साकार उपासना प्राचीन काल से चली आ रही थी। इसी साकार उपासना का अनुकरण कर महायान-पन्थानुयायी बौद्धों ने भी बुद्ध की प्रतिमा बनाकर पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। इतना ही नहीं, अवतारवाद के सिद्धान्त का भी बौद्धों ने अनुकरण किया तथा उनके यहाँ चौबीस अवतारों की जो कल्पना की गई है वह केवल भागवत धर्म के चौबीस अवतारों का अनुकरण मात्र है। इसके अतिरिक्त, संस्कृत ग्रन्थों के अनुकरण पर, बौद्ध धर्म-ग्रन्थ भी अब संस्कृत में लिखे जाने लगे। प्राकृत

---

१. मेगस्थनीज ने अपने वर्णन में वासुदेव के लिए हेरेकिल शब्द का प्रयोग किया है। विद्वान् लोग हेरेकिल का अर्थ हरिकृष्ण या वासुदेव मानते है।

२. बैनर्जी––लेखमालानुक्रमणी (बँगला) पृ० ५। इ० हि० क्वा० भा० ६, नं० ३, पृ० ७६५।

३. भण्डारकर – वैष्णविज़्म, शैविज़्म, आदि।

४. कीथ––बुधिस्ट फिलासफी।

५. दत्त––महायान एंड रिलेशन विद हीनयान।

६. लोकमान्य तिलक––गीता-रहस्य, भूमिका।

तथा पाली का प्रभाव घटा और संस्कृत का रंग जमने लगा। यहाँ तक कि सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष ने भी संस्कृत ही में अपने ग्रन्थ-रत्नों का निर्माण किया।

महायान धर्म का भी भागवत धर्म पर कुछ प्रभाव पड़ा। सबसे बड़ा प्रभाव अहिंसा का है। भागवत धर्म में भी अहिंसा को महत्त्व दिया गया है, परन्तु उतना नहीं जितना बौद्धों ने दिया है। 'अहिंसा परमो धर्मः' बौद्धों का परम मन्त्र था। बुद्ध ने न केवल इसका सिद्धान्त रूप में प्रचार किया वरन् स्वयं व्यावहारिक रूप से अहिंसा का पालन कर उन्होंने लोगों के सामने बहुत बड़ा आदर्श उपस्थित किया। उनके अनुयायियों ने मांस खाना पाप समझा तथा हिंसा का सर्वथा परित्याग कर दिया। भागवत धर्म में भी अहिंसा का सिद्धान्त था परन्तु वह कोरा सिद्धान्त ही बना रहा। विरले ही लोगों ने इसका आचरण करने का कष्ट उठाया। उन्हें अश्वमेध तथा गोमेध से अवकाश ही कहाँ था कि वे अहिंसा का पालन करते? बुद्ध के धर्मोपदेश से भागवत धर्म पर अहिंसा की गहरी छाप पड़ी तथा पशु-हिंसा को छोड़कर अहिंसा का पालन होने लगा। हिन्दू-मूर्तिकला पर भी बौद्ध मूर्तिकला का कुछ प्रभाव पड़ा। बौद्ध मूर्तियों के समान ही हिन्दू मूर्तियाँ भी बनने लगीं। सारांश यह है कि भागवत धर्म का बौद्ध धर्म पर बहुत ही विशेष प्रभाव पड़ा। बौद्ध धर्म का भी कुछ प्रभाव पड़ा परन्तु वह बहुत ही कम था।

भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास में गुप्त-काल का स्थान महत्त्वपूर्ण है। जिस प्रकार अशोक आदि राजाओं ने बौद्ध धर्म को अपनाया था उसी प्रकार इन गुप्त नरेशों ने हिन्दू धर्म को अपनी छत्र-छाया में विकसित होने का अवसर प्रदान किया। अतः राजाश्रय प्राप्त करने से यह खूब फूला-फला। इस काल में वैष्णव धर्म का बोलबाला था। जहाँ देखिए, धूमधाम से विष्णु की पूजा होती थी। विष्णु के वाराह आदि अवतारों की पूजा विशेष रूप से होती थी जिसका विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा। इस प्रकार समस्त जनता से पूजित वैष्णव धर्म दिन-दूना रात चौगुना उन्नति कर रहा था। परन्तु इस काल में केवल वैष्णव धर्म का ही विकास नहीं हुआ प्रत्युत जैन तथा बौद्ध धर्मों का भी प्रचार हुआ। जैन धर्म के विस्तार में वलभी का विशेष स्थान है। बौद्ध धर्म के प्रगाढ़ पण्डित वसुबन्धु तथा असंग आदि इसी समय में हुए जिन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का विशद प्रतिपादन कर इस धर्म के प्रचार में बड़ी सहायता पहुँचाई। बौद्ध न्याय के उद्भट विद्वान् दिङ्नाग ने इसी काल में जन्म लेकर अपनी बहुमूल्य रचनाओं से बौद्ध साहित्य का भाण्डार भरा। इसके अतिरिक्त इस काल में अनेक जैन और बौद्ध मूर्तियों तथा मंदिरों का निर्माण हुआ। इन सब दृष्टियों से गुप्त-काल में हिन्दू, जैन तथा बौद्ध इन तीनों धर्मों का प्रचार ज्ञात होता है। अब इनका विशेष रूप से वर्णन किया जाता है।

गुप्त-कालीन धार्मिक अवस्था

गुप्त-काल में वैष्णव धर्म का प्रचुर प्रचार था। यदि कहें कि तत्कालीन समस्त भारतमण्डल ही विष्णुमय हो गया था तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। गुप्त-नरेश वैष्णव-

धर्मावलम्बी थे। इनके शिलालेखों में इन्हें 'परम भागवत' कहा गया है[1]। सम्राट् समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान कर अपनी धार्मिकता का परिचय दिया था। सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम ने भी इस यज्ञ को करके अपने पूर्वजों की प्रथा का अनुसरण किया था[2]। इन गुप्त-नरेशों की 'परम भागवत' उपाधि के अतिरिक्त सिक्कों पर विष्णु के वाहन गरुड़ तथा उनकी स्त्री लक्ष्मी का चित्र अंकित मिलता है। इससे इन नरेशों की विष्णुभक्ति-परायणता स्पष्टतया प्रतीत होती है। इन्होंने स्वयं ही वैष्णव धर्म का पालन नहीं किया बल्कि इसके प्रचार के लिए विष्णु के अनेक मन्दिर इस काल में बने। गुप्त-शिलालेखों के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि इस काल के परम पूजनीय देवता विष्णु ही थे। जिस प्रकार आजकल कोई लेख आदि लिखने के पहले 'श्रीगणेशाय नमः' लिखने की प्रथा है उसी प्रकार उस काल में विष्णु प्रार्थना-सम्बन्धी वाक्य लिखने की प्रथा थी। किसी लेखबद्ध कार्य के पूर्व विष्णु की स्तुति आवश्यक समझी जाती थी। स्कन्द-गुप्त का जूनागढ़वाला लेख विष्णु की प्रार्थना के साथ ही प्रारम्भ होता है। यह प्रार्थना बड़ी ही सुन्दर तथा ललित भाषा में की गई है—

विष्णु

श्रियमभिमतभोग्यां नैककालापनीतां त्रिदशपतिसुखार्थं यो बलेराजहार।

कमलनिलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्म्याः स जयति विजितार्तिर्विष्णुरत्यन्तजिष्णुः ॥

महाराज बुधगुप्त के एरणवाले स्तम्भ-लेख के प्रारम्भ में विष्णु की इस प्रकार स्तुति की गई है—

जयति विभुश्चतुर्भुजश्चतुरार्णवविपुलसलिलपर्यङ्कः।

जगतः स्थित्युत्पत्तिन्य(यादि)हेतुर्गरुडकेतुः ॥

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने, अपनी विजय-कीर्ति को चिरस्थायी बनाने के लिए, विष्णुपद नामक पर्वत पर विष्णुध्वज स्थापित किया था[3]। इन सब उल्लेखों से गुप्त-नरेशों के परम विष्णु-पूजक होने का पूर्ण परिचय मिलता है।

स्कन्दगुप्त के जूनागढ़वाले लेख के दूसरे भाग में सौराष्ट्र के गवर्नर पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित द्वारा विष्णु-मन्दिर-निर्माण का वर्णन मिलता है[4]। कुमारगुप्त द्वितीय की भितरी की राजमुद्रा स्पष्टतया विष्णुपूजा की प्रधानता बतलाती है। इसके ऊपरी भाग पर विष्णु के वाहन गरुड़ की मूर्ति अंकित है[5]। महाराज बुधगुप्त के गु० सं० १६५ के एरणवाले लेख में उसके सामन्त मातृविष्णु तथा धन्यविष्णु के द्वारा विष्णु के ध्वज-

---

१. गु० ले० नं० ४, ७, १०, १२, १३ आदि।

२. अश्वमेध के सिक्के, गुप्त क्वायन्स।

३. तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना भावेन विष्णौ मतिम्।
प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः ॥—गु० ले० नं० ३२।

४. कारितमवक्रमतिना चक्रभृतः चक्रपालितेन गृहम्।

५. जे० आर० ए० एस० १८८६।

स्तम्भ के निर्माण का वर्णन मिलता है[१]। अब विचारणीय बात यह है कि इस समय जो विष्णु की पूजा होती थी वह किस रूपवाले विष्णु की होती थी, उनका आकार-प्रकार कैसा था, केवल विष्णु ही की पूजा होती थी अथवा उनके भिन्न-भिन्न अवतारों की भी, इत्यादि।

गुप्त-काल में, पूजा के निमित्त, विष्णु भगवान् की चतुर्भुजी मूर्ति का प्रायः अभाव ही है परन्तु इनके किसी न किसी अवतार के रूप की मूर्ति अवश्य मिलती है। भरतपुर राज्य के 'कमन' स्थान से मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह तथा वामन आदि विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं[२]। पीछे के अवतार परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध तथा कल्कि आदि की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। भगवान् विष्णु के इन दशावतारों में वाराहावतार की पूजा को विशेष महत्त्व दिया गया है तथा इसी की प्रधानता पाई जाती है। भगवान् वाराह की मूर्ति दो प्रकार की मिली है। पहली मूर्ति तो मनुष्य के आकार की है, केवल मुख वाराह का है परन्तु दूसरे प्रकार की मूर्ति ठीक वाराह के आकार की मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि उस काल में विष्णु के अवतार भगवान् वाराह की पूजा दो रूपों में होती थी। (१) मनुष्य के रूप में तथा (२) वाराह के वास्तविक रूप में। सागर ज़िले (सी० पी०) के एरण नामक स्थान में भगवान् वाराह की, वाराह-रूप में, एक सुविशाल मूर्ति मिली है। यह भीमकाय मूर्ति मनुष्य के आकार से भी बड़ी है। यह ठोस पाषाण की बनी हुई है तथा देखने से प्रतीत होता है मानों भगवान् ने वाराह-रूप में साक्षात् अवतार लिया हो। इस मूर्ति की विशालता तथा सुन्दरता की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी ही है। सचमुच ही इस विशाल आकारवाली भगवान् वाराह की मूर्ति को देखकर किसका मन आकर्षित नहीं हो जाता। इसी वाराह की मूर्ति पर एक शिलालेख भी खुदा हुआ है जिसके आदि में बड़ी सुन्दर भाषा में, भगवान् वाराह की स्तुति की गई है :—

जयति धरण्युद्धरणे घनघोराघातघूर्णितमहीध्रः।
देवो वराहमूर्तिस्त्रैलोक्यमहागृहस्तम्भः॥

इसी लेख से यह ज्ञात होता है कि महाराज तोरमाण के अधीनस्थ राजा धन्यविष्णु ने अपने माता-पिता की पुण्य-प्राप्ति के लिए भगवान् वाराह की मूर्ति का निर्माण कराया[३]। गुप्त-काल की सबसे प्राचीन वस्तु, भूपाल राज्य में स्थित, उदयगिरि की वाराह गुफा है[४]। यह गुफा चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय की मानी जाती है[५]।

---

१. महाराज मातृविष्णुना तस्यैवानुजेन तदनुविधायिना तत्प्रसादपरिगृहीतेन धन्यविष्णुना च मातृपित्रोः पुण्याप्यायनार्थमेष भगवतः पुण्यजनार्दनस्य ध्वजस्तम्भोऽभ्युच्छ्रितः।—का० इ० इ० न० १९।

२. बनर्जी—गुप्त लेक्सर्स। पृ० १२३।

३. धन्यविष्णुना तेनैव.........भगवतो वाराहमूर्तिः जगत्परायणस्य नारायणस्य शिलाप्रसादः स्वविषये अस्मिन्नैरिकिणे कारितः।

४. हैवेल—हैण्ड बुक आव इण्डियन आर्ट। पृ० १६७।

५. का० इ० इ० नं० ३।

दामोदरपुर के ताम्रपत्र में श्वेत वाराह स्वामिन् के लिए दान का उल्लेख मिलता है[1]।

इन अवतारों के अतिरिक्त भूपाल राज्य में स्थित उदयगिरि पर लक्ष्मीयुक्त विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति तथा शेषशायी भगवान् की विशाल मूर्ति मिली है[2]। पहाड़पुर (राजशाही, उत्तरी बङ्गाल) में राधाकृष्ण की, छठी शताब्दी में निर्मित, मूर्ति मिली है जो अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती[3]। इसके अतिरिक्त कृष्ण की बाललीला से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक चित्र तथा हिन्दू देवताओं की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। वे सब उस विशाल मंदिर की दीवाल में लगी हुई हैं। सारनाथ (काशी) के संग्रहालय में गोवर्धन-धारी कृष्ण की मूर्ति है जो गुप्त-काल की ज्ञात होती है[4]। इन सब लेखों तथा मूर्तियों के सिवा वैशाली में कुछ राजमुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं जो वैष्णव-धर्म-प्रचार की द्योतक हैं। इन सब राजमुद्राओं के ऊपरी भाग में विष्णु के चिह्न शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि अंकित हैं तथा 'पत्री विष्णुपद स्वामी नारायण' लिखा मिलता है[5]। गुप्त-कालीन सिक्कों पर गरुड़ की मूर्ति तथा गरुड़ध्वज उत्कीर्ण मिलते हैं। इस सब विवरणों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में विष्णु-पूजा का अत्यन्त प्रचार था। भगवान् विष्णु अपने वास्तविक स्वरूप में तथा अनेक अवतारों के रूप में भी पूजे जाते थे एवं अवतारों में वाराह अवतार की प्रधानता थी। राजाश्रय पाकर विष्णु-पूजा का प्रचार और भी अधिक हुआ।

गुप्त-काल में विष्णु की पूजा के साथ ही साथ शिव की पूजा का भी अधिक प्रचार था। वैष्णव धर्मानुयायी होने पर भी गुप्त-नरेशों ने धार्मिक सहिष्णुता का भाव दिखलाया तथा अन्य सम्प्रदायों और धर्मों के प्रचार में भी बड़ा योग दिया। इसी कारण इस काल में अन्य सम्प्रदायों की भी उन्नति हुई। इन गुप्त-नरेशों ने शिव-पूजा के प्रति सहिष्णुता का भाव धारण कर केवल मौखिक सहानुभूति ही नहीं दिखलाई बल्कि शिव-पूजा-परायण भक्तों को अपने राज्य में ऊँचे पद भी दिये। गुप्त-कालीन शिलालेखों से इस कथन की भली भाँति पुष्टि होती है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा के, गु० सं० ६१ के, शिलालेख में शिव-पूजा का उल्लेख मिलता है[6]। इसी सम्राट् के मन्त्री वीरसेन ने उदयगिरि पर शिव-पूजा के निमित्त एक मन्दिर का निर्माण कराया था[7]। कुमारगुप्त प्रथम के समय में (गु० स० ९६) ध्रुवशर्मा नामक एक ब्राह्मण के द्वारा बिलसद (एटा, यू० पी०) में

शिव

---

१. ए० इ० भाग १५।

२. कनिङ्घम—आ० स० रि० भाग १० पृ० ५२; गुप्त लेक्चर्स पृ० १२७।

३. गंगा—पुरातत्त्वाङ्क।

४. सारनाथ संग्रहालय।

५. आ० स० रि० १९०३-४ पृ० ११० नं० ३१।

६. ए० इ० भा० २१ नं० १।

७. भक्त्या भगवतः शम्भोर्गुहामेतामकारयत्—का० इ० इ० नं० ६।

स्वामी महासेन के मन्दिर में दान देने का वर्णन मिलता है[1]। दामोदरपुर के ताम्रपत्र में नागलिङ्ग तथा कोकमुख स्वामिन् के निमित्त अग्रहार दान का उल्लेख मिलता है[2]। कोकमुख स्वामिन् से किसका तात्पर्य है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु बनर्जी महोदय का मत है कि सम्भवतः यह शब्द शिव-पार्वती के अर्थ का द्योतक है[3]। महाराज हस्तिन् के खोह से प्राप्त लेखों का प्रारम्भ शिव की वन्दना के पश्चात् किया गया है। लेख के प्रारम्भ में 'नमो महादेवाय' लिखा मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि आजकल के गणेश के नाम की भाँति, प्रत्येक कार्य में, शिव का नाम पूजनीय समझा जाता था।

इन लेखों के अतिरिक्त गुप्त-तक्षण-कला में भी शिवमूर्ति का मुख्य स्थान है। इस काल में एकमुख या चतुर्मुख शिवलिङ्ग की मूर्तियाँ अधिक मिली हैं। मध्य भारत के नागोद राज्य में स्थित भूमरा तथा खोह स्थानों में एकमुख लिङ्ग की सुन्दर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं[4]। अजमेर के संग्रहालय में गुप्त-कालीन चतुर्मुख लिङ्ग, विष्णु, ब्रह्मा, शिव तथा सूर्य की मूर्तियाँ सुरक्षित हैं जो कमन नामक स्थान से वहाँ लाई गई थीं[5]। इन मुख-लिङ्गों के अतिरिक्त शिवलिङ्ग की मूर्ति करमदण्डा से प्राप्त हुई है। इस मूर्ति का निर्माण कुमारगुप्त प्रथम के मन्त्री तथा सेनापति पृथ्वीषेण ने, गु० स० ११७ में, करवाया था। इसका ऊपरी भाग गोलाकार शिवलिङ्ग है और अधोभाग अष्टकोण है तथा इसी स्थान पर एक लेख भी खुदा हुआ है[6]। बनारस के एक लुप्त शिव-मन्दिर की मुद्रा से (जो प्राप्त है) ज्ञात होता है कि यह मुद्रा किसी शिव-स्थान से संबंध रखती है। इसके दोनों ओर त्रिशूल तथा मध्यभाग में शिवलिङ्ग अंकित है[7]। इन लेखों तथा शिव की मूर्तियों आदि के आधार पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में शिव की पूजा का भी विशेष प्रचार था और गुप्तों के राज्य में वीरसेन तथा पृथ्वीषेण जैसे प्रसिद्ध शिवभक्त उच्च पदों पर नियुक्त थे।

भगवान् विष्णु तथा शिव की पूजा के पश्चात् सूर्योपासना का स्थान था। जो देवता समस्त जगत् को प्रकाश देता है, जो प्राणियों को विविध कर्म करने के लिए प्रेरित करता है तथा जो दिन-रात का कारण है उसकी पूजा नितान्त सहज तथा स्वाभाविक है। गुप्त-लेखों में सूर्य-पूजा का कई जगह उल्लेख मिलता है। कुमारगुप्त के मन्दसोरवाले शिलालेख के प्रारम्भ

सूर्य

---

१. भगवतश्च लोक्यतेजःसंसारसंततादुमुलमूत्त ब्रह्मण्यदेवस्य.. ....निवासिनः स्वामि महासेनस्याऽऽयतनेऽस्मिन् — फा० इ० इ० नं० १०।

२. ए० इ० भा० १५, पृ० १३६।

३. गुप्त लेक्चर्स पृ० १२२।

४. मे० आ० स० रि० इ० नं० १६ (भूमरा का मन्दिर)

५. बनर्जी-गुप्त लेक्चर्स पृ० १२४।

६. करमदण्डा की प्रशस्ति — ए० इ० भाग १०।

७. गुप्त लेक्चर्स — पृ० ११६।

में भगवान् भास्कर की हृदयस्पर्शी स्तुति बड़ी ही सरस, ललित तथा काव्यमय भाषा में लिखी गई है जिसे उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते :—

यो वृत्त्यर्थमुपास्यते सुरगणैस्सिद्धैश्च सिद्धार्थिभि-
ध्यानैकाग्रपरैर्विधेयविषयैर्मोक्षार्थिभिर्योगिभिः ।
भक्त्या तीव्रतपोधनैश्च मुनिभिश्शापप्रसादक्षमै-
र्हेतुर्यो जगतः क्षयाभ्युदययोः पायात्स वो भास्करः ॥
तत्त्वज्ञानविदोपि यस्य न विदुर्ब्रह्मर्षयोभ्युद्यताः
कृत्स्नं यश्च गभस्तिभिः प्रविसृतैः पुष्णाति लोकत्रयम् ।
गन्धर्वामरसिद्धकिन्नरनरैः संस्तूयतेऽभ्युत्थितो
भक्तेभ्यश्च ददाति योऽभिलषितं तस्मै सवित्रे नमः ॥
यः प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्र-
विस्तीर्णतुङ्गशिखरस्खलितांशुजालः ।
क्षीवाङ्गनाजनकपोलतलाभिताम्रः,
पायात्स वः सुकिरणाभरणो विवस्वान ॥

इस भक्ति-रस-सिक्त स्तुति से प्रार्थयिता की सूर्य-परक परम भक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है। इस लेख के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त प्रथम के गवर्नर बन्धुवर्मन् के समय में दशपुर (मालवा) में तन्तुवायों की श्रेणी द्वारा एक सूर्य-मन्दिर का पुनः संस्कार भी हुआ था[1] तथा दूसरे मन्दिर का निर्माण हुआ। सम्राट् स्कन्दगुप्त के इन्दौरवाले ताम्रपत्र में भगवान् सूर्य की प्रार्थना बड़ी ही ललित भाषा में इस प्रकार की गई है[2]—

य विप्रा विधिवत्प्रबुद्धमनसो ध्यानैकतानस्तुवः
यस्यान्तं त्रिदशासुरा न विविदुर्नोर्ध्वं न तिर्य्यग्गतिम् ।
यं लोको बहुरोगवेगविवशः संश्रित्य चेतोलभः
पायाद्वः स जगत्पिधानपुटभिद्रश्म्याकरो भास्करः ॥

इस लेख के पढ़ने से ज्ञात होता है कि अन्तरवेद (गङ्गा-यमुना के द्वाब) में स्थित इन्द्रपुर में दो क्षत्रियों—अचलवर्मा तथा भ्रुकुन्ठसिंह—ने सूर्यपूजा के निमित्त एक सुन्दर भास्कर-मन्दिर का निर्माण कराया[3]। इन सूर्य-मन्दिरों के निर्माण के अतिरिक्त अनेक गुप्त-कालीन सूर्य की प्रतिमाएँ भी मिली हैं। इन प्रतिमाओं से, लेखों में उल्लिखित, सूर्य-पूजा के प्रमाण की पुष्टि होती है। भूमरा में एक अत्यन्त

१. स्वयशोवृद्धये सर्वमत्युदारमुदारया ।
संस्कारितमिदं भूयः श्रेण्या भानुमतो गृहम् ॥
श्रेण्यादेशेन भवत्या च कारितं भवनं रवेः ।

२. स्कन्दगुप्त का इन्दौर का ताम्रलेख – का० इ० इ० नं० १६ ।

३. [illegible] क्षत्रियाचलवर्मभ्रुकुण्ठसिंहाभ्यामधिष्ठानस्य प्राच्यादिशीन्द्रपुराधिष्ठान-माडास्यातलग्नमेव प्रतिष्ठापितकभगवतः स वि······ ।

सुन्दर सूर्य की प्रतिमा प्राप्त हुई है[१]। इन विवरणों के आधार पर यह कथन न्यायसंगत है कि गुप्त-काल में सूर्य-पूजा का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान था[२]। अजमेर म्युज़ियम में कमन से प्राप्त एक सूर्य-प्रतिमा सुरक्षित है जिसमें सूर्य के सात अश्वों के चित्र अंकित हैं[३]। वैशाली (मुजफ्फरपुर) तथा भीटा (इलाहाबाद) से कुछ ऐसी मुद्राएँ भी मिली हैं जिनके ऊपरी भाग में अग्निकुण्ड का चित्र मिलता है और नीचे के भाग में (भगवतो आदित्यस्य) लिखा है[४]। इससे ज्ञात होता है कि इन स्थानों पर सूर्य-मन्दिर विद्यमान थे जिनकी ये मुद्राएँ हैं। इन उल्लेखों से गुप्त-कालीन सूर्य-पूजा का अनुमान किया जा सकता है। लेखों में की गई सूर्य की स्तुति से सूर्य-पूजकों की प्रगाढ़ भक्ति का परिचय मिलता है। अतः यह स्पष्ट सिद्ध है कि इस काल में सूर्य-पूजा का प्रचुर प्रचार था।

सर्वशक्तिमान् परमात्मा के विष्णु, शिव तथा सूर्य आदि भिन्न-भिन्न स्वरूपों की पूजा के साथ ही साथ इस काल में शक्ति-पूजा का भी प्रचार था। सम्राट् चन्द्रगुप्त

देवी

विक्रमादित्य के अधीन सनकानीक सामन्त ने गु० सं० ८२ में साँची के समीप उदयगिरि पर एक गुहा का निर्माण कराया था[५]। उस गुहा में महिषमर्दिनी (शक्ति का एक स्वरूप) की मूर्ति प्राप्त हुई है[६]। उसी स्थान पर, महिषमर्दिनी देवी की मूर्ति के साथ ही साथ, सप्त मातृका—चण्डिका या चामुण्डी, माहेश्वरी, ब्रह्माणी, कौमारी, वाराही, नारसिंही तथा वैष्णवी—की मूर्तियाँ मिली हैं। भूमरा के तक्षणकला में निर्मित, षड्भुजी महिषमर्दिनी (दुर्गा) की भी एक मूर्ति प्राप्त हुई है। इन मूर्तियों के अतिरिक्त गुप्त-लेखों में यत्र-तत्र शक्ति-पूजा का उल्लेख मिलता है। अतः इस काल में शक्ति-पूजा का अभाव नहीं था।

ऊपर के उल्लेखों से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया है कि गुप्त-काल में भगवान् विष्णु की पूजा का सब से अधिक प्राधान्य था। सारा वातावरण विष्णुमय हो गया था। परन्तु विष्णु-पूजा के साथ ही साथ शिव-सूर्य तथा देवी की पूजा भी वर्तमान थी और इनका समुचित प्रचार था। यदि परम वैष्णव, आर्यसभ्यताभिमानी, हिन्दूधर्मोद्धारक गुप्त-नरेशों की शीतल छत्र-छाया में इस आस्तिक भागवत धर्म का प्रचुर प्रचार हुआ तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं था यह बिलकुल स्वाभाविक ही था। ऐसा न होना ही अचम्भे की बात होती। परन्तु जिस प्रकार इस आस्तिक धर्म-रूपी लता ने, गुप्तों की सुशीतल छाया में, पनपना प्रारम्भ किया तथा इनके राजाश्रय से विस्तार पाया उसी प्रकार जैन तथा बौद्ध आदि नास्तिक धर्मों की भी इस काल में वृद्धि हुई,

---

१. मे० आ० स० इ० नं० १६ प्लै० १४।
२. 'रूपम्' नं० ६ (१९२१) पृ० २५।
३. आ० स० रि० (पश्चिमी सरकिल) सन् १९१९ प्लै० २६।
४. वही १९११-१२ पृ० ५८ नं० ६८।
५. का० इ० इ० पृ० २२।
६. कनिङ्घम—आ० स० रि० भाग १० पृ० ५०।

उनका दर्शन-साहित्य अमूल्य ग्रन्थ-रत्नों से भरा गया। अब जैन और बौद्ध धर्मों के विकास का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

जैन धर्म

जैन धर्म के लिए इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना वलभी की प्रसिद्ध सभा थी। यह सभा वर्द्धमान महावीर की मृत्यु के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात्, सुराष्ट्र के प्रसिद्ध नगर वलभी में, हुई थी। इस सभा का सभापति देवर्धि गणि नाम का एक सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् था। यह सभा बड़े समारोह से हुई थी। दूर दूर के जैन विद्वानों ने इसमें पधारने का कष्ट किया था। जैन श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जितने भी सिद्धान्त तथा मूल पुस्तकें थीं वे सब अभी तक जैन आचार्यों के मस्तिष्क में तथा उनके शिष्यों की जिह्वा पर ही निवास कर रही थीं। उन्हें अभी तक लेखबद्ध होने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ था। अतः इन सब विद्वानों ने मिलकर इन जैन श्वेताम्बर धर्म के मूल सिद्धान्तों तथा तत्त्वों को लिपिबद्ध कर दिया। यही इस सभा की विशेषता थी। जैन धर्म के जो सिद्धान्त इतने दिनों तक लिपिबद्ध नहीं हो सके थे वे सब लिखे गये। इसी काल में क्षपणक तथा सिद्ध दिवाकर इन दो जैन न्यायदर्शन के कर्ताओं का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने अपनी अमूल्य कृतियों से जैन दर्शन-भाण्डार को भर दिया तथा इस धर्म के प्रचार के लिए जी तोड़ परिश्रम किया। इस समय में जैन धर्म के प्रचार के अनेक प्रमाण गुप्त-लेखों में पाये जाते हैं। गु० सं० ११३ (ई० स० ४२३) के मथुरावाले लेख में एक जैन स्त्री हरिस्वामिनी द्वारा जैनमूर्ति के दान का वर्णन मिलता है[1]। उदयगिरि-गुहा में शंकर द्वारा पार्श्वनाथ की मूर्ति की स्थापना का वर्णन मिलता है। इसकी तिथि गु० सं० १०६ है[2]। गुप्त-सम्राट् स्कन्द-गुप्त के शासन-काल में मद्र नामक एक व्यक्ति द्वारा कहौम (ज़िला गोरखपुर, यू० पी०) में आदिकर्तृन् की मूर्ति के साथ एक स्तम्भ-निर्माण का उल्लेख मिलता है[3]। श्रीभग-वान्लाल इन्द्रजी ने अनुमान किया है कि आदिकर्तृन् से—आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर—इन पाँच जैन तीर्थंकरों का तात्पर्य है। मथुरा में गुप्त-कालीन अनेक जैन मूर्तियाँ मिली हैं जिनसे जैन धर्म के प्रचार की प्रामाणिकता सिद्ध होती है[4]। उत्तरी बङ्गाल में जैनधर्म-सम्बन्धी (पाँचवीं शताब्दी के) अनेक लेख मिले हैं। पहाड़पुर (राजशाही, बङ्गाल) में गु० सं० १५९ का एक लेख मिला है जिसमें एक ब्राह्मण द्वारा वटगोहली नामक स्थान में जैनविहार की मूर्ति की पूजा के निमित्त भूमिदान का उल्लेख मिलता है[5]। फ़ाहियान के निम्नांकित कथन से इन सब लेखों की पुष्टि

---

१ ए० इ० भा० २ पृ० २१०; मथुरा का लेख गु० स० १३५ (गु० ले० नं० ६३)।

२. का० इ० इ० भा० ३ नं० ६१।

३. पुण्यस्कन्धं स चक्रे जगदिदमखिलं संसरद्वीक्ष्य भीतः,
श्रेयोऽर्थं भूतभूत्यै पथि नियमवतामर्हतामादिकर्तॄन् ॥—का० इ० इ० नं० १५।

४. वोगेल—कैटलाग आफ आरके० म्यूजियम मथुरा नं० बी० १, ६, ७।

५. ए० इ० भाग २० नं० ५।

होती है। "जब सूर्य पश्चिम दिशा में रहता था तो जैनियों के देवालय पर भगवान् के विहार की छाया पड़ती थी। परन्तु जब सूर्य पूर्वदिशा में रहता था तब देवालय की छाया उत्तर ओर पड़ती थी। परन्तु बुद्धदेव के विहार पर नहीं पड़ती थी। जैनियों के आदमी नियत थे। वे नित्यप्रति देवालय में झाड़ू लगाया करते थे, पानी छिड़कते थे, धूप, दीप दिखाते तथा पूजा करते थे"[1]। इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि उस काल में बौद्ध-विहार के समीप जैनियों के भी देवालय होते थे जिनमें वे अपनी रीति से पूजा करते थे। जैनधर्मवालों के मन्दिर चारों ओर निर्मित थे जिनमें जैनी लोग स्वतन्त्रता से पूजा करते थे। इन उल्लेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि इस वैष्णवधर्म-प्रधान काल में भी जैन धर्म का कुछ कम प्रचार न था। जैन देवताओं की मूर्तियाँ मन्दिरों में स्थापित की जाती थीं और उनकी विधिवत् आदर पूजा होती थी।

इस काल में भगवान् बुद्ध के धर्म का भी बड़ा प्रचार हुआ। धार्मिक प्रचार के साथ ही साहित्यिक वृद्धि भी कुछ कम नहीं हुई। इसी काल में प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान्

बौद्ध धर्म

वसुबन्धु तथा उनके कनिष्ठ भ्राता असंग का आविर्भाव हुआ। इन दोनों विद्या-वीर बन्धुओं ने अपनी अमूल्य कृतियों से बौद्ध धर्म के दर्शन-साहित्य के भाण्डार को खूब ही भरा। अपनी प्रखर बुद्धि से इन्होंने 'विज्ञानवाद' का नया सिद्धान्त निकाला तथा बौद्ध दर्शन में क्रान्ति सी मचा दी। दिङ्नाग जैसे बौद्ध न्याय के परम प्रवीण पण्डित ने इसी काल को अपने जन्म ग्रहण से विभूषित किया था। उन्होंने एक नये बौद्ध न्याय की नींव डाली तथा उनका परम उत्कृष्ट ग्रन्थ 'प्रमाण-समुच्चय' प्रामाणिकता की कोटि में माना जाने लगा। इस विद्वान् ने नये-नये दार्शनिक सिद्धान्तों की उद्भावना की तथा इस प्रकार से बौद्धदर्शन को अपने उर्वर मस्तिष्क की उपज से भर दिया। इन्हीं कारणों से दिङ्नाग का स्थान अत्यन्त ऊँचा माना जाता है। इस काल में महायान सम्प्रदाय पर मूर्ति-पूजा का बड़ा प्रभाव पड़ा। अतः उसमें क्रमशः भक्ति का प्रवेश होने लगा। जब महायान भक्तिरस से पग गया तब अपने भगवान् की मूर्ति बनाकर पूजा करने की भी इसको सूझी। अतः महायान धर्मानुयायियों ने बुद्ध की मूर्तियाँ बनाना प्रारम्भ कर दिया। इस समय में प्रचुर संख्या में बौद्ध-मूर्तियाँ बनीं। यही कारण है कि सारनाथ के संग्रहालय में गुप्त-कालीन बौद्ध मूर्तियों की इतनी प्रचुरता है। गुप्त-काल में बोधिसत्त्व-पूजा का बहुत प्रचार हुआ, इसी से अवलोकितेश्वर की अनेक नमूने की मूर्तियाँ उक्त संग्रहालय में सुरक्षित हैं[2]। इस काल की विशेष महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं महायान पन्थ में भक्ति का प्रचार, मूर्ति का निर्माण, आचार पर ध्यान तथा बौद्ध दार्शनिक साहित्य की उन्नति।

गुप्त-लेखों और चीनी यात्री फ़ाहियान के यात्रा-विवरण से गुप्त-काल में बौद्ध धर्म के प्रचार पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। फ़ाहियान ने लिखा है कि हिन्दूधर्म के साथ ही साथ बौद्ध धर्म का भी प्रचार था। उसने अपने यात्रा-मार्ग में स्थित समस्त बौद्ध

---

१. फाहियान का यात्रा-विवरण, पृ० ४४-४५।

२. भट्टाचार्य—सारनाथ का इतिहास पृ० ६५।

विहारों का वर्णन किया है जो बड़ा ही रोचक है। फ़ाहियान के बौद्ध धर्म के प्रचार-संबंधी कथन की पुष्टि अनेक बौद्ध मूर्तियों से होती है जो उस काल में बनी थीं। केवल एक स्थान सारनाथ (काशी) में, जो उस समय बौद्ध-तक्षण-कला का एक केन्द्र था, सहस्रों बौद्ध मूर्तियों की प्राप्ति हुई है। इस समय की अनेक बौद्ध-मूर्तियों पर किसी गुप्त राजा का नाम तथा गुप्त-संवत् का उल्लेख मिलता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सेनापति आम्रकार्दव के द्वारा, गु० सं० ९३ में, काकनादबोट नामक महाविहार में एक ग्राम तथा २५ दीनार के दान का वर्णन मिलता है। इसी के मूल्य से प्रतिदिन पाँच भिक्षुओं के भोजन का तथा रत्नगृह में दीपक का प्रबन्ध होता था[1]। कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल में बुधमित्र ने गु० सं० १२९ में, मनकुआर (प्रयाग, यू० पी०) नामक स्थान में, बुद्धदेव की प्रतिमा स्थापित की थी[2]। इसी राजा के शासनकाल में मथुरा में एक बौद्ध लेख गु० सं० १३५ का मिला है[3]। इसी प्रकार सारनाथ में मिली भगवान् बुद्ध की प्रतिमाओं में कुमारगुप्त द्वितीय और बुधगुप्त के नामों का तथा गु० सं० की तिथियों का (क्रमशः १५४ तथा १५७) उल्लेख मिलता है। बुद्ध की इन प्रतिमाओं को अभयमित्र ने बनवाया था[4]। इन सब प्रतिमाओं के अतिरिक्त चौथी शताब्दी में मञ्जुश्री की उत्पत्ति हुई। इसकी उत्पत्ति पाँचों ध्यानी बुद्धों—अमिताभ, अक्षोभ्य, अमोघसिद्धि, रत्नसम्भव तथा वैरोचन—या पहले के दो बुद्धों—अमिताभ तथा अक्षोभ्य—से मानी जाती है। इस प्रकार से मंजुश्री तथा अवलोकितेश्वर की अनेक मूर्तियाँ इसी काल में बनने लगी थीं[5]। इन सब लेखों, मूर्तियों तथा फ़ाहियान के यात्रा-विवरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में बौद्ध धर्म का प्रचुर प्रचार था। अनेकों बौद्ध-महाविहार संस्थापित हुए, बुद्ध की मूर्तियाँ बनीं तथा मन्दिरों का निर्माण हुआ। कहाँ तक कहा जाय, नालन्दा के विश्वविद्यालय की स्थापना भी बौद्ध धर्म के अधिक प्रचार का ज्वलन्त उदाहरण है।

ऊपर जो विवरण दिया गया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में वैष्णवधर्म, जैनधर्म तथा बौद्धधर्म का अत्यन्त प्रचार था। इस काल में वस्तुतः इन तीनों धर्मों की उन्नति हुई। वैष्णव धर्म तो गुप्तों का राजधर्म था अतः उसका प्रचुर प्रचार होने में आश्चर्य की बात ही क्या है? परन्तु इसके अतिरिक्त नास्तिक जैन तथा बौद्ध धर्मों का भी कुछ कम प्रचार नहीं हुआ। इस कथन की प्रबल पुष्टि उन लेखों, सिक्कों, मूर्तियों और मुद्राओं से होती है जिनका विस्तृत विवरण ऊपर दिया गया है।

---

१. ईश्वरवासकं पञ्चमण्डल्याम् प्रणिपत्य ददाति पञ्चविंशतीश्च (तिञ्च) दीनारान् ...। —साँची का लेख।—का० इ० इ० नं० ५।

२. ओऽम् नमो बुद्धानाम्। भगवतः सम्यक्सम्बुद्धस्य स्वमताविरुद्धस्य इयं प्रतिमा प्रतिष्ठापिता भिक्षु बुद्धमित्रेण।—का० इ० इ० नं० ११।

३. बैनर्जी—गुप्त लेक्चर्स पृ० १०६।

४. आ० स० रि० १९१३—१४।

५. डा० विनयतोष भट्टाचार्य—बुधिस्ट आइकानग्राफी पृ० ३८।

वस्तुतः यह सब धर्मों के पनपने का समय था। इस युग में न तो साम्प्रदायिक मतभेद ही था और न 'कम्युनल कैन्कर'। सब धर्मानुयायी शान्ति तथा सुख का जीवन व्यतीत कर रहे थे। हिन्दू-मन्दिर के पास ही बौद्धों का महाविहार वर्तमान था और भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के पास जैनों की मूर्त्तियाँ थीं। एक ब्राह्मण के घर के पास बौद्ध निवास करता था और बौद्ध के गृह के समीप एक जैनी की झोपड़ी विद्यमान थी। कहने का तात्पर्य यह है कि इस काल में इन परस्पर-विरोधी धर्मों में भी द्वेष का लेश नहीं था। सभी प्रेमभाव से एकत्र निवास करते हुए अपने-अपने धर्म का पालन करते थे। सर्वत्र विश्वविजयिनी शान्ति का एक-छत्र साम्राज्य था तथा आनन्द ही आनन्द व्याप्त था। इस समस्त विश्वव्यापिनी शान्ति का प्रधान कारण गुप्त-नरेशों की धार्मिक-सहिष्णुता थी। वैष्णव धर्मानुयायी होने पर भी गुप्त नरेशों ने किसी धर्म-विशेष के लिए कभी पक्षपात का पल्ला नहीं पकड़ा और सर्वदा समभाव से व्यवहार किया। उनके विशाल हृदय तथा उदार चित्त में वैष्णव धर्म के लिए जितना आदर था उतना ही जैन तथा बौद्ध धर्म के लिए भी था। उन्होंने इन नास्तिक धर्मों के प्रति मौखिक सहानुभूति ही नहीं दिखलाई प्रत्युत राज्यकोष से पर्याप्त धन देकर अनेक बौद्ध मन्दिरों का निर्माण कराया था तथा बौद्ध महाविहारों को सहायता की थी[1]। अन्य पाश्चात्य-नरेशों की भाँति, किसी राजनैतिक चाल से, उन्होंने अन्य धर्मों को सहायता नहीं पहुँचाई बल्कि यह अलौकिक उदारता उनके आदर्श चरित्र का एक स्वाभाविक अंग थी। गुप्त-नरेशों की धार्मिक-सहिष्णुता की जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी ही है। जब हम उस सर्वत्र शान्तिमय तथा आनन्द से प्लावित, धार्मिक कलह से विरहित, गुप्त-साम्राज्य की कल्पना करते हैं तो सचमुच उसके आगे स्वर्ग का सुख भी तुच्छ मालूम पड़ता है। धन्य थे वे परम उदार, विशालहृदय गुप्त-नरेश तथा धन्य थी उनकी धार्मिक सहिष्णुता! यदि धार्मिक दृष्टि से भी गुप्त-काल को 'सुवर्ण-युग' कहें तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। जिस काल में परस्पर-विरोधी धर्म भी अपना कुटिल तथा सापत्न्यभाव छोड़कर शान्तिपूर्वक रहे उसे 'सुवर्ण-युग' के सिवा और कहा ही क्या जा सकता है?

---

१. वैन्यगुप्त का गुणैधर ताम्रपत्र—इं० हि० क्वा० भा० ६, पृ० ५१।

गुप्त-कालीन भौतिक-जीवन

मनुष्य के जीवन में समाज का बहुत बड़ा स्थान है। समाज मनुष्य-जीवन का प्राण है। यदि मनुष्य को समाज से बाहर कर दिया जाय तो उसका जीवन निर्वाह करना कठिन हो जायगा। सिद्ध महात्माओं के लिए समाज भले ही उपयोगी न हो परन्तु जन साधारण के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है। अँगरेज़ी में एक कहावत है — Man is a social animal. अर्थात् मनुष्य समाज का आदी है। यह कथन अक्षरशः सत्य है। समाज में मनुष्य के लिए चार आश्रम—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास—बनाये गये हैं। प्राचीन भारतीय जिस प्रकार ब्रह्मचर्य-काल में अध्ययन और संन्यास में तपस्या को प्रधानता देते थे उसी प्रकार गार्हस्थ्य काल में वे सांसारिक सुख तथा आनन्द पर विशेष ज़ोर देते थे। इस काल में सांसारिक सुखों और वैभवों का उपभोग करने में वे कभी त्रुटि नहीं करते थे। गत अध्याय में गुप्त-कालीन समाज का वर्णन किया गया है अतः यहाँ गुप्त-कालीन भौतिक-जीवन का वर्णन करना कुछ अप्रासंगिक न होगा। इस अध्याय में दिखलाया जायगा कि गुप्त-काल में लोगों का रहन-सहन कैसा था, वे कैसे आमोद-प्रमोद पसन्द करते थे, कैसे वस्त्र पहनते और कैसे आभूषण धारण करते थे। इसका पता भी इससे लगेगा कि गुप्तकाल में भौतिक जीवन कितना ऊँचा था।

आमोद-प्रमोद की सामग्री

गुप्त-काल में भौतिक जीवन अपनी परा काष्ठा को पहुँचा हुआ था। लोग सुख से अपना समय बिताते थे। फ़ाहियान ने तत्कालीन सुख-सम्पत्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उसके वर्णन से पता चलता है कि उस समय के लोगों ने अपने रहने के लिए बड़े बड़े महल बनवाये थे[1]। महाकवि शूद्रक ने वसन्तसेना के घर का वर्णन करते हुए लिखा है कि उसका घर एक बहुत बड़ा महल था जिसमें सात प्रकोष्ठ (आजकल के शहर में बने हुए घरों का चौक) बने हुए थे। इन महलों की सीढ़ियों में अनेक रत्न जड़े थे और बाहर चूने से सफ़ेदी की गई थी[2]। वसन्तसेना के महल में आज-कल की तरह खिड़कियाँ (वातायन) थीं[3]। कालिदास ने भी उस समय के महलों में खिड़कियों के होने का वर्णन किया है[4]। अपनी प्रिया के पास मेघ को भेजते समय

---

१. फ़ाहियान का यात्रा-विवरण।

२. विविधरत्नप्रतिबद्धकाञ्चनसोपानशोभिताः।
न कनकमैत्र शयनाः दाँत सुधापङ्कधवलिताः॥—मृच्छकटिक ४।

३. स्फटिकवातायनमुखनिष्क्रान्तैः निश्वासवाक्येविलुलितानि।—मृ० अं० ४।

४. प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुरसुन्दरीणाम्।—कु० ७।५४।

यक्ष कह रहा है कि ऐ मेघ ! खिड़की के द्वार से ही तुम मेरी प्रिया के पास जाना[१] । महलों में स्नानागार भी हुआ करते थे । आजकल की भाँति उस समय भी महल के प्रधान फाटक के आगे पहरेदार खड़ा रहता था[२] । मनुष्यों के मनोरंजन के लिए गान-भवन, नाटक-गृह और चित्रशाला आदि विद्यमान थे जिनमें आकर नागरिक आनन्द लाभ किया करते थे । रत्नावली नाटिका में प्रेक्षागृह, संगीतगृह और चित्रशाला का बड़ा सुन्दर वर्णन पाया जाता है[३] । बाण ने भी चित्रशाला और गन्धर्वशाला का रमणीय विवरण दिया है । इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि उस काल में रमणीय और भिन्न-भिन्न प्रकार के गृहों का प्रचुर प्रचार था ।

आजकल की भाँति गुप्त-कालीन शौक़ीन लोग भी अपने घर के आगे एक छोटा सा उद्यान लगाया करते थे । ये उद्यान बड़े ही सुन्दर होते थे । इनमें अनेक रमणीय पक्षी पाले जाते थे । इनमें एक तालाब और क्रीड़ा-पर्वत भी होता था जो बहुत सुन्दर होता था । महाकवि कालिदास ने यक्ष के घर के आगे ऐसे ही उद्यान का वर्णन किया है जिसमें एक तालाब था और उसकी सीढ़ियाँ मरकत मणि से जटित थीं[४] । आपने शहर के 'बाहरी तरफ़' भी उद्यानों का वर्णन किया है । शूद्रक ने भी महलों के आगे उद्यानों का वर्णन किया है[५] । ये उद्यान बड़े आनन्दप्रद थे जिनमें रसिकजन आनन्द किया करते थे ।

उद्यान

तत्कालीन शौक़ीन मनुष्य, अपने मनोरंजन के लिए, अनेक प्रकार के पक्षी पालते थे । शूद्रक ने वसन्तसेना के महल के सातवें प्रकोष्ठ का वर्णन करते हुए शुक, सारिका, कोयल, काक, तित्तिर, चातक, कबूतर, मोर और हंस आदि पक्षियों के पाले जाने का उल्लेख किया है[६] । कहीं शुक सूक्त पढ़ रहा है तो कहीं कोयल कुहू-कुहू की सुन्दर ध्वनि कर रही है । कहीं तित्तिर अपनी रणकुशलता दिखला रहा है तो कहीं सारिका सुन्दर एवं मधुर शब्द बोल रही है । उस समय भी काक को दूध-भात खिलाने की चाल थी[७] । कालिदास ने यक्ष-पत्नी के घर मधुर-भाषण निपुण रसिका सारिका का वर्णन किया है[८] । बाण ने शूद्रक की सभा में एक प्रतिहारी के द्वारा लाये गये पण्डित शुक का वर्णन किया है ।

पक्षि-पालन

---

१. मेघदूत उत्तरार्द्ध ।

२. श्रोत्रिय इव सुखोपविष्टो निद्राति दौवारिकः ।—मृच्छकटिक अं० ४ ।

३. मुकर्जी—हर्ष० ।

४. मेघदूत उत्तरार्द्ध ।

५. मृच्छकटिक ।

६ पठति शुकः, कुरकुरायते मदनसारिका, योध्यन्ते लावकाः, प्रेष्यन्ते पञ्जरकपोताः । —मृच्छकटिक ४ ।

७. सदक्षा कलमोदनेन अलोभिता न भक्षयन्ति वायसाः बलिं सुधासवर्णतया ।—मृच्छकटिक ४ ।

८. पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां,

कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके ! त्वं हि तस्य प्रियेति ।—उत्तरमेघ २५ ।

पहाड़पुर (ज़ि० राजशाही, उत्तरी बंगाल) की खुदाई में हंस, मयूर, कोकिल आदि पक्षियों के बहुत से चित्र मिले हैं जिनसे गुप्त-कालीन पालतू पक्षियों का ज्ञान होता है तथा तत्कालीन साहित्य में वर्णित पक्षियों के वर्णन की पुष्टि होती है[१]। इन पक्षियों के अलावा अनेक जानवरों के रखने की भी प्रथा थी। शूद्रक ने वसन्तसेना के महल में भेड़ की गर्दन मले जाने का वर्णन किया है। महाराज हर्षवर्धन के महल में भी हिरन, कस्तूरीमृग तथा अन्य जानवरों के पालने का उल्लेख मिलता है[२]।

वाहन

गुप्त-काल में सवारी आदि के काम के लिए प्राय: घोड़ा, हाथी, रथ और पालकियों का उपयोग किया जाता था। गुप्तकालीन बाघ गुफाओं में घोड़ों और हाथियों पर चढ़े हुए स्त्री-पुरुषों के चित्र मिलते हैं[३]। पहाड़पुर की खुदाई में प्राप्त घोड़े और रथ पर सवार सैनिकों के चित्र दर्शनीय हैं। कालिदास ने लिखा है कि जब इन्दुमती का स्वयंवर रचा गया तब वह अपने पति को वरण करने के लिए पालकी पर चढ़कर स्वयंवर में आई। पालकी में चार आदमी कन्धा लगाये हुए थे[४]। शूद्रक ने 'प्रवहण' नामक एक गाड़ी का वर्णन किया है जिसमें घोड़े जुते रहते थे[५]। शायद वह आजकल की बग्घी के आकार की होती थी। साधारणतया वहन कार्य के लिए घोड़े तथा गाड़ी आदि का प्रयोग होता था परन्तु लड़ाई में रथ ही काम में लाये जाते थे।

वस्त्र

गुप्त-कालीन मूर्तियों और साहित्यिक वर्णनों से हमें इस काल में स्त्री पुरुषों के द्वारा व्यवहृत वस्त्रों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। भारत में शीत और उष्ण ऋतु के अनुसार समय-समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। फ़ाहियान के वर्णन से ज्ञात होता है कि गुप्तों के समय में प्रधानतया ऊनी और रेशमी वस्त्रों का ही व्यवहार होता था[६]। रेशम का कपड़ा चीन देश से आता था। इसी कारण यह 'चीनांशुक' कहलाता था। महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तल में इसी 'चीनांशुक' वस्त्र का उल्लेख किया है[७]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्तों के समय में इस वस्त्र का प्रचुर प्रचार था।

गुप्त-काल में स्त्री और पुरुष भिन्न-भिन्न वस्त्रों का उपयोग करते थे। पुरुषों के लिए अधोवस्त्र (धोती) तथा ऊर्ध्ववस्त्र—उत्तरीय या उत्तरासंग (चादर, दुपट्टा)—का व्यवहार होता था[८]। इस युग की मूर्तियों पर सादे और बारीक वस्त्रों का आभरण

---

१. आ० स० इ० रि०।

२. मुकर्जी हर्ष पृ० ९१ [कादम्बरी] पूर्वार्ध-प्रारम्भ।

३. बाघ केव्स दृश्य ६।

४. मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा ॥—रघुवंश ६।१०।

५. मृच्छकटिक।

६. फ़ाहियान का यात्रा-विवरण पृ० ६०।

७. चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।—शकुन्तला।

८. सोशल लाइफ इन एंशियंट इंडिया। पृ० १४६।

दर्शाया गया है जिससे अधवस्त्र को इस रूप में देखना कठिन हो जाता है। गुप्त-कालीन सोने के सिक्कों पर राजाओं के चित्र एक प्रकार के लम्बे कोट (Persian Coat) पहने हुए अंकित मिलते हैं।[१] साधारण मनुष्य सिर पर उष्णीष (पगड़ी) तथा राजा लोग मुकुट धारण करते थे। कालिदास ने इन्दुमती के स्वयंवर में आये हुए राजाओं के सिर पर मुकुट का वर्णन किया है[२]। प्रायः सभी कन्धे पर चादर रक्खा करते थे। बौद्ध, हिन्दू और जैन साधुओं के व्यवहार के लिए क्रमशः लाल, भगवा तथा सफ़ेद कपड़े का वर्णन साहित्य में मिलता है। स्त्रियाँ साड़ी पहनती थीं। उनका कपड़ा रंगीन हुआ करता था। नर्तकियाँ, नृत्य के समय, लहँगा पहनती थीं। मथुरा के कंकाली टीले से मिले हुए प्रस्तरों में लहँगा और चादर (बन्डी) पहने हुए स्त्रियों के चित्र अंकित हैं[३]। गुप्त-कालीन बाघ (ग्वालियर राज्य में स्थित) की गुफाओं में अनेक स्त्रियों के चित्र अंकित हैं जिनमें स्त्रियाँ साड़ी और चोली पहने दिखलाई गई हैं[४]। अजन्ता के चित्रों में एक श्याम-वर्णा स्त्री का चित्र है जो छींट की अँगिया पहने है। इससे स्त्रियों द्वारा छींट के प्रयोग का भी पता चलता है।

गुप्त-काल में बालों के शृङ्गार की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। पुरुष बड़े-बड़े बाल रखते थे। बालकों के घुँघराले लम्बे बालों को काकपक्ष कहा जाता था तथा ये बड़े शौक़ से रक्खे जाते थे। महाकवि कालिदास ने बालक रघु और रामचन्द्र के सिर पर काकपक्ष का वर्णन किया है[५]।

केश

पहाड़पुर की खुदाई में प्राप्त एक मन्दिर में बलराम की मूर्ति मिली है जिसमें, उनकी किशोरावस्था में, उनके सिर पर बालों की लम्बी चोटियाँ दिखलाई गई हैं। काशी के भारत-कला-भवन में कार्त्तिकेय की एक मूर्ति मिली है जिसमें उनके सिर पर काकपक्ष विराजमान हैं। बाघ की गुफाओं में स्त्री-नायिकाओं के सिर के पीछे ग्रन्थि-युक्त केश है जो श्वेत पुष्पों की मालाओं से गूँथे गये तथा विभूषित हैं[६]। मूर्तियों तथा चित्रों में स्त्रियों के केश-विन्यास का सुन्दर प्रकार मिलता है। गुप्त-काल में स्त्रियाँ सुगन्धित द्रव्यों को जलाकर, उनकी गर्मी से, अपने गीले केशों को सुखाती तथा सुगन्धित करती

---

१. हैवेल — इंडियन स्कल्पचर एण्ड पेंटिंग। प्लेट नं० ३५।

२. कश्चिद्यथाभागमवस्थितेऽपि स्वसंनिवेशाद्व्यतिलङ्घिनीव।
वज्रांशुगर्भाङ्गुलिरन्ध्रमेकं व्यापारयामास करं किरीटे॥—रघु० ६।१९।

३. स्मिथ—मथुरा एन्टिक्विटी प्लेट्स १४ तथा ८५।

४. बाघ केव्स दृश्य ६.

५. सवृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः स वयोभिरन्वितः।—रघु० ३।२८।
कौशिकेन स किल क्षितीश्वरो राममध्वरविघातशान्तये।
काकपक्षधरमेत्य याचितः तेजसां हि न वयः प्रतीक्षते॥ वही ११।१।

६. बाघ केव्स दृश्य ४ प्लेट बी—ई० पृ० ५०।

थीं। कालिदास ने इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है[१]। केशों में मन्दार के फूल लगाकर उनको सुगन्धित करने का उल्लेख भी कालिदास ने किया है[२]।

बालों के सुन्दर जूड़ा पर सुगन्धित सामग्री और मोती की लड़ें या कोई रत्न-जटित आभूषण धारण किया जाता था। अजंता की गुफा में एक स्त्री के केश-विन्यास और शृङ्गार करने का एक बहुत ही सुन्दर चित्र है[३]।

शरीर को सुन्दर और रमणीय बनाने के निमित्त आभूषण का प्रयोग गुप्त-काल में भी प्रचुर परिमाण में किया जाता था। स्त्री तथा पुरुष दोनों ही आभूषणों के शौक़ीन होते थे।

आभूषण

आजकल के राजाओं की भाँति गुप्त-कालीन नरेश भी आभूषणों के कुछ कम प्रेमी नहीं थे। महाकवि कालिदास ने वर्णन किया है कि इन्दुमती के स्वयंवर में समागत राजवृन्द केयूर (बिजायठ) अंगुलीयक (अँगूठी) और हार पहने हुए थे[४]। ये केयूर रत्नों से जटित और बहुमूल्य होते थे तथा अँगूठी रत्नों की बनी हुई थी। यक्ष के हाथ में सुवर्ण के वलय पहनने का उल्लेख भी कालिदास ने किया है[५]। पहाड़पुर (राजशाही, बंगाल) की खुदाई में पुरुषों की मूर्तियाँ मिली हैं जिनके वक्षःस्थल पर यज्ञोपवीत, कटि पर कटिबन्ध तथा उदर में उदरबन्ध आदि आभूषण पाये जाते हैं[६]। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में नवयुवक पुरुषों को भिन्न-भिन्न आभूषण पहनने का उपदेश दिया है[७]। इन सब वर्णनों से गुप्त-कालीन पुरुषों के आभूषणों का पता चलता है। गुप्त-कालीन सिक्कों पर ऐसे चित्र मिलते हैं जिनमें राजा कर्णभूषण पहने हुए दिखलाया गया है। स्त्रियाँ पैरों में घुँघरूवाले गहने और हाथों में कड़ा पहनती थीं। अमूल्य मणियों और रत्नों के हार, अँगूठियाँ, रत्नजटित भुजबन्ध तथा कुण्डल आदि गहनों का उपयोग होता था। अजन्ता की गुफाओं में ऐसे आभूषणों से सुसज्जित अनेक चित्र अङ्कित हैं[८]। चन्द्रगुप्त प्रथम तथा कुमारदेवी वाले सोने के सिक्के पर, विवाह के उपलक्ष में, राजा कुमारदेवी को अँगूठी देते हुए अङ्कित किया गया है।

---

१. जालोद्गीर्णैः उपचितवपुः केशसंस्कारधूपैः।—पूर्वमेघ ३२।

२. मेघदूत, पूर्व।

३. स्मिथ—हिस्ट्री आव फाइन आर्ट्स इन इंडिया। प्लेट ५६।

४. विस्रस्तमंसादपरो विलासी रत्नानुविद्धाङ्गदकोटिलग्नम्।
प्रालम्बमुत्कृष्य यथावकाशं विनाय साचीकृतचारुवक्त्रः॥—रघु० ६।१४।
कुशेशयाताम्रतलेन कश्चित् करेण रेखाध्वजलाञ्छनेन।
रत्नाङ्गुलीयप्रभयानुविद्धानुदीरयामास सलीलमक्षान्॥—वही ६।१८।
कश्चिद्विवृत्तत्रिकभिन्नहारः सुहृत्समाभाषणतत्परोऽभूत्।—वही ६।१६।

५. तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी,
नीत्वा मासान् कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः॥ मेघदूत पूर्व २।

६ आ० स० इ० रि०—१९२५-२६।

७. कामसूत्र अ० ३।

८. स्मिथ—हिस्ट्री आव फाइन आर्ट्स इन इंडिया, चित्र २०९।

शूद्रक ने चारुदत्त की स्त्री के द्वारा वसन्तसेना के लिए प्रेषित मोतियों के हार का वर्णन किया है[1] तथा वसन्तसेना के, चारुदत्त के घर रक्खे गये, अनेक आभूषणों के चोरी चले जाने का भी उल्लेख किया है[2]। वात्स्यायन ने स्त्रियों के लिए आभूषण पहनना अत्यन्त आवश्यक बतलाया है और लिखा है कि स्त्री सदा सुन्दर वस्त्रों तथा आभूषणों से सुसज्जित होकर पति के सम्मुख जाया करे[3]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में आभूषणों का प्रचुर प्रचार था और स्त्री-पुरुष बड़े चाव से इन्हें पहनते थे। इसके अतिरिक्त गुप्त-कालीन मूर्तियों का अवलोकन करने से तत्कालीन आभूषणों का पूर्ण ज्ञान हो सकता है।

सामाजिक जीवन में आनन्द-लाभ के निमित्त, समय-समय पर, बड़े-बड़े उत्सव हुआ करते थे। महर्षि वात्स्यायन ने इन उत्सवों को पाँच भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त किया है। पूजा के लिए सामूहिक यात्रा, समाज-गोष्ठी, समापानक, उद्यान भ्रमण और समस्या-क्रीड़ा ये पाँच उत्सव थे[4]।

उत्सव

वात्स्यायन के मतानुसार इन सार्वजनिक उत्सवों का आनन्द अपने घनिष्ठ मित्रों और समान वयवाले सहवासियों के साथ ही लिया जा सकता है[5]। फ़ाहियान ने पाटलिपुत्र के वर्णन में लिखा है कि "प्रति वर्ष रथ-यात्रा होता है। दूसरे मास की आठवीं तिथि को यात्रा निकलती है। चार पहिये के रथ बनते हैं। यह पूस पर ठाठा जाती है जिसमें धुरी तथा हर्से लगे रहते हैं। रथ बीस हाथ ऊँचा और स्तूप के आकार का बनता है। ऊपर से सफ़ेद चमकीला ऊनी कपड़ा मढ़ा जाता है। भाँति भाँति की रँगाई होती है। देवताओं की भव्य मूर्तियाँ सोने, चाँदी और स्फटिक की बनती हैं। रेशम की ध्वजा और चाँदना लगती है। चारों कोने कलँगियाँ लगती हैं। बीस रथ होते हैं। एक से एक सुन्दर और भड़कीले, सबके रंग न्यारे। नियत दिन पर आसपास के यति और गृही इकट्ठे होते हैं। गाने-बजानेवालों को साथ ले लेते हैं। पारी-पारी से नगर में प्रवेश करते हैं। इसमें दो रातें बीत जाती हैं। सारी रात दिया जलता है। गाना, बजाना और पूजन होता है। प्रत्येक जनपद में ऐसा ही होता है।"[6] इन सब आनन्दप्रद उत्सवों के अतिरिक्त मनोरंजन के और भी अनेक साधन थे।

---

१. कोटिशतसहस्रमूल्येन च मुक्ताहारेण।—मृच्छकटिक पृ० ३२।

२ वही, अ० ४।

३. नायकस्य च न विमुक्ताभूषणं विजने संदर्शने तिष्ठेत्।—कामसूत्र पृ० २२६।

४. घटानिबन्धनं, गोष्ठीसमवायः, समापानकम्, उद्यानगमनं, समस्या क्रीडाः प्रवर्तयेत्। —कामसूत्र, पृ० ४६।

५. समस्याद्या सहक्रीडा विवाहा संगतानि च।
समानैरेव कार्याणि नोत्तमैर्नापि वाऽधमैः॥
परस्परसुखास्वादा क्रीडा यत्र प्रयुज्यते।
विशेषयन्ता चान्योन्य संबंधः स विधीयते॥ – कामसूत्र, पृ० १९०।

६. फ़ाहियान का यात्रा-विवरण, पृ० ५९-६०।

मनोरंजन के अन्य साधन

राजा और क्षत्रिय वर्ग आखेट को बहुत पसन्द करते थे। राजा और राजकुमार अपने साथियों के सहित शिकार करने के लिए जाया करते थे। गुप्त-कालीन सिक्के गुप्त-सम्राटों की मृगया-प्रियता के ज्वलन्त उदाहरण हैं। सिक्कों पर समुद्र-गुप्त बाघ का शिकार करता हुआ और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा कुमारगुप्त प्रथम सिंह का शिकार करते हुए दिखलाये गये हैं। सिक्के में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य अपनी प्रचण्ड विकराल कृपाण से सिंह को मारते हुए दिखलाया गया है[1]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्त-नरेश मृगया-कौशल में अत्यन्त निपुण थे और उन्हें आखेट अत्यन्त प्रिय था। महाकवि कालिदास ने भी, अपने अभिज्ञान-शाकुन्तल में, मुक्तकण्ठ से मृगया की प्रशंसा की है तथा इसके अनेक गुण दिखलाते हुए लिखा है कि लोग व्यर्थ ही मृगया को व्यसन कहा करते हैं, इससे अधिक विनोद भला और कहाँ मिल सकता है। रघुवंश में दशरथ की मृगया का उल्लेख है[2]। भेड़ों, भैंसों तथा हाथियों की परस्पर लड़ाई का भी उस समय प्रचार था। शूद्रक ने लड़नेवाले मेष (भेड़ा) की ग्रीवा के मर्दन का वर्णन किया है[3]। जुआ, शतरंज और चौपड़ आदि के खेल भी लोगों का मनोरंजन करते थे। मृच्छकटिक में जुआ खेलने का बड़ा ही सुन्दर, विशद और मनोरंजक वर्णन मिलता है[4]। दो जुआड़ी जुआ खेल रहे हैं और द्यूत-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं। एक पात्र प्रसन्न होकर कह रहा है कि 'जुआ खेलना मनुष्यों के लिए सिंहासन-रहित राज्य को प्राप्त करना है'[5]। मृच्छकटिक जैसा जुआ खेलने का विस्तृत और विशद विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। महाकवि कालिदास ने भी चौपड़ खेलने का वर्णन किया है[6]। इन सब वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में जुआ और चौपड़ खेलने का प्रचुर प्रचार था तथा लोग इसे आमोद और मनोरंजन का साधन समझते थे।

भोजन

प्राचीन भारत में भोज्य-सामग्री की कमी नहीं थी। प्रत्येक खाद्य-पदार्थ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। लोगों की रुचि के अनुसार अनेक प्रकार के भोजन बनाये जाते थे। पाकशास्त्री अपनी कला में निपुण थे तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के भोजन बनाते थे। शूद्रक ने चावल के पकाये जाने का वर्णन किया है[7]। खाद्य पदार्थों में चावल के अतिरिक्त गुड़, घृत, दधि, मोदक और पूप का

---

१. एलेन—गुप्त क्वायंस।

२. [illegible] नगिवावलम्बितधुरं नराधिपम्।
[illegible] कामिनी ॥ — रघुवंश [illegible]।

३. इतश्चापनीतयुद्धस्य मल्लस्येव मेषस्य [illegible]। — मृच्छकटिक अं० [illegible]।

४. वही अंक २।

५. [illegible] पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्। — वही अं० २।

६. [illegible]।
[illegible] ॥ — रघु० ६।१८।

७. [illegible]। — मृच्छकटिक अं० १।

वर्णन भी मृच्छकटिक में पाया जाता है[1]। सम्भवतः इन्हें लोग बड़े चाव से खाते थे। भारतीयों का साधारण भोजन दाल, चावल, रोटी, बाजरा, दूध, घी, मिठाई और शक्कर था[2]। कालिदास के वर्णन से ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में धान और ईख की पैदावार प्रचुर परिमाण में होती थी[3]। महात्मा बुद्ध से पहले भारत में मांस खाने की प्रथा प्रचलित थी। परन्तु बौद्ध-धर्म के कारण इस प्रथा का नाश हो गया। बौद्ध धर्मानुयायियों ने अहिंसा का व्रत लेकर शाकाहार करना प्रारम्भ किया। अतः हिन्दुओं ने भी मांस खाना त्याग दिया। जनता मांस-भक्षण को हेय समझती थी। मदिरा का पीना भी निषिद्ध था। परन्तु कालिदास ने बलराम के मदिरा पीने का उल्लेख किया है[4]।

फ़ाहियान ने लिखा है कि "सारे देश में कोई अधिवासी न हिंसा करता है, न मद्य पीता है और न लहसुन-प्याज़ ही खाता है। केवल चाण्डाल ही ऐसा करते हैं। जनपद में न तो लोग सुअर और मुर्गी पालते हैं और न जीवित पशु ही बेचते हैं। न कहीं सूनागार है और न मद्य की दूकानें। केवल चाण्डाल ही मछली मारते, मृगया करते तथा मांस बेचते हैं[5]।" उपर्युक्त वर्णन से गुप्त-कालीन लोगों के निरामिष, शुद्ध तथा पवित्र भोजन का अनुमान किया जा सकता है।

भोजन दिन में दो बार—पूर्वाह्ण और अपराह्ण में—किया जाता था[6]। भोजन में सोने, चाँदी और ताँबे आदि के पात्रों का व्यवहार था। दस दीनार में ही भोजन का निर्वाह हो जाता था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के गढ़वा (गु० सं० ८८) के लेख में एक ब्राह्मण के भोजन के लिए दस दीनार दिये जाने का वर्णन मिलता है। दस दीनार आधुनिक सात माशा सोने के बराबर होते हैं। इतने थोड़े धन से एक ब्राह्मण का निर्वाह होना आजकल कठिन है परन्तु उसी गढ़वा के लेख से यह ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में खाद्य-सामग्री अत्यन्त सस्ती थी जिससे इतने अल्प धन में गृहस्थ या राजा लोग साधुओं को भोजन देते अथवा श्रद्धा के साथ अपने घर भोजन कराते थे। फ़ाहियान अपने वर्णन में लिखता है कि "भिक्षुसंघ को भिक्षा कराते समय राजा लोग अपना मुकुट

---

१. गुडौदनं घृतं दधि तण्डुलाः।—मृच्छकटिक अं० १।

बहुविधाहारविकारं उपसाधयति सूपकारः। बद्ध्यन्ते मोदकाः। पच्यन्ते चापूपकाः।—वही अं० ४, पृ० १४०।

२. सोशल लाइफ इन एंशेंट इण्डिया।—पृ० १५६।

३. इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥—रघु० ४।२०।
आपादपद्मप्रणताः कलमा इव ते रघुम्।
फलैः संवर्धयामासुरुत्खातप्रतिरोपिताः॥—वही ४।३७।

४. पीत्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां,
बन्धुप्रीत्या समरविमुखो, लाङ्गली यां सिषेवे।—मेघदूत श्लो०।

५. फाहियान—यात्रा-विवरण पृ० ३१।

६. वात्स्यायन—कामसूत्र पृ० ४७।

उतार लेते हैं। अपने बन्धुओं और अमात्यों सहित अपने हाथ से भोजन परोसते हैं। परोस कर प्रधान के आगे आसन बिछाकर बैठ जाते हैं"[1]।

ह्वेनसाँग ने लिखा है कि समाज में दूध, घी, गेहूँ, चीनी और सरसों के तेल का अधिक व्यवहार होता था[2]। भोजन के पात्रों का वर्णन करते हुए उसने लिखा है कि सोने, चाँदी, ताँबे और लोहे के पात्र काम में लाये जाते थे। उसने हिन्दुओं की भोजन-संबंधी शुद्धता का भी उल्लेख किया है[3]।

उपर्युक्त विवरण से ज्ञात होता है कि गुप्त-कालीन भोज्य-सामग्री शुद्ध थी परन्तु अच्छे-अच्छे पदार्थों का उपयोग किया जाता था। तत्कालीन वस्तु-विक्रय के परिमाण को निर्धारित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलते हैं।

भोजन का मूल्य

चन्द्रगुप्त द्वितीय के लेखों में उल्लिखित सन्दर्भों के द्वारा एक मनुष्य के वार्षिक भोजन-व्यय का अनुमान किया जा सकता है। वे वाक्य नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

'चातुर्दिशायार्यसंघायाक्षयनीविदत्ता दीनारा द्वादश। एतेषां दीनाराणां या वृद्धिरुपजायते तया दिवसे दिवसे संघमध्यप्रविष्टभिक्षुरेको भोजयितव्यः'[4]।

'१२ दीनार चारों दिशाओं से एकत्रित विश्वस्त संस्था को दान में दिये जाते हैं कि इसके सूद से प्रतिदिन संघ में आगंतुक एक भिक्षु के भोजन का प्रबंध करेगा'। इससे ज्ञात होता है कि १२ दीनार से एक भिक्षु के भोजन का पर्याप्त रूप में वार्षिक प्रबंध हो जाता था। परन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसी स्थान के दूसरे लेख में वर्णन है कि अम्रकार्दव ने २५ दीनार और कुछ अन्य सामग्री १० भिक्षुओं के वार्षिक भोजन-व्यय तथा रत्न-गृह में दीपक जलाने के व्यय के निमित्त दान में दी थी[5]। प्रथम लेख दूसरे से ४० वर्ष पीछे का है परन्तु इस अल्पकाल में भोज्य-सामग्रियों के भाव (Rate) बढ़ने का अनुमान नहीं किया जा सकता। अन्य प्रामाणिक बातों के अभाव में यह मानना समुचित प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में एक मनुष्य का वार्षिक भोजन-व्यय १२ दीनार था। आधुनिक काल में १२ दीनार साढ़े आठ माशे सोने के बराबर या २८ रुपयों के बराबर होते हैं[6]। इतने अल्प धन से एक वर्ष तक एक मनुष्य का निर्वाह होना कठिन है। परन्तु उक्त लेखों से प्रमाणित होता है कि गुप्त-काल में खाद्य-सामग्री अत्यन्त सस्ती थी।

---

१. फाहियान—यात्रा-विवरण, पृ० ३० ।

२. वाटर—ह्वेनसाँग भा० १ पृ० १४०, १५१, १६८, १७१ ।

३. वही पृ० १७४ ।

४. का० इ० इ० भा० ३ नं० ६२ ।

५. अम्रकार्दव: मंज शरभङ्ग आमरात राज [illegible] [illegible] [illegible] पञ्चमण्डल्यां प्रणिपत्य ददाति पंचविंशति च दीनारान् । तद्दत्तार्थेन यावत् चन्द्रादित्यौ पंच भिक्षवो भुंजतां रत्नगृहे दीपको ज्वलतु । (फ्लीट गु० ले० नं० ५) ।

६. आधुनिक मूल्य १ तोला सोना = ४०) ।

प्राचीन काल में भारतीय समाज बड़ी उन्नत अवस्था में वर्तमान था। समाज के सम्पूर्ण अङ्ग उन्नतिशील थे परन्तु फिर भी, किसी न किसी अवस्था में, दास-प्रथा का पूर्णतया अभाव नहीं था। हिन्दूसमाज में सर्वप्रथम आत्म-दान या आत्म-समर्पण से ही दास-प्रथा की उत्पत्ति ज्ञात होती है[१]। गुप्त-काल के पूर्व समय से ही दास-प्रथा प्रचलित थी। मनु के कथनानुसार समाज में सात प्रकार के दास विद्यमान थे जिनके नाम निम्नांकित हैं[२]—

दास-प्रथा

१—ध्वजाहृत (युद्ध में जीता गया), २—भक्तदास (आत्मदान), ३—गृहज (दासी का पुत्र), ४—क्रीत (ख़रीदा गया), ५—दत्रिम (दूसरे स्वामी का दिया हुआ), ६—पैत्रिक (दास के वंशज) और ७—दण्डदास (दण्ड रूप में जो दास बनाया गया हो)। दास जो कुछ कमाता था वह सब उसके स्वामी का होता था। उसके साथ सदा सद्व्यवहार किया जाता था। वह अमेरिकन गुलामों की भाँति, अत्याचार का पात्र नहीं था। भृत्यों तथा दासों में इतना ही अन्तर था कि भृत्य नौकरी करते हुए भी स्वतन्त्र था और इस प्रकार वह जो कमाता था उसका अधिकारी वह स्वयं होता था। परन्तु दासों के विषय में यह बात नहीं थी। दास स्वामी के परिवार का एक अङ्ग ही समझा जाता था और उसके साथ मनुष्योचित बर्ताव किया जाता था। यह कोई आवश्यक नहीं था कि दास सर्वदा दास ही बना रहे। वह अपने स्वामी के प्रतिबन्ध को पूरा कर स्वतन्त्र हो सकता था। याज्ञवल्क्य-स्मृति में इस बात का उल्लेख मिलता है कि बलात्कारपूर्वक दास बनाये गये या चोरों द्वारा ख़रीदे गये दासों को यदि उनका स्वामी मुक्त नहीं करना चाहता था तो राजा स्वयं मुक्त करवा देता था। स्वामी के प्राण को बचानेवाला दास भी मुक्त कर दिया जाता था[३]। शूद्रक ने भी दासी-पुत्रों का वर्णन किया है जो ख़रीदी गई दासियों के पुत्र होने के कारण 'दासी-पुत्र' कहे जाते थे। ये दास के समान महलों में रहते थे। 'दासी पुत्र' शब्द धीरे-धीरे बुरे अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। अन्त में यह शब्द गाली का वाचक हो गया। इससे ज्ञात होता है कि क्रीत दासी का पुत्र होना कितना बुरा और निन्दित समझा जाता था। परन्तु तो भी गुप्त-कालीन दासों की अवस्था अफ्रीका के दासों की अवस्था से शतगुनी अच्छी थी। वे सद्व्यवहार के पात्र तथा स्वतन्त्र होने के अधिकारी थे।

यद्यपि गुप्त-काल में विज्ञान की पर्याप्त उन्नति हुई थी तो भी अन्धविश्वासों का प्रभाव लोगों के हृदय पर से नहीं हटा था। अन्ध-विश्वास किसी न किसी रूप में सर्वत्र फैला हुआ था। लोग भूत-प्रेतों में विश्वास करते थे। मन्त्र आदि के रूप में अन्ध-विश्वास तो भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन-काल से चला आता है फिर गुप्त-काल ही इससे अछूता कैसे बचता। अथर्ववेद

अन्ध-विश्वास

---

१. स्वतन्त्रस्यात्मनो दानात् दासत्वमवरत् भृगुः।—कात्यायन।

२. ध्वजाहृतो भक्तदासो, गृहजः क्रीतदत्रिमौ।
पैत्रिको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः॥—मनु० ८।४१५।

३. बलाद्दासीकृतश्चौरैः विक्रीतः चापि मुच्यते।
स्वामिप्राणप्रदो भक्तस्त्यागात्तन्निष्क्रयादपि॥—याज्ञ० २।१८२।

और संस्कृत-साहित्य में सम्मोहन, पीड़न, वशीकरण तथा मारण आदि का वर्णन मिलता है। डा० घोषाल गुप्त लेखों में उल्लिखित 'आबातप' की समता 'सभूतवातप्रत्याय' से बतलाते हैं। उनके कथनानुसार यह एक प्रकार के टैक्स का नाम है जो भूत और वात के हटाने के लिए लगाया जाता था[1]। फ्लीट महोदय ने इसका सन्देहात्मक अर्थ किया है[2]। 'मानसार' में मनुष्यों में प्रचलित भूत, प्रेत, पिशाच, ब्रह्मराक्षस तथा बेताल आदि में विश्वास का उल्लेख मिलता है[3]। शूद्रक ने भी राजा और उच्चश्रेणी के लोगों में शकुन तथा भविष्यवाणी पर विश्वास करने का वर्णन किया है[4]। कालिदास ने दुष्यन्त की दाहिनी भुजा के फड़कने का उल्लेख किया है। रामचन्द्र के द्वारा सीता परित्याग के पूर्व सीता के अशुभ-सूचक दाहिने हाथ के फड़कने का उल्लेख मिलता है। इस काल में, बौद्धों में, प्रचुर मन्त्र-तन्त्र का प्रचार था। इसी कारण बौद्धों की मन्त्रयान नामक नई शाखा का प्रादुर्भाव हुआ।

चरित्र

समाज की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तत्कालीन मनुष्यों के चरित्र का अध्ययन करना आवश्यक है। भारतीयों का चरित्र सर्वदा से उज्ज्वल और पवित्र रहा है। भारतीय तो क्या, विदेशी राजदूत मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि "भारतीय सत्य बोलते हैं। चोरी नहीं करते और अपने घरों में ताला नहीं लगाते हैं।" वीरता के लिए भारतीय सर्वदा से प्रसिद्ध है। गुप्त-नरेशों ने किस शत्रु का मान मर्दन नहीं किया। फ़ाहियान ने लिखा है कि भारतीय आदर्श नागरिक हैं। अतिथि-सत्कार में इनकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इनमें धार्मिक सहिष्णुता की मात्रा अधिक है। गुप्त-काल में कोई भी व्यक्ति अधार्मिक, व्यसनी, आर्त, दरिद्र, दण्ड्य तथा पीड़ित नहीं था[5]। इसके सैकड़ों प्रमाण गुप्त-कालीन लेखों और फ़ाहियान के यात्रा-विवरण में भरे पड़े हैं। उस समय कुलीन और सज्जन मनुष्यों को 'कुलपुत्र' के नाम से सम्बोधित किया जाता था। शूद्रक ने मृच्छकटिक में आर्य चारुदत्त, आर्या धूता तथा वसन्तसेना के आदर्श चरित्रों का जो सुन्दर चित्रण किया है उसमें गुप्त-कालीन स्त्री-पुरुषों के पवित्र चरित्र की सुन्दर झलक दिखाई पड़ती है। वसन्तसेना, वेश्या होने पर भी, आर्य चारुदत्त से शुद्ध प्रेम करती है। वह उन पर अत्यन्त विश्वास करती तथा उन्हें आदर की दृष्टि से देखती है। आर्या धूता आदर्श रमणी हैं। सापत्न्य-भाव आपको छू तक नहीं गया। आप सर्वदा प्रसन्न-चित्त हैं तथा चारुदत्त को प्राणों से प्यारी हैं। आर्य चारुदत्त का चरित्र लोकोत्तर है। आप अपने हत्यारे को भी क्षमा प्रदान करते हैं। आपका हृदय विशाल है और परोपकार ही

---

१. घोषाल—हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ० २१४।

२. फ्लीट—का० इ० इ० पृ० १३८ नोट।

३. डा० आचार्य सम्पादित मानसार, अध्याय १०।१०१-३; १६।२४५-४६, ३०८।

४. इ० हि० क्वा० सन् १९२९, पृ० ३२३।

५. तस्मिन् नृपे शासति नैव कश्चिद्, धर्मादपेतो मनुजः प्रजासु।
आर्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्ड्यो न वा यो भृशपीडितः स्यात्॥—गिरनार का लेख नं० १४।

आपका धन है। मालूम होता है, कवि ने आर्य चारुदत्त के मिस से गुप्तकालीन आदर्श नागरिक के चरित्र का चित्रण किया है। अधिक न कहकर आर्य चारुदत्त के उच्च, पवित्र और लोकोत्तर चरित्र का वर्णन करते हैं—

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी,
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।
सत्कर्त्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये[1] ॥

नागरिक का आचरण

वात्स्यायन ने कामसूत्र में बड़ी ही सुन्दरता के साथ नागरिक के आचरण का वर्णन किया है। यह वर्णन कामसूत्र के 'नागरिक वृत्त' नामक विभाग में विशेष रूप से पाया जाता है। कामसूत्र में वर्णित नागरिक के दैनिक जीवन, चरित्र और विविध कार्यों से स्पष्ट प्रकट होता है कि गुप्त-कालीन नागरिक अत्यन्त सुखी और वैभव-सम्पन्न पुरुष होता था। समस्त सुख की सामग्री और ऐश-आराम की वस्तुएँ उसको सुलभ थीं। नित्य प्रति सुगन्ध से सुवासित जल से स्नान करना, सुन्दर वस्त्राभूषणों से अपने को सुसज्जित करना, सारिकाओं से वार्तालाप करना, उत्सवों में जाना और उद्यानों में भ्रमण करना ही गुप्त-कालीन नागरिक का दैनिक आचरण था[2]। परन्तु कामसूत्र में वर्णित इस नागरिक चरित्र को सर्वसाधारण का चरित्र नहीं समझना चाहिए। गुप्त-कालीन आदर्श चरित्र का वर्णन पहले किया जा चुका है। महाकवि कालिदास ने भी पूर्व मेघ में तत्कालीन नागरिक के चरित्र का वर्णन किया है। इन वर्णनों से पता चलता है कि गुप्त-कालीन नागरिक आजकल के नागरिकों से कुछ कम शौक़ीन और आराम-पसन्द नहीं था। तत्कालीन नागरिकों के चरित्र की यहाँ एक झलक दिखाई पड़ती है।

स्त्रियों का स्थान

गुप्त-कालीन समाज में स्त्रियों का स्थान अत्यन्त उच्च था। समस्त भारत में 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' का सिद्धान्त माना जाता था। स्त्रियाँ 'गृह-लक्ष्मी' समझी जाती थीं। प्राचीन भारत में पुरुषों की भाँति स्त्रियों का भी यज्ञोपवीत संस्कार हुआ करता था[3]। मनु ने पुरुषों के समान ही स्त्रियों के शिक्षण और पालन-पोषण का आदेश दिया है[4]। उस समय स्त्रियों के प्रति बड़े आदर का भाव था। मनु ने लिखा है कि 'जिस कुल में स्त्री को कष्ट होता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है[5]। स्त्रियाँ पुरुष की अर्धाङ्गिनी समझी जाती थीं। इनकी अनुपस्थिति में कोई भी धार्मिक कार्य नहीं हो सकता था।

---

१. मृच्छकटिक अं० १ श्लो० ४८।

२. तत्र महार्हगन्धमुत्तरीयं कुसुमं चात्मीयं स्वादंगुलीयकं च तदुपस्तात्ताम्बूलग्रहणं गोष्ठी-गमनमुद्यतस्य केशहस्तपुष्पयाचनम्।—कामसूत्र पृ० २६१।

३. पुराकल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।—मनु०।

४. कन्याप्येवं पालनीया शिक्षणीयातियत्नतः॥—वही।

५. नार्यो यत्र शोचन्ति विनश्यत्याशु तत्कुलम्।—मनु।

कालिदास ने लिखा है कि सीता-परित्याग के पश्चात् जब रामचन्द्रजी ने यज्ञ करना प्रारम्भ किया तब उन्हें सीताजी की हिरण्यमयी प्रतिकृति बनवानी पड़ी थी। वात्स्यायन ने, 'कामसूत्र' में, लौकिक तथा पारलौकिक कार्यों में गृह-लक्ष्मी के कर्तव्यों का अति ललित शब्दों में वर्णन किया है। गृहस्थी के सारे कार्यों का सुचारु रूप से संचालन करना, पति के आगमन के समय सुन्दर वेष धारणकर उसका स्वागत करना तथा पति के आज्ञानुसार सामाजिक उत्सवों में भाग लेने आदि स्त्री गुणों का सुन्दर रीति से वर्णन किया गया है[1]। परन्तु कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल में स्त्रियों का यह उच्चपद नहीं दीख पड़ता। कालिदास ने लिखा है कि पति ही स्त्री का सम्पूर्ण स्वामी है। वह जो चाहे कर सकता है। स्त्री को स्वतन्त्र रहने का कोई अधिकार नहीं है। दुष्यन्त के सामने निरपराध शकुन्तला का रुदन स्त्री-जाति की हीनावस्था का द्योतक है। कण्व ने ऊबकर कन्या को दूसरे की सम्पत्ति कहा है। रघुवंश में पवित्र, निर्दोष तथा निरपराध सीता का परित्याग भी इसी का समर्थन करता है।

स्त्री को आदर्श पत्नी तथा विदुषी बनाने के लिए प्राचीन भारत में स्त्री-शिक्षा पर अधिक ज़ोर दिया जाता था। गृहस्थी का भार सँभालने के लिए, पत्र-लेखन तथा आय-व्यय का हिसाब रखने के निमित्त स्त्री को पढ़ाना आवश्यक समझा जाता था। मनु का मत है कि पुरुषों को चाहिए कि वे अर्थ के संग्रह तथा इसके व्यय के हिसाब में स्त्रियों को ही नियुक्त करें[2]।

स्त्री-शिक्षा

वात्स्यायन के समय में स्त्रियाँ ही वर्ष भर का कोश तैयार करती और आय के अनुसार व्यय को निर्धारित करती थीं[3]। उस समय साधारणतया प्रायः समस्त स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी होती थीं। स्त्रियों द्वारा उनके पति के पास पत्र भेजने का वर्णन वात्स्यायन ने किया है। बेचारी निर्धन स्त्रियाँ, पति की अनुपस्थिति में, अध्यापन-कार्य करके अपना जीवन निर्वाह करती थीं[4]। कालिदास ने भी शकुन्तला के द्वारा प्रेम-पत्र-लेखन का वर्णन किया है। इन सब वर्णनों से स्त्री-शिक्षा के प्रचार का अनुमान किया जा सकता है। गुप्त-काल में शिक्षा का प्रचुर प्रचार था। मृच्छकटिक में बहुत सी पढ़ी-लिखी स्त्रियों का वर्णन मिलता है। दक्षिण के वाकाटक राजा रुद्रसेन द्वितीय की पत्नी तथा महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री प्रभावती गुप्ता उच्च श्रेणी की शिक्षिता महिला ज्ञात होती हैं। वे, अपने पुत्र दिवाकर सेन तथा दामोदर सेन की बाल्यावस्था में, राज्यकार्य का संचालन करती थीं[5]। आदित्यसेन की माता और पत्नी शिक्षिता तथा सार्वजनिक कार्यों की विशेषता को समझनेवाली स्त्रियाँ थीं[6]। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त और कुमारगुप्त

---

१. कामसूत्र, पृ० २२४-४६।

२. अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।—मनु० १०।२।

३. सांवत्सरिकमायं संख्याय तदनुरूपं व्ययं कुर्यात्। [illegible] च विधात्॥—कामसूत्र पृ० २२६।

४. सोशल [illegible] इन [illegible] इण्डिया। पृ० १८०-८१।

५. ए० इ० भा० १५, पृ० ४१।

६. अफसाद का लेख (गु० ले० नं० ४२)।

के अश्वमेधवाले सिक्कों पर राजमहिषी के चित्र अंकित हैं[१]। इससे ज्ञात होता है कि गुप्तों की महारानियाँ भी यज्ञों में भाग लेती थीं। इन सब प्रमाणों के अतिरिक्त और भी अन्य ऐतिहासिक तथा साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं जिनसे विदित होता है कि गुप्त-काल में स्त्री-शिक्षा की अवस्था उन्नत थी एवं इसका व्यापक प्रचार था।

परदा

गुप्त-कालीन समाज में परदे की प्रथा नहीं थी। राजाओं की स्त्रियाँ राज-सभा में आती थीं। साधारण स्त्रियाँ भी, वस्त्राभूषण से सुसज्जित होकर, सार्वजनिक कार्यों में सम्मिलित होती थीं[२]। प्रभावती गुप्ता के द्वारा राज्य-संचालन का वर्णन पहले किया जा चुका है। ह्वेनसाँग तथा दिवाकर मिश्र से राज्यश्री के, महायान दर्शन पर, वार्तालाप करने का वर्णन मिलता है[३]। गुप्त-कालीन स्त्रियों के चित्रों का अवलोकन करने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि उस काल में परदे की प्रथा नहीं थी। कालिदास के शकुन्तला, अनसूया आदि स्त्री पात्रों के वर्णन से ज्ञात होता है कि उस समय परदे का रवाज नहीं था। कालिदास ने समस्त समागत राजाओं के सामने अपने पति के वरण के लिए स्वयंवर में सुनन्दा के साथ इन्दुमती के आने का वर्णन किया है[४]। दुष्यन्त के सामने शकुन्तला के अवगुण्ठन का जो वर्णन मिलता है[५] उसे आधुनिक परदे से सर्वथा भिन्न समझना चाहिए। ह्वेनसाँग ने वर्णन किया है कि जिस समय हूण-सरदार मिहिरकुल हार खाकर पकड़ा गया था उस समय गुप्त नरेश बालादित्य की माता उससे मिलने आई थीं। उनके आज्ञानुसार वह मुक्त भी कर दिया गया[६]। राजाओं की महारानियाँ सबके सम्मुख अश्वमेध यज्ञ में भाग लेती थीं जो आज भी सिक्कों पर अंकित चित्रों से स्पष्ट प्रतीत होता है। मृच्छकटिक में भी परदे का अभाव पाया जाता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गुप्त-काल में परदे की प्रथा बिल्कुल नहीं थी।

मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियों में निम्नांकित आठ प्रकार के विवाहों का वर्णन मिलता है[७]—१ ब्राह्म, २ दैव, ३ आर्ष, ४ प्राजापत्य, ५ आसुर, ६ गान्धर्व, ७ राक्षस

---

१. एलेन—कैटलाग आफ गुप्त क्वायन्स।

२. सोशल लाइफ इन एंशेंट इण्डिया। पृ० १७३।

३. बील—लाइफ आव ह्वेनसाँग। पृ० १७६।

४. मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवारशोभि।
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा।—रघु० ६।१०।

५. केयमवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।—शकु०।

६. वाटर - ह्वेनसाँग भाग १ पृ० सं० २८८।

७. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव, पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥—मनु० ३।२१।
ब्राह्मो१ विवाह आहूय दीयते शक्त्यलंकृता।—याज्ञ० १।५८।
यज्ञस्थऋत्विजे दैव२ आदायार्षस्तु३ गोद्वयम्।—वही १।५९।
इत्युक्त्वा चरतां धर्मं४ सह या दीयतेऽर्थिने।—वही १।६०।
आसुरो५ द्रविणादानाद्गान्धर्वः६ समयान्मिथः।
राक्षसो७ युद्धहरणात् पैशाचः८ कन्यकाच्छलात्॥—याज्ञ० १।६१।

और ८ पैशाच। बहुत सम्भव है, ये सभी प्रकार के विवाह उस समय प्रचलित रहे हों परन्तु पहले चार प्रकार के विवाहों को ही उत्तम समझा जाता था तथा उन्हीं को प्रधानता दी जाती थी। गुप्त-सम्राटों के सभी विवाह आर्ष प्रकार के थे। साधारण जनता में भी इन्हीं प्रथम चार प्रकार के विवाहों का प्रचार था। परन्तु गान्धर्व विवाह के अस्तित्व का सर्वथा अभाव नहीं था। कालिदास ने दुष्यन्त के साथ शकुन्तला के गान्धर्व विवाह का वर्णन किया है। महर्षि कण्व ने भी इस विवाह का समर्थन किया है। काम-शास्त्र के आचार्य महर्षि वात्स्यायन भी अग्नि को साक्षी रखकर गान्धर्व विवाह करने को बुरा नहीं मानते। उनका मत है कि ऐसे विवाह का विच्छेद नहीं हो सकता है[1]। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि गान्धर्व विवाह उस समय प्रचलित था। लोग उसे बुरा नहीं मानते थे। गुप्त-काल में स्वयंवर की प्रथा भी विद्यमान थी। कालिदास ने रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर का बड़ा रमणीय तथा विस्तृत वर्णन किया है[2]। इस काल में बहुविवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने दो विवाह किये थे तथा उन रानियों का नाम कुबेरनागा और ध्रुवदेवी था। याज्ञवल्क्य ने भी वर्णक्रम के अनुसार कई विवाह करने का विधान किया है[3]। स्त्रियों का विवाह युवावस्था में होता था। महर्षि वात्स्यायन ने भी युवती स्त्री के विवाह को ही उचित कहा है[4]। इन्दुमती और शकुन्तला के विवाह की अवस्था तथा गुप्तकालीन सिक्के पर अंकित कुमारदेवी के चित्र से इस बात की पुष्टि होती है[5]। इससे स्पष्ट है कि गुप्त-काल में प्रौढावस्था में ही विवाह किया जाता था। याज्ञवल्क्य ने भी युवती के विवाह न करनेवाले अभिभावक की निन्दा की है[6]। इस काल में तिलक, दहेज आदि प्रथा का सर्वथा अभाव था क्योंकि इसका कहीं भी वर्णन नहीं मिलता।

विवाह

सम्भवतः गुप्त-काल में विधवा-विवाह की प्रथा का प्रचार नहीं ज्ञात होता परन्तु इसका सर्वथा अभाव भी नहीं था। वात्स्यायन ने लिखा है कि विधवा स्त्री चाहे तो अपना पुनर्विवाह भी कर सकती है[7]। इससे प्रकट होता है कि विधवा-विवाह के लिए भी समाज में कुछ प्रतिबन्ध तथा कठिन नियम नहीं था। चन्द्रगुप्त द्वितीय की स्त्री ध्रुवदेवी उसकी विवाहिता धर्मपत्नी नहीं थी,

विधवा-विवाह

---

१. सोशल लाइफ इन एंशेंट इण्डिया। पृ० १२८।

२. रघुवंश—सर्ग ६।

३. तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम्।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या स्वा शूद्रजन्मनः॥—याज्ञ० १।५७।

४. विगाढयौवनायाः पूर्वं संस्तुतायाः।—कामसूत्र पृ० १९३।

५. एलेन—गुप्त कायन्स प्लेट नं० १।

६. अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यां ऋतौ ऋतौ।—याज्ञ० १।६४।

७. विधवा त्विन्द्रियदौर्बल्यादातुरा भोगिनं गुणसम्पन्नं च या पुनः विन्देत सा पुनर्भूः।
—कामसूत्र सूत्र० ३९।

प्रत्युत वह उसके पहले होनेवाले राजा रामगुप्त की स्त्री थी। शंकर ने, हर्षचरित में उल्लिखित शकपति के युद्ध के विषय में टीका करते हुए, चन्द्रगुप्त द्वितीय के भ्रातृजाया ध्रुवस्वामिनी का वेष धारण करने का उल्लेख किया है[1]। ध्रुवस्वामिनी पहले भ्रातृजाया थी और पीछे चन्द्रगुप्त द्वितीय की पत्नी हो गई। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपने भाई रामगुप्त के मरने पर चन्द्रगुप्त ने उसकी विधवा स्त्री ध्रुवस्वामिनी से विवाह कर लिया। स्मृतियों में भी विशेष अवस्था में विधवा-विवाह करने का विधान पाया जाता है। नारद ने पाँच विशेष अवस्थाओं में विधवा-विवाह का समर्थन किया है[2]। आपने उस विधवा को दूसरे प्रकार की विलासिनी स्त्री बतलाया है जो अपने देवर और बान्धवों को छोड़कर अन्य के समीप जाती है[3]। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उस काल में विधवा स्त्री देवर आदि से अपना विवाह कर सकती थी। मनु ने द्वादश पुत्रों में 'पुनर्भू'-पुत्र के नाम का उल्लेख किया है। बहुत सम्भव है कि ये 'पुनर्भू'-पुत्र विधवा स्त्री के द्वितीय पति से उत्पन्न होते रहे हों। याज्ञवल्क्य ने 'पुनर्भू' को दायाद तथा बान्धव की श्रेणी में रक्खा है[4]। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि विधवा स्त्री अपना पुनर्विवाह कर लेने पर समाज से बहिष्कृत नहीं की जाती थी तथा उसके द्वितीय पति से उत्पन्न पुत्र को समाज में स्थान प्राप्त था। यद्यपि विधवा-विवाह उस समय नीच नहीं समझा जाता था परन्तु इसे कोई प्रोत्साहन नहीं प्राप्त था। विधवा, अपने इच्छानुसार, पुनर्विवाह कर सकती थी तथा समाज में स्थान प्राप्त किये रहती थी।

सती-प्रथा

गुप्त-काल में सती-प्रथा का सर्वथा अभाव नहीं था। इस काल के स्मृति-ग्रन्थों में विधवा के सती होने का विधान पाया जाता है। विष्णु ने विधवा के लिए ब्रह्मचारिणी रहना या सती होना—यही दो मार्ग बतलाये हैं[5]। बृहस्पति का कथन है कि स्त्री, अर्धाङ्गिनी होने के कारण, पति की चिता पर मर सकती है अथवा शुद्ध जीवन व्यतीत कर सकती है[6]। वात्स्यायन ने भी कामसूत्र में अनुमरण का उल्लेख किया है[7] जिसका अर्थ चकलदार महोदय के मत से सहमरण है[8]। गुप्त-काल में सतीप्रथा के और भी अन्य ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। एरण (सागर,

---

१. चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः ....चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादित इति।—हर्षचरित।

२. नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥—नारद० १२।९७, पराशर० ४।३०।

३. मृते भर्तरि सम्प्राप्तं देवरादीनपास्य या।
उपगच्छेत् परं कामात् सा द्वितीया प्रकीर्तिता॥—नारद० १२।५०।

४. याज्ञवल्क्य व्यवहार, प्रकरण ८।

५. विष्णुस्मृति २५।१४।

६. बृहस्पतिस्मृति २५।११।

७. सक्तस्य चानुमरणं ब्रूयात्।—का० सू० पृ० ३१६।

८. सोशल लाइफ इन एंशेंट इंडिया, पृ० १८४।

मध्यप्रान्त) के लेख में ई० सन् ५१० (गु० सं० १९१) में भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की मृत्यु के पश्चात्, उसकी स्त्री के सती होने का उल्लेख मिलता है[1]। विधवा सती होने के लिए बाध्य नहीं थी। यह उसकी इच्छा पर निर्भर था। बाण ने लिखा है कि राज्यश्री स्वेच्छा से ही सती होने को तैयार थी। यशोमती के सती होने का उदाहरण भी मिलता है[2]। हर्ष ने विन्ध्यकेतु की स्त्री के सती होने का वर्णन किया है। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में सती प्रथा का अस्तित्व था।

समाज में स्त्रियों के उच्च तथा आदरणीय स्थान प्राप्त करने के अतिरिक्त उन्हें क़ानूनी अधिकार भी कुछ कम प्राप्त न था। स्त्रियों की व्यक्तिगत सम्पत्ति के लिए राजनियम बने हुए थे। उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति 'स्त्री-धन' कहलाती थी। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने 'स्त्री-धन' को निम्नांकित छः प्रकार का बतलाया है[3]। १—विवाह के उपलक्ष में, २—पतिगृह जाते समय, ३—प्रेम में मिला धन, ४, ५, ६—माता-पिता और भ्राता से मिला धन। 'स्त्री-धन' का उपयोग करने में स्त्रियों को पूरी स्वतन्त्रता प्राप्त थी। अपने इच्छानुसार वे उस धन का उपयोग कर सकती थीं। उत्तराधिकार-सबंधी नियमों में भी स्त्रियों के अधिकार की गणना थी। पुरुष की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा स्त्री तथा पुत्री भी (पुत्र के न रहने पर) उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी होती थी[4]। हमारे स्मृति-ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ इस दायाधिकार का विवेचन किया गया है। बंगाल में आज भी विधवा स्त्री पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी है। सम्भव है कि यह नियम सर्वत्र मान्य न हो। कालिदास के वर्णन से ज्ञात होता है कि दुष्यन्त के राज्य में विधवाओं के लिए दायाधिकार का नियम नहीं था। सेठ धनमित्र के मरने पर उसकी सारी सम्पत्ति (बिना विधवाओं का विचार किये) राजा दुष्यन्त के पास चली जानेवाली थी परन्तु गर्भस्थ बालक के कारण वह राजकीय होने से बच गई[5]। इन सब क़ानूनी अधिकारों के विवेचन से ज्ञात होता है कि गुप्त-कालीन समाज में स्त्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था तथा उन्हें दायाधिकार प्राप्त थे। वे आजकल की भाँति नगण्य नहीं समझी जाती थीं।

स्त्रियों के दायाधिकार

---

१. कृत्वा तु युद्धं सुमहत्प्रकाशं स्वर्गं गतो दिव्यनरेन्द्रकल्पः।
भक्ताऽनुरक्ता च प्रिया च कान्ता भार्यावलग्नानुगताऽग्निराशिम् ॥—का० इ० इ० नं० २०।

२. हर्षचरित, पृ० १८७।

३ अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि।
भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम् ॥—मनु० ९।१९४।
पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्।
आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥—याज्ञ० २।१४३।

४. अनपत्यस्य पुत्रस्य माता दायमवाप्नुयात्।—मनु० ९।२१७।
पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा।—याज्ञ० २।१३५।

५. अभिज्ञान-शाकुन्तल।

गुप्त-काल के पूर्व से ही स्त्रियाँ, पुरुषों की भाँति, बौद्ध मठों में भिक्षुणी के वेष में रहा करती थीं। ये गृहस्थी को त्यागकर सन्यास ग्रहण किये रहती थीं। ये सिर मुँडाये तथा गेरुआ वस्त्र पहने रहती थीं। प्रारम्भिक काल में ये भिक्षुणियाँ बड़े सदाचार से रहती थीं तथा लोकोपकार में ही अपना समस्त समय बिताती थीं। परन्तु धीरे-धीरे इनका आचरण शिथिल होता गया और ये बौद्ध-संघ में व्यभिचार फैलाने का कारण बन गईं।

भिक्षुणी

गुप्त-कालीन समाज में एक प्रकार की सार्वजनिक स्त्रियाँ होती थीं जो गणिका के नाम से पुकारी जाती थीं। ये पढ़ी-लिखी तथा कला और कामशास्त्र में कुशल होती थीं[1]। परन्तु उस समय के धार्मिक समाज में इनको नीचा स्थान प्राप्त था। मनु ने शठ ब्राह्मणों के गण तथा गणिका को एक ही स्थान दिया है और इनके अन्न को त्याज्य बतलाया है[2]। जिस गन्धर्वशाला में गणिकाओं की कन्याओं को शिक्षा दी जाती थी वहाँ सभ्य घराने की लड़कियाँ नहीं पढ़ती थीं[3]। परन्तु धनी समाज तथा राजसभाओं में गणिका को सम्मान प्राप्त था। भरत मुनि ने, इनको विशेष शिक्षिता तथा सभ्य समझकर, नाटकों में संस्कृत में इनके भाषण करने का उल्लेख किया है[4]। शूद्रक ने भी गणिका को समाज में विशेष सम्मान प्रदान किया है। आर्य चारुदत्त ऐसा शिष्ट पुरुष भी वसन्तसेना के प्रति उच्च विचार रखता था तथा उससे विवाह करने के लिए उद्यत था। वसन्तसेना के लिए अपनी सारी सुख-सामग्री त्यागने में उसे तनिक भी संकोच नहीं था[5]। गणिका होने पर भी वसन्त-सेना सच्चा प्रेम करना जानती थी। चारुदत्त के घर से वसन्तसेना के समस्त आभूषणों के चोरी चले जाने पर भी उसके चित्त में बदला लेने का कभी विचार तक नहीं आया। उस समय गणिकाएँ अपनी सम्पत्ति केवल भोग-विलास में ही नहीं खर्च करती थीं बल्कि सार्वजनिक कार्यों तथा दान में भी लगाती थीं[6]। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में समाज में गणिकाओं का सम्मान था तथा वे विचार-शील और गुणी थीं।

गणिका

---

१. सोशल लाइफ इन एंशेंट इंडिया। पृ० १९९।

२. गवा चान्नमुपाघ्रातं घुष्टान्नं च विशेषतः।
गणान्नं गणिकान्नं च विदुषां च जुगुप्सितम्॥—मनु० ४।२०९।

३. तेषां कलाग्रहणे गन्धर्वशालायां सन्दर्शनयोगाः।—कामसूत्र पृ० ३६४।

४. राज्ञश्च गणिकायाश्च शिल्पकार्यास्तथैव च।
कालावस्थान्तरकृतं योज्यं पाठ्यन्तु संस्कृतम्॥—नाट्यशास्त्र अ० १७।३७।

५. मृच्छकटिक अं० ३।

६. सोशल लाइफ इन एंशेंट इंडिया, पृ० १९९।

गुप्त-कालीन ललित-कला

उपक्रम

कविता की ही भाँति कला की कोई निश्चित परिभाषा बतलाना बड़ा कठिन है। कोई भी परिभाषा कभी पूरी नहीं की जा सकती। स्वर्गीय आनन्द में विभोर हुए मनुष्यों के आन्तरिक मनोभावों की आकस्मिक अभिव्यक्ति को ही कला कहा जाता है। अथवा शुद्ध और आवश्यक मानव-स्वभाव की धारा-वाहिक अभिव्यक्ति को ही कला कहते हैं। कला का सबसे प्रधान कार्य अतिशय आनन्द और प्रचुर उल्लास प्रदान करना है। जिस कला के द्वारा हृदय के भीतर आनन्द का उद्रेक नहीं होता, जिस कला से हृत्कलिका खिल न उठे वह कला भी क्या कोई कला है? अतः आनन्द, हर्ष तथा उल्लास आदि प्रदान करना कला का अत्यावश्यक गुण है, यह उसका स्वाभाविक धर्म है। कला दो प्रकार की मानी गई है (१) स्थिर, (२) गतिशील। स्थिर कला (The static mood of art) में क्रम और औचित्य पर बड़ा ध्यान दिया जाता है। इसके अन्तर्गत वास्तुकला, तक्षणकला तथा चित्रकला हैं। गतिशील कला (The dynamic mood of art) में गति, आरोहावरोह तथा भाव-व्यञ्जना अधिक मात्रा में रहती है। काव्य-कला और संगीत इसी के अन्तर्गत आते हैं। किसी देश की कला किसी व्यक्ति-विशेष के उत्साह-युक्त परिश्रम का फल नहीं है बल्कि यह विदग्ध कलाकारों की शताब्दियों की मनोरम कल्पना का सुन्दर परिणाम है। किसी देश की कला के अवलोकन मात्र से ही तद्देशीय मनुष्यों की मनोवृत्तियों तथा मनोभावों का परिचय मिल सकता है। कला ही मनुष्यों के आन्तरिक मनोभावों की सच्ची परिचायिका है।

भारतीय कला की विशेषता

भारत सर्वदा से एक धर्म-प्रधान देश रहा है। अतः भारत में किसी भी वस्तु का प्रादुर्भाव धर्म से रहित नहीं रह सकता। भारतीय कला की सबसे बड़ी बात यह है कि वह एक धर्म-प्रधान कला है। इस कला में धर्म ओत-प्रोत सा हो गया है। धर्म-प्रधान कहने से हमारा तात्पर्य यह है कि भारतीय कला का जन्म धर्म ही के कारण हुआ। जब साधारण जनता निराकार परमेश्वर का सहज में ध्यान नहीं कर सकती थी तब साकार देवताओं की मूर्तियाँ बननी प्रारम्भ हुईं। हीनयान सम्प्रदाय में मूर्तियों का अभाव था परन्तु जब महायान सम्प्रदाय में भक्ति-मार्ग का प्रचार हुआ तब बुद्ध की साकार पूजा के लिए उनकी मूर्तियाँ बननी प्रारम्भ हुईं तथा चैत्य और विहार भी बनने लगे। इस प्रकार वास्तु-कला और तक्षणकला की उत्पत्ति हुई। बौद्ध-चैत्यों तथा हिन्दू-मन्दिरों में देवताओं की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की आकृतियाँ चित्रित की गईं। हिन्दू मन्दिरों में देवता के प्रीत्यर्थ नृत्य किया जाता तथा वाद्य बजाया जाता था। इस प्रकार से चित्रकला और संगीत का प्रारम्भ समझना चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि भारतीय ललित-कला का बीज धर्म

में ही निहित है। धार्मिक भावों के ही कारण इस कला की उत्पत्ति हुई। यूरोपीय देशों में भी रोमन कैथोलिक नामक धार्मिक सम्प्रदाय के कारण ही वहाँ वास्तुकला, तक्षणकला और चित्रकला का जन्म हुआ। माईकेल एञ्जिलो के मनोरम तथा चित्ताकर्षक चित्र धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर ही खींचे गये थे। अतः ललित-कला को जन्म प्रदान करने के लिए धार्मिक भावनाओं ने सदा से उत्तेजक का काम किया है।

भारतीय कला का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। यहाँ तक कि वेदों के समय में मूर्ति का प्रचार था या नहीं, यह विषय विवादास्पद है। परन्तु यदि वैदिक मन्त्रों का सावधानी के साथ अध्ययन किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक काल में मूर्ति की कल्पना अवश्य थी। ऋग्वेद के वरुण सूक्त में 'बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययं' ऐसा वर्णन मिलता है जिसका अर्थ यह है कि वरुण सुवर्ण का कवच धारण करता है। विद्वानों का कहना है कि वरुण की मूर्तिमान् कल्पना किये बिना ऐसा वर्णन कदापि सम्भव नहीं। ऋग्वेद में अग्नि की स्तुति में लिखा है :—

भारतीय कला की उत्पत्ति का इतिहास

चत्वारि शृङ्गाः त्रयोऽस्य पादाः, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति.. ....३।८।१०।

अर्थात् जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर, सात हाथ हैं, जो तीन प्रकार से बाँधा गया है ऐसा बैल आवाज़ करता है। यही मन्त्र यजुर्वेद के महानारायण उपनिषद् में भी मिलता है। ऋग्वेद में इन्द्र का वर्णन बड़ी सुन्दर तथा स्वाभाविक रीति से किया गया है। वहाँ लिखा गया है कि इन्द्र की भुजा व्रज के समान बलशाली है (व्रजबाहुः) और वह अपने हाथ में वज्र धारण करता है (वज्रहस्तः)। तैत्तिरीय संहिता में 'इन्द्राय घर्मवते' और 'इन्द्रायार्कवते' तथा 'अरुणो भ्रमान्' लिखा मिलता है। विद्वानों का कहना है कि ऐसा वर्णन किसी धातु प्रतिमा के विषय में ही सम्भव है। इसी प्रकार रुद्र कपालिन् तथा त्र्यम्बक आदि उपाधियों से विभूषित हैं। वेद में प्रतिमा शब्द का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है। अतः इन प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि वैदिक आर्य भी मूर्ति से परिचित थे। उपनिषदों में भी ऐसे भाव आये हैं जिनसे मूर्तिमान् व्यक्ति की अभिव्यक्ति होती है। आपस्तम्ब[1] तथा आश्वलायन[2] गृह्य सूत्रों में प्रतिमा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। 'देवता', 'देव', 'मूर्ति' तथा 'देव-प्रतिमा' आदि शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। रामायण में ऐसा वर्णन मिलता है कि जब भरतजी दशरथ के मरने के बाद अयोध्या में आये, तब आपने 'देवकुल' में राजा दशरथ की भी प्रतिमा स्थापित देखी थी। महाभारत में भी प्रतिमा का प्रचुर उल्लेख है। ईसा से पूर्व आठवीं शताब्दी में आविर्भूत होनेवाले पाणिनि ने भी प्रतिमा का उल्लेख किया है। आपका एक सूत्र है 'इवे प्रतिकृतौ'[3] अर्थात् प्रकृति या प्रतिमा के अर्थ में

---

१. आपस्तम्ब गृ० सू० १६।१३।
२. आश्वलायन गृ० सू० ३।१६।
३. अष्टाध्यायी ५।३।९६।

क प्रत्यय होता है। 'जीविकार्थे चापण्ये' इस सूत्र के द्वारा पाणिनि ने यह बतलाया है कि जो प्रतिमा पूजा के निमित्त रक्खी जाती थी तथा जो बाज़ार में बेच दी जाती थी इन दोनों में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रत्यय होते हैं। पतञ्जलि ने भी शिव, स्कन्द और विशाख की मूर्तियों के विक्रय का उल्लेख किया है। चित्तौर के समीप नगरी के एक लेख (ई० पू० ३५०–२५० ई०) में संकर्षण तथा वासुदेव के मन्दिर का उल्लेख मिलता है।[१]

इन समस्त साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि भारतीय कला अति प्राचीन है तथा इसका बीज वेदों तक में पाया जाता है। भारतीय कला की उत्पत्ति तथा विकास का एक अति संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया गया है। इसी से भारतीय कला की प्राचीनता का अन्दाज़ा सहज ही में लगाया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि भारत की स्वदेशी कला का जन्म ईसा से कई सौ वर्ष पहले ही हो चुका था[२]।

गुप्त-पूर्व-कला

पहले जिन साहित्यिक प्रमाणों का उल्लेख किया गया है उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय कला अति प्राचीन है। परन्तु भारतीय कला केवल सिद्धान्त रूप में ही निहित नहीं थी बल्कि इसके स्थूल उदाहरण भी उपलब्ध हैं। गुप्तों के काल के पूर्व भारतीय कला की उत्पत्ति हो गई थी तथा इसका विकास भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। गुप्तों से पूर्व की मौर्य्य भरहुत, साँची, अमरावती तथा गांधार आदि कलाएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं तथा भारतीय कला के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इन्हीं सब गुप्त-पूर्व-कलाओं का यहाँ परिचय दिया जाता है क्योंकि गुप्त-कला को ठीक-ठीक समझने के पहले इनका ज्ञान अत्यावश्यक है।

भारत में धार्मिक अभ्युदय के साथ कला का विकास होता गया। प्राचीन भारत में धार्मिक विषयों को मानुषिक स्वरूप देने (Representation) की प्रथा चल पड़ी थी। इसी कारण यक्ष, नाग तथा देवताओं की मूर्तियाँ बनने लगी थीं। आधुनिक खोज के द्वारा पारखम तथा दीदारगंज से प्रस्तर की दो मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं जो आजकल 'शैशुनाग मूर्तियों' के नाम से प्रसिद्ध हैं। कुछ समय पहले विद्वानों का मत था कि ये मूर्तियाँ यक्ष और यक्षिणी की हैं परन्तु सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने यह सप्रमाण सिद्ध किया है कि ये मूर्तियाँ शैशुनागवंशीय नरेश महानन्द और नन्दिवर्धन की हैं[३]। ये मूर्तियाँ बहुत असंस्कृत हैं तथा इनके ऊपर की पालिश उतनी सुन्दर और चिकनी नहीं है।

---

१. × जिना भगवत्यां संकर्षणवासुदेवाभ्यां सर्वेश्वरा...भ्यां। पूजा शिलाप्रकारो नारायण। × —(इ० ए० १९३२, आ० सा० मे० नं० ४, ए० इ० भा० १६ पृ० २५)

२. कुमारस्वामी—हिस्ट्री आव इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट पृ० ४२.

३. इन 'शैशुनाग मूर्तियों' के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—काशी-नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका—भाग १।

मौर्य्य-काल में कला का प्रचुर विकास हुआ। तत्कालीन शिल्पकार तक्षणकला में अत्यन्त निपुण थे। उन चतुर शिल्पकारों के द्वारा की गई प्रस्तरखण्डों पर की पालिश आज भी (लगभग २३०० वर्षों के बीत जाने पर भी) शीत, आतप और वर्षा को सदा सहते हुए भी बिल्कुल नई मालूम होती है तथा किसको आश्चर्यित नहीं करती। मौर्य्य-कला में भावव्यञ्जना (expression) की मात्रा प्रचुर परिमाण में पाई जाती है। मौर्य्य सम्राटों के शासन-काल की बड़ी-बड़ी यक्ष, यक्षी तथा जानवरों की मूर्तियाँ पाई जाती हैं[1]। मौर्य्य-कालीन प्रस्तर-स्तम्भों पर अनेक जानवरों की प्रतिमाएँ—सिंह, हस्ती, वृषभ-आदि की—अवस्थित मिलती हैं। सारनाथ में प्राप्त अशोकस्तम्भ मौर्य्यकला का सर्वोत्कृष्ट ज्वलन्त उदाहरण है[2]। सारनाथ में सुरक्षित मौर्य्यकालीन सिंह की प्रतिमाएँ सुन्दरता, भावव्यञ्जना तथा हस्तकौशल में संसार में अपनी सानी नहीं रखतीं। ऐसी सुन्दर प्रतिमा आज तक संसार के किसी देश के शिल्पकार ने तैयार नहीं की।

मौर्य्य-कला

मौर्य्य-काल में बुद्ध-धर्म राजकीय-धर्म हो गया था। उस समय बौद्ध-धर्म निवृत्ति-प्रधान था। उसमें भक्ति का संचार नहीं था। अतएव उस समय बौद्ध धर्मानुयायी अपने धार्मिक प्रतीक—बोधिवृक्ष स्तूप, उष्णीष तथा धर्म-चक्र आदि का पूजन करते थे। इन्हीं सब प्रतीकों का प्रत्यक्षीकरण तत्कालीन कला में पाया जाता है। ईसा पूर्व दूसरी और पहली शताब्दी में तक्षण के नमूने भरहुत तथा साँची में मिलते हैं। इन स्थानों पर स्तूपों की वेष्टनी पर विभिन्न प्रकार की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं जिनमें बोधिवृक्ष, धर्मचक्र, स्तूप तथा भगवान् बुद्ध के जन्मसंबंधी अनेक कथानक खचित हैं। वेष्टनी के द्वारा स्तम्भों या तोरणों पर जातक-कथाओं का प्रदर्शन साँची से अधिक सुन्दर तथा उत्कृष्ट नमूने अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते। वेष्टनी के स्तम्भों पर हाथ में चँवर या कमल लिये यक्ष की मूर्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं। अधिकतर वामन मनुष्यों की पीठ पर खड़ी यक्षीय परिचारिका की मूर्ति खचित मिलती है। विद्धशालभञ्जिका, उद्दालक पुष्पभञ्जिका आदि जिन प्राचीन क्रीड़ाओं का उल्लेख मिलता है उन्हीं के सानन्द महोत्सवों की कुछ झलक साँची तथा भरहुत के वेदिका-स्तम्भों पर की स्त्रियों में पाई जाती है। नूपुर, केयूर, कुण्डल, कर्णिका और दन्तपत्र आदि जिन अलंकार रत्नों का भारतीय काव्यों में वर्णन मिलता है उन्हीं का व्यवहार यक्षिणियों के अलंकरण में नाना भाँति से किया गया पाया जाता है। डा० कुमारस्वामी का मत है कि भारतीय दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति जल से मानी जाती है जिसका प्रत्यक्षीकरण साँची तथा भरहुत की कला में मकर, पूर्ण घट और कमल आदि को अंकित कर दिया गया है[3]। भरहुत और साँची की वेष्टनी पर डंठल तथा

भरहुत तथा साँची

---

१. डा० स्टेला क्रामरिश—इण्डियन स्कल्पचर पृ० ६।

२. सहानी—कै० म्यू० सा० पृ० २८–२६।

३. डा० कुमारस्वामी—यक्ष भाग २, पृ० ३।

पत्ता-युक्त कमल, पूर्णघट (कलश) के मुख से निकलता दिखलाया गया है[1]। डंठल चिकने हैं। कभी कभी कमल-प्रसार के अन्तर्गत स्थानों में पक्षी, यक्ष या किसी अन्य जानवर की मूर्ति खचित रहती है। भरहुत तथा साँची में कला का विकास शुङ्ग नरेशों के समय में हुआ क्योंकि शुङ्ग काल में वहाँ प्रधान नगर थे।

उत्तरी भारत के साँची व भरहुत कला के बाद दक्षिण में अमरावती में तत्कालीन कला के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं। वहाँ पर आन्ध्र राजा शासन कर रहे थे। अमरावती के स्तूप तथा वेष्टनी से मूर्तिकला का ज्ञान किया जा सकता है। इस कला का प्रचार १५०-२५० ई० तक माना जाता है।

अमरावती

वहाँ पर मौर्य-कला के समान बौद्ध प्रतीकों की पूजा होती थी। परन्तु कलाकारों की बनावट, रेखाएँ तथा आकृतियाँ बहुत सुन्दर ढंग से तैयार की गई मिलती हैं।

स्तूप और एक प्रकार की वेष्टनी पर जातक कथानक खुदे हुए हैं। लेकिन दूसरे प्रकार की वेष्टनी पर बुद्ध की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। स्तम्भ, सूची और ऊपरवाले प्रस्तर बौद्ध कथानक तथा मूर्तियों द्वारा सुशोभित हैं। स्तूप का अधिकतर भाग भिन्न-भिन्न मूर्तियों तथा आकृतियों से अलङ्कृत किया गया है। भगवान् बुद्ध की मूर्ति योगी के रूप में दिखलाई पड़ती है।

अमरावती में सुंदरता के लिए पुष्पयुक्त लताओं का समावेश एक अजीब जान पैदा कर देता है। उनकी जितना भी प्रशंसा हो, वह थोड़ी है। इसके साथ-साथ पशुओं को भी स्थान दिया गया है जिससे इसकी शोभा कई गुना बढ़ जाती है। बुद्ध की मूर्तियों का पहनावा गुप्तों से सर्वथा भिन्न है। गाढ़े कपड़े से छिपे हुए मूर्तियों के अङ्ग दिखलाई नहीं पड़ते जो पीछे गुप्तों के समय में झीने कपड़े से स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं।

अमरावती में बेलबूटे, पुष्पयुक्त लताएँ तथा पशुओं से सौन्दर्य अधिक बढ़ जाता है। यह इसकी विशेषता है। धर्मचक्र और कथानक प्रस्तर पर खुदे हुए सर्वत्र पाये जाते हैं। साँची और भरहुत की कला अमरावती में सम्पूर्णता को प्राप्त हुई।

ईसा की प्रथम शताब्दी में भारत के उत्तर-पश्चिम में कुषाण राजाओं ने राज्य स्थापित किया। शकाधिराज कनिष्क ने पुरुषपुर (पेशावर) को अपनी राजधानी बनाया। उस घाटी का तथा उसके आस-पास के स्थान का प्राचीन नाम गान्धार था अतएव उस स्थान में जिस कला का प्रादुर्भाव हुआ उसे 'गान्धार-कला' कहते हैं[2]। कुषाणों के समय में भारत के उत्तर-पश्चिम में यह कला अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। इस कला की सबसे प्रधान विशेषता यह थी कि इसमें भूरे रङ्ग के प्रस्तरों का प्रयोग किया जाता था जो स्वात की घाटी में पाये जाते थे। गान्धार-कला की मूर्तियों की बनावट पर ग्रीक कला का

गान्धार-कला

१. डा० कुमारस्वामी—प्लेट—१२ नं० १, २; १२ नं० २।

२. डा० मारशल—ए गाइड टू साँची, पृ० ३०।

पूर्ण रूप से प्रभाव है परन्तु मूर्ति की भावभङ्गी अथवा रचना-प्रकार पूर्णरूप से भारतीय ही है। इसी शताब्दी में महायान धर्म की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार निवृत्ति-प्रधान हीन-यान धर्म प्रवृत्ति तथा भक्तिप्रधान रूप में परिणत हो गया। यही कारण है कि गान्धार-कला में सर्वप्रथम बुद्ध-प्रतिमा ही का निर्माण पाया जाता है[1]। गान्धार के संगतराशों ने पहले-पहल ध्यानावस्थित योगी के समस्त लक्षणों को आत्मसात् करके योगीश्वर बुद्ध की मूर्ति तैयार की। इस रचना में बुद्ध-मूर्ति जटाधारी दिखलाई गई है[2]। गान्धार-कला की दूसरी प्रधान विशेषता यह है कि इसी काल में बौद्ध मूर्तियों के ऊपर प्रभामण्डल की रचना प्रारम्भ हुई। यदि प्रभा-मण्डल की रचना को गान्धार-कला की भारतीय कला को देन कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी। गान्धार-कला से पहले की कलाओं में प्रभा-मण्डल की रचना नहीं रहती थी। गान्धार-कलाविदों ने ही सर्वप्रथम इसका प्रयोग किया। गुप्त-काल में प्रभा-मण्डल की रचना की कला अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी। परन्तु गान्धार प्रभामण्डल तथा गुप्तप्रभा-मण्डल में अन्तर यह था कि गान्धार-प्रभा-मण्डल बिल्कुल सादा अनलंकृत रहता था किन्तु इसके ठीक विपरीत गुप्त प्रभा-मण्डल अलंकृत रहता था। उसमें अनेक प्रकार के पत्र, पुष्प खुदे रहते थे। गान्धार के कलाकारों ने बुद्ध की जीवन-सम्बन्धिनी मूर्तियाँ बनाने में अधिक समय व्यय किया। तपस्वी गौतम की मूर्ति गान्धार-कला में मिलती है जिसमें घोर तपस्या के कारण गौतम के शरीर में अस्थि और चर्म ही शेष रह गया है। इस कला के नमूने अधिकतर स्वात और पेशावर की ओर ही पाये जाते हैं।

मथुरा-कला

कुषाणों के शासन-काल में गान्धार के अतिरिक्त कला का दूसरा केन्द्र मथुरा में था। अतएव यहाँ की तक्षणकला मथुरा-कला (Mathura School of Indian Art) के नाम से विख्यात है। ईसा की प्रथम शताब्दी में कुषाण-नरेश कनिष्क का बड़ा प्रभाव था। उसका राज्य चीनी तुर्किस्तान से काशी या पाटलिपुत्र तक विस्तृत था। कुषाण-काल में गान्धार-कला के ही सदृश मथुरा-कला की भी पर्याप्त उन्नति हुई। मथुरा में बनी हुई मूर्तियाँ उत्तरी भारत के बौद्धों के प्रधान स्थान सारनाथ में पाई जाती हैं[3]। कुषाणों का प्रतिनिधि महाक्षत्रप खरपल्लान सारनाथ में रहता था। उसी के समय में (कनिष्क के तीसरे वर्ष में) भिक्षु बल ने उस बोधिसत्व प्रतिमा की प्रतिष्ठा की थी[4]। मथुरा-कला की विशेषता यह है कि इसमें लाल पत्थर का प्रयोग किया जाता था जो मथुरा के समीपवर्ती सिकरी नामक स्थान से प्राप्त होता था। उत्तरी भारत में मथुरा बौद्ध-मूर्तियों के निर्माण का एक बृहत् आगार था[5]। मथुरा ही गान्धार से दक्षिण भारतीय कला-केन्द्र अमरावती को

---

१. डा० फोगेल—कै० म्यू० सा०, पृ० ३०।

२. जे० आर० ए० एस० १९२८ पृ० ८३२।

३. सहानी—कै० म्यू० सा० नं० B (b)

४. डा० फोगेल—कै० म्यू० सा० भूमिका पृ० १८।

५. वही—कै० म० म्यू० पृ० २८।

मिलाता था[१]। विद्वानों का मत है कि मथुरा-कला पर गान्धार-कला का पर्याप्त प्रभाव था परन्तु यह मत पूर्ण रीति से नहीं माना जा सकता[२]। गान्धार तथा मथुरा कलाओं का जन्म और क्रमिक विकास समकालीन था। डा० फोगेल का मत है कि मथुरा की कला में भाव की कल्पना तथा अलंकरण-प्रकार सर्वथा भारतीय है[३]। इसमें दो प्रकार की कलाओं का सम्मिश्रण पाया जाता है। एक ओर तो भरहुत तथा साँची की प्राचीन कला शैली विद्यमान है तथा दूसरी ओर गान्धार कला का भी यत्किञ्चित् प्रभाव पाया जाता है[४]। मथुरा-कला में गान्धार-कला से अप्रत्यक्ष रूप से प्रोत्साहन मिला है[५]। मथुरा की कला में भरहुत तथा साँची की तरह अलंकारयुक्त यक्षों की मूर्तियाँ वेदिका-स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं। इसके साथ नाग देवताओं की भी मूर्तियाँ मिली हैं[६]। मथुरा कला की कुछ अपनी खास विशेषताएँ हैं जो उसे दूसरी कलाओं से पृथक करती हैं। मथुरा-कला विभिन्न कालों में बाँटी जा सकती है। इस स्थान पर कुषाण-कालीन मथुरा-कला पर विचार किया जायगा।

कुषाण-कालीन मथुरा कला की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जिनके देखने से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि यह मूर्ति मथुरा-कला से संबंध रखती है। यहाँ पर उन विशेषताओं का उल्लेख अप्रासङ्गिक न होगा :—

मथुरा की कुषाण-कालीन विशेषताएँ

(१) मथुरा कला की सर्वप्रधान विशेषता यह है कि इसमें लाल पत्थर का व्यवहार किया गया है जो मथुरा के समीप सीकरी स्थान से प्राप्त होता था। (२) कुषाण-कालीन बौद्ध-मूर्तियों की घनगात्रता, चतुरस्रता तथा विशालता बहुत प्रसिद्ध है। (३) इस युग की मूर्तियाँ कोरदार बनाई जाती थीं। इनकी बनावट गोल होती थी तथा पृष्ठावलम्बन न होता था। (४) इस युग की प्रतिमाओं का मस्तक मुण्डित रहता था। गुप्त-काल की तरह कुंचित केश (उष्णीष) नहीं पाये जाते परन्तु सिर पर ककुद् जैसा उभार रहता है जो चक्राकार होते हैं। (५) माथे पर ऊर्णा रहती है;[७] परन्तु मूँछों का नितान्त अभाव है। (६) प्रतिमाओं के वस्त्र व्यावर्तित (Folding) होते हैं अर्थात् कपड़ों पर तह पड़ी रहती है। (७) प्रायः मथुरा-कला की मूर्तियों के दाहिने कन्धे पर वस्त्र नहीं रहता है[८]। (८) प्रतिमा का

---

१ डा० फोगेल पृ० २६, ३२।

२. डा० क्रामरिश—इंडियन स्कल्पचर—पृ० ४६।

३. डा० फोगेल—कै० म० म्यू० पृ० ३३।

४. वही।

५. डा० फूशे—एकोनोग्राफिके बुधिके।

६. इन्हीं मूर्तियों के कारण फर्गुसन महोदय ने भरहुत, साँची तथा मथुरा का वर्णन (Tree and serpent worship) नामक अपने ग्रन्थ में किया है।

७. डा० फोगेल—कै० म० म्यू० प्लेट० १५ (ए०) तथा ८।

८. मथुरा कला की दो मूर्तियों का वर्णन फोगेल ने किया है जिनके दोनों कन्धों पर कपड़े हैं। कै० म० म्यू० प्लेट—१५ (ए०) तथा १६।

दाहिना हाथ अधिकतर अभयमुद्रा में पाया जाता है। खड़ी मूर्तियों में बायाँ हाथ संघाटी को धारण किये दिखलाया गया है। बैठी हुई मूर्तियों में बायाँ हाथ उरु पर अवलम्बित है। (९) कुषाण-कालीन मथुरा-कला में प्रतिमाओं का निर्माण पद्मासन पर नहीं किया जाता था। इसमें सिंहासन पाया जाता है। खड़ी मूर्तियों के दोनों पैरों के नीचे सिंह की आकृति बनी रहती है। (१०) मूर्तियों का प्रभा-मण्डल अनलंकृत रहता है। परन्तु किनारों पर वृत्ताकार चिह्न दिखलाई पड़ता है।

इन सब विशेषताओं की जानकारी से कुषाण-कालीन मथुरा की प्रतिमाओं का ज्ञान सरलतया हो जाता है। गान्धार-कला की तरह मथुरा में भी भगवान् बुद्ध के जीवन की चित्रण योग्य घटनाएँ उत्कीर्ण मिलती हैं। चार प्रमुख घटनाओं –(१) जन्म, (२) सम्बोधि, (३) धर्म-चक्र-प्रवर्तन, (४) महापरिनिर्वाण के अंकित करने के अतिरिक्त अन्य तीन गौण घटनाएँ भी प्रस्तरों पर खुदी हुई हैं। मथुरा के सगतराशों ने — (१) इन्द्र को भगवान बुद्ध का दर्शन, (२) बुद्ध का त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से माता को ज्ञान देकर वापस आना और (३) लोकपालों द्वारा बुद्ध को भिक्षापात्र अर्पण करना—बुद्ध के जीवन की इन तीन अप्रधान घटनाओं को पाषाण पर अंकित करने के लिए चुना था।

उपर्युक्त विवरण से पाठकों को गुप्त-पूर्व-कला का कुछ ज्ञान हो गया होगा। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में भरहुत तथा साँची में जिस कला का प्रादुर्भाव हुआ वह दक्षिण भारत की अमरावती में सजीवता, सर्वाङ्गसुन्दरता तथा सम्पूर्णता को प्राप्त हुई। प्रथम शताब्दी में कनिष्क के शासन-काल में गान्धार तथा मथुरा-कला की उत्पत्ति और विकास पृथक्-पृथक्, भिन्न तथा स्वतन्त्र रूप से हुआ। मथुरा-कला का अनुकरण कर गुप्त-कलाविदों ने नवीन भावों के साथ कला-कार्य आरम्भ किया तथा इसी स्वर्णयुग (गुप्तकाल) के चतुर शिल्पियों ने कला को उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा दिया। गुप्त-पूर्व-कला का दिग्दर्शन कर आगे गुप्त-कला का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

गुप्त-कला

उपक्रम

भारत के प्राचीन इतिहास में गुप्त-काल 'स्वर्ण-युग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस युग में भारतीय सभ्यता का विकास पूर्ण रूप से उन्नति के शिखर पर पहुँचा था। भारतीय ललित-कला के विकास में गुप्तों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। उस समय कला चरम सीमा को पहुँची हुई थी। गुप्त-कलाविदों ने अपने अद्वितीय कौशल से इस क्षेत्र में एक 'नया युग' पैदा कर दिया। गुप्त कालीन कला के साक्षात् दृष्टान्तों के अतिरिक्त चीनी यात्री ह्वेनसाँग के वर्णन से ज्ञात होता है कि गुप्तों के शासन-काल में पञ्च विद्याओं के साथ-साथ शिल्प-शास्त्र की भी शिक्षा दी जाती थी[1]। गुप्त-पूर्व-काल में शिल्प का विषय बुद्ध की जीवन-घटनाओं को लेकर होता था।[2]

---

१. बील—लाइफ आफ ह्वेनसाँग भा० १ पृ० ७८।

२. कादरिङ्गटन—एंशेन्ट इण्डिया पृ० ४२।

परन्तु इस स्वर्णयुग में ब्राह्मण (भागवत) धर्म के पुनरुत्थान के कारण हिन्दू-प्रतिमाओं का निर्माण प्रारम्भ हुआ[1]। गुप्तकालीन कला में पौराणिक तथा ऐतिहासिक विषय भी एक प्रिय अंग बन गया। इन सब कारणों से अत्यन्त सुन्दर हिन्दू-प्रतिमाएँ बनने लगीं। परन्तु हिन्दू (भागवत) धर्म के पुनरुजीवन में बौद्ध मूर्तियों का सर्वथा अभाव नहीं हो गया बल्कि बुद्ध और बोधिसत्वों की भिन्न-भिन्न भावयुक्त प्रतिमाएँ बनती थीं। गुप्त कालीन बौद्ध मूर्तियों में शान्तभाव प्रकट होता है जो भिन्न-भिन्न मुद्राओं को अभिव्यक्त करती हैं। हिन्दू-धर्म में मुक्ति ही परम ध्येय है जो तपस्या और योग के मार्ग द्वारा सुलभ होता है। इन्हीं भावों का समावेश तत्कालीन मूर्तियों में पूर्ण रूप से मिलता है। गुप्त कालीन मूर्तियों में माधुर्य, ओज और सजीवता प्रचुर मात्रा में पाई जाती है और इनकी अभिव्यक्ति रस की प्रधानता के कारण ही प्राप्त होती है।

भारतीय कला के पण्डितों की सम्मति है कि गुप्त कालीन सर्वतोमुखी उन्नत कला का बीज मथुरा में ही बोया गया था। डा० कुमारस्वामी के कथनानुसार इस मूर्तिकला की उत्पत्ति मथुरा-कला से हुई[2]। गुप्त-कला में राष्ट्रीय उन्नति दिखलाई पड़ती है। इस कला ने एक नये भाव को लेकर जन्म लिया जो अपने पूर्वगामी कुषाण-कालीन मथुरा-कला से श्रेष्ठ है[3]। मथुरा में गान्धार-कला का कुछ प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। परन्तु गुप्त-कालीन प्रस्तर-कला में इसका सर्वथा अभाव है। सारनाथ के संग्रहालय में एक बौद्धमूर्ति सुरक्षित है। यह प्रतिमा उस परिवर्तन काल की सूचना देती है जब कुषाण-कालीन मथुरा-कला गुप्त-कला में परिवर्तित हो रही थी[4]। इस प्रकार की मूर्तियाँ मथुरा म्युज़ियम[5] तथा इण्डियन म्युज़ियम कलकत्ता[6] में सुरक्षित हैं। सारनाथवाली मूर्ति गुप्त-कालीन है परन्तु मथुरा में इसकी रचना होने के कारण इसमें कुछ मथुरा-कला के और कुछ गुप्त-कला के लक्षण मिश्रित हैं[7]। इस परिवर्तन-काल के पश्चात् गुप्त शिल्पकारों ने अतीव सुन्दर, गुप्त-कला की विशेषताओं से युक्त, मूर्तियाँ बनाना प्रारम्भ कर दिया।

गुप्त-कला की उत्पत्ति

गुप्त कला भारतीय-कला में अपना एक विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। बड़े बड़े कलाविदों ने इस कला की सुन्दरता पर मुग्ध होकर मुक्त कण्ठ से इसकी भूरि भूरि प्रशंसा की है। सुप्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता सर जान मारशल का मत है कि प्राचीन भारतीय-कला में प्राकृतिक चित्रण, सादगी

गुप्त कला की विशेषता

१. भारतीय शिल्पकला-शास्त्र (लाहौर) पृ० ५४; हिन्दू म्यू० आफ आर्ट पृ० १२६।

२ डा० कुमारस्वामी—ए हिस्ट्री आफ इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट पृ० ७२।

३. डा० फोगेल कै० म्यू० सा० भूमिका, पृ० १६।

४. सहानी—कै० म्यू० सा० पृ० ४० B (1) और पृ० ४।

५. डा० फोगेल—कै० म० म्यू० पृ० ४९–५० नं० (A 5) प्लेट ६।

६. एण्डरसन—कै० हैं० आ० इ० म्यू० का० भा० २ पृ० ११–१२ नं० (५१४)।

७. सहानी—कै० म्यू० सा० पृ० ४० नोट ३।

तथा धारा-प्रवाह प्रधान मात्रा में पाया जाता था परन्तु गुप्तों के अधिक सुसंस्कृत और उन्नतिशील युग में कला ने अधिक सुन्दर रूप प्राप्त किया तथा वह अति गहन हो गई।

गुप्त-कालीन ललित-कलाओं के सविस्तर वर्णन के पूर्व इनके भेद को बतलाना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। यहाँ पर निम्न विभिन्न कलाओं का विवरण प्रस्तुत किया जायगा :—(१) वास्तुकला, (२) तक्षणकला, (३) मृण्मयी मूर्तियाँ, (४) चित्रकला, (५ संगीत, (६) अभिनय। वास्तुकला उस कला को कहते हैं जिसके अन्तर्गत गृह-रचना, मन्दिर तथा चैत्य-निर्माण, विहारों की बनावट और स्तूप आदि की रचना हो। विभिन्न प्रकार की प्रतिमाओं तथा मूर्तियों को बनाने की कला तक्षण-कला है। गुप्त-काल में किन-किन बौद्ध, जैन तथा हिन्दू देवताओं की मूर्तियाँ बनती थीं, कौन सी मूर्ति किस मुद्रा में स्थित है, किस मूर्ति की क्या विशेषता है और वह किस भावभङ्गी का प्रदर्शन कर रही है, इत्यादि का परिचय दिया जायगा। गुप्त-युग में मिट्टी की भी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। इन्हें अँगरेज़ी में 'टेरा कोटा' कहते हैं। यहाँ पर हमने इनका वर्णन 'मृण्मयी मूर्तियाँ' शीर्षक से किया है। घरों को सजाने के लिए मिट्टी पर अनेक जानवरों तथा अन्य वस्तुओं की छोटी-छोटी आकृतियाँ बनाई जाती थीं। चित्रकला के अन्तर्गत तत्कालीन चित्रकला के सिद्धान्त और तत्कालीन चित्रकारों के हस्तकौशल का परिचय दिया जायगा। गुप्त-कालीन चित्रकला में बाघ और अजन्ता की चित्रकला का उल्लेख विशेषता से आगे किया गया है। भारतीय आचार्यों ने संगीत के अन्तर्गत ही नृत्य, वाद्य और गायन को माना है। उस काल में नृत्य जनता के मनोरंजन में कितना हाथ बटाता था तथा उस काल के मनुष्य गान-विद्या से कितना परिचित थे, इसका वर्णन प्रस्तुत किया गया है। तत्कालीन जनता रंगमंच पर नाटक का अभिनय देख अपना मनोविनोद करती थी। इन सब बातों का वर्णन विशद रूप से किया जायगा।

गुप्त-कालीन ललित-कलाओं के भेद

गुप्त-वास्तु-कला

वास्तु-कला के सबसे पुराने नमूने मौर्य-काल के मिलते हैं। अशोक के स्तम्भों का निर्माण एक विशिष्ट आदर्श को सामने रखकर किया गया था। शुंग तथा आंध्र नरेशों के शासन-काल में भी गुफाएँ तैयार की गईं। कुषाणों के समय में इस कला के नमूने कम नहीं मिलते, परन्तु उस समय स्तूपों और चैत्यों की ही विशेष रूप से रचना हुई। इस काल की कला का प्रधान क्षेत्र मथुरा था। आजकल भी उसके अवशिष्ट भाग मथुरा के समीपवर्ती स्थानों से खोदकर निकाले गये हैं। इसके पश्चात् गुप्त-कालीन शिल्प-कला का समय आता है।

गुप्त नरेशों के शासन-काल में निर्मित वास्तु-कला के अधिक उदाहरण आजकल नहीं मिलते परन्तु पुरातत्त्व विभाग की खोदाई में निकले कुछ नमूनों के आधार पर वास्तु कला का वर्णन किया जायगा। गुप्त-कालीन वास्तु-कला के पाँच उदाहरण पाये जाते हैं— (१) राजप्रासाद, (२) स्तम्भ, (३) स्तूप तथा विहार, (४) गुहा और (५) मंदिर। इनका वर्णन क्रमशः देने का प्रयत्न किया जायगा।

गुप्त-कालीन राजप्रासादों का भी वास्तु-कला के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान था। इनका वर्णन साहित्य में सुंदर रूप से किया गया है। तत्कालीन कोई भी प्रासाद इस समय वर्तमान नहीं है। समय के प्रभाव से सब की इति श्री हो चुकी है। अजंता में कुछ महलों के चित्र मिलते हैं।

(१) राज-प्रासाद

मानसार में राज-प्रासादों का अत्यन्त सुंदर वर्णन मिलता है[1]। इसके वर्णन से मालूम होता है कि शाही महल कई मंज़िलों के बनते थे। उनमें बड़े-बड़े कमरे रहते थे, जिनकी छतें स्तम्भों पर रहती थीं। वे प्रायः चिपटी होती थीं। स्तम्भ बहुत ही सुंदर तथा विविध प्रकार से अलंकृत होते थे। राजमहलों की सजावट भी विचित्र होती थी। वसंतसेना के महल का वर्णन राज-प्रासाद से कम भाव नहीं पैदा करता[2]। वत्सभट्टि ने मंदसोर की प्रशस्ति में स्पष्टरूप से उल्लेख किया है कि दश-पुर के महल कैलास-शिखर के समान ऊँचे थे[3]। यही नहीं, कालिदास के उज्जयिनी के वर्णन से महलों का चित्र खिंच जाता है। इस प्रकार गुप्तों के राज-प्रासाद की विशालता का अनुमान किया जा सकता है।

मौर्य-सम्राट् अशोक के समान गुप्तों के समय में भी अनेक स्तम्भों का निर्माण पाया जाता है। मौर्य कालीन स्तम्भों पर लेख उत्कीर्ण पाये जाते हैं जो सर्वथा धर्म-प्रचार के निमित्त तैयार किये जाते थे, परन्तु गुप्त-स्तम्भों की रचना का कारण मौर्यों से भिन्न था। ये स्तम्भ यद्यपि लेखयुक्त

(२) स्तम्भ

हैं, लेकिन विभिन्न कारणों से निर्मित हैं। अधिकतर गुप्त-कालीन स्तम्भ प्रस्तर के ही बनते थे, परन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने एक विशाल लोहे का स्तम्भ मेहरौली नामक स्थान में (दिल्ली के समीप) बनवाया था। राखालदास बैनर्जी का कथन है कि गुप्त-कालीन स्तम्भ एक विशाल प्रस्तर से तैयार नहीं किये जाते थे बल्कि खण्डशः निर्मित होते थे[4]। इस मत को मानने में अनेक कठिनाइयाँ हैं क्योंकि स्कन्दगुप्त का भितरी-वाला स्तम्भ एक प्रत्यक्ष उदाहरण है जो एक ही विशाल प्रस्तर का बना है। डा० आचार्य ने गुप्त-कालीन स्तम्भों को, उनके कार्यानुसार, कई भागों में विभक्त किया है।[5]

(क) कीर्ति-स्तम्भ :—ये स्तम्भ गुप्त-नरेशों की कीर्ति को अमर बनाने और विजय-यात्रा के उपलक्ष में तैयार किये गये थे। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन हरिषेण ने सुन्दर शब्दों में प्रयाग के स्तम्भ पर किया है। यह स्तम्भ मौर्य-सम्राट् अशोक का था। उसी पर यह लेख खुदा हुआ मिलता है। आजकल यह स्तम्भ प्रयाग

---

१. मानसार (डा० आचार्य सम्पादित) अध्याय ४०-४२।

२. मृच्छकटिक—अंक ४।

३. कैलासतुंगशिखरप्रतिमानि चान्यान्याभान्ति दीर्घवलभीनि सवेदिकानि।

× × × ×

[illegible] (का० इंस्क्रि० गुप्त० ० १८)

४. [illegible]

५. डिक्शनरी आफ् हिन्दू आर्किटेक्चर पृ० ६५९–६६१।

के क़िले में है। यह कौशाम्बी से हटा कर यहाँ रक्खा गया था। हरिषेण ने अपनी प्रशस्ति में इस स्तम्भ का बहुत ही चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है। उसका कहना है कि महाराजाधिराज समुद्रगुप्त की समस्त पृथ्वी जीतने से उत्पन्न होनेवाली तथा इन्द्रलोक तक जानेवाली—कीर्ति का वर्णन करने के लिए मानो भूमि का उठाया हुआ एक हाथ है।[1] स्कन्दगुप्त का कहौम (ज़िला गोरखपुर) का स्तम्भ भी उनकी कीर्ति को आज भी वर्णन कर रहा है[2]।

(ख) ध्वज-स्तम्भ :—गुप्त-काल में वैष्णव-धर्म का प्रचुर प्रचार था। गुप्त-नरेश वैष्णव धर्मानुयायी थे तथा उनकी उपाधि 'परम भागवत' थी। इसी कारण से इन्होंने विष्णु के वाहन गरुड़ को अपनी ध्वजा पर स्थान दिया था। इसके नमूने गुप्तों के सोने के सिक्कों पर मिलते हैं। कुछ स्थानों में प्रस्तर-स्तम्भ पर भी गरुड़ की मूर्ति स्थापित की गई है, जिसका नाम 'ध्वज-स्तम्भ' दिया गया है। गुप्त-सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मेहरौली में एक विशाल लोहे का ध्वज-स्तम्भ तैयार करवाया था[3] यह स्तम्भ तेईस फ़ीट आठ इञ्च ऊँचा है। यह क्रमशः ऊपर की ओर पतला होता गया है। निचले भाग का व्यास १६ इञ्च तथा ऊपर १२ इञ्च है। यह स्तम्भ देहली के कुतुबमीनार के समीप स्थित है। बुधगुप्त के समय में भी गुप्त सामन्त मातृविष्णु तथा धन्यविष्णु ने भगवान् जनार्दन का ऐसा ही एक ध्वज-स्तम्भ एरण में निर्माण कराया था जो आज भी उस स्थान पर विद्यमान है[4]।

(ग) स्मारक-स्तम्भ—गुप्त-नरेशों ने कुछ विशिष्ट अवसरों पर भी स्तम्भ स्थापित किये थे जिनपर उस घटना को चिरस्थायी बनाने के लिए लेख उत्कीर्ण किये थे। कुमारगुप्त प्रथम ने भिलसद में एक स्तम्भ निर्माण करवाया था जो स्वामी महासेन के मन्दिर के स्मारक रूप में बनवाया गया था[5]। कनिंघम का मत है कि इस स्तम्भ का सम्बन्ध मन्दिर से अवश्य था[6], यद्यपि वर्तमान समय में उसका चिह्न भी नहीं मिलता। सम्राट् स्कन्दगुप्त ने भितरी (ज़िला ग़ाज़ीपुर) में भगवान् विष्णु की प्रतिमा स्थापना के स्मारक में एक स्तम्भ निर्माण करवाया जो अद्यावधि वहीं स्थित है। बिहार (ज़िला पटना) का स्तम्भ भी इसी ने स्थापित किया था[7]। ई० स० ५१० में गुप्त नरेश भानुगुप्त का सेनापति गोपराज एरण (सागर, मध्यप्रान्त) के युद्ध में मारा गया था

---

१. महाराजाधिराज समुद्रगुप्तस्य सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितलां कीर्तिमितः त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः (गु० ले० नं० १)।

२. शैलस्तम्भः सुचारु गिरिवरशिखराग्रोपमः कीर्तिकर्ता—वही नं० १५।

३. प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः।—मेहरौली स्तम्भलेख गु० ले० नं० ३

४. भगवतः पुण्यजनार्दनस्य ध्वजस्तम्भोऽभ्युच्छ्रितः।—बुधगुप्त का एरण लेख- वही नं० १६

५. गु० ले० नं० १०।

६. आ० स० रि० भा० ११ पृ० १७।

७. फ्लीट—गु० ले० नं० १२।

इसी के स्मारक में वहां एक स्तम्भ तैयार किया गया था[1]। ऐसी घटनाओं के स्मारक में स्तम्भ स्थापित किये जाते थे, अतएव इनको स्मारक-स्तम्भ कहते हैं।

(घ) सीमा-स्तम्भ :—गुप्त राजाओं के अधीनस्थ परिव्राजक शासकों के एक लेख के आधार पर डा० आचार्य सीमा स्तम्भ की स्थिति बतलाते हैं[2]। ये स्तम्भ दो सामन्तों की राज्य-सीमा पर स्थापित किये जाते थे। गुप्तों के राजकीय स्तम्भों में इस प्रकार के स्तम्भ नहीं पाये जाते।

गुप्त-कालीन स्तम्भों की बनावट मौर्य-स्तम्भों से कुछ विलक्षण थी। अशोक के स्तम्भों का मुख्य निचला भाग गोलाकार तथा पालिश से चिकना होता है, परन्तु

स्तम्भों की बनावट

गुप्तों के स्तम्भ अनेक कोणों से युक्त होते हैं। उनमें उस चिकनेपन का सर्वथा अभाव है। मानसार में स्तम्भों के सम्मिलित भाग को सैंतालीस भागों में विभक्त किया गया है तथा बृहत्संहिता में आठ भागों का वर्णन मिलता है। शिल्प-शास्त्र के ज्ञाताओं ने गुप्त-कालीन स्तम्भों को मुख्यतः चार भागों में विभक्त किया है। मानसार के विशेष विवरण में न जाकर स्तम्भों के साधारणतः चारों भागों का ही वर्णन किया जायगा।

(१) स्तम्भ का मुख्य भाग (Shaft) :—गुप्त-कालीन स्तम्भों के निचले भाग का आकार एक तरह से नहीं बनाया जाता था। स्तम्भों के सिरे (Capital) के नीचे के पूरे भाग की बनावट कई प्रकार की होती थी। मूल का भाग चौकोना, तदुपरान्त आठ-कोना, सोलहकोना तथा इस हिस्से का सबसे ऊपरी भाग अठकोना होता है। कभी कभी निचला तथा ऊपरी भाग चार कोने का होता था और बीच का हिस्सा गोलाकार बनाया जाता था।

(२) गलकुम्भ (Base of Capital)—स्तम्भ के मुख्य भाग पर जो प्रस्तर रहता था उसे 'गलकुम्भ' कहते थे। स्तम्भ के सिरे (Capital) का निचला भाग ही गल-कुम्भ है। प्रायः इस स्थान पर अधोमुखी कमल के आकार का प्रस्तर रक्खा जाता था। इसी पर फलका अवस्थित रहती थी।

(३) फलका (Abacus)—स्तम्भ के सिरे को तीन भागों में विभक्त किया जाता था—गलकुम्भ, फलका तथा बोधिक। अतएव फलका सिरे के मध्यम भाग को कहते थे। यह चौकोर प्रस्तर का बनता था जिस पर बोधिक रक्खा जाता था।

(४) बोधिक (Crown)—जैसा ऊपर कहा गया है, स्तम्भ के सिरे के सबसे अंतिम भाग को बोधिक कहा जाता है। फलका पर साधारणतः किसी आकार की मूर्ति रक्खी जाती है। बुधगुप्त के एरणवाले स्तम्भ में बोधिक के रूप में सिंह के आसन पर गरुड़ की मूर्ति खड़ी है। इसमें सिंह पीठ से पीठ लगाये हुए बैठे हैं।

---

१. फ्लीट—गु० ले० नं० २०।

२. डिक्शनरी आफ हिन्दू आर्किटेक्चर पृ० ६६१।

गुप्त-कालीन लेख-युक्त तथा प्रासाद स्तम्भों में विभिन्नता दिखलाई पड़ती है। प्रासाद तथा मठ आदि के स्तम्भों का चौकोना भाग अलंकृत रहता है; और बीच का भाग गोलाकार। इसमें स्थान-स्थान पर पत्रलता-युक्त बेलबूटे बनाये गये हैं। नीचे तथा ऊपर चारों कोनों पर एक बनावट बाहर निकली रहती है। कभी-कभी उन स्तम्भों पर कीर्तिमुख की आकृतियाँ खुदी मिलती हैं, जिससे गुप्त स्तम्भ अतीव सुन्दर मालूम पड़ते हैं। इनकी बराबरी अन्य स्तम्भ नहीं कर सकते। सारनाथ के गुप्त-कालीन विहारों में ऐसे स्तम्भ पाये जाते हैं[1]।

(३) स्तूप तथा विहार

प्राचीनकाल में अर्धगोलाकार (dome shaped) ऊँचे टीले बनाये जाते थे जिन्हें स्तूप कहते हैं। इनका सम्बन्ध बौद्ध-धर्म से था। ये किसी के स्मारक या भगवान बुद्ध के शरीर के अवशेष अस्थि अथवा भस्म पर तैयार किये जाते थे। बुद्ध के प्रिय शिष्यों के अवशेषों (Relics) को भी ऐसा स्थान दिया जाता था। गुप्तों से पूर्व हज़ारों स्तूप बनाये गये थे, परन्तु इनके समय में तैयार कुछ स्तूप वर्तमान हैं। सारनाथ का धमेख स्तूप भी उपर्युक्त प्रकार का स्तूप है। इसके सिरे से कनिंघम साहब ने एक छठीं शताब्दी के लेख का पता लगाया था[2], जिसकी वजह से यह गुप्त-कालीन स्तूप बतलाया जाता है। यदि धमेख के प्रस्तरों की कारीगरी पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि गुप्त-कलाविदों के हाथ से ही यह तैयार किया गया होगा। यह स्तूप प्रस्तर के टुकड़ों को जोड़कर बनाया गया है। इसके प्रस्तर बहुत ही सुंदर बेल-बूटों से विभूषित किये गये हैं। इन पर रेखागणित की विभिन्न आकृतियों के स्वस्तिक की बनावट तथा डंठल-युक्त कमल हिलोरें लेते हुए दिखलाये गये हैं। इस बनावट में जलपक्षी और जलजंतु ऐसे सुंदर रूप से दिखलाये गये हैं, जो देखते ही बनता है। धमेख स्तूप के प्रस्तर पर की खुदाई गुप्त-कला का उत्कृष्ट नमूना उपस्थित करती है[3]।

'विहार' बौद्धों का एक पारिभाषिक शब्द है। जिस मठ में भिक्षुओं का निवास स्थान हो उसे विहार कहते थे। स्तूप तथा विहार में कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु प्रायः प्रत्येक विहार के साथ स्तूप का भी निर्माण पाया जाता है। फर्गुसन का मत है कि जिस मकान में मंज़िल हो (चाहे वह भिक्षुओं का निवासस्थान हो अथवा न हो) वह विहार कहा जाता था[4]। परन्तु यह मत माना नहीं जा सकता। विहार और मंज़िल से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। गुप्त-कालीन सारनाथ और नालंदा (ज़िला पटना) में विहारों के भग्नावशेष मिलते हैं। सारनाथ के विहार नं० ३ और ४ में प्राप्त पुरानी चीज़ों तथा गवाक्ष से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये गुप्त

---

१. आ० स० रि० १६०७-८, प्लेट १५।

२. कनिंघम—आ० स० रि० भा० १ पृ० १११।

३. स्टेला क्रामरिश—इंडियन स्कल्पचर प्लेट ४६ नं० १०७।

४. हिस्ट्री आफ इंडियन एंड ईस्टर्न आर्किटेक्चर पृ० १३० नोट १।

विहार थे[1]। चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने वर्णन किया है कि नालंदा में गुप्त-नरेशों ने विहार बनवाये थे[2]। ये विहार बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें केवल भिक्षु निवास ही नहीं करते थे, प्रत्युत उन स्थानों पर शिक्षा भी दी जाती थी जिससे नालंदा का विहार प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र हो गया था।

(४) गुहा

प्राचीन भारत में पर्वतों में गुहा खुदवाने की प्रथा थी। कभी-कभी उनमें मूर्ति भी स्थापित की जाती थी जिन्हें चैत्य कहते हैं। उन चैत्यों की दीवालों पर चित्र भी खींचे जाते थे। गुप्त-काल की कई गुफाएँ वर्तमान हैं। सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-काल में ग्वालियर राज्यान्तर्गत भिलसा के समीप उदयगिरि में गुफा खुदवाई गई थी[3]। उसी स्थान पर अन्य गुफाएँ भी मिलती हैं[4]। गुहा के द्वार-स्तम्भ तथा बाहर की दीवालों पर मूर्तियाँ बनाई गई थीं। इसके द्वार के दोनों ओर चार द्वारपाल की प्रतिमाएँ बनी हैं। चौखट के ऊपरी भाग में गंगा और यमुना की मूर्तियाँ वर्तमान हैं। बाहरी दीवालों पर विष्णु और महिष-मर्दिनी दुर्गा की प्रतिमा बनी है। गुहा के बाईं ओर वाराहावतार की एक विशाल मूर्ति खड़ी है।

गुप्त-कालीन वास्तु-कला में गुहा-निर्माण भी चरमोन्नति को प्राप्त हो गया था। अजंता (दक्षिण हैदराबाद) में २९ गुफा-भवन हैं। वे गुफाएँ भिन्न-भिन्न समय में बनाई गईं, परन्तु सम्भवत: नं० १९ की गुफा गुप्त-कालीन बतलाई जाती है। ग्वालियर के बाघ स्थान में भी गुफा वर्तमान है जिसमें अपूर्व सौंदर्य-पूर्ण चित्र चित्रित हैं। चित्रकला में अजंता तथा बाघ गुफाओं का स्थान सर्वोत्कृष्ट है। इनकी सुन्दरता और भव्यता अकथनीय है।

(५) मन्दिर

गुप्त-नरेशों के शासन-काल में ब्राह्मणधर्म का पुनरुत्थान हुआ। धार्मिक-भावना की वृद्धि के कारण देवताओं के मन्दिर बनने लगे। यद्यपि उन स्थानों में भिन्न-भिन्न देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित की गईं, परन्तु सबकी वास्तुकला में एक समता दिखलाई पड़ती है[5]। (१) गुप्त-मन्दिरों की स्थापना एक ऊँचे चबूतरे पर होती थी। (२) उनपर चढ़ने के लिए चारों तरफ़ से सीढ़ियाँ बनी थीं। (३) प्रारम्भिक मन्दिरों की छतें चिपटी होती थीं, परन्तु पिछले मंदिरों में शिखर दिखलाई पड़ते हैं। (४) मंदिर की बाहरी दीवालें सादी रहती थीं। (५) गर्भ-गृह में एक द्वार रहता था। उसी गृह में मूर्ति स्थापित की जाती थी। (६)

---

१. आ० स० रि० १९०७-८ पृ० ५८; सहानी—कैटलाग आफ् म्यूज़ियम सारनाथ पृ० २३७।

२. वाटर्स भा० २ पृ० १६४; लाइफ पृ० ११०—११।

३. भक्त्या भगवतः शम्भोर्गुहामेतामकारयत्।—उदयगिरि गुहालेख (गु० ले० नं० ६)

४. वही नं० ३

५. कनिंघम—आ० स० रि० भा० १० पृ० ६०; स्मिथ—हिस्ट्री आफ् फाइन आर्ट्स् पृ० ३२; बैनर्जी—दि एज आफ् इम्पीरियल गुप्ताज़ पृ० १३८।

इसके द्वार-स्तम्भ अलंकृत रहते तथा द्वारपाल के स्थान पर गंगा और यमुना की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। (७) गर्भ-गृह के चारों ओर प्रदक्षिणा मार्ग बनाया जाता जो छत से ढका रहता था। मनुष्य सीढ़ियों से होकर इसी स्थान पर पहुँचते, तत्पश्चात् गर्भ-गृह में प्रवेश करते थे। (८) मंदिर के स्तम्भों पर तरह-तरह के बेलबूटे खुदे मिलते हैं। उनके सिरे पर एक वर्गाकार प्रस्तर रहता था जिसपर आधे बैठे, पीठ से पीठ लगाये हुए, चार सिंह की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। इन्हीं स्तम्भों पर छतें स्थित रहती थीं। गुप्त-मंदिरों की वास्तु-कला को ध्यान में रखकर उनका वर्गीकरण दो श्रेणियों में किया जा सकता है।

(अ) पूर्व गुप्त-काल (ई० स० ३१९-५५०) जिसमें भूमरा, नचना के मंदिरों का निर्माण हुआ। (ब) पिछला गुप्त-काल (५५१--६०५) जिसमें देवगढ़ का मंदिर बना। इसकी विशेषता यह है कि इसी समय से शिखर का प्रादुर्भाव हुआ[1]। देवगढ़ का मंदिर इसका एक उदाहरण है।

गुप्त-मंदिरों की पूर्ण जानकारी के लिए कुछ मंदिरों का वर्णन आवश्यक प्रतीत होता है।

(१) भूमरा का शिव-मंदिर—भूमरा का शिवमंदिर नागौद राज्य में जबलपुर-इटारसी लाइन पर स्थित है। १९२० ई० में पुरातत्त्ववेत्ता राखालदास बैनर्जी ने इसका पता लगाया था। इस मंदिर का केवल गर्भ-गृह वर्तमान है। इसके चारों ओर का चबूतरा प्रदक्षिणा-मार्ग का द्योतक है। मंदिर के उपर्युक्त सभी लक्षण इसमें दिखलाई पड़ते हैं। द्वार-स्तम्भ के दाहिने मकर-वाहिनी गंगा और बायें कूर्म-वाहिनी यमुना की मूर्ति है। दोनों प्रतिमाओं के समीप एक स्त्री और पुरुष परिचारक के रूप में बनाये गये हैं। गंगा और यमुना की मूर्ति के सिरे पर गन्धर्व दिखलाई पड़ता है। दोनों चौखट समान रूप से अलंकृत हैं। इसके दाहिनी (बाहर) ओर आधे भाग में कमल-कलियाँ बनाई गई हैं। बाईं ओर (द्वार की तरफ़) चार पुरुषों की आकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं, जो एक दूसरे के ऊपर खड़े हैं। सबसे बाहरी तरफ़ रेखागणित की विभिन्न आकृतियाँ बनाई गई हैं। ऊपरी चौखट भी उसी प्रकार अलंकृत है। प्रतिमा के लिए ताख बने हैं जिसके बीच में शिव की अर्ध-प्रतिमा वर्तमान है। इस मूर्ति के दोनों ओर मालाधारी गन्धर्वों की मूर्तियाँ खुदी हैं।

मंदिर के अनेक प्रस्तरों पर तरह-तरह के बाजे (भेरी, झाल) लिये गण, कमल और कीर्तिमुख खुदे हुए हैं। मंदिर में एकमुख लिंग की मूर्ति स्थापित है। रत्न-जटित मुकुट और तृतीय नेत्र दिखलाई पड़ते हैं। जटा में अर्ध-चन्द्र की कला और गले में हार है। इसके वास्तु और मूर्तिकला के आधार पर भूमरा का मंदिर पाँचवीं सदी के मध्य-काल[2] का निर्मित ज्ञात होता है[3]।

---

१. बैनर्जी—इम्पीरियल गुप्ताज पृ० १३५—३७

२. मेमायर आफ आ० स० नं० १६ (भूमरा का मंदिर)।

३. जायसवाल महोदय इस तिथि से सहमत नहीं हैं। उनके कथनानुसार भूमरा-मंदिर नाग-राजाओं के शासनकाल (१५० ई०—२८०) में तैयार हुआ [हिस्ट्री आफ इंडिया पृ० १५०-३५० ई० पृ० ५८-५९, ९९] परन्तु कारीगरी को ध्यान में रखकर इसे गुप्तों के समय का मानना उचित है।

(२) नचना कुथर का पार्वती मंदिर—भूमरा के समीप अजयगढ़ राज्य में यह मंदिर स्थित है। इस स्थान पर दो मंदिर वर्तमान हैं। बैनर्जी का मत है कि पार्वती-मंदिर पहले का है तथा दूसरा सातवीं शताब्दी का है। पार्वती-मंदिर की बनावट भूमरा के समान है परन्तु अलंकार में उससे न्यून कोटि का है। यह मंदिर अधिक सुरक्षित है। बनावट में भूमरा के सदृश होने के कारण इसे गुप्त कालीन मानना समुचित प्रतीत होता है।

(३) लड्खान मंदिर—बम्बई प्रांत के बीजापुर ज़िले के अन्तर्गत अयहोल में एक मंदिर है जो पूर्व गुप्त-काल में तैयार हुआ था। इसकी बनावट अन्य गुप्त-मंदिरों से मिलती-जुलती है। गंगा और यमुना की मूर्ति खुदी है। डा० कुमारस्वामी इसकी निर्माण-तिथि ४५० ई० के समीप बतलाते हैं। इसकी खिड़कियाँ सुंदर नकाशीदार प्रस्तर की बनी हैं।

(४) देवगढ़ का दशावतार मंदिर—यह मंदिर पिछले गुप्त-काल में बना था। यह बुँदेलखण्ड के झाँसी ज़िले में स्थित है। ऊँचे चबूतरे के बीच में मंदिर है जिसके चारो ओर छते हैं जो प्रदक्षिणामार्ग की द्योतक हैं। भूमरा के सदृश ही इसके द्वार-स्तम्भ हैं। इसमें सभी गुप्त-मंदिरों की बनावट वर्तमान है। विशेषता यह है कि इसके गर्भ-गृह में चार द्वार हैं। इसके प्रस्तर-स्तम्भ अत्यन्त सुंदर रूप से विभूषित हैं तथा चौखट में कमल और कीर्तिमुख की बनावट देखने योग्य है। इस मंदिर के गर्भ-गृह के ऊपर एक नवीन बनावट दिखलाई पड़ती है जिसे शिखर का नाम दिया जाता है। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

(५) भिटर गाँव मंदिर—कानपुर के समीप इस स्थान पर एक विशाल मंदिर वर्तमान है जिसमें देवगढ़ के समान शिखर पाया जाता है। यह ईंटों का बना है। यह ज़मीन की सतह पर तैयार किया गया था। बाहरी दीवालों पर ताखों में मृण्मयी प्रतिमा (Terra cotta) दिखलाई पड़ती है[१]। शिखर के कारण यह मंदिर पिछले गुप्त काल का बतलाया जाता है[२]।

(६) तिगवा मंदिर—मध्यप्रांत के तिगवा नामक स्थान में एक मंदिर स्थित है जो ऊँचे टीले पर दिखलाई पड़ता है। कनिंघम का मत है कि उस स्थान पर दो मंदिर थे। एक प्राचीन चिपटी छतवाला, और दूसरा आमलक-युक्त शिखर के साथ बनाया गया था। इस मंदिर की बनावट तथा चौखटों की कारीगरी को देखने से प्रकट होता है कि तिगवा का मंदिर गुप्त-वास्तु-कला का एक सुंदर उदाहरण है। यह उदयगिरि के समान है। इन सब कारणों से इसका निर्माणकाल पाँचवीं शताब्दी में बतलाया जाता है[३]।

(७) अन्य मंदिर—इन मंदिरों के अतिरिक्त गुप्त मंदिरों के समान साँची, एरण तथा बोधगया आदि स्थानों में मंदिर बने हैं। इनमें वर्गाकार गर्भ-गृह और सम्मुख एक छोटा बरंडा है। तिगवा के सदृश गढ़वा में भी एक मंदिर स्थित है। इनकी निर्माण-तिथि के विषय में निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता। बोधगया के

---

१. कनिंघम—आ० स० रि० भा० ११ प्लेट १५।

२. आ० स० रि० १६०८–६ पृ० ६।

३. आ० स० रि० भा० ६ पृ० ४१–४४।

मंदिर में आमलक युक्त शिखर वर्तमान है। इसका निर्माण पाँचवीं शताब्दी में बतलाया जाता है।

शिखर शब्द से मंदिरों के गर्भ-गृह की ऊपरी बनावट का तात्पर्य समझा जाता है। साधारणतः गर्भगृह की चिपटी छत पर यह नवीन आकार बनाया जाने लगा। भारतीय वास्तु-कला में तीन प्रकार के शिखर का वर्णन मिलता है—नागर, बेसर तथा द्राविड़। भारतीय मंदिरों के इन शिखरों का नाम भौगोलिक अवस्था के अनुसार रक्खा गया[1]। द्राविड़ शैली का विकास दक्षिण भारत में हुआ। इसकी बनावट सबसे विलक्षण थी। इसके शिखर की बनावट ठोस गोलाकार की होती तथा उसमें कई मंज़िलें दिखलाई जाती थीं। बेसर शिखर मध्य भारत में प्रचलित था। इसे 'चालुक्य वास्तु-कला' कह सकते हैं। इसमें आर्यशिखर तथा द्राविड़शिखर का संमिश्रण होता है। नागर या आर्य शिखर उत्तरी भारत में प्रयोग किया जाता था। नागर शिखर की बनावट गर्भगृह की चिपटी छत से प्रारम्भ होती है। बनावट चारों कोनों से एक ही साथ शुरू होती है। धीरे-धीरे टेढ़ी होती हुई, शिखा का आकार धारण करती यह ऊपर जाकर एक बिन्दु में मिल जाती है। उसके अंतिम दो भागों का पृथक्-पृथक् नाम दिया जाता है। शिखर के सबसे अंतिम भाग को कलश और निचले भाग को आमलक कहते हैं[2]। जायसवाल महोदय का मत है कि गुप्त पूर्वकाल में, नाग राजाओं के शासनकाल में उत्पन्न शिखर को नागर नाम दिया गया था[3]। परन्तु यह मत मानना युक्तिसंगत नहीं है; क्योंकि यह बतलाया जा चुका है कि ये नाम भौगोलिक स्थिति पर ही निश्चित किये गये थे[4]। फर्गुसन का मत है कि नागर शिखर इन्डो-आर्यन ढँग का है, शुद्ध भारतीय नहीं[5]। परन्तु नागर या आर्य-शिखर को शुद्ध भारतीय मानने में तनिक भी संदेह नहीं है[6]।

शिखर की उत्पत्ति

विद्वानों में इस विषय में गहरा मतभेद है कि भारतीय वास्तु-कला में शिखर की उत्पत्ति किस समय हुई। कांडरिंगटन का मत सर्वथा अमान्य है कि शिखर का प्रादुर्भाव

---

१. डा० आचार्य—डिक्शनरी आफ् हिन्दू आर्किटेक्चर पृ० ३१२।

२. आमलक एक प्रकार से शिखर का मुकुट था। इसमें तथा शिखर में कदापि समता नहीं बतलाई जा सकती। आमलक शब्द से आँवला के फल से तात्पर्य नहीं था, परन्तु मंदिर के इस भाग का, जिसकी समता पद्म (कमल) से की जाती है। हैवेल का कथन है कि यह (पद्म) चक्रवर्ती राजाओं का चिह्न समझा जाता था। (हैंडबुक आफ् इंडियन आर्ट पृ० ५७) आमलक केवल आभूषण प्रस्तर ही नहीं है, परन्तु शिखर के साथ-साथ इसका एक विशिष्ट कार्य है। यह सर्वत्र हिन्दू-मंदिरों (आर्य ढंग के) में पाया जाता है (कलकत्ता ओरियण्टल जरनल भा० २ नं० ६ पृ० १९५)।

३. हिस्ट्री आफ् इंडिया (१५०—३५०) पृ० ५५—६०

४. डिक्शनरी पृ० २९९-३१६

५. हिस्ट्री आफ् इंडियन एंड ईस्टर्न आर्किटे० भूमिका पृ० १४

६. भंडारकर कामेमोरेशन वालुम पृ० ४४४

मध्ययुग में हुआ[1]। गुप्त-काल में धार्मिक उत्तेजना के कारण निपुण शिल्पकारों ने मंदिर में नवीन आकार की वृद्धि की[2]। सम्भव है कि वैष्णवधर्म के साथ शिखरोत्पत्ति का सम्बन्ध हो। यदि गुप्त-कालीन मंदिरों का निरीक्षण किया जाय तो ज्ञात होता है कि छठीं सदी के मंदिरों में नागर शैली का शिखर दिखलाई पड़ता है। प्रथम झाँसी के देवगढ़[3] मंदिर तथा कानपुर के समीपस्थ भिटर गाँव[4] मंदिर में उपर्युक्त प्रकार का शिखर दिखलाई पड़ता है। राखालदास बैनर्जी का मत है कि छठीं शताब्दी में पिछले गुप्तों के समय देवगढ़ मंदिर ही में शिखर का प्रादुर्भाव हुआ[5]। डा० कुमारस्वामी का भी कथन है कि नागर शिखर की उत्पत्ति पिछले गुप्त-काल में हुई जिसमें मंदिर तैयार किये जाने लगे। अतएव नागर शैली शिखर का प्रयोग छठीं सदी से भारतीय वास्तु-कला में होने लगा। सर्वप्रथम ईंटों से ही ऐसे मंदिर निर्मित किये जाने लगे।

गुप्त-कालीन उत्पत्ति

गुप्त तक्षण-कला

गुप्त तक्षण-कला ने भारतीय कला में एक नया युग पैदा किया। ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दियों में प्रस्तर कला में एक नवीन परिवर्त्तन दिखलाई पड़ता है। गुप्त मूर्तिकारों ने बाहरी अनुकरण को त्याग कर कला में प्राचीन शैली के आधार पर कार्य प्रारम्भ किया। यही कारण है कि गुप्त प्रस्तर-कला नवीनता से ओत प्रोत दिखलाई पड़ती है। गुप्त-कला अपनी प्रतिभा के लिए सर्वप्रशंसनीय है। उसकी स्वाभाविकता, अंग-सौंदर्य, आकार-प्रकार तथा सजीव रचना शैली आदि गुण भी उतने ही प्रशंसनीय हैं। विवेक और सौंदर्य से अनुप्राणित होने के कारण ही गुप्त-कालीन शिल्प-कला, भारत कला के इतिहास में सर्वोत्कृष्ट मानी गई है।

गुप्त-कला प्राचीन मध्य कालीन शिल्प युग का मध्यवर्ती नमूना है। मध्य युग की कला में प्रकृति और सांसारिक विषयों का समावेश पाया जाता है, परन्तु गुप्त-कला प्राचीन ढंग के सदृश धर्म-प्रधान है। गुप्त-काल की मूर्तियों में गम्भीरता, शांति और चमत्कार है। मूर्तियों की रचना बड़ी ही सुचारु और उनकी भावभंगी मनोवेधक है। जैसे इस युग की काव्य-कृतियों में पदलालित्य के साथ-साथ अर्थगौरव पाया जाता है वैसे ही शिल्पकला में रचना-सौंदर्य के साथ विचित्र भाव-व्यंजना देखने में आती है। इस समय की कला रूप-प्रधान तथा भाव-प्रधान है। शिल्पकार वस्तु के रूप को सर्वांगसुंदर बनाने में जितने प्रवीण थे, उतने ही अपने आंतरिक तथा आध्यात्मिक

---

१. एंशेंट इंडिया पृ० ६१।

२. हैवेल — हैंडबुक आफ् इंडियन आर्ट पृ० ६१।

३. कनिंघम — आ० स० रि० भा० १० प्लेट ३५।

४. वही, भा० ११ प्लेट १५।

५. दि एज आफ् इम्पीरियल गुप्ताज् पृ० १४८।

६. हिस्ट्री आफ् इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट।

भावों को सुंदर कृतियों द्वारा दर्शाने में सिद्धहस्त थे। उनके हृदयगत भाव उनकी सुंदर रचनाओं में स्पष्ट झलकते हैं। ऐसे विलक्षण गुण भारत की शिल्प-कला में इतने उत्तम रूप में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलते।

इस गुप्त-कालीन कला से परिचित होने के लिए तत्कालीन कला-केन्द्र तथा जैन, ब्राह्मण और बौद्ध मूर्तियों का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी को ध्यान में रखकर गुप्त तक्षण-कला का वर्णन किया जायगा।

गुप्त-काल में तक्षण कला के तीन मुख्य केन्द्र थे[1]—(१) मथुरा, (२) सारनाथ, (३) पाटलिपुत्र।

मथुरा कला की सर्वोन्नति कुषाण-काल में हुई थी। गुप्तों के शासन-काल में भी मूर्तियाँ बनती थीं। यद्यपि मथुरा भी एक गुप्त-केन्द्र था, परन्तु वहाँ मूर्ति-निर्माण की संख्या क्रमशः कम होती जा रही थी। उस केन्द्र में बनी बौद्ध प्रतिमाएँ कलकत्ता[2], सारनाथ[3] तथा मथुरा[4] के संग्रहालय में सुरक्षित हैं जो परिवर्तन युग की द्योतक हैं यानी उनमें कुषाण और गुप्त मूर्ति-लक्षण मिश्रित हैं; अर्थात्- इनसे यह ज्ञात होता है कि मथुरा की कुषाण-कला गुप्त-कला में बदलती जा रही थी। मथुरा केन्द्र की उन गुप्त-मूर्तियों में निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं :—

मथुरा केन्द्र

(१) कुषाण-कालीन मूर्तियों का प्रभामण्डल सादा रहता था, परन्तु गुप्त-काल में अलंकारयुक्त प्रभामण्डल (Decorated Halo) तैयार किया जाने लगा। इसमें कमल और विभिन्न आकार से प्रभामण्डल विभूषित किया जाता था। इसके देखने से ही स्पष्ट प्रकट होता है कि यह मूर्ति गुप्त-कालीन है। (२) इनकी दूसरी विशेषता बुद्ध के त्रिचीवर की बनावट की है, जो स्वतः बतलाता है कि यह मूर्ति मथुरा में बनी है। इसके वस्त्र में कुषाण मूर्तियों के सदृश व्यावर्त्तन (Folds in drapery) दिखलाया गया है। अन्तरवासक (अधोवस्त्र) कमर से बँधा है तथा संघाटी (ऊर्ध्ववस्त्र) दोनों कंधों को ढकती हुई घुटने के नीचे तक पहुँची है। कुषाण-कालीन मथुरा की मूर्तियों में दाहिने कंधे पर संघाटी नहीं दिखलाई पड़ती, परन्तु गुप्त-काल में दोनों कंधे ढके रहते थे। (३) इन मूर्तियों में गुप्त तक्षण-कला की विशेषताएँ दिखलाई गई हैं जिसे गुप्त लक्षण कहते हैं। इनमें बालों का मुड़ाव तथा उष्णीष स्पष्ट प्रकट होते हैं। इसके साथ उपर्युक्त लक्षणों के कारण इनको कुषाण तथा गुप्त मूर्ति-लक्षणों से मिश्रित बतलाया जाता है।

मथुरा केन्द्र की इन विशेषताओं के अतिरिक्त कुछ विभिन्न लक्षणयुक्त प्रतिमाएँ मिली हैं जिनका वर्णन यहाँ अप्रासंगिक न होगा। प्रयाग के समीप मनकुवार नामक स्थान से एक बुद्ध प्रतिमा मिली है, जो मथुरा में तैयार की गई थी। कुषाण-कालीन

---

१. बैनर्जी—दि एज आफ इम्पीरियल गुप्ताज़ पृ० १६० ।

२. एण्डर्सन-कैटलाग इंडियन म्यूज़ियम पृ० १६६ नं० 514 ।

३. सहानी—कैटलाग सारनाथ पृ० ४० नं० B (b) 1, 4 ।

४. वोगेल—मथुरा कैटलाग पृ० ४५ नं० A 5 प्लेट ६ ।

मथुरा की मूर्तियों में सिंह-युक्त आसन मिलता है। इस पर मूर्ति सिंहासन पर अभयमुद्रा में बैठी है। इसका सिर मुण्डित है। वस्त्र की बनावट गुप्त ढँग की है। आसन के नीचे दो मनुष्यों की आकृतियों के मध्य में धर्म-चक्र बनाया गया है। मथुरा केन्द्र में बनने के कारण इसमें कुषाण तथा गुप्त-लक्षण मिश्रित हैं। मथुरा केन्द्र में पाँचवीं सदी तक मूर्तियाँ बनती रहीं, परन्तु सारनाथ के सम्मुख मथुरा का महत्त्व बहुत कम है।

गुप्त-कालीन तक्षण-कला का सबसे बड़ा केन्द्र सारनाथ ही था। यदि सारनाथ को उस समय की मूर्ति-निर्माण-कला का यंत्रालय कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। सारनाथ केन्द्र में जैन मूर्तियाँ कम मिली हैं। उससे अधिक ब्राह्मण-प्रतिमाएँ और सबसे अधिक बौद्ध मूर्तियाँ ही यहाँ तैयार की जाती थीं। ब्राह्मण-प्रतिमाओं के मिलने का कारण यह है कि यह धर्म (ब्राह्मण-धर्म) राजकीय धर्म था। गुप्त-नरेश वैष्णव धर्मानुयायी और परम भागवत थे, अतएव ब्राह्मण मूर्तियों का बनना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बौद्ध-प्रतिमाओं का निर्माण यहाँ स्वाभाविक था; क्योंकि बौद्ध-जगत् में सारनाथ एक विशेष महत्त्व रखता है। भगवान् बुद्ध के जीवन-घटना-सम्बन्धी चार स्थानों—(१) लुम्बिनी बाग (जन्म-स्थान), (२) बोधगया (सम्बोधि-स्थान), (३) सारनाथ (धर्म-चक्र-प्रवर्तन) तथा (४) कुशीनगर (निर्वाण स्थान)—में सारनाथ की भी गणना है; यानी सारनाथ बौद्धों का एक प्रधान तीर्थ स्थान है। यहीं पर भगवान् बुद्ध ने पंच-भद्रवर्गीय को ज्ञान-दीक्षा दी थी। सम्बोधि के पश्चात् कौण्डिन्य आदि को चतुः आर्य-सत्य की शिक्षा दिलाने का सौभाग्य सारनाथ को ही है। पाली ग्रंथों में इस शिक्षा को 'धर्म-चक्र-प्रवर्तन' कहा गया है। बौद्ध-मूर्तिशास्त्र (Buddhist Iconography) में उपर्युक्त चारों तीर्थस्थानों को निम्नलिखित चिह्न द्वारा दिखलाया जाता है:—(१) लुम्बिनी—माया के गर्भ से सिद्धार्थ का जन्म। (२) बोधगया—बोधि (पीपल) वृक्ष से। (३) सारनाथ—चक्राकृति (धर्म-चक्र) से। (४) कुशीनगर—बुद्ध के परिनिर्वाण से। इस प्रकार गौरव-प्राप्त सारनाथ सदा बुद्ध-धर्मानुयायियों का केन्द्र बना रहा। यही कारण है कि वहाँ सबसे अधिक संख्या में बौद्ध प्रतिमाएँ बनती रहीं।

सारनाथ-केन्द्र

इस केन्द्र का प्रभाव गुप्त-तक्षण-कला के तीसरे केन्द्र पाटलिपुत्र में पड़ा और उससे बाहर भी विस्तृत रूप से दिखलाई पड़ता है। पूर्व-मध्य-कालीन (ई० स० ६००–८००) मूर्तियों की बनावट सारनाथ के समान ही है[१]।

गुप्त-कालीन तक्षण कला का एक केन्द्र पाटलिपुत्र भी था। सारनाथ कला का प्रभाव पूर्वी भारत में इसके द्वारा हुआ[२]। पाटलिपुत्र केन्द्र में निर्मित अधिकतर धातु की ही मूर्तियाँ मिली हैं, प्रस्तर की कम। नालंदा की खुदाई में धातु की निकली मूर्तियों के देखने से स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि पाटलिपुत्र केन्द्र में सारनाथ के समान ही प्रतिमाएँ बनती थीं। उन मूर्तियों में कुटिल

पाटलिपुत्र केन्द्र

१. साहानी—सारनाथ कैटलाग नं० B (c) २ तथा B (d) ४ प्लेट १२।

२. स्टेला क्रामरिश—इंडियन स्कल्पचर पृ० ६७।

केश, सीधी भौंह और उष्णीष अच्छी तरह दिखलाये गये हैं। सुलतानगंज (ज़िला भागलपुर) से एक ताँबे की बुद्ध प्रतिमा मिली है, जिसकी बनावट अक्षरशः सारनाथ से मिलती है। यह मूर्ति अभयमुद्रा में दिखलाई गई है। वस्त्र और केश गुप्त-कालीन विशेषताओं से युक्त हैं[1]। यह प्रतिमा बरमिंघम संग्रहालय में सुरक्षित है। सारनाथ की कला ने पूर्वी भारत में पहुँच कर पाल नरेशों की तक्षण-कला का रूप धारण किया।

जैसा ऊपर बतलाया गया है कि गुप्त-कालीन विभिन्न केन्द्रों में मूर्तियाँ तैयार की जाती थीं। परम भागवत गुप्त सम्राट् यद्यपि वैष्णव धर्मावलम्बी थे, परन्तु उनकी धार्मिक सहिष्णुता के कारण ब्राह्मण मूर्तियों के अतिरिक्त बौद्ध तथा जैन मूर्तियाँ भी तैयार की गई थीं। गणना में बौद्ध मूर्तियों की संख्या अधिक है। सारनाथ केन्द्र में अधिकतर बौद्ध मूर्तियों का निर्माण पाया जाता है, परन्तु यह कदापि माना नहीं जा सकता कि उन केन्द्र-स्थानों में ब्राह्मण-मूर्तियाँ नहीं बनीं। ब्राह्मण-मूर्तियाँ उस स्थान में पाई जाती हैं, जहाँ गुप्तों के मन्दिर बने। ब्राह्मण धर्म में मूर्ति की प्राण-प्रतिष्ठा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। बिना प्राण-प्रतिष्ठा के मूर्ति की पूजा नहीं होती। ऐसी दशा में मन्दिरों में या उन स्थानों पर जहाँ गुप्त-कालीन मन्दिर स्थित थे, ब्राह्मण मूर्तियों का मिलना स्वभाव-सिद्ध है। बौद्धकला में इस विधि (प्राण-प्रतिष्ठा) का अभाव था।

मूर्ति-कला

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन-मूर्तियों का वर्णन किया जायगा। यह सर्वविदित है कि गुप्त कलाविद् बहुत ही सिद्धहस्त थे। अतएव प्रत्येक विभाग में उनकी अमर कीर्ति दिखलाई पड़ती है। इस काल की मूर्तियों में सजीवता और सौन्दर्य का उत्कृष्ट नमूना मिलता है।

हिन्दू-प्रतिमाएँ

इस काल की भगवान् विष्णु और उनके विभिन्न अवतारों की मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। इन मूर्तियों के अतिरिक्त गुप्त-सम्राटों के सिक्कों पर केवल विष्णु भगवान् के प्रतीक—गरुड़—को स्थान दिया गया है। शिव तथा दुर्गा आदि की भी मूर्तियों का सर्वथा अभाव नहीं है। इन्हीं सब हिन्दू प्रतिमाओं का वर्णन क्रमशः किया जाता है।

गुप्त शिल्पकार भगवान् की प्रतिमा पूर्ण रूप से सुन्दर तैयार करते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय में उदयगिरि गुहा की दीवाल पर चतुर्भुजी विष्णु की मूर्ति बनाई गई थी। भगवान् अधोवस्त्र तथा मुकुट धारण किये हुए हैं। गले में हार और केयूर शोभायमान हैं। ऐसी ही खड़ी चतुर्भुजी प्रतिमा एरण (ज़िला सागर सी० पी०) में भी मिली है।

विष्णु प्रतिमा

झाँसी ज़िले में स्थित देवगढ़ नामक स्थान पर वैष्णव मंदिर में विष्णु की प्रतिमा आदि शेष पर शयन करती हुई दिखलाई गई है। विष्णु शेष के शरीर पर पड़े हुए हैं। ऊपर का अर्द्ध भाग फन के साथ उठा हुआ है। शिर पर किरीट मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में हार, केयूर, वनमाला तथा हाथों में कंकण शोभायमान हैं। दाहिनी दो भुजाओं में एक कटक मुद्रा में है।

शेषशायी विष्णु

---

१. कुमारस्वामी—हिस्ट्री आफ् फाइन आर्ट प्लेट ४१ नं० १६०।

पैरों की ओर लक्ष्मी पाद-सेवन करती हुई बैठी हैं। उनके समीप दो आयुध पुरुष खड़े हैं। आसन के नीचे भूमि देवी तथा अनेक आयुध-पुरुष बनाये गये हैं। विष्णु की इस प्रतिमा के ऊपरी भाग में देवताओं—शिव, इन्द्र आदि—की मूर्त्तियाँ बनी हैं। नाभि से निकले हुए कमल पर तीन सिर वाले ब्रह्मा की मूर्त्ति बनी है जो वाम हस्त में कमण्डलु धारण किये हैं। दाहिनी ओर ऐरावत पर इन्द्र और मयूरवाही कार्त्तिकेय हैं। बाईं ओर शिव पार्वती दिखलाई पड़ते हैं। इस प्रकार अनन्तशायी विष्णु की मूर्त्ति अत्यन्त कला-पूर्ण रूप से तैयार की गई है। ऐसी मूर्त्ति को मध्यम श्रेणी की 'भोग-शयन-मूर्त्ति' कहते हैं[1]। ग्वालियर के अन्तर्गत भिलसा के समीप उदयगिरि गुहा में भी शेषशायी विष्णु की मूर्त्ति पाई जाती है। यहाँ भी प्रतिमा आभूषण तथा वनमाला के साथ तैयार की गई है। देव तथा आयुध पुरुषों की भी आकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं। परन्तु इसमें लक्ष्मी और ब्रह्मा का अभाव है[2]।

विष्णु-अवतार वाराह

भिलसा के समीप उदयगिरि गुहा की दीवाल पर विष्णु के अवतार वाराह की एक विशाल मूर्त्ति तैयार है। इस मूर्त्ति का पूरा शरीर मनुष्य की आकृति का है केवल मुख वाराह का दिखलाया गया है। विद्वानों ने ऐसी मूर्त्ति का नामकरण 'भू-वाराह' या 'आदि वाराह' किया है[3]। यह मूर्त्ति वनमाला धारण किये हुए है। दाहिना पैर सीधा है तथा बायें पैर के नीचे आदि शेष की आकृति बनी हुई है। आदि शेष का बहुत बड़ा फन है जिसमें एक पुरुष की मूर्त्ति है। इसी के समीप एक स्त्री की प्रतिमा दिखलाई पड़ती है। विष्णु-धर्मोत्तर में वर्णित वाराह मूर्त्ति के सदृश भाव इसमें दिखलाये गये हैं। शास्त्रों के वर्णन के अनुसार ही आदि शेष पत्नीयुक्त दिखलाया गया है। उसमें वर्णन मिलता है कि आदि शेष वाराह भगवान् को देखने के लिए उत्सुक है। उसके हाथ अंजलि-मुद्रा में अङ्ग उठते हुए दिखलाये गये हैं। अन्य हाथों में हल तथा मुशल दिखलाया गया है[4]। वाराह की मूर्त्ति के बायें कन्धे पर बैठी हुई भूमि देवी की आकृति बनी है। पुराणों के वर्णन से ज्ञात होता है कि भगवान् ने पृथ्वी को बचाने के लिए वाराह का अवतार ग्रहण किया था। भूमि देवी की आकृति इसी सिद्धान्त को लेकर तैयार की गई होगी। भगवान् विष्णु की मूर्त्तियों के अभाव में लोग उनके 'पाद' की पूजा करते थे। वैशाली में ऐसी मुहरें मिली हैं जिन पर 'श्री विष्णु पद-स्वामी-नारायण' लिखा है। मेहरौली स्तम्भलेख में एक विष्णु-पद का वर्णन मिलता है। दामोदरपुर ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि बङ्गाल में श्वेत वाराह स्वामी की पूजा होती थी।

---

१. गोपीनाथ राव—एलिमेन्ट आफ् हिन्दू आइकानोग्राफी पृ० ११२ प्लेट ३२।

२. बैनर्जी—इम्पीरियल गुप्ताज प्लेट २८।

३. राव—हिन्दू आइकानोग्राफी पृ० १३२।

४. राव—वही, पृ० १३४ (विष्णुधर्मोत्तर से उद्धरण)।

छठीं शताब्दी में हूण शासक तोरमाण के अधीनस्थ मातृविष्णु ने भगवान् के अवतार वाराह की साक्षात् प्रतिमा की स्थापना की थी[1]। इस प्रकार दो प्रकार के वाराह क प्रतिमाएँ मिली हैं, जिनका पूजन किया जाता था।

गुप्त कालीन हिन्दू मूर्त्तियाँ जिन स्थानों से प्राप्त हुई हैं उनमें पहाड़पुर (राजशाही, उत्तरी बगाल) का विशेष स्थान है। इस स्थान से ऐसी प्रतिमाएँ मिली हैं जो अन्यत्र कहीं से प्राप्त न हो सकीं। यहाँ मन्दिर की दीवालों पर अनेक प्रस्तर की मूर्त्तियाँ बनी हैं, जिनमें रामायण, महाभारत की कथाओं के अतिरिक्त कृष्ण-चरित अत्यन्त सुन्दर रूप से दिखलाया गया है। यों तो श्रीकृष्ण-लीला को अन्य स्थानों पर शिल्पकारों ने दिखलाया है, परन्तु पहाड़पुर ऐसी राधा-कृष्ण की मूर्त्ति कहीं से भी उपलब्ध नहीं है। दोनों मूर्त्तियों का वेश, अलङ्कार तथा मुद्रा आदि सुन्दर रूप में दिखलाया गया है। श्रीकृष्ण के सिर पर काक-पक्ष सुशोभित हैं। भगवान् कृष्ण की जीवन-सम्बन्धी घटनाएँ—कृष्ण जन्म, बालकृष्ण को गोकुल ले जाना, गोवर्धन-धारण तथा यमलार्जुन-भेद आदि दिखलाया गया है। बालकृष्ण पहाड़पुर में दो राक्षसों की पूँछ पकड़े हुए दिखलाये गये हैं। सारनाथ के संग्रहालय में भी एक विशाल मूर्त्ति गोवर्धन-धारी श्रीकृष्ण की कही जाती है, परन्तु यह कृष्ण की न होकर शिव की मूर्ति है।

कृष्ण

काशी के भारत-कला-भवन में कार्त्तिकेय की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्त्ति है जो बनावट के कारण गुप्त-कालीन ज्ञात होती है। मोर पर बैठी हुई मूर्त्ति बनाई गई है जिसके दोनों पैर मोर (कार्त्तिकेय का वाहन) के गले से आगे दिखलाये गये हैं। सिर पर मुकुट, कङ्कण, कानों में कुण्डल, गले में हार तथा केयूर आदि भूषण धारण किये हुए प्रतिमा तैयार की गई है। पीछे की ओर काक-पक्ष दिखलाये गये हैं।

कार्त्तिकेय

बतलाया गया है कि गुप्त-सम्राट् वैष्णव-धर्मावलम्बी थे, परन्तु उनकी धार्मिक सहिष्णुता के कारण अन्य देवी देवताओं की भी मूर्त्तियाँ बनती रहीं। गुप्त काल में दो प्रकार की शिव-प्रतिमाओं का प्रचार था। (अ) शिव-लिङ्ग तथा (ब) एकमुख शिव-लिङ्ग की मूर्त्तियाँ मिलती हैं। कुमार-गुप्त के शासन-काल की शिव-लिङ्ग की प्रतिमा करमदण्डा (फ़ैज़ाबाद) से मिली है। नीचे का भाग अष्टकोण है परन्तु ऊपरी हिस्सा गोलाकार बना हुआ है। निचले भाग में लेख उत्कीर्ण है[2]।

शिव-मूर्त्तियाँ

दूसरे प्रकार की एकमुख लिङ्ग की शिव प्रतिमा नागोद राज्य के खोह नामक स्थान से मिली है। यह मूर्त्ति गोलाकार बनी है परन्तु एक ओर मनुष्य के सिर की

---

१. फ्लीट—गुप्त लेख नं० ३६; बैनर्जी—इम्पीरियल गुप्ताज़ प्लेट १५।

'पुण्यार्थमेष भगवतो वाराहमूर्त्तेर्जगत्परायणस्य नारायणस्य शिलाप्रासादः स्वविषयेऽस्मिन्नैरिकिणे कारितः'।

२. भगवतो महादेवस्य पृथिवीश्वरस्य इत्येवं समाख्या (करमदण्डा का लेख—ए० इ० भाग १०)

आकृति बनी हुई है। इसी लिए यह भगवान् शिव की मूर्त्ति 'एक-मुख लिङ्ग' के नाम से विख्यात है। यह एक विशाल रत्न-जटित मुकुट से सुशोभित है। बालों की ग्रंथि के ऊपर अर्द्ध-चन्द्र बनाया गया है। भगवान् शिव के ललाट पर तृतीय नेत्र दिखलाई पड़ता है। आँख, नाक और होंठ बहुत सुन्दर बने हुए हैं जिससे यह मूर्त्ति गुप्त-कालीन मानी जाती है। गले में हार तथा कानों में कुण्डलों के अतिरिक्त और कोई आभूषण नहीं दिखलाई पड़ते।

यद्यपि गुप्त-कालीन सूर्य की प्रतिमा अधिक संख्या में नहीं मिलती, परन्तु तत्कालीन लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय विशाल सूर्य-मंदिर विद्यमान थे। अतएव सूर्य-पूजा अवश्य प्रचलित थी। कुमारगुप्त के मन्दसोर के लेख में इसका पूरा विवरण मिलता है[1]। भारत-कला-भवन में एक सूर्य-प्रतिमा सुरक्षित है जो गुप्त-कालीन प्रतीत होती है। सूर्यदेव हार पहने हुए दिखलाये गये हैं। उनके दोनों ओर उषा तथा संध्या को दो स्त्रियों की आकृति द्वारा दिखलाया गया है। उनके साथ-साथ पुरुष की भी दो आकृतियाँ हैं जो परिचारक मालूम पड़ते हैं। इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से तथा चैत्य को सुशोभित करनेवाली आकृति के रूप में सूर्य की मूर्त्तियाँ मिलती हैं। उत्तरी भारत में सूर्य-पूजा का पूर्ण प्रचार था क्योंकि ससेनीवंश के सिक्कों पर प्रायः यज्ञ-कुण्ड बनाया जाता था। वैशाली में भी एक मुहर मिली है जिस पर 'भगवतो आदित्यस्य' खुदा है[2]। इससे ज्ञात होता है कि वह मुहर किसी सूर्य-मन्दिर की थी।

सूर्य

भगवती दुर्गा के विषय में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता है परन्तु हिन्दू-धर्म में पुरुष के साथ प्रकृति या ईश्वर के साथ शक्ति का सम्बन्ध अभिन्न है। हमारे यहाँ इसी के विवेचन में ऋषियों ने जीवन लगा दिया। यद्यपि गुप्त-काल में इस देवी के पूजा-प्रकार का वर्णन नहीं मिलता, परन्तु कहीं-कहीं आकृतियाँ मिली हैं इस आधार पर प्रतिमा का सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता। भिलसा के समीप उदयगिरि गुफा की दीवाल पर 'महिषमर्दिनी दुर्गा' की आकृति बनी हुई है। यह मूर्त्ति अष्टभुजी है[3]। इसी प्रकार की एक प्रतिमा भारत-कला-भवन में सुरक्षित है, जो बनावट के अनुसार गुप्त-कालीन मानी जा सकती है। इससे ज्ञात होता है कि दुर्गा की मूर्त्ति (किसी वेष में) या शक्ति देवी की मूर्त्तियों का सर्वथा अभाव न था।

दुर्गा

तालमान

प्राचीन भारत में मूर्ति निर्माण के लिए विभिन्न परिमाण (माप) हिन्दू आगमों में पाये जाते हैं। इसके लिए 'तालमान' शब्द का प्रयोग किया जाता है। मान = माप

---

१. स्वयशो वृद्धये सर्वमत्युदारमुदारया। संस्कारितमिदं भूयः श्रेण्या भानुमतो गृहम्॥
श्रेण्यादेशेन भक्त्या च कारितं भवनं रवेः।—फ्लीट—गुप्त लेख नं० १८।

२. आ० स० रि० पृ० १४२ नं० ३६१,३९६ प्लेट ४८।

३. गुप्त लेख नं० २२।

तथा ताल एक विशिष्ट माप थी जो हथेली के एक सिरे से दूसरे सिरे तक की द्योतक है। यह बारह अङ्गुल के बराबर होती है। प्राचीन मूर्तियाँ दस ताल से लेकर प्रथम ताल-मान तक निर्मित की जाती थीं; परन्तु उनकी माप पहले से ही स्थिर रहती है। दस ताल की मूर्ति को नियमतः १२० अङ्गुल (१२×१०) होना चाहिए, लेकिन १२४ अङ्गुल की मूर्ति को दस तालमान का नाम दिया जाता था। इसी प्रकार प्रत्येक ताल में उत्तम, मध्यम और अधम का नामकरण अङ्गुल की माप के अनुसार किया गया था। मूर्तियों के नापने के समय प्रत्येक को तालमान के अनुसार उतने भाग में बाँट दिया जाता था। यदि दस तालमान की मूर्ति है तो उसे १२४ भागों में बाँटने पर प्रत्येक भाग को एक अङ्गुल कहा जाता था। उसी अङ्गुल से समस्त मूर्ति नापी जाती थी न कि हाथों की अंगुलियों से। इसी लिए अङ्गुल के माप में मात्राङ्गुल तथा देहाङ्गुल का भेद पाया जाता है[1]। इस कथन के आधार पर यह हाथों के नाप पर निश्चित नहीं किया जा सकता। साधारणतः ताल को १२ अङ्गुल या हथेली या चेहरे (दाढ़ी से सिर तक) के बराबर माना जाता है, परन्तु आगमों में उल्लिखित तालमान और अङ्गुल के कारण इसमें भिन्नता आ जाती है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न मूर्तियों को विशिष्ट ताल में बनाने का आदेश किया गया है तथा उनके अङ्गों की पृथक-पृथक् माप मिलती है। उत्तम दस ताल में त्रिमूर्ति; मध्यम दस ताल में शक्तियाँ (लक्ष्मी, दुर्गा, पार्वती, सरस्वती आदि) तथा पञ्च ताल में गणपति आदि की मूर्तियाँ बनती थीं।

ऊपर लिखित विवरण से तालमान के विषय में कुछ ज्ञान हो जाता है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि तालमान का प्रयोग मूर्तियों में कब से होने लगा। गुप्त-कालीन मूर्तिकार तालमान का प्रयोग करते थे या नहीं, यह भी ज्ञात नहीं है; परन्तु तत्कालीन साहित्य के अध्ययन से इसके प्रचार का अनुमान किया जा सकता है। वराहमिहिर (ई० स० ५५०) की बृहत्संहिता में तालमान का उल्लेख पूर्ण रीति से पाया जाता है। परन्तु इसकी माप तथा उपर्युक्त आगमों में उल्लिखित तालमान में भिन्नता दिखलाई पड़ती है। बृहत्संहिता में १०८ अङ्गुल माप की मूर्ति को ही दस ताल का नाम दिया गया है जो औरों के मध्यम नव ताल के बराबर है। इस स्थान पर ताल = ११$\frac{५}{९}$ अङ्गुल तथा नवताल = ६$\frac{१}{३}$ ताल के हैं[2]।

वराहमिहिर ने लिखा है कि मूर्ति का चबूतरा (Pedestal) समग्र लम्बाई का $\frac{१}{३}$ तथा वास्तविक मूर्ति समूचे का $\frac{२}{३}$ भाग होती थी[3]। इस मूर्ति को १०८ भागों में विभक्त किया जाता तथा प्रत्येक को अङ्गुल के नाम से पुकारते थे। बृहत्संहिता में मूर्ति के प्रत्येक अङ्ग की माप अङ्गुल में मिलती है जिसके कतिपय भागों का उल्लेख यहाँ दिया जाता है[3]—

१. गोपीनाथ राव – तालमान A. S. I. memoir no. 3 पृ० ४२।
२. वही, A. S. I. memoir no. 3 p. 36, 77।
३. वही, पृ० ७७–८०।

अङ्ग	अङ्गुलों में माप
चेहरा—	१२—
(१) नाक, कान, ललाट, गर्दन आदि	४
(२) दाढ़ी	२
(३) ललाट की लम्बाई	८
(४) कान की चौड़ाई	२
(५) ऊपरी ओष्ठ की चौड़ाई	½
(६) अधर	१
(७) मुख	४
(८) आँख	१
(९) भौंह	१
जङ्घा	२४
पैर	२४
लम्बाई	४

उपर्युक्त कतिपय अंगों की माप से अनुमान किया जा सकता है कि तालमान में विभाग कैसे किया जाता था। जैसा उल्लेख किया गया है, गुप्त-कालीन मूर्तिकारों के तालमान के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, परन्तु इतना मानना उचित है कि गुप्त शिल्पकार तालमान से अनभिज्ञ न थे—और इसका प्रचार उस समय अवश्य था।

भगवान् बुद्ध की प्रतिमा-निर्माण की प्रथा बहुत पहले से ही चली आ रही थी। गांधार तथा कुषाण-कालीन मथुरा कला में अनेक मूर्तियाँ बनती रहीं, जिनकी पृथक् पृथक विशेषताएँ बतलाई जा चुकी हैं। गुप्त-कालीन बौद्ध-प्रतिमाओं के भी कुछ विशिष्ट लक्षण हैं जिनके देखने से स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि मूर्तियाँ गुप्त-काल में बनी थीं। उन विशेषताओं का वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है—

गुप्त-कालीन बौद्ध मूर्तियाँ

(१) सर्व प्रथम विशेषता प्रतिमाओं के वस्त्र की है। ये चिकने तथा पारदर्शक दिखलाये गये हैं। इन वस्त्रों में व्यावर्तन का नामोनिशान नहीं है, केवल जो मूर्ति गुप्त कालीन मथुरा केन्द्र में बनी थी उसी में व्यावर्तन दिखलाई पड़ता है। अंतर्वासक कमर से बँधा रहता है तथा संघाटी दोनों कंधों को ढकती हुई घुटने तक लटकी हुई मिलती है।

(२) दक्षिणावर्त कुटिल केश तथा उष्णीष गुप्त-कालीन बौद्ध मूर्तियों की ख़ास विशेषताएँ हैं। विद्वानों का अनुमान है कि गुप्त-काल में ही इस प्रकार के केश तथा उष्णीष का समावेश मूर्ति-कला में हुआ[1]।

---

१. आधुनिक समय में बौद्ध-मूर्ति-कला में बुद्ध के शिरस्त्राण के विषय में गहरा मतभेद है। पाली ग्रन्थ महापदान (दीघनिकाय भा० २) सूत्र में बुद्ध के बत्तीस महापुरुष-लक्षणों में उण्हीससीसो (उष्णीष सिरवाला) का भी नाम मिलता है। ब्रह्मायु सुत्त में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है (राहुल सांकृत्यायन - मज्झिमनिकाय पृ० ३७५)। पीछे के संस्कृत बौद्ध ग्रंथ ललितविस्तर में भी 'उष्णीष शिरस्कता' का उल्लेख मिलता है। निदान कथा में वर्णन मिलता है।

(३) गुप्त पूर्वकाल में मूर्ति-निर्माण में दोनों भौंहों के मध्य में एक प्रकार का तिलक (टीका) पाया जाता है, जिसे उर्णा कहते थे। परन्तु गुप्त कला में उर्णा को कोई स्थान नहीं दिया गया तथा सर्वदा के लिए इसकी बिदाई कर दी गई।

(४) गुप्त-काल में मूर्तियों की भौंह तिरछी नहीं, बल्कि सीधी दिखलाई गई है।

(५) प्रतिमाओं का वक्षःस्थल पूर्ण रूप से विकसित बनाया गया है। कन्धों की प्रमुखता देखते ही बनती है। इस बनावट के कारण वह मूर्ति सजीव तथा बलशाली ज्ञात होती है।

(६) बुद्ध-मूर्तियों के शिर के पिछले भाग में एक प्रस्तर लगा रहता है जिसे प्रभा-मण्डल कहते हैं। यह प्रभा-मण्डल मूर्ति-कला के साथ ही बनने लगा। गान्धार तथा मथुरा में यह चिकना और अनलंकृत दिखलाया जाता था; परन्तु गुप्त-कालीन प्रभा-मण्डल की बनावट अत्यन्त सुन्दर और नाना अलङ्कारों से युक्त होती थी। इसका मध्य भाग चिकना रहता था और बाहरी भाग बेलबूटे, फूलमाला तथा सम-केन्द्रित अलङ्कार-समूह से विभूषित रहता था।

कि गौतम ने गृहत्याग करने पर सिर पर लम्बे बालों का रखना उचित नहीं समझा, अतएव तलवार द्वारा उन बालों को दो इंच लम्बे छोड़कर काट डाला (रीज डेविस अनुवादित जातक पृ० ८६)। ऐसी अवस्था में उष्णीष का वास्तविक तात्पर्य समझने में कठिनाई उपस्थित होती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में उष्णीष का अर्थ पगड़ी बतलाते हैं (उष्णीषं योगपट्टञ्च मुकुटं कर्त्तरीघटीम्–अग्नि पुराण २०।५।१०)। सिद्धार्थ ने बुद्धत्व-प्राप्ति के निमित्त जाते समय सभी वस्त्राभूषण त्याग दिये थे, अतएव बौद्ध ग्रन्थों में उल्लिखित उष्णीष की समता पगड़ी से नहीं की जा सकती। पाँचवीं सदी के बौद्ध महापंडित बुद्धघोष ने सुमंगलविलासिनी में उष्णीष का तात्पर्य उस मांसपेशी से बतलाया है जो दाहिने कान से प्रारंभ होकर बाईं तरफ समाप्त हो जाती है और पगड़ी की तरह समस्त सिर को ढक लेती है (इ० हि० क्वा० भा० ७ पृ० ६७०)। वाराहमिहिर ने भी महापुरुषों का लक्षण शंखललाट बतलाया है (बृहत्संहिता अ० ६७।२२)। इन कथानकों का शिल्प में प्रत्यक्षीकरण विभिन्न प्रकार से पाया जाता है। डा० कुमार-स्वामी कला में उष्णीष की समता अस्थि-गण्ड से करते हैं (जे० आर० ए० एस० १९२८ पृ० ८३१)। गांधार-कला में बुद्धप्रतिमा के घने बालों को घुमाकर सिर पर एक बड़ी ग्रन्थि के रूप में दिखलाया गया है (अर्ली इण्डियन स्कल्पचर भा० १ पृ० ९४)। मथुरा में मूर्तिकारों ने मूर्ति के मस्तक पर शंख, चक्र की तरह बालों को दिखलाया है। फोगल ने उसे मुण्डित कपाल बतलाया है (मथुरा कैटलाग प्लेट नं० A २७); परन्तु यह कपाल मुण्डित नहीं है बल्कि समस्त बालों को ऊपर खींचकर ग्रन्थि के रूप में बाँधा गया है। गुप्त-कालीन मूर्तियों में उष्णीष तथा कुटिल केश दाहिने घूमते हुए दिखलाये गये हैं। छोटे-छोटे बाल ग्रन्थि तथा सिर के मध्य या सम्मुख भाग पर ऊपरी ग्रन्थि दिखलाई गई है (हर ग्रीविस—हैंडबुक आफ स्कल्पचर पेशावर म्यूजियम १ पृ० ५२ प्ले० ११)। कुषाण-काल के पश्चात् मनकुवार मूर्ति को छोड़कर समस्त मूर्तियाँ ऐसी ही शिरस्त्राण-युक्त हैं। इसी को उष्णीष का नाम दिया गया है। बौद्ध-ग्रन्थों के आधार पर यही ज्ञात होता है कि बुद्ध के छोटे-छोटे बाल थे। मुण्डित तथा जटा का समर्थन किसी तरह नहीं किया जा सकता। इन्हीं बालों को गुप्त मूर्तिकारों ने ठीक तरह से दिखलाया है। अतएव कुटिल केश तथा उष्णीष का समावेश गुप्त-काल में मानना सर्वथा युक्तिसङ्गत है।

(७) भारतीय मूर्तिकला के इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि भिन्न-भिन्न समयों में पृथक्-पृथक् रीति के प्रस्तर का प्रयोग किया जाता था। गान्धार में भूरा तथा मथुरा में लाल प्रस्तर की प्रतिमाएँ बनाई जाती थीं। गुप्त-काल में मूर्तियों के लिए चुनार (ज़िला मिर्ज़ापुर) के सफ़ेद बालूदार पत्थर का उपयोग किया जाता था। प्रस्तर भी स्पष्टतया बतला देता है कि यह प्रतिमा किस समय में बनी होगी।

इन गुप्त-कालीन विशेषताओं को ध्यान में रखकर तत्कालीन मूर्ति-कला का परिचय प्राप्त करना सरल हो जाता है। उन लक्षणों को देखते ही गुप्त मूर्ति-कला का ज्ञान हो जाता है। गुप्त-कालीन बौद्ध-मूर्तियाँ विभिन्न भाव से युक्त हैं। वे समयानुकूल भिन्न-भिन्न भावों को अपने हाथों से अभिव्यक्त करती हैं। इन भावों का नाम मूर्ति-कला में 'मुद्रा' दिया गया है। मुद्राएँ सर्वत्र ही पाई जाती हैं। जो मुद्रा गान्धार तथा मथुरा कला में दिखलाई गई है वह सारनाथ में भी पाई जाती है। गुप्त-कालीन बौद्ध प्रतिमाओं मे पाँच मुद्राएँ अधिकतर मिलती हैं।

मुद्राएँ

(१) ध्यान-मुद्रा :—इसमें भगवान् बुद्ध पद्मासन के रूप में बैठे हैं, ध्यान में मग्न हैं तथा दोनों करतल अङ्क में एक के ऊपर दूसरा दिखलाया गया है। प्रस्तर में बुद्ध के ऊपर बोधिवृक्ष भी दिखलाया जाता है। बुद्धत्व-प्राप्ति के निमित्त बोधगया में पीपल वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित होने की तरफ़ यह संकेत करता है।

(२) भूमि-स्पर्श-मुद्रा :—बुद्ध पद्मासन मारे बैठे हैं। बोधगया में ज्ञान (बोधि) प्राप्त कर और मार पर विजय पाकर बुद्ध पृथ्वी को साक्षी बनाते तथा उसे आवाहन करते हैं। इस भाव में बुद्ध का हाथ और करतल पृथ्वी की ओर नीचे किये दिखलाये गये हैं। सिर पर बोधि-वृक्ष है। इस मुद्रायुक्त प्रतिमाओं में आसन के नीचे पृथ्वी की मूर्त्ति दिखलाई पड़ती है[1]।

(३) अभय-मुद्रा :—प्रायः खड़ी मूर्त्तियों में यह मुद्रा दिखलाई जाती थी। कुषाण-कालीन प्रतिमाओं में भी यह पाई जाती है। भगवान् बुद्ध अभय के भावयुक्त दिखलाये गये हैं। भुजा का निचला भाग ऊपरी भाग पर लम्ब के सदृश स्थिर रहता है[2]। दाहिना हाथ और करतल बाहर की ओर रहते हैं। बायाँ हाथ संघाटी का छोर पकड़े दिखलाई पड़ता है। कुमारगुप्त के समय की, मनकुवार की बैठी बुद्ध प्रतिमा अभयमुद्रा में है। परन्तु यह एक ही मूर्त्ति है; अन्य मूर्त्तियाँ खड़ी ही मिलती हैं। बुद्ध के जीवन में सम्बोधि के पश्चात् अभयत्व का समय प्रतीत होता है। गुप्त-कालीन सारनाथ के तक्षकों ने इसे अच्छी तरह अपनाया था।

---

१. सहानी—सारनाथ कैटलाग पृ० ६५ नं० B (b) १७२ प्लेट ६।
२. वही, भूमिका पृ० ४०।

(४) वरद मुद्रा :—इस मुद्रा में खड़ी मूर्त्ति पाई जाती है। बुद्ध उत्सर्जन (दान) के भाव में दिखलाये गये हैं। दाहिना हाथ नीचे की तरफ और करतल सम्मुख दिखलाया गया है। बायें हाथ में संघाटी है।

(५) धर्म-चक्र-मुद्रा :—इस मुद्रा में भगवान् बुद्ध की प्रतिमा सर्वदा पद्मासन में बैठी रहती है। हाथों का भाव व्याख्यान मुद्रा में दिखलाया गया है; यानी दोनों हाथ वक्षःस्थल के सामने स्थित रहते हैं। दाहिने हाथ का अँगूठा और कनिष्ठिका बायें हाथ की मध्यमिका को स्पर्श करती दिखलाई जाती है। इसी भाव से बुद्ध ने सारनाथ में कौण्डिन्य आदि पञ्च भद्र-वर्गीय को बुद्ध धर्म की दीक्षा दी थी। श्रावस्ती में महान् आश्चर्ययुक्त घटना के समय बुद्ध ने एक ही समय अनेक स्थानों पर ज्ञान सिखलाया था[१]। सारनाथ के सर्वप्रथम धर्म-चक्र प्रवर्तन को तक्षण-कला में बहुत ही सुन्दर रीति से दिखलाया गया है। आसन के निचले भाग में पञ्च भिक्षुओं की आकृतियाँ हैं। उनके मध्य में धर्मचक्र तथा चक्र के दोनों ओर दो मृगों की मूर्तियाँ बनी हैं[२]। मृग से मृगदाव (इसिपतन, सारनाथ), धर्मचक्र तथा भिक्षुओं से सारनाथ में सर्वप्रथम धर्म-चक्र प्रवर्तन का और पाँच शिष्यों का बोध होता है।

बौद्ध-मूर्तियाँ - खड़ी प्रतिमाएँ

गुप्त-कालीन बहुत-सी बौद्ध-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इनमें से कुछ मूर्तियाँ खड़ी हैं और कुछ बैठी हुई। कुछ प्रतिमाएँ तो अखण्डित प्राप्त हुई हैं परन्तु कुछ ऐसी भी हैं जिनका दाहिना या बायाँ हाथ और सिर नष्ट हो गया है। बुद्ध की ये समस्त प्रतिमाएँ किसी न किसी मुद्रा से युक्त हैं। कोई मूर्ति अभयमुद्रा से तो कोई वरद मुद्रा से युक्त है। खड़ी हुई बुद्ध प्रतिमाएँ प्रायः इन्हीं दो मुद्राओं में पाई जाती हैं। बैठी हुई मूर्तियाँ भी अनेक मुद्राओं से अन्वित हैं जिनका वर्णन आगे किया जायगा। यहाँ उपर्युक्त मुद्राओं में खड़ी मूर्तियों का परिचय दिया जाता है।

गुप्त-कालीन मथुरा केन्द्र में निर्मित बुद्ध-मूर्तियों का वर्णन पहले किया जा चुका है। सारनाथ में बुद्ध की अनेक खड़ी मूर्तियाँ मिली हैं। इन्हीं मूर्तियों में एक ऐसी भी मूर्ति मिली है जो अभय-मुद्रा में दिखलाई गई है। भगवान् बुद्ध अभय-मुद्रा में विराजमान हैं तथा संसार को अभयदान दे रहे हैं। अन्तर्वासक कमर से बँधा हुआ है तथा संघाटी दोनों कन्धों को ढकती हुई पाष्णियों के ऊपर तक लटकती दिखलाई पड़ती है। किसी-किसी मूर्ति में काय-बन्धन (करधनी) अन्तर्वासक से नीचे बायें जंघे पर स्पष्ट दिखलाई पड़ता है[३]। उपर्युक्त मूर्ति में विशेष बात यह है कि इसका वस्त्र बड़ा ही महीन तथा पारदर्शक है और इसमें शरीर के प्रत्येक अङ्ग स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। लम्बे-लम्बे कानों

(१) अभय-मुद्रा

१. सहानी—सारनाथ कैटलाग प्लेट २१।

२. वही, १०।

३. वही, नं० B. (b) १४।

में लोर और सिर पर दक्षिणावर्त कुटिल केश तथा उष्णीष बनाये गये हैं। समस्त मूर्तियों का प्रभामण्डल पूर्णरूप से अलंकृत रहता है। कलकत्ते के इण्डियन म्यूज़ियम में बुद्ध की एक खड़ी मूर्ति सुरक्षित है[1] जिसके प्रभा-मण्डल पर दोनों ओर विद्याधरों की मूर्ति तथा नीचे की ओर किसी परिचारक की मूर्ति है।

सारनाथ के संग्रहालय में बुद्ध की अनेक खण्डित मूर्तियाँ पाई जाती हैं जिनमें सिर या हाथ का अभाव है। जिन मूर्तियों में बायें हाथ का अभाव है उनमें दाहिना हाथ वरद-मुद्रा में दिखाई पड़ता है। परन्तु दाहिने हाथ के अभाव में बायें हाथ की अवस्था से ही यह प्रकट होता है कि यह बुद्ध प्रतिमा वरद-मुद्रा में स्थित है। यह बतलाया गया है कि वरद-मुद्रा में बायाँ हाथ संघाटी के छोर को पकड़े कंधे के बराबर रहता है। अतएव समस्त लक्षणों के अभाव में भी बायें हाथ की अवस्था से यह कहा जा सकता है कि खड़ी हुई बुद्ध-प्रतिमा वरद-मुद्रा में स्थित है[2]। इसके अतिरिक्त इस प्रतिमा में अन्य सभी लक्षण अभय-मुद्रा-वाली बुद्ध की खड़ी मूर्ति के सदृश बनाये जाते हैं। इन मूर्तियों के प्रस्तर कुछ लाल रंग के होते हैं जो चुनार का दूसरे प्रकार का प्रस्तर ज्ञात होता है।

(२) वरद-मुद्रा

सारनाथ के संग्रहालय में ऐसी अनेक मूर्तियों के खण्डित भाग मिलते हैं जिनमें आधार प्रस्तर पर भगवान् बुद्ध के चरणों की आकृति अवशेष है[3]। इस कारण से ये खड़ी हुई प्रतिमाओं के ही भाग ज्ञात होते हैं। खण्डित खड़ी मूर्तियों के टुकड़ों पर भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट धर्म, जो बौद्धों के लिए परम पवित्र मन्त्र समझा जाता है, खुदा हुआ मिलता है। बुद्ध का यह उपदेश निम्नाङ्कित है—

(३) अन्य खण्डित मूर्तियाँ

ये धर्म्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतोऽवदत्।
अवदच्च यो निरोधो एवं वादी महाश्रमणः॥

बुद्ध की बैठी हुई प्रतिमाएँ

जैसा पहले कहा गया है, बुद्ध की बैठी हुई मूर्तियाँ अनेक मुद्राओं से युक्त हैं। ये मुद्राएँ बुद्ध के जीवन-चरित्र से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं। भगवान् बुद्ध के जीवन की जो अति महात्वपूर्ण घटनाएँ हैं उन्हीं का प्रदर्शन इन मुद्राओं में किया गया है। उदाहरण के लिए, मार-विजय के समय भूमिस्पर्श मुद्रा तथा सारनाथ में धर्म-प्रचार के समय धर्म-चक्र प्रवर्तन मुद्रा पर्याप्त हैं।

---

१. बैनर्जी—इम्पीरियल गुप्त प्लेट० १६ नं० ३; एन्डरसेन—हैंडबुक आव स्कल्पचर इन इण्डियन म्यूजियम, कलकत्ता।

२. सहानी—कैटलाग म्यूजियम सारनाथ B. (b) २३, ४१, ४८, ५७

३. वही. B. (b) ५६-८०।

इस मुद्रा में भगवान् बुद्ध पृथ्वी को साक्षी मानकर अपनी कठिन तपस्या और धीरता को बतला रहे हैं। आप पद्मासन बाँधकर बैठे हुए हैं तथा दाहिने हाथ से भूमि को स्पर्श कर रहे हैं। यह घटना उस समय की है जब शाक्य मुनि ने बोधगया में पीपल के वृक्ष के नीचे मार पर विजय प्राप्त कर बुद्धत्व प्राप्त किया था। सारनाथ सम्प्रदाय (School) की बनी हुई ऐसी अनेक प्रतिमाएँ सारनाथ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इस मुद्रा में भगवान् बुद्ध पर्यङ्क-निषण्ण हैं तथा भूमि को स्पर्श कर रहे हैं। अन्तर्वासक आसन के ऊपरी भाग में दिखलाई पड़ता है। इस मुद्रा में स्थित समस्त मूर्तियों में संघाटी दाहिने कन्धों को नहीं ढकती हुई दिखलाई जाती थी। सिर के चारों ओर अलंकृत प्रभा-मण्डल तथा मस्तक के ऊपर बोधि वृक्ष बनाया मिलता है। मूर्ति के दाहिनी ओर धनुषधारी मार (कामदेव) तथा बाईं ओर मार की पुत्रियों (अप्सराओं) की आकृतियाँ बनाई गई हैं। प्रभा-मण्डल के ऊपरी भाग के दोनों ओर दो-दो राक्षसों की मूर्तियाँ बनाई हुई मिलती हैं। बुद्ध की इसी मुद्रा में स्थित अन्य मूर्तियों के प्रभा-मण्डल के दोनों तरफ़ देवताओं की आकृतियाँ बनाई गई हैं जो मार-विजयी भगवान् बुद्ध पर पुष्पों की वर्षा कर रही हैं[१]। आसन के मध्य भाग में एक सिंह के मुख की आकृति निर्मित है जो सम्भवतः उरुवेला वन का स्मरण दिलाता है जिस स्थान पर बुद्ध ने तपस्या की थी। इस मूर्ति के अधो भाग में दाहिने हाथ के नीचे एक स्त्री की मूर्ति दिखलाई पड़ती है। डा० फोगेल ने इस स्त्री की समता वसुधारा (पृथ्वी) से बतलाई है जिसको बुद्ध ने सम्बोधि (ज्ञान) के साक्षी के रूप में बुलाया था। उसी भाग में बाईं ओर एक अन्य दौड़ती हुई स्त्री की आकृति मिली है जो मार की पुत्री बतलाई जाती है[२]। किसी किसी मूर्ति में पुत्री के साथ उसके पिता मार की भी आकृति बनाई हुई मिलती है। कहीं-कहीं आसन को धारण किये दो वामन पुरुष दिखलाये गये हैं।

(१) भूमि-स्पर्श-मुद्रा

साधारणतः भूमिस्पर्श मुद्रा में ऐसी ही मूर्तियाँ मार तथा उसकी पुत्रियों की विभिन्न स्थानों में मिलती हैं। अनेक मूर्तियाँ खण्डित भी हैं परन्तु अनेक लक्षणों से युक्त होने के कारण उन प्रतिमाओं की पहचान सरलतया हो जाती है।

इस मुद्रा में पद्मासन बाँधे हुए भगवान् बुद्ध इसिपत्तन (सारनाथ) में धर्म की शिक्षा देते हुए दिखलाये गये हैं। चूँकि बुद्ध ने नये धर्म का प्रचार किया—धर्म के पहिये को चलाया—अतः यह घटना 'धर्म-चक्र प्रवर्तन' के नाम से प्रसिद्ध है। बुद्ध इसी घटना को इस मुद्रा के द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं। इस मुद्रा में स्थित बुद्ध-मूर्ति के दोनों कन्धे सुन्दर वस्त्रों से ढकते हुए दिखलाये गये हैं जो आसन पर अवलम्बित वस्त्र के किनारों के देखने से स्पष्ट हो जाता है। इस मूर्ति में गुप्त-कालीन प्रतिमा के समस्त लक्षण सुचारु रूप से दिखलाये गये हैं। दक्षिणावर्त केश तथा उष्णीष सिर की शोभा बढ़ा रहे हैं।

(२) धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा

१. सहानी—कै० म्यू० सा० पृ० ६७ नं० B (b) 157 प्लेट नं० ६।
२. वही पृ० ६७।

मस्तक के चारो ओर अतीव सुन्दर अलंकृत प्रभा-मण्डल है जिसके दोनो ओर दो देवों की मूर्तियाँ बनी हैं तथा वे पुष्प-पात्र लिये हुए हैं। प्रतिमा के पृष्ठ-प्रस्तर भी अलङ्कार से विभूषित हैं। मूर्ति के दोनो ओर दो व्याल (Leograph) अपने मस्तक पर खड़े प्रस्तर धारण किये हुए हैं जिसमें पुष्प और पत्तों से मकर का सिर निकलता हुआ दिखलाया गया है। बुद्ध-प्रतिमा के आसन के मध्य-भाग मे एक चक्र बनाया गया है जिसके दोनो ओर दो मृगों की आकृतियाँ दिखलाई गई है। इसी को धर्म-चक्र कहते हैं। इस धर्म-चक्र के दाहिनी ओर तीन तथा बाईं ओर दो कुल मिलाकर पाँच मनुष्यो की मूर्तियाँ हैं जिनकी समता पुरातत्त्ववित् पञ्च-भद्रवर्गीय से करते हैं। इस प्रकार इस मूर्ति में खुदे हुए चक्र से धर्म-चक्र, मृग से मृगदाव (सारनाथ) तथा पाँच मनुष्यों की आकृति से पञ्च-भद्रवर्गीय की सूचना समझनी चाहिए। इस प्रतिमा के द्वारा गुप्त-कालीन तक्षण-कलाकारो ने भगवान् बुद्ध द्वारा मृगदाव (सारनाथ) में सर्वप्रथम धर्मोपदेश के भाव को दर्शाया है। मूर्ति के आसन की बाँईं ओर अन्तिम भाग में एक बालक तथा एक स्त्री की आकृति दिखलाई पड़ती है। सम्भवतः वह इस मूर्ति के दान करनेवाली स्त्री की आकृति है। इस मूर्ति की बनावट की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी है। गुप्त-कालीन मूर्ति-कला का यह सर्वोत्कृष्ट तथा अतीव सुन्दर नमूना है। इस मूर्ति में रस, अङ्गों की भाव-भङ्गी, सौन्दर्य, औचित्य तथा भावों की उचित व्यञ्जना को देखकर हैवेल महोदय ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनका कथन है कि भगवान् बुद्ध के दैविक तथा आध्यात्मिक भावों को लेकर यह प्रतिमा निर्मित की गई है तथा यह गुप्त-कालीन शिल्पकारो की कला का परमोत्कृष्ट नमूना है[1]। यह बुद्ध प्रतिमा न केवल अपने बाह्य सौन्दर्य से हमारे नेत्रो को आनन्द प्रदान करती है बल्कि वह हमारे हृदय में अपनी आन्तरिक सुन्दरता तथा कुशलता से भी हर्ष की लहरें पैदा करती है। जिन भावों को शिल्पकारों ने दिखलाने का प्रयत्न किया है वे ठीक-ठीक, बड़ी ही सुन्दर रीति से, अभिव्यक्त हुए हैं।

ऐसी ही अनेक प्रतिमाएँ कलकत्ते के इण्डियन म्यूज़ियम में सुरक्षित हैं[2]। किसी-किसी मूर्त्ति में आसन के अधोभाग में पञ्च-भद्रवर्गीयों की आकृतियाँ नहीं दिखलाई गई हैं। केवल प्रतिमा के दानकर्त्ता दम्पती की आकृति दोनो ओर बनाई हुई मिलती है[3]। धर्म-चक्र प्रवर्तन मुद्रा में स्थित भगवान् बुद्ध की कुछ प्रतिमाएँ यूरोपियन फैशन[4] में बैठी हुई मिलती हैं[5]। भगवान् के दोनों ओर—दाहिनी ओर मैत्रेय तथा बाँईं ओर

---

१. हैवेल — इण्डियन स्कल्पचर एण्ड पेन्टिङ्ग पृ० ३९।

२. एण्डरसन—हैण्डबुक आव स्कल्पचर इन इण्डियन म्यूज़ियम, कलकत्ता पृ० १९ नं० S 34।

३. सहानी कै० म्यू० सा० पृ० ७१ नं० B (b) १८२।

४. इस अवस्था में प्रतिमा के दोनो पैर नीचे लटके दिखलाये गये हैं। परन्तु आसन के नीचे पद-त्राण (पायन्दाज़) के समान कमल पर पैर अवलम्बित रहते हैं।

५. सहानी—कै० म्यू० सा० नं० B (b) १८४, १८६, १९६, २४५।

अवलोकितेश्वर (बोधिसत्वों) की— मूर्त्तियाँ खड़ी हुई बनाई गई हैं। इसमें विशेषता यह है कि बुद्ध-प्रतिमा का दाहिना कन्धा नङ्गा दिखलाया गया है।

(३) पद्मासन पर बैठी हुई बुद्ध प्रतिमा

इस प्रकार की भी अनेक मूर्त्तियाँ मिलती हैं जिनमें पद्मासन पर बैठे हुए धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में भगवान् बुद्ध स्थित दिखलाये गये हैं। वस्त्र के पहनने का ढङ्ग पहली मूर्त्ति के समान ही है। कुछ मूर्त्तियाँ खण्डित भी हैं। मूर्त्ति में कमलासन के दोनों ओर दो व्यक्ति उपधान पर पूजा की मुद्रा में बैठे हुए दिखलाये गये हैं[1]। पद्मासन पर बैठी हुई अन्य मूर्त्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं जो पञ्च भद्रवर्गीयों को धर्म की शिक्षा (धर्म-चक्रप्रवर्तन मुद्रा के साथ) देते हुए बनाई गई हैं। इस मूर्त्ति के दोनों तरफ़ मैत्रेय तथा अवलोकितेश्वर बोधिसत्वों की मूर्त्तियाँ कमल पर खड़ी दिखलाई गई हैं। यह कमल बुद्ध-प्रतिमा के कमलासन से उत्पन्न होता है।

पद्मासन पर बैठी हुई कुछ विचित्र बुद्ध की प्रतिमाएँ मिलती हैं जिनका संबंध श्रावस्ती से बतलाया जाता है। इनमें भगवान् बुद्ध एक ही समय भिन्न-भिन्न स्थानों पर धर्म-चक्र का प्रवर्तन करते हुए दिखलाये गये हैं[2]। इसको श्रावस्ती की महालीला या बुद्ध की आश्चर्यजनक घटना कहते हैं[3]।

बुद्ध की जीवन-संबंधी घटनाओं का चित्रण

गुप्त-कालीन तक्षण-कलाकार बुद्ध की केवल प्रतिमा बनाकर ही सन्तुष्ट न हुए बल्कि उन्होंने प्रस्तर के टुकड़ों पर बुद्ध की जीवन-संबंधिनी समस्त महत्त्वपूर्ण घटनाओं को अङ्कित करना प्रारम्भ कर दिया। बुद्ध के जीवन की जो प्रधान घटनाएँ हैं उन्हीं घटनाओं को लेकर अनेक मूर्तियाँ तैयार की गईं। गांधार तथा मथुरा आदि में बुद्ध की जीवन-संबंधिनी अनेक घटनाएँ प्रस्तरों पर अङ्कित हैं जिनकी ठीक-ठीक संख्या बतलाना कठिन है परन्तु सारनाथ में केवल चार मुख्य तथा चार गौण घटनाएँ अङ्कित मिली हैं[4]। इन चार प्रधान घटनाओं का संबंध चार स्थानों से पाया जाता है[5]।

(१) बुद्ध का जन्म—लुम्बिनी, (२) सम्बोधि—बोधगया, (३) धर्म-चक्र प्रवर्तन—सारनाथ, (४) महापरिनिर्वाण—कुशीनगर।

अन्य चार अप्रधान घटनाओं का संबंध निम्नलिखित स्थानों से पाया जाता है—

(१) त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से लौटना—संकिशा, (२) नालागिरि हस्ती का दमन—राजगृह, (३) वारेन्द्र का मधुदान—पारिलियक वन, (४) और विश्वरूप प्रदर्शन—श्रावस्ती।

---

१. सहानी—कै. म्यु. सा० नं० B (b) १८१।

२. डा० फोगेल—कै० म्यू० सा० भूमिका भाग पृ० २१।

३. इंडियन म्यूजियम नं० एस. ५।

४. डा० फोगेल—कै० म्यू० सा० भूमिका भाग पृ० २५।

५. डा० कर्न—मैनुअल आव बुधिज़्म पृ० ४३।

प्रधानतया इन्हीं आठ दृश्यों का चित्रण सारनाथ में प्रस्तरखण्डों में किया गया है।

सारनाथ के संग्रहालय में आयताकार एक प्रस्तर के ऊर्ध्वपट्ट में तत्कालीन कलाकारों के द्वारा भगवान् बुद्ध के जीवन की चार प्रमुख घटनाओं का चित्र खुदा मिलता है[1]। इसके ऊपरी भाग में एक स्तूप भी बना हुआ है जिसका कमल प्रायः नष्ट हो गया है। इस प्रस्तर में जिन चार घटनाओं का चित्रण है उनका क्रमशः वर्णन किया जाता है।

चार प्रधान घटनाएँ

ऊर्ध्वपट्ट के सबसे निचले भाग में सिद्धार्थ के जन्म का दृश्य दिखलाया गया है। इस दृश्य के बीच में मायादेवी खड़ी हैं जो[2] दाहिने हाथ से शाल-वृक्ष की शाखा पकड़े हुए हैं। मायादेवी की बाँह पर उत्तरीय (दुपट्टा) तथा सिर पर अनलंकृत प्रभा-मण्डल दिखलाई पड़ता है। इनके दाहिनी ओर भगवान इन्द्र बालक सिद्धार्थ को लिये तथा बाईं ओर इनकी बहन प्रजापति खड़ी हैं[3]। प्रजापति की बाईं ओर बालक के स्नान का दृश्य दिखलाया गया है। बालक सिद्धार्थ पर दो नाग-राजा नन्द तथा उपनन्द घड़े से जल गिरा रहे हैं[4] और उस घड़े को दोनों हाथों में लिये आकाश में खड़े हैं। नाग-राजाओं के ऊपर भी दो देवों की आकृतियाँ बनाई गई हैं जो बालक पर पुष्पों की वर्षा कर रही हैं। सिद्धार्थ का जन्म लुम्बिनी वन (आधुनिक रुम्मनदेई, कपिलवस्तु) में हुआ था जब कि मायादेवी कपिलवस्तु से अपने मायके जा रही थीं।

(१) बुद्ध का जन्म

इसी उपर्युक्त प्रस्तर के तीसरे चित्र में भगवान् बुद्ध की बुद्धत्व-प्राप्ति के समय की घटना दिखलाई गई है। महाभिनिष्क्रमण के पश्चात् शाक्यमुनि उरुवेला में तपस्या कर बोधगया में आये जहाँ कि उन्हें सम्बोधि प्राप्त हुई। इस चित्र में बुद्ध बोधि (पीपल) वृक्ष के नीचे भूमिस्पर्श मुद्रा में बैठे हैं। प्रतिमा के दाहिनी ओर मार तथा बाईं ओर मार की पुत्रियाँ (अप्सराएँ) खड़ी हैं। प्रस्तर के दोनों कोनों में दो राक्षसों की आकृतियाँ बनाई गई हैं जो तलवार आदि शस्त्र धारण किये हैं। आसन के अधोभाग में वसुधारा (पृथ्वी) की मूर्ति बनाई गई है।

(२) सम्बोधि

---

१. सहानी—कै० म्यु० सा० प्लेट १६ (a) नं० c (a)।

२. ऐसी ही आकृति गान्धार तथा मथुरा कला में भी मिलती है।—डा० फोगेल कै० म० म्यु० नं० ४१ पृ० ६ (a)।

३. गान्धार-कला में प्रजापति मायादेवी को अवलम्ब दिये हुई बनाई गई हैं।

४. इनके सिर पर सर्प की आकृति बनाई गई है जिसके कारण ये नागराजा कहे जाते हैं। ललित-विस्तर (पृ० ८३) में सारनाथ में प्राप्त चित्र के अनुकूल ही वर्णन मिलता है।

दूसरे चित्र में बुद्ध धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में बैठे हुए हैं। आसन के दोनों ओर कमल पर खड़ी दाहिनी ओर मैत्रेय तथा बाईं ओर अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ बनाई गई हैं[1]। प्रभामण्डल के दोनों ओर मनुष्य की दो खड़ी आकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं। चित्र के कोने में दो देवों की मूर्तियाँ हैं। आसन के नीचे धर्म-चक्र, मृग तथा पञ्च-भद्रवर्गीय की आकृति बनाई गई है। इस चित्र में बुद्ध मृगदाव (सारनाथ) में कौण्डिन्य आदि शिष्यों को धर्म की शिक्षा दे रहे हैं—धर्म के पहिये को चला रहे हैं।

(३) धर्म-चक्र-परिवर्तन

इस प्रस्तर-खण्ड के सबसे ऊपरी दृश्य में भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण की घटना दिखलाई गई है। इसमें बुद्ध के जीवन की जो घटनाएँ अङ्कित की गई हैं वे बौद्ध-ग्रन्थों में वर्णित घटनाओं से अक्षरशः मिलती हैं[2]। इस दृश्य में बुद्ध भगवान् चारपाई पर लेटे हुए दिखलाये गये हैं। सामने बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियाँ तथा चेले विलाप कर रहे हैं। इस शय्या के पीछे कुछ परिव्राजक बैठे हैं। भगवान् के पैरों के समीप महाकश्यप तथा सिर की ओर भिक्षु उपाली (उपवान ?) दिखलाये गये हैं। चित्र में और भी अनेक विलाप करती हुई आकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं।

(४) महापरिनिर्वाण

इस ऊर्ध्वपट्ट के ऊपरी भाग में स्तूप बनाया गया है जिस पर 'ये धम्मा हेतुप्रभवा:' यह प्रसिद्ध धर्मोपदेश खुदा हुआ है। लिपि के आधार पर इसकी तिथि पाँचवीं शताब्दी मानी जाती है।

उपर्युक्त इन चारों घटनाओं का चित्र अन्य प्रस्तरों में भी अधिक सुन्दर रीति से दिखलाया गया है। कलकत्ते के इण्डियन म्यूज़ियम में एक ऐसा ही प्रस्तर सुरक्षित है[3]।

सारनाथ के संग्रहालय में एक दूसरी शिला सुरक्षित है जिस पर बुद्ध के जीवन की चार मुख्य तथा गौण घटनाएँ खुदी हुई हैं[4]। यह शिला चार भागों में बाँटी गई है तथा प्रत्येक भाग में दो दृश्य दिखलाये गये हैं। आरम्भ तथा अन्तिम भाग में चार प्रधान घटनाएँ अंकित की गई हैं (जिसका वर्णन पहले हो चुका है) तथा मध्य भाग में चार गौण घटनाएँ खुदी हैं जिनका क्रमानुसार संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

चार गौण घटनाएँ

इस प्रस्तर-खण्ड के दूसरे भाग की बाईं ओर भगवान् बुद्ध के त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से लौटने की घटना दिखलाई गई है। बालक सिद्धार्थ के जन्म लेने के कुछ पश्चात् माया-

---

१. सहानी—कै० म्यु० सा० नं० B (b) १८६ के सदृश बोधिसत्त्वों की आकृतियाँ हैं।
२. डा० कर्न—मैनुवल आव बुधिज़्म पृ० ४३।
३. एण्डरसन—हैण्डबुक टु० इ० म्यू० कै० नं० S. २,३।
४. सहानी—कै० म्यू० सा० नं० C (a) ३ प्लेट १६ B.

देवी की मृत्यु हो गई थी। अतएव बुद्धत्व प्राप्त करने के बाद अपनी माता को धर्म की शिक्षा देने के लिए बुद्ध त्रयस्त्रिंश स्वर्ग में गये थे। बौद्ध-ग्रन्थों में ऐसा वर्णन मिलता है कि भगवान् बुद्ध अपनी माता को शिक्षा देकर संकिशा (आधुनिक संकाश्य, फ़र्रुखाबाद, संयुक्तप्रान्त) में उतरे थे। इस दृश्य के मध्य भाग में बुद्ध, दाहिनी ओर हाथ में कमण्डलु धारण किये हुए ब्रह्मा, तथा बाँईं ओर छत्र धारण किये हुए इन्द्र दिखलाये गये हैं। ऐसे दृश्यों में बुद्ध की मूर्त्ति के पीछे सीढ़ियाँ बनाई हुई मिलती हैं जो कि उनके स्वर्ग से भूतल पर उतरने की सूचना देती हैं। सारनाथ में प्राप्त प्रस्तर-खण्ड में यह सीढ़ी नहीं दिखलाई गई है[1]। अन्य प्रस्तरों में भी यही दृश्य खुदा हुआ है, जिसमें बुद्ध अभय-मुद्रा में पाँच सीढ़ियों के ऊपर खड़े हैं तथा दाहिनी ओर ब्रह्मा और बाईं ओर इन्द्र हैं[2]।

(१) बुद्ध का त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से लौटना

इस प्रस्तर के तीसरे भाग के दाहिनी ओर रत्नपाल या नालागिरि हस्ती के बुद्ध-द्वारा दमन की कथा खुदी हुई है। जब पाँच सौ भिक्षुकों के साथ राजगृह में एक ब्राह्मण के घर भगवान् बुद्ध भोजन करने को जा रहे थे उस समय भगवान् के द्वेषी देवदत्त ने उनको मारने के लिए एक भयंकर नालागिरि नामक हस्ती को छोड़ दिया था। परन्तु भगवान् के सम्मुख आते ही वह हस्ती उनके तेज के प्रभाव से नम्र होकर उनके चरणों को स्पर्श करने लगा[3]। इस चित्र में यही घटना दिखलाई गई है। यह घटना बुद्ध के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में से एक समझी जाती है। चित्र के मध्य में बुद्ध, दाहिनी ओर विनम्र हस्ती तथा बाईं ओर शिष्य आनन्द खड़े दिखलाये गये हैं।

(२) नालागिरि हस्ती का दमन

हस्तिदमन की बाँईं ओर उसी प्रस्तर के टुकड़े में मधुदान का भी दृश्य खुदा हुआ है। कौशाम्बी के समीप पारिलियक वन में वानरेन्द्र द्वारा बुद्ध को मधुदान का वर्णन मिलता है। चित्र के मध्य में सिंहासन पर भगवान् बुद्ध भिक्षा-पात्र लिये बैठे हैं। दाहिनी ओर एक वानर एक पात्र लिये हुए बुद्ध के समीप आता दिखलाया गया है। बाईं ओर कुएँ में गिरते हुए किसी आदमी का पैर दिखलाई पड़ता है। बौद्ध-ग्रन्थों में वर्णन मिलता है कि मधुदान के शुभ कार्य के पश्चात् वानरेन्द्र कुएँ में गिर गया और शीघ्र ही देव के रूप में पैदा हो गया[4]। इसी आधार पर बनाये गये एक अन्य दृश्य में

(३) वानरेन्द्र का मधुदान

---

१ मथुरा कला में सीढ़ियाँ स्पष्ट दिखलाई गई है।—डा० फोगेल कै० म० म्यू० पृ० १२५ नं० II. ० प्लेट ६।

२. सहानी—कै० म्यू० सा० नं० ० (a) १८।

३. [illegible]—लाइफ आफ बुद्ध पृ० ९३।

४ [illegible]।

बायें कोने में एक देव की आकृति दिखलाई पड़ती है। अन्य प्रस्तरों में भी यह दृश्य दिखलाया गया है[1]।

बुद्ध के महापरिनिर्वाण वाले दृश्य के नीचे भगवान् बुद्ध के जीवन की एक विशेष घटना का चित्र खुदा हुआ है। श्रावस्ती में बुद्ध ने अपना विश्व-रूप प्रदर्शन किया था।

(४) विश्वरूप प्रदर्शन

राजा प्रसेनजित के सम्मुख भगवान् बुद्ध ने एक ही समय में अनेक स्थानों पर विधर्मियों को शिक्षा दी थी। इस घटना को तत्कालीन-तक्षण कलाकारों ने विचित्र रीति से अङ्कित किया है। बुद्ध पद्मासन पर धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में बैठे हैं। उसी कमल से अन्य कमलों की उत्पत्ति हुई है, जिन पर अन्य बुद्ध मूर्तियाँ धर्म-चक्र-मुद्रा में दिखलाई गई हैं। आसन के नीचे एक ओर आराधना के भाव में स्थित मूर्ति तथा दूसरी ओर पाषण्डी की आकृति बनाई गई है।

इस घटना की महत्ता के कारण सारनाथ के संग्रहालय में एक प्रस्तरखण्ड पर पृथक् रूप से यह विश्वरूप प्रदर्शन दिखलाया गया है[2]। इस रूप में भगवान् बुद्ध ने श्रावस्ती में छः तीर्थकों को धर्म की शिक्षा दी थी। कमलासन पर भगवान् बुद्ध धर्म-चक्र प्रवर्तन मुद्रा में बैठे हैं। नागदेव इस कमलासन को अवलम्बित किये हुए हैं। सब मिलाकर बुद्ध की आठ मूर्तियाँ हैं। धर्म-चक्र-मुद्रा वाली मूर्ति के ऊपर दो ध्यानी बुद्ध हैं। प्रभा-मण्डल के समीप कमलासन पर स्थित भूमिस्पर्श मुद्रा में तथा अन्य चार खड़ी मूर्तियाँ अभय-मुद्रा में दिखलाई गई हैं। ऊपरी कोने में दो देव हैं। अधिक सुन्दर रीति से यही घटना अन्य कई प्रस्तरों में भी खुदी हुई है[3]।

भगवान् बुद्ध की जीवन-सम्बन्धिनी चार प्रमुख तथा चार गौण घटनाओं के अतिरिक्त अन्य घटनाएँ भी प्रस्तर पर खुदी मिलती हैं[4]। सारनाथ के एक प्रस्तर खण्ड पर

अन्य घटनाएँ

अनेक घटनाएँ अङ्कित मिलती हैं[5], जिनमें प्रधान मायादेवी का सपना और महाराजकुमार सिद्धार्थ का महाभिनिष्क्रमण है। प्रथम दृश्य में सिद्धार्थ की माता मायादेवी शय्या पर शयन कर रही हैं तथा उनके चारों तरफ़ परिचारिकाएँ खड़ी हैं। ऊपर से बोधिसत्त्व सफ़ेद हाथी (श्वेत हस्ती) के रूप में तुषित स्वर्ग से उतरते हुए दिखलाये गये हैं तथा यह श्वेत हस्ती मायादेवी के गर्भ में प्रवेश कर रहा है। दूसरे भाग में राजकुमार सिद्धार्थ का महाभिनिष्क्रमण और ध्यानी मुद्रा में बुद्ध की मूर्ति दिखलाई गई है। राजकुमार सिद्धार्थ कण्ठक नामक घोड़े पर सवार हैं तथा सिद्धार्थ राजकीय वस्त्राभूषण उतार कर छन्दक को दे रहे हैं।

---

१. सहानी—कै० म्यू० सा० नं० c (i) ८।
२. वही, ६ प्लेट २१।
३. एण्डरसन—है० स्क० इ० म्यु० क० नं० S 5।
४. सहानी—कै० म्यू० सा० नं० c (a) २.
५. वही प्लेट नं० २०.

इस प्रकार बुद्ध की जीवन-सम्बन्धिनी चार प्रमुख और गौण घटनाओं को छोड़कर अन्य घटनाएँ भी बड़ी ही सुन्दर रीति से अङ्कित हैं। तत्कालीन तक्षण-कलाकारों ने केवल भगवान् बुद्ध की भिन्न-भिन्न मूर्तियों को बनाकर ही संतोष प्राप्त नहीं किया, बल्कि उनके अलौकिक जीवन की प्रधान तथा अप्रधान सभी घटनाओं को परिश्रम के साथ अङ्कित करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है और उन्होंने इस भगीरथ प्रयत्न में श्लाघनीय सफलता प्राप्त की है।

पहले जो विवरण प्रस्तुत किया गया है उससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि गुप्त-कालीन तक्षण कलाकारों ने बुद्ध की विभिन्न मुद्राओं में स्थित मूर्तियों और उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं से संबंध रखनेवाली मूर्तियों का प्रचुर मात्रा में निर्माण किया था। परन्तु वे शिल्पकार बुद्ध और उनके जीवन की केवल विशिष्ट घटनाओं को ही अंकित कर संतुष्ट नहीं हुए बल्कि उन्होंने बुद्ध के पूर्व जीवन में धारण किये अनेक अवतारों को भी प्रस्तर खंडों में अंकित किया है। भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व (बोधि) प्राप्त करने के पूर्व सम्बोधि प्राप्त करने के लिए जो अनेक अवतार धारण किये थे उन्हें बोधिसत्व कहते हैं। बुद्ध तथा बोधिसत्व में केवल इतना ही अन्तर है कि बुद्ध ने पूर्ण ज्ञान अथवा सम्बोधि को प्राप्त कर लिया है; वे पूर्णावस्था को पहुँच गये हैं परन्तु बोधिसत्व ने अभी सम्बोधि को नहीं प्राप्त किया है तथा उस सम्बोधि को प्राप्त करने के मार्ग में ही वे विचरण कर रहे हैं, बोधि लाभ करने के लिए वे अभी प्रयत्नशील हैं। ये बोधिसत्व मनुष्यों की श्रेणी से ऊँचे हैं परन्तु बुद्ध से नीचे हैं। इस प्रकार इनका स्थान साधारण मनुष्य तथा बुद्ध के बीच का है। बोधिसत्वों की संख्या अनेक है। इन्हीं बोधिसत्वों की प्रतिमाएँ प्रस्तरों पर अंकित मिली हैं। बोधिसत्वों की मूर्तियाँ भगवान् की तरह भिन्न-भिन्न मुद्राओं में नहीं पाई जाती हैं। इन मूर्तियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनका शरीर अलंकारों से सुशोभित नहीं पाया जाता। बौद्ध-मूर्तिकला में पाँच ध्यानी बुद्धों की मूर्तियाँ पाई जाती हैं जिनसे बोधिसत्वों की उत्पत्ति मानी गई है[1]। पाँच ध्यानी बुद्धों के नाम उनकी मुद्राओं के साथ इस प्रकार से मिलते हैं—

बोधिसत्व

नाम	मुद्रा
१ अमिताभ	ध्यानी
२ अक्षोभ्य	वरद-मुद्रा
३ रत्नसम्भव	भूमिस्पर्श
४ अमोघसिद्धि	अभय
५ वैरोचन	धर्म-चक्र-प्रवर्तन

प्रायः बोधिसत्व-मूर्त्ति के मुकुट पर भिन्न-भिन्न मुद्रा की अवस्था में बुद्ध की प्रतिमा बनाई हुई मिलती है, जिससे बोधिसत्व की उत्पत्ति का पता चलता है। इन बोधिसत्वों

१. डा० विनयतोष भट्टाचार्य—बुद्धिस्ट आइकोनोग्राफी पृ० १८।

की कुछ मूर्तियाँ खड़ी अवस्था में तथा कुछ बैठी हुई अवस्था में मिलती हैं। खड़ी मूर्तियों में अवलोकितेश्वर तथा मैत्रेय की मूर्तियाँ उपलब्ध हैं।

खड़ी मूर्त्तियाँ

तक्षण-कला में इस बोधिसत्व की उत्पत्ति ध्यानी बुद्ध अमिताभ से ज्ञात होती है। यह प्रतिमा कमल पर खड़ी बनाई गई है[1]। दाहिना हाथ खण्डित है परन्तु बायें हाथ में कमल दिखाई पड़ता है। इसी कारण अवलोकितेश्वर को 'पद्मपाणि' भी कहते हैं। जिस मूर्ति में दाहिना हाथ वर्तमान रहता है वह वरद-मुद्रा में दिखलाई पड़ता है। 'साधनमाला' में ऐसा वर्णन मिलता है कि पद्मपाणि अवलोकितेश्वर का दाहिना हाथ वरद-मुद्रा (वरदकर्म दक्षिणेन) में स्थित रहता है[2]। अवलोकितेश्वर के शरीर का ऊपरी भाग नङ्गा तथा कमर से नीचे वस्त्र से ढका रहता है। कमर अलंकृत काय-बन्धन (करधनी) से सुशोभित है, जो ग्रन्थि नाभि के अधोभाग में स्पष्ट प्रकट होती है। उत्तरीय का अन्तिम भाग दाहिनी ओर ग्रन्थि के रूप में वर्तमान है। बोधिसत्व कर्ण में मण्डलाकार अवतंस (कर्णभूषण) तथा हार धारण किये हुए हैं। भुजा में मकराकृति केयूर तथा रत्नजटित कंकण दिखलाई पड़ते हैं। सिर पर रत्नजटित जटा-मुकुट शोभायमान है। बालों का कुछ भाग कन्धों पर लटका है। इसी मुकुट के सामने मध्य भाग में अमिताभ ध्यानमुद्रा में स्थित हैं। बोधिसत्व प्रतिमाओं में प्रभा-मण्डल भी दिखलाया जाता है जो इस मूर्ति में वर्तमान नहीं है। अवलोकितेश्वर के कमलासन के नीचे प्रेत की आकृतियाँ बनाई गई हैं, जिनको बोधिसत्व (अवलोकितेश्वर) अमृत पान करा रहे हैं। यह केवल एक ही बोधिसत्व-प्रतिमा है जो इतनी अच्छी तथा सुरक्षित अवस्था में सारनाथ में पाई जाती है।

(१) अवलोकितेश्वर

एक दूसरी खड़ी मूर्ति सारनाथ के संग्रहालय में सुरक्षित है जो अवलोकितेश्वर से भिन्न दिखाई पड़ती है[3]। इस मूर्ति के शरीर का ऊपरी भाग नङ्गा है तथा अधोभाग में पहने गये वस्त्र की गाँठ नाभि के नीचे स्पष्ट दिखलाई पड़ती है। इस मूर्ति में आभूषणों का सर्वथा अभाव है। लम्बे-लम्बे केश-समूह कन्धों पर गिरते हुए दिखलाये गये हैं तथा मस्तक पर केशों की एक ग्रन्थि भी विद्यमान है। मस्तक की ग्रन्थि के सम्मुख कमल पर पर्यङ्कासन मारे अभय-मुद्रा में ध्यानी बुद्ध अमोघवर्ष की मूर्ति बनाई गई है। अतएव अमोघसिद्धि से मैत्रेय की उत्पत्ति के कारण इस मूर्ति की समता बोधिसत्व मैत्रेय से की जाती है। मैत्रेय के बायें हाथ में कमल है तथा दाहिना हाथ वरद-मुद्रा से युक्त बनाया गया है जो इस मूर्ति में पाया जाता है।

(२) मैत्रेय

---

१. सहानी—कै० म्यू० सा० नं० B (d); बैनर्जी—ए० इ० मु० प्लेट २३।

२. फुशे—आइकोनोग्राफी बुद्धिके पृ० २५।

३. सहानी—कै० म्यू० सा० नं० B (d) २।

इन लक्षणों के अतिरिक्त मैत्रेय की अन्य मूर्तियों में कुछ विभिन्नता पाई जाती है[1]। धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में स्थित बुद्ध-प्रतिमाओं के दोनों ओर खड़ी बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। दाहिनी ओर मैत्रेय खड़े हैं जिनके बायें हाथ में अमृत घट तथा दाहिने में जपमाला दिखाई पड़ती है। बुद्ध-मूर्ति की बाईं ओर पद्मपाणि (अवलोकितेश्वर) खड़े हैं जिनका दाहिना हाथ वरद-मुद्रा तथा बायाँ कमल के डंठल से सुशोभित है।

जिस प्रकार हिन्दू-शास्त्रों में भगवती सरस्वती विद्या और बुद्धि की देवी मानी जाती हैं उसी प्रकार बौद्ध ग्रन्थों में मञ्जुश्री बुद्धि के देवता हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि सरस्वती देवी हैं, परन्तु मञ्जुश्री देवता। तक्षण-कला में यही मञ्जुश्री (बोधिसत्व) बुद्धि के प्रतिनिधि रूप में दिखलाया गया है। मञ्जुश्री कमल पर खड़ा दिखलाया गया है[2]। यह भी अन्य बोधिसत्वों की भाँति अधोभाग में वस्त्र धारण कर रहा है। इसका दाहिना हाथ वरद-मुद्रा में और बायाँ हाथ उत्पल (नील कमल) धारण किये हुए दिखलाया गया है। सिर और कन्धों पर बालों के समूह भी वैसे ही हैं। उसके मस्तक पर भूमिस्पर्श मुद्रा में ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य की आकृति बनाई गई है जो बोधिसत्व मञ्जुश्री के आध्यात्मिक पिता हैं। मञ्जुश्री का शरीर पद्मपाणि से भी अधिक मात्रा में अलंकृत है। विशेषकर कमरबन्द तथा अँगूठियाँ पहनी गई दिखलाई पड़ती हैं। बोधिसत्व के दोनों ओर कमल पर खड़ी दो देवियों (तारा) की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। दाहिनी ओर भृकुटी तारा बायें हाथ में कमण्डलु तथा दाहिने में अक्षमाला लिये खड़ी है[3]। बाईं ओर मृत्युवंचन तारा दाहिने हाथ में वरद-मुद्रा से युक्त है तथा बायें में उत्पल लिये खड़ी है[4]। इन सब विशेषताओं से युक्त होने के कारण तथा सिर पर अक्षोभ्य की मूर्ति के वर्तमान रहने से इस बोधिसत्व को मञ्जुश्री के नाम से पुकारा जाता है।

(३) मञ्जुश्री

बैठी हुई मूर्ति

पद्मपाणि बोधिसत्व के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भी अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ पाई जाती हैं[5]। एक मूर्ति में बोधिसत्व पर्यङ्कासन में बैठे हैं। घुटने के नीचे बोधिसत्व का अधोवस्त्र स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। इनके अङ्ग कुण्डल, हार, केयूर तथा रत्नजटित वलय से सुशोभित हैं। मस्तक पर छोटे छोटे कुटिल केश तथा कुछ कच-समूह कन्धों पर लटका हुआ दिखलाया गया है। बोधिसत्व अपने वक्षःस्थल के सम्मुख एक पात्र दोनों हाथों से धारण किये हुए हैं। इनके बायें तथा दाहिने

---

१. सहानी—कै० म्यू० सा० नं० B (b) १९६।

२. वही B (b) ६।

३. फुशे—आइकेनोग्राफी बुद्धिके पृ० ६९।

४. वही पृ० ६६।

५. सहानी—कै० म्यू० सा० नं० B (d) ३।

कन्धों पर स्त्रियाँ पात्र धारण किये हुए खड़ी हैं। प्रतिमा के सिर पर ध्यानमुद्रा में कमलासन पर बैठे अमिताभ की मूर्ति बनाई गई है जिससे यह स्वयं सिद्ध होता है कि उसी से उत्पन्न यह बोधिसत्व अवलोकितेश्वर हैं। गुप्त-काल के पश्चात् इससे कुछ भिन्न अवस्था (ललितासन) में स्थित बोधिसत्व अवलोकितेश्वर की प्रतिमा मिलती है[१]।

यद्यपि सारनाथ में अन्य अनेक बोधिसत्वों की मूर्तियाँ मिली हैं परन्तु विशेष करके अवलोकितेश्वर की ही प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में बोधिसत्वों की मूर्तियाँ भी प्रचुर मात्रा में बनने लगी थीं। बोधिसत्व सम्प्रदाय (Cult of Bodhisattvas) का पूर्ण प्रचार हो गया था तथा लोग बुद्ध के इन पूर्व अवतारों (बोधिसत्वों) से अच्छी तरह परिचित हो गये थे। अतएव तत्कालीन शिल्पकारों ने बुद्ध तथा उनकी केवल जीवन-सम्बन्धी घटनाओं को ही अङ्कित नहीं किया, बल्कि उनके पूर्वावतारों (बोधिसत्वों) की मूर्तियाँ को भी प्रस्तर खण्डों पर अङ्कित कर अपने हस्त-कौशल का परिचय दिया।

हिन्दू तथा बौद्ध मूर्तियों के अतिरिक्त गुप्त-काल में यत्र तत्र जैन प्रतिमाएँ भी पाई जाती हैं। गुप्त-लेखों में ऐसे वर्णन मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस समय जैन धर्मावलम्बी भी पर्याप्त संख्या में थे। गुप्त-कलाकारों ने जैन-मूर्तियों को उसी सुन्दरता के साथ तैयार किया है।

जैन-प्रतिमा

मथुरा में २४वें तीर्थंकर वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है जो कुमारगुप्त के समय में तैयार की गई थी[२]। महावीर पद्मासन मारे ध्यान-मुद्रा में दिखलाये गये हैं। आसन के नीचे लेख खुदा है तथा निचले भाग में एक चक्र बना हुआ है। चक्र के दोनों तरफ़ मनुष्यों की आकृति है। महावीर सिंहासन पर बैठे हैं।

स्कन्दगुप्त के शासन-काल में भी कहोम (ज़िला गोरखपुर) नामक स्थान में एक तीर्थंकर की मूर्त्ति स्थापित की गई थी[३]।

गुप्त-कालीन शिल्प-शास्त्र में एक विशेष प्रकार के अलंकृत प्रस्तर मिलते हैं, जिनका प्रयोग वास्तु (Architecture) तथा तक्षण-कलाओं में पाया जाता है। गुप्त-पूर्व-कला में अलंकरण-प्रकार नहीं था। वे केवल सादे ही बनते थे। परन्तु गुप्त-कला की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि सर्व-प्रथम इसी कला में अलंकरण का प्रकार प्रारम्भ हुआ तथा शीघ्र ही अत्यधिक विकास को प्राप्त हुआ। गुप्त-काल में अलंकरणोपयोगी तरीक़ों (Decorative devices) का इतना अधिक प्रचार था कि इसका स्वतन्त्र रूप से वर्णन करना अत्यावश्यक प्रतीत होता है। इस काल में महलों, घरों आदि को सुसज्जित

अलङ्करण-प्रकार (Decorative motif)

---

१. सहानी—कै० म्यू० सा० नं० B (d) ८।

२. बैनर्जी—इम्पीरियल गुप्त—प्लेट नं० १८।

३. फ़्लीट– गुप्त लेख नं० १५। 'श्रेयोऽर्थं भूतभूत्यै पथि नियमवतां मर्हतामादिकर्तृन्'।

करने के लिए व्याल, कीर्तिमुख, गंगा और यमुना तथा बेल-बूटे आदि का प्रयोग किया जाता था। सारनाथ की खुदाई में इस प्रकार के अनेक अलंकरण-प्रकार (Decorative motif) प्राप्त हुए हैं। इन्हीं प्रकारों का यह संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

गुप्त-कालीन तक्षण-कला में व्याल का अधिक प्रयोग मिलता है। इसकी मूल कल्पना सिंह की थी[1]। परन्तु पीछे इसकी कल्पना विचित्र रूप से होने लगी

(१) व्याल(Leogryph)

जो गुप्त-कालीन व्याल की आकृति से प्रकट होती है। व्याल की आकृति में सींग, पंख, पूँछ आदि दिखलाई पड़ते हैं। साधारणतः इस व्याल की आकृति पर एक व्यक्ति सवार रहता है जो कभी-कभी ढाल और तलवार लिये हुए योद्धा के रूप में पाया जाता है। सारनाथ के संग्रहालय में ऐसे अंकित प्रस्तर सुरक्षित हैं, जिनकी आकृति उपर्युक्त वर्णन से मिलती-जुलती है[2]। इन प्रस्तरों में व्याल आकाश में उड़ते हुए दिखलाये गये हैं। उन पर योद्धा भी तलवार लिये सवार हैं। सवार बायें हाथ से व्याल का सींग पकड़े हैं। उस व्याल आकृति में बड़ी-बड़ी आँखें, पत्तों के आकार के कर्ण, अयाल तथा पंजे दिखलाये गये हैं। सवार योद्धा कर्णभूषण, हार और धोती पहने हुए हैं। व्याल के नीचे एक दूसरा योद्धा तलवार से उसके पंजे को छेद रहा है जिसकी कमर को अपनी पूँछ से व्याल ने बाँध दिया है[3]। इसी प्रकार का दूसरा अलंकृत प्रस्तर (व्याल की आकृति का) मिलता है जो इसका दूसरा भाग प्रतीत होता है। इसमें समस्त आकृतियाँ विपरीत दिशा में दिखलाई गई हैं[4]।

व्याल का अलंकरण-प्रकार के रूप में धीरे-धीरे विकास हुआ। डा० फोगेल का मत है कि व्याल प्रारम्भ में वास्तुकला में प्रयोग किया जाता था और शनैः-शनैः इसका प्रयोग तक्षण-कला में भी होने लगा[5]। सारनाथ की खुदाई से इस मत का पूर्ण समर्थन होता है। अर्टल ने योधा-युक्त व्याल को चौखण्डी स्तूप की सीढ़ियों का अलंकृत अंश बतलाया है[6]। इसके अतिरिक्त केवल व्याल की आकृति धर्म-चक्र-मुद्रा में स्थित भगवान् बुद्ध की प्रतिमा के पृष्ठ पाषाण पर बनाई गई है, जो उसको अलंकृत कर रहा है[7]। इस प्रकार व्याल गुप्त-कालीन सारनाथ में दोनों (वास्तु तथा तक्षण) कलाओं में प्रयुक्त पाया जाता है।

गुप्त-कालीन वास्तु-कला में गंगा और यमुना का प्रयोग तत्कालीन मन्दिरों में अधिक पाया जाता है। कनिंघम ने गुप्त-मन्दिरों की विशेषता को बतलाते हुए गंगा

---

१. फोगेल – कै० म्यू० सा० भूमिका पृ० २७।
२. सहानी — वही नं० C (b) 1—8।
३. वही—कै० म्यु० सा० नं० C (b)
४. वही प्लेट २२।
५. आ० स० रि० १९०३-४ पृ० २१६।
६. वही १९०४-५ पृ० ८८ प्लेट नं० ३१ b.
७. वही—कै० म्यु० सा० नं० B (b) 181 प्लेट १०।

और यमुना के द्वारा अलंकरण प्रकार को विशेष महत्त्व दिया है[1]। प्रायः इस काल के मन्दिरों के द्वार-स्तम्भ पर दाहिनी ओर गंगा और बाईं ओर यमुना की मूर्तियाँ बनाई हुई मिलती हैं। यह केवल अलंकरण के लिए ही किया जाता था।

(२) गंगा और यमुना

गंगा मकर पर सवार हैं तथा परिचारक के रूप में एक स्त्री और पुरुष की खड़ी मूर्ति बनाई गई है। यमुना कूर्म पर सवार हैं। ये मूर्तियाँ मन्दिरों के द्वारपाल के स्थान पर बनाई गई हैं। भूमरा के शिव-मन्दिर के द्वार-स्तम्भ पर ऐसी ही गंगा और यमुना की अतीव सुन्दर मूर्ति बनाई गई है। इससे गंगा और यमुना की मूर्ति के ऊपरी भाग में चार मनुष्यों की आकृति एक के ऊपर एक बनाई गई है। द्वार-स्तम्भ के दूसरे आधे पर सुन्दर विभिन्न प्रकार के ज्यामिति के आकार (Geometrical drawings) बनाये गये हैं[2]। देवगढ़ (ललितपुर) तथा तेजपुर (आसाम) में स्थित गुहा-मंदिर के द्वार-प्रस्तर भी इसी प्रकार अलंकृत किये गये हैं।

गुप्त-कालीन अलंकरण-प्रकार में कीर्तिमुख का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसका प्रयोग गुप्त-तक्षण-कला में विशेष रूप से पाया जाता है। गुप्त-कालीन तक्षण-कला में सिंह के मुख का प्रयोग अलंकार के रूप में किया जाता था।

(३) कीर्तिमुख

इसी सिंहमुख को कीर्तिमुख का नाम दिया गया है। स्तम्भों तथा मन्दिरों के ऊपरी चौखट (Lintel) विभिन्न प्रकार से विभूषित किये जाते थे। इनमें स्थान-स्थान पर कीर्तिमुख दिखलाई पड़ते हैं। भूमरा तथा देवगढ़ के स्तम्भों पर कीर्तिमुख बनाये गये हैं, जो उनकी शोभा को विशेष रूप से बढ़ाते हैं[3]। सारनाथ के केन्द्र से भी अधिक संख्या में स्तम्भ मिलते हैं। उनके मध्य में कीर्तिमुख की ही आकृतियाँ बनाई गई हैं। उनकी लम्बी मूँछें हैं तथा मुख से माला निकलती हुई दिखलाई गई है जो नीचे की ओर लटकती है। सारनाथ में प्राप्त एक विशाल चौखट पर क्षान्तिवाद जातक की कथाएँ खोदकर दिखलाई गई हैं। उसमें शिखर के समीपवर्ती त्रिभुजाकार स्थानों में कीर्तिमुख बनाये गये हैं[4]। यह सम्भव है कि बंगाल तथा उड़ीसा के मन्दिरों में जो सिंह की मूर्तियाँ पाई जाती हैं वह प्राचीन कीर्तिमुख की ही प्रतिनिधि-स्वरूप हों। इन मन्दिरों में एक सिंह हाथी पर आक्रमण करते हुए दिखलाया गया है जिसका अर्थ विद्वानों ने यह किया है कि अन्धकार अथवा अज्ञान के ऊपर ज्ञान का विजय है। आजकल भी कीर्तिमुख बनाने की प्रथा है तथा शहरों में कुम्हार घड़ी रखने के लिए मिट्टी के द्वारा कीर्तिमुख का निर्माण करते हैं। इससे ज्ञात होता है कि कीर्तिमुख बनाने का प्रचुर प्रचार था। तक्षण-कला के विशाल क्षेत्र में कीर्तिमुख के समान शायद ही किसी अन्य अलंकरण प्रकार का इतना अधिक

---

१. कनिंघम— आ० स० रि० भाग १० पृ० ६० ।
२. मे० आ० स० इ० नं० १६ ।
३. बेनर्जी— वही नं० १६ प्लेट ।
४. सहानी— कै० म्यु० सा० नं० D (d) प्लेट २८ ।

प्रचार हो[1]। मथुरा से एक कीर्तिमुख की आकृति मिली है जिसमें व्याल भी दिखलाये गये हैं। जो माला कीर्तिमुख से निकल रही है उसे व्याल भी अपने मुख से पकड़े हुए हैं। दोनों व्यालों का मुख विपरीत दिशा में है। दोनों की पीठ के मध्यभाग में कीर्तिमुख की आकृति है[2]।

गुप्त-समय की वास्तु-कला में मन्दिरों और प्रासादों को अलंकृत करने के लिए नाना प्रकार के अलंकरण बनाये जाते थे। दीवालों में पद्म का फूल, लता, पत्तियाँ तथा अनेक प्रकार के बेल-बूटे बनाकर उन्हें सुसज्जित किया जाता था। मन्दिर और मकानों के खड़े तथा ऊपरी चौखट के अधिक भाग, नाना प्रकार की लताओं से सुशोभित किये जाते थे। यह लता सुन्दर पत्तियों से पूर्ण होती थी तथा घूमती हुई टेढ़ी-टेढ़ी बनाई जाती थी।

(४) पद्म, लता तथा बेल-बूटे

चौखट के अतिरिक्त प्रस्तर स्तम्भ भी पद्म तथा लता की आकृति से सुसज्जित रहते थे। ये आकृतियाँ ऊपर तथा नीचे दोनों भागों में खींची जाती थीं। कभी-कभी स्तम्भों के मध्यभाग में भी घूमती हुई टेढ़ी लताएँ बनाई जाती थीं।

गुप्त-कालीन शिल्पकला में विभिन्न प्रकार की ज्यामिति की आकृतियों तथा बेल-बूटों से मन्दिरों और स्तूपों को सुशोभित किया जाता था। सारनाथ के धमेख स्तूप के दक्षिणी भाग पर सुन्दर बेल-बूटों के नमूने मिलते हैं जो अतिरमणीय तथा हृदयग्राही हैं। इस प्रकार इस काल में पौष्पिक अलंकरण की विशेष प्रथा थी।

गुप्त-काल से पूर्व भारतीय कला में घोड़े के पैर की आकृति के गवाक्ष विहार या मन्दिरों में बनवाये जाते थे। अलंकृत गवाक्षों के द्वारा ही मन्दिरों की दीवालों को सुशोभित किया जाता था। भाजा, कार्ले, नासिक तथा कनहेरी के विहारों में इनके बहुत उदाहरण मिलते हैं[3]। गुप्त-कालीन प्रस्तर के गवाक्षों का एक सुंदर संग्रह सारनाथ में विद्यमान है। पहले भूमरा तथा देवगढ़ में ये अलंकृत गवाक्ष स्वतन्त्र रूप से अलंकार के लिए प्रयोग में लाये जाते थे। शनैः-शनैः वास्तु-कला के ये मुख्य अङ्ग बन गये[4]। ये गवाक्ष दरवाज़े के ऊपरी चौखट के ऊपर भी बनाये जाते थे। साधारणतया ये त्रिकोण के आकार के होते थे। कभी-कभी ये आमलक से भी युक्त बनते थे। इन गवाक्षों के बीच के स्थान में किसी देवता की मूर्ति या अधिकतर कीर्तिमुख की आकृति ही पाई जाती है[5]। किसी-किसी में चक्र तथा माला लिये मनुष्य की मूर्ति मिलती है[6]। इससे ज्ञात होता

(५) गवाक्ष

१. रूपम्—जनवरी १९२४।

२. देखिए परिशिष्ट प्लेट।

३. कोडरिङ्गटन—एंशेंट इंडिया प्लेट ४—५।

४. बैनर्जी एज आव दि इम्पीरियल गुप्ताज़ पृ० १८८।

५. सहानी—कै० म्यु० सा० प्लेट नं० D (i) 21.

६. वही D (i) 16.

कि उस काल में देव-मन्दिरों और मकानों को अलंकृत करने के लिए इन अलंकृत गवाक्षों का कुछ कम प्रचार न था।

मृण्मयी-मूर्तियाँ (Terra Cottas)

गुप्त-काल में प्रस्तर-कला के अतिरिक्त अनेक प्रकार की मृण्मयी मूर्तियाँ बनाने का भी विशेष प्रचार था। गुप्तों से पूर्व भी मिट्टी की मूर्तियाँ बनती थीं, परन्तु उनकी बनावट बड़ी भद्दी होती थी। इस काल में मृण्मयी मूर्तियाँ प्रस्तर की मूर्तियों के समान ही सुन्दर बनने लगीं। ये मूर्तियाँ अपनी सुन्दर बनावट के द्वारा तत्कालीन शिल्पकारों की निपुणता को बतला रही हैं। मानसार में वर्णन मिलता है कि नव प्रकार के मूर्ति-निर्माण के साधनों में मिट्टी का भी प्रयोग किया जाता था[१]। मिट्टी केवल चल प्रतिमाओं के बनाने के काम में आती थी[२]; इस समय सभी प्रकार की मूर्तियाँ मिट्टी की बनाई जाती थीं। ऊंची से ऊँची देव-प्रतिमाओं से लेकर साधारण व्यवहार के पदार्थों की भी आकृतियाँ मिट्टी से तैयार की जाती थीं। गुप्त कालीन शिल्पकार मिट्टी के अतिरिक्त चूर्ण ईंटों से भी अनेक प्रकार की सुन्दर मूर्तियाँ निर्मित करते थे। मृण्मयी मूर्तियाँ आधुनिक काल में पृथ्वी से निकलती हैं, जो बड़ी ही सुरक्षित अवस्था में मिलती हैं। इस काल में मृण्मयी मूर्तियाँ किस-किस प्रकार की बनती थीं, उन सब का एक संक्षिप्त परिचय देना यहाँ अप्रासङ्गिक न होगा।

सारनाथ के संग्रहालय में बुद्ध तथा उनकी जीवन-संबंधिनी घटनाओं को प्रदर्शित करनेवाली अनेक मिट्टी की मूर्तियाँ मिली हैं। इस प्रकार की मूर्तियों में भगवान् बुद्ध भूमिस्पर्श, अभय तथा धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्राओं में दिखलाये गये हैं[३]। दूसरे आकार की मृण्मयी मूर्ति में श्रावस्ती में बुद्ध के विश्वरूप प्रदर्शन की कथा को प्रदर्शित किया गया है। भगवान् छः तीर्थकों को शिक्षा दे रहे हैं। दाहिनी ओर एक छत्रधारी मनुष्य की आकृति तथा हस्ती दिखलाया गया है। यह राजा प्रसेनजित् ज्ञात होते हैं[४]। मानसार में भी बुद्ध की मृण्मयी मूर्ति के निर्माण का वर्णन मिलता है[५]।

(१) बुद्ध की मृण्मयी मूर्ति

भगवान् बुद्ध की मृण्मयी मूर्तियों के अतिरिक्त बुद्ध के अनेक सिर चूर्ण ईंटों से बनाये जाते थे जिन पर चूने से सफ़ेदी कर दी जाती थी। सिर में बालों तथा उष्णीष का प्रदर्शन वस्तुतः प्रस्तर की प्रतिमाओं के सदृश ही किया जाता था[६]। कसिया में बुद्ध के ऐसे ही सिर मिले हैं[७]। कौशाम्बी से प्राप्त इस प्रकार के सिर प्रयाग के म्यूनिसिपल म्यूज़ियम में

(२) बुद्ध का सिर

१. डा० आचार्य — ए डिक्शनरी आव हिन्दू आर्किटेक्चर पृ० ६३—६७।

२. डा० आचार्य — मानसार अध्याय ५१।५—७।

३. सहानी — कै० म्यू० सा० नं० H (a) 4-5-9।

४. सहानी — कै० म्यू० सा० नं० H (a) 2।

५. डा० आचार्य — मानसार अध्याय ५६।१४-१६।

६. सहानी — कै० म्यू० सा० नं० H (a) 12-13।

७. आ० स० रि० १६०५—६ पृ० ७८।

सुरक्षित रक्खे गये हैं। गुप्त-कालीन शिल्पकार प्रस्तर के कणों (सीमेन्ट) तथा चूने को मिलाकर सुन्दर आकृतियाँ तैयार करते थे। अभाग्यवश आजकल पूर्ण (अखण्डित) मूर्तियाँ नहीं मिलती हैं, परन्तु भगवान् के सिर आदि इसी सामान से बने आधुनिक समय तक मिलते हैं[१]।

इस काल की हिन्दू देवताओं की भी मृण्मयी मूर्तियाँ मिलती हैं। एक हिन्दू देवता की मूर्ति प्राप्त हुई है जिसके पैर खण्डित हैं। गले में माला तथा वक्षःस्थल पर 'श्रीवत्स' दिखलाई पड़ता है[२]। इस प्रकार शरीर के अवयव खण्डित या पूर्ण रूप से पृथक्-पृथक् मिलते हैं[३]। भीटा से मिट्टी की शिव और पार्वती की मूर्ति प्राप्त हुई है जो गुप्त-काल की बतलाई जाती है[४]।

(३) हिन्दू देवताओं की मूर्तियाँ

देव-मूर्तियों के अतिरिक्त मनुष्यों की भी मृण्मयी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। इनमें स्वाभाविकता अधिक मात्रा में पाई जाती है तथा भाव उचित ढंग से दिखलाया गया है[५]। ये मूर्तियाँ मिट्टी तथा ईंट और चूने की बनती थीं। ऐसी मूर्तियाँ आसाम के दह पर्वतिया नामक स्थान से मिली हैं[६]। भीटा[७] तथा सहेत-महेत[८] से इस प्रकार की गुप्त-कालीन पुरुष और स्त्री की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

(४) मनुष्य-मूर्ति

मथुरा से कई प्रकार की मनुष्य की आकृतियाँ मिली हैं। एक में वृद्ध यति की मूर्ति है। दूसरे में स्त्री-पुरुष दिखलाये गये हैं। स्त्री के बाल पीछे बढ़े हैं। कान में कुण्डल, गले में हार तथा हाथों में कंकण धारण किये हैं। बायें हाथ से उस पुरुष के ऊर्ध्व-वस्त्र (जो गले से बाहर निकला है) को पकड़े हुए दिखलाई गई है[९]।

वैशाली (बिहार) तथा भीटा (यू० पी०) से गुप्त-कालीन अनेक मृण्मयी मुहरें मिली हैं[१०] जिनसे तत्कालीन शासन-प्रणाली पर प्रचुर प्रकाश पड़ता है। ये मुहरें मिट्टी की बनती थीं, जिन पर गुप्त-लिपि में कुछ खुदा रहता था। प्रत्येक विभाग की अलग-अलग मुहरें थीं जो आकार में समान होती थीं। इन मिट्टी की मुहरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के लेख मिले हैं। इन

(५) मुहर

---

१. सहानी—कै० म्यू० सा० II (a) 16-19-20।

२. वही ,, ,, ,, H (a) नं० ३२।

३. सहानी—कै० म्यू० सा० नं० H (a) 40-50-51।

४. आ० स० रि० १९११-१२ पृ० ७६ प्लेट २५ नं० ४१।

५. बैनर्जी—दी एज आव इम्पीरियल गुप्ताज—पृ० २०९।

६. आ० स० रि० १९२५-२६ प्लेट ५४ H।

७. आ० स० ई० रि० १९११-१२ पृ० ७६ प्लेट २५ नं० ५४।

८. वही ,, ,, ,, १९१०-११ पृ० २०-२१ प्लेट १० (१-८-२) पृ०-९८।

९. देखिए परिशिष्ट प्लेट।

१०. आ० स० इं० रि० १९१०—११ पृ० ४६; आ० स० रि० १९०३-४ पृ० ९९।

मुहरों की अधिक संख्या में प्राप्ति से ज्ञात होता है कि उस समय मृण्मयी आकृतियों के निर्माण का विशेष प्रचार था।

उपर्युक्त मृण्मयी मूर्तियों के अतिरिक्त साधारण व्यवहार की भी मूर्तियाँ निर्मित मिलती हैं। बैल, हाथी, घोड़े तथा खिलौने आदि भी मिट्टी के बनाये जाते थे[1]।

(६) अन्य प्रकार की आकृतियाँ

सहेत-महेत में ऐसी मिट्टी की अनेकों छोटी-छोटी मूर्तियाँ मिली हैं[2]। 'मानसार' में मिट्टी के बैल[3] तथा गरुड़[4] की मूर्तियों के निर्माण का वर्णन मिलता है। गुप्त-कालीन साधारण मृण्मयी मूर्तियों में बालकों की क्रीड़ा के निमित्त निर्मित छोटे-छोटे पशु (हाथी, घोड़ा और बैल आदि), गेंद तथा चक्र आदि अधिक संख्या में मिलते हैं। सम्भवतः चक्र बालकों के रथ के पहिये का द्योतक है[5] जो उनके क्रीड़ार्थ बनाया जाता था। कालिदास ने लिखा है कि पार्वती गंगा के किनारे मिट्टी का गेंद बनाकर खेला करती थी[6]। इस कथन से उस काल में बाल-क्रीड़ार्थ मिट्टी के गेंद आदि खिलौने प्रभृति बनाने की पुष्टि होती है। आजकल खुदाई में जो मिट्टी के गेंद प्राप्त हुए हैं वे कालिदास के कथन को अक्षरशः सत्य प्रमाणित कर रहे हैं। वैशाली में मिट्टी के बने हुए पक्षियों की मूर्तियाँ मिली हैं[7] जो 'शकुन्तला' में वर्णित शकुन्तला के पुत्र भरत के क्रीड़ा-पक्षी का स्मरण दिलाती हैं[8]। पहाड़पुर गुप्त-मन्दिर के ऊपर मृण्मयी आकृतियों द्वारा अनेक कथाएँ प्रत्यक्ष दिखलाई गई हैं। यदि पंचतन्त्र की रचना-तिथि पाँचवीं शताब्दी मानी जाय तो यह कहना पड़ेगा कि इसी ग्रन्थ के अनेक कथानकों को लेकर पहाड़पुर के मन्दिर में मिट्टी की मूर्तियाँ बनाई गई हैं तथा इन्हीं कहानियों को इन मूर्तियों द्वारा एक स्वरूप प्रदान किया गया है[9]। ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त उस समय मिट्टी के खिलौने आदि भी अधिक मात्रा में बनते थे।

ऐतिहासिक घटनाओं के काल-निर्णय में अन्य सामग्रियों के समान ईंटें भी उपयोगी सिद्ध हुई हैं। इतिहास का विषय भूतकाल की घटनाओं का संग्रह मात्र है। अतः

गुप्त-कालीन ईंटें

भूतकाल की प्राप्त वस्तुएँ ऐतिहासिक शोध के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध होती हैं। जिस प्रकार प्राचीन स्तम्भ, गृह मन्दिर आदि प्राचीन इतिहास को बतलाते हैं उसी प्रकार प्राचीन ईंटें भी तत्कालीन

---

१. सहानी—कैं० म्यु० सा० नं० II (a) 194, 238, 243।

२. आ० स० रि० १९१०-११ पृ० २०-२१ प्लेट नं० १०।

३. डा० आचार्य — मानसार अध्याय ६३।१५-१७।

४. वही ६१।१३२-३३।

५. आ० स० रि० १९०३-४ पृ० ९७ नं० ६।

६. कुमारसंभव १।२९।

७. आ० स० रि० पृ० ३९ नं० ७ (१९०३-४)।

८. शकुन्तला अंक ७।

९. आ० स० रि० १९२७—२८ पृ० १०९।

इतिहास पर कुछ कम प्रकाश नहीं डालतीं[1]। गुप्त-काल की प्राप्त ईंटें मौर्य्य-कालीन ईंटों की-सी मिली हैं परन्तु उनमें वह ठोसपन नहीं है[1]। गुप्त-कालीन ईंटें १४ × ८ × २$\frac{१}{२}$ तथा १० × ८ × $\frac{१}{४}$ आकार की सहेत-महेत से और १०$\frac{३}{४}$ × ७ × २$\frac{१}{२}$ के आकार की भीटा से प्राप्त हुई हैं[2]।

बड़े बड़े भवनों तथा मन्दिरों के निर्माण के निमित्त ईंटों का व्यवहार किया जाता था। ये ईंट भिन्न-भिन्न आकार की होतीं थीं। अधिकतर गुप्त-कालीन ईंटें किसी न किसी प्रकार के अलंकरण से अलकृत रहती थीं[3]। ग़ाज़ीपुर ज़िले के भितरी नामक गाँव से गुप्त-कालीन अनेक ईंटें मिली हैं, जिनपर गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम का नाम खुदा हुआ है[4]। एक गुप्त-कालीन अलंकृत ईंटा लखनऊ के म्यूज़ियम में सुरक्षित है[5]। इस प्रकार गुप्त ईंटें कभी अनलंकृत नहीं होती थीं।

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि गुप्त-काल में तक्षण-कला अधिक उन्नत तो थी ही, साथ ही मृण्मयी मूर्तियों के बनाने की कला भी उन्नति की चरम सीमा पर पहुँची हुई थी। जिस प्रकार गुप्त-काल के कुशल शिल्पकारों की कला पाषाण जैसी ठोस वस्तु में भी रमणीय आकृति बनाने में समर्थ थी उसी प्रकार मिट्टी जैसी मुलायम वस्तु पर हाथ की सफ़ाई दिखलाने में सफलता की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थी।

गुप्तकालीन-चित्रकला

गुप्तयुग में जिस प्रकार वास्तु-कला, तक्षण-कला आदि अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थीं उसी प्रकार चित्रकला भी अपने अभ्युदय के उच्चतम शिखर पर विराजमान थी। इस काल में चित्रकला की जो प्रचुर उन्नति हुई थी, वह एक विशिष्ट बात है। इस उन्नतिशील काल में भी अजन्ता तथा बाघ की कन्दराओं की गुप्त-कालीन चित्रकला किस निपुण कलाविद् को आश्चर्य के सागर में नहीं डुबो देती? आज भी उन रमणीय तथा भावव्यंजक चित्रों को देखकर किसका मन मोहित नहीं होता और किसका हृदय इन अमर कृतियों को अवलोकन कर गुप्त-कालीन विदग्ध कलाविदों की तूलिका को बरबस चूम लेना नहीं चाहता? सचमुच ही अजन्ता तथा बाघ के चित्र मानव-हस्त की कृति नहीं मालूम पड़ते, बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि ये किन्हीं दैवी हाथों से चित्रित किये गये हैं। ये मनोरम तथा रमणीय चित्र तत्कालीन चित्रकारों की हस्तकुशलता और निपुणता को डंके की चोट आज भी सर्वोत्कृष्ट सिद्ध कर रहे हैं। यह दुर्भाग्य का विषय है कि कोई भी गुप्त-कालीन चित्र आज काग़ज़ अथवा कैनवास पर चित्रित नहीं पाया जाता। वे केवल

---

१. राहुल सांकृत्यायन (गंगा—पुरातत्त्वाङ्क पृ० २०४—७)।

२. { आ० स० रि० १९१०—११ पृ० २३। वही, १९११—१२ पृ० ३५। }

३. सहानी—कै० म्यु० सा० नं० II (७) २२, ३०, in Hindi।

४. बनर्जी—एज आव दी इम्पीरियल गुप्ताज पृ० २०७।

५. वही प्लेट नं० ४१।

कन्दराओं में ही सुरक्षित हैं। इन चित्रों की ठीक-ठीक जानकारी के लिए तत्कालीन चित्रकला के सिद्धान्त, चित्रकला के उपकरण, रङ्ग, स्थान, रीति आदि का परिचय प्राप्त कराना अत्यावश्यक है। तत्कालीन कवि-शिरोमणि कालिदास ने इन सब विषयों का विस्तृत वर्णन अपने ग्रन्थों में दिया है। अतः अजन्ता तथा बाघ की मनोरम चित्रकारी के दिग्दर्शन के पूर्व कालिदासीय ग्रन्थों के आधार पर तत्कालीन चित्रकला-सम्बन्धी अनेक विषयों का यहाँ एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जाता है। यदि इस महाकवि के ग्रन्थों में गुप्त-चित्रकला सिद्धान्त के रूप में पाई जाती है, तो अजन्ता और बाघ की कन्दराओं के चित्र तत्कालीन चित्रकारों के हाथ की सफ़ाई के उत्कृष्ट नमूने हैं।

चित्रकला के सिद्धान्त

चित्रकला का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। जहाँ मानव-हृदय में सौन्दर्य की पिपासा है वहाँ चित्रकला का अभाव नहीं हो सकता। प्राचीन भारतीयों में आध्यात्मिक ज्ञान-पिपासा के साथ ही साथ सौन्दर्य-पिपासा भी कुछ कम मात्रा में न थी। वात्स्यायन ने नागरिक के ज्ञान के लिए चित्रकला को आवश्यक माना है। कालिदासीय ग्रन्थों के अवलोकन से पता चलता है कि उस काल में भी चित्रकला का कुछ कम प्रचार नहीं था। तत्कालीन धनी पुरुषों के यहाँ आजकल की भाँति ही चित्रशालाएँ थीं जिनमें पूर्वजों तथा दूसरे राजाओं के चित्र रक्खे जाते थे। गोपुर के द्वार नाना प्रकार के पक्षियों तथा जानवरों के चित्रों से सजाये जाते थे। 'शकुन्तला' में चित्रकला का विशद वर्णन पाया जाता है। यह चित्र-कला दो प्रकार की होती थी। प्रथम वे प्रत्यक्ष-चित्र जो किसी नमूने को सामने रखकर बनाये जाते थे; दूसरे वे भावगम्य चित्र जो नमूने के अभाव में बनाये जाते थे। इन चित्रों की रचना केवल स्मरण और कल्पना के आधार पर ही होती थी। कालिदास ने मेघदूत में यक्षपत्नी के द्वारा यक्ष के भावगम्य चित्र-निर्माण का वर्णन किया है :—

> आलोके ते निपतति पुरा सा बलि व्याकुला वा
> मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।

उस समय चित्रशालाएँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती थीं। राजघरानों में राजकीय-चित्रशाला, सार्वजनिक कलागृह तथा व्यक्तिगत चित्रगृह—ये सामान्यतः तीन प्रकार के थे। 'मालविकाग्निमित्र' में राजकीय चित्रशाला का उल्लेख पाया जाता है। समय-समय पर रुचि के अनुकूल चित्र खींचने के लिए राजा के द्वारा चित्राचार्य भी नियुक्त किये जाते थे[1]। उत्तर-राम-चरित में अर्जुन नामक ऐसे ही एक चित्रकार का वर्णन पाया जाता है[2]।

चित्रशाला

प्राचीन समय में अनेक प्रकार के चित्रों में से ख़ाका चित्र (Portrait Picture) को विशेष महत्त्व दिया जाता था। ये ख़ाका चित्र जीवित तथा मृत व्यक्तियों के भी

१. चित्रशालां गता देवी प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति।—मालविकाग्निमित्र—अंक १।

२. लक्ष्मणः—आर्य! अर्जुनेन चित्रकरेणास्मदुपदिष्ट... ..

बनाये जाते थे। कालिदास ने लिखा है कि अज के शोक को कम करने के लिए इन्दुमती का चित्र तथा दशरथ का चित्र बलिमन्निकेत में पूजार्थ रक्खा गया था[1]। रघुवंश में

चित्र

लिखा है कि जब रामचन्द्रजी सीता के साथ वन से लौट कर आये तब चित्रकारों ने उनके जीवन के समस्त चित्रों (दृश्यों) को महल में चित्रित किया था। उन चित्रों को देखकर रामचन्द्रजी प्रसन्न हुए तथा अपने पुराने दुःखों को भूल गये[2]। ये चित्र मनुष्य के शरीर-परिमाण के बराबर होते थे भावगम्य चित्र के—जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है—तीन उदाहरण मिलते हैं—यक्ष, यक्षपत्नी तथा सखियों के साथ शकुन्तला का। ये भावगम्य चित्र भी इतने भावव्यञ्जक तथा जीते-जागते होते थे कि इन्हें देखकर प्रकृत चित्र ही आँखों के सामने उपस्थित हो जाते थे। इसी चित्र-निपुणता का वर्णन कालिदास ने निम्नलिखित रूप में किया है—

अहो! राजर्षेर्वर्तिकानिपुणता! जाने मे सखी अग्रतो वर्तत इति।

चित्रों में उच्चनीच (Perspective) का पूरा विचार रक्खा जाता था। दूर स्थित वस्तुओं का चित्र इस बारीकी से खींचा जाता था कि सभी अंगों का चित्र ठीक-ठीक उतरता था। चित्र के पिछले भाग (Back-ground) में प्राकृतिक दृश्य चित्रित करने की उस समय विशेष प्रथा थी। कालिदास ने शकुन्तला के चित्र के पिछले भाग में हंस-मिथुन, स्रोतोवहा मालिनी, हरिण, तरु आदि के चित्रित करने का वर्णन किया है।

कार्या सैकतहंसलीनमिथुना स्रोतोवहा मालिनी,
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्।

—शकुन्तला अं० ६ श्लोक १७

इस प्रकार के उदाहरण कालिदासीय ग्रन्थों में भरे पड़े हैं। प्रायः प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में तत्कालीन चित्रकारों को विशेष आनन्द मिलता था। इसके अतिरिक्त गृह के द्वार पर जानवरों के चित्र-निर्माण की विशेष प्रथा थी। अयोध्या के महलों की दीवारों पर इस प्रकार के चित्र इसके प्रमाण हैं[3]। विक्रमोर्वशीय में भी एक बन्दर के चित्र का वर्णन पाया जाता है।[4] यक्ष-पत्नी के घर पर शंख और पद्म का उल्लेख मिलता है। वात्स्यायन ने कामसूत्र में चित्र-कला के निम्नलिखित षडङ्गों का

१. तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथञ्चित् बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु [illegible] ॥—रघुवंश ८।९२।
[illegible] पितुर्निदेश।—रघुवंश १४।१५।
२. [illegible] ।
[illegible] ॥—रघुवंश १४।२५।
३. [illegible] ।
४. [illegible] ।—विक्रमोर्वशीय अंक २।

वर्णन किया है[1]। (१) रूपभेद, (२) प्रमाण या परिमाण, (३) भाव, (४) लावण्य-योजन (सौंदर्य-प्रतिपादन), (५) सादृश्य, (६) वर्णिकाभंग (रंगों का बनाना)। ऊपर के विवरण से स्पष्ट विदित होता है कि गुप्त-कालीन चित्रकार प्रत्यक्ष चित्र तथा भावगम्य चित्र दोनों के बनाने में अत्यन्त निपुण थे। चित्रों को सजीव चित्रित करना उनके लिए साधारण बात थी। वे चित्रों में सम्बन्धित दूरी तथा आकार (Perspective) का भी ध्यान रखते और चित्रों के पृष्ठ भाग में प्राकृतिक दृश्यों को चित्रित करना उस समय की प्रथा-सी हो गई थी।

कालिदास के ग्रन्थों में चित्र-भूमि के विषय में प्रचुर वर्णन मिलता है। बाण की ही भाँति कालिदास भी चित्र-भूमि के भिन्न-भिन्न प्रकारों से पूर्णतया परिचित हैं।

चित्र-भूमि (Surface)

कालिदास ने मेघदूत में पत्नी-वियोग से विधुर यक्ष का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। विरह से व्याकुल यक्ष कहता है कि ऐ प्रिये, पाषाण-खण्ड के ऊपर भिन्न-भिन्न रंगों वाली धातु की खड़िया से जब मैं तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूँ, उस समय आँसू से मेरी आँखें भर जाती हैं और मैं चित्र में भी तुम्हारे दर्शन से वञ्चित कर दिया जाता हूँ।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैश्शिलायाम्,
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥

इससे पता चलता है कि प्रस्तर-खण्ड पर धातु की खड़िया से, आजकल की पेस्टल-ड्राइंग की भाँति, चित्र के खींचने की उस समय प्रथा थी।

चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभङ्गाः।
नखाङ्कुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति॥[2]

इस श्लोक से तत्कालीन भित्ति-चित्र का, जिसे आजकल अँगरेज़ी में फ्रेस्को पेंटिंग (Fresco Painting) कहते हैं, कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। फलक तथा केनवास (Canvas) पर शलाका चित्र खींचने (Portrait Painting) का विशेष प्रचार था। इसका उदाहरण इन्दुमती, शकुन्तला तथा दशरथ आदि का चित्र है। कालिदास ने पत्र-लेखन—मनुष्य तथा जानवरों के शरीर पर लता-आकार के चित्र—का प्रायः बहुत वर्णन किया है। मेघदूत के इस वर्णन—

रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य॥[3]

से हमें ज्ञात होता है कि उस काल में हाथी के शरीर पर सिन्दूर से चित्र खींचा जाता था।

---

१. रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्।
सादृश्यं वर्णिकाभङ्ग इति चित्रं षडङ्गकम्॥ — का० सू० पृ० ३३।

२. रघुवंश।

३. मेघदूत १।१९।

चित्र खींचने का एक विशेष प्रकार भी था। पत्र-लेखन के पूर्व पिछले भाग

प्रकार

को सफेद चन्दन का लेप लगाते थे। निम्नांकित श्लोक में चित्रण के प्रकार का विशद वर्णन किया गया है—

चन्दनेनाङ्गरागं च मृगनाभिसुगन्धिना। समापय्य ततश्चक्रुः पत्रं विन्यस्तरोचनम् ॥[1]

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मृगनाभि से सुगन्धित चन्दन द्वारा स्थान-विशेष में लेप लगाकर ही पत्र-लेखन का कार्य आरम्भ किया जाता था। कभी-कभी शुक्लागुरु को चन्दन के स्थान में प्रयुक्त करते थे। वर्तिका से रेखा खींचने के पहले चित्र-भूमि (Surface) के ऊपर एक प्रकार का वज्रलेप (पालिश) लगाते थे। यह गोबर, मिट्टी, भूसे, जूट और सन के छोटे-छोटे कणों द्वारा तैयार किया जाता था। समतल चित्र-भूमि पर इस लेप को लगाकर, इसके सूख जाने के बाद ही चित्रण का कार्य प्रारम्भ होता था। भरताचार्य ने नाट्यशास्त्र में लेप लगाने का उल्लेख किया है[2]। शुक्लागुरु से लीपे गये स्थान पर गोरोचना से रेखा खींचने का वर्णन कुमारसम्भव में पाया जाता है[3]।

चित्र प्रधानतया भित्ति केनवास तथा, फलक पर ही खींचे जाते थे। तीनों पर चित्र खींचने का प्रकार एक ही सा था। चित्र खींचने में सबसे प्रधान बात चित्र-कल्पना (किस प्रकार से चित्र खींचना चाहिए) दी जाती थी। कालिदास ने—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु[4]।

इस श्लोक में इसी चित्र-कल्पना की ओर संकेत किया है। चित्र की कल्पना के अनन्तर दूसरी क्रिया चित्र खींचने की थी। सर्वप्रथम चित्र का एक ख़ाका खींचा जाता था। यह वर्तिका (पेन्सिल) के सहारे होता था। कालिदास ने अग्निवर्ण के द्वारा उसकी प्रिय वेश्याओं के ख़ाका चित्र खींचने का वर्णन किया है। तत्पश्चात् तूलिका (आजकल के ब्रश) के द्वारा उस चित्र में रङ्ग भरा जाता था। इस क्रिया को चित्र-कला के पारिभाषिक शब्द द्वारा व्यक्त करना चाहें तो इसे 'चित्रोन्मीलन' कह सकते हैं। कालिदास ने एक पद्य में इस 'चित्रोन्मीलन' का उल्लेख बड़ी ही सुन्दर रीति से किया है। उसका भाव यह है कि पार्वती का शरीर नव-यौवन के आगमन से इस प्रकार शोभित हुआ जिस प्रकार तूलिका से उन्मीलित (रङ्ग भरा गया) चित्र सुशोभित होता है।

---

१. रघुवंश १७.२५।

२. भित्तिष्वथ विलिप्तासु परिमृष्टासु सर्वतः।
समासु जातशोभासु चित्रकर्म प्रयोजयेत् ॥
चित्रकर्मणि चालेख्याः पुरुषाः स्त्रीजनस्तथा।
लतावन्धाश्च कर्तव्याः चरितं चात्मभोगजम् ॥—नाट्यशास्त्र अध्याय २।७२—७४।

३. विन्यस्तशुक्लागुरु चक्रुरङ्गं गोरोचनापत्रविभङ्गमस्याः।
सा चक्रवाकाङ्कितसैकतायास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ ॥—कुमारसंभव ७।१५।

४. शाकुन्तल—अंक २।६।

उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥—कुमा० १।३२

रङ्ग में आलोक तथा छाया की चित्रण-कला से भी कालिदास अपरिचित नहीं थे। शाकुन्तल में इसका उल्लेख पाया जाता है[1]। कालिदास चित्र-कला के पारिभाषिक शब्दों से भी पूर्ण परिचित ज्ञात होते हैं। उनमें पहला पारिभाषिक शब्द 'चित्रोन्मीलन' है जिसका वर्णन किया गया है। 'वर्तिका-निरूपण' पेन्सिल अथवा ब्रश के द्वारा सुन्दर तथा कलापूर्ण चित्र खींचने को कहते हैं। केनवास के ऊपर सरलता से ब्रश-चालन को 'वर्तिकोच्छ्वास' कहते हैं।

उपकरण

चित्र-कला की समस्त सामग्री से कालिदास परिचित थे। आपने वर्ण-तूलिका, पट, और फलक आदि का उल्लेख किया है। वर्णिका-करण्ड (वर्ण-मञ्जूषा) रङ्ग के बाक्स का भी—जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के रङ्ग रक्खे जाते थे—वर्णन पाया जाता है[2]। सम्राट् हर्षदेव ने भी 'गृहीतसमुद्गकचित्रफलक वर्तिका' लिखकर एक वर्ण-मञ्जूषा की ओर संकेत किया है। वात्स्यायन ने भी अपनी प्रिया को उपहार-स्वरूप प्रतोलिका देने का उपदेश किया है[3]। सम्भवतः यह उस समय की प्रथा सी थी। वर्तिका उसे कहते हैं जिसके द्वारा चित्र का खाका खींचा जाता तथा तूलिका (ब्रश) के द्वारा चित्र में रङ्ग भरा जाता था। चित्र-भूमि में फलक, केनवास तथा भित्ति का वर्णन किया जा चुका है। यही उस समय के चित्रोपकरण थे।

वर्ण

प्राचीन काल में भी चित्र बनाने में भिन्न-भिन्न रङ्ग काम में लाये जाते थे। प्रधानतया लाल, पीला, काला (नीला) और श्वेत—ये चार रङ्ग ही चित्र-निर्माण में व्यवहृत होते थे। कालिदास ने इन भिन्न रङ्गों का उल्लेख निम्नलिखित श्लोक में किया है—

पीतासितारक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
अन्यत्र गन्धर्वपुरोदयभ्रमं बभार भूम्नोत्पतितैरितस्ततः ॥[4]

जिस प्रकार आजकल वाटर-कलर (जल-वर्ण), आयल (तैल चित्र) तथा पेस्टल चित्रों का प्रचार है उसी प्रकार कालिदास के समय में भी वाटर-कलर (जल-वर्ण) चित्र खींचने की विशेष प्रथा थी। मेघदूत में यक्ष-पत्नी के प्रासाद में चित्रों को जलद के जलकण के द्वारा क्षति पहुँचाने का वर्णन पाया जाता है[5]। इससे ज्ञात होता है, वे

---

१. शाकुन्तल—अंक ६।

२. रघुवंश—१६।१६।

३. प्रतोलिकानामलक्तकमनःशिलाहरितालहिंगुलकश्यामवर्णकादीनां दानम्। कामसूत्र पृ० २०३।

४. कुमारसम्भव—सर्ग १५—३१।

५. नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमिरालेख्यानां स्वजलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्यः।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशो जालमार्गैर्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणाः जर्जराः निष्पतन्ति ॥
—मेघ० २—६।

चित्र अवश्य ही वाटर-कलर में चित्रित किये गये होंगे। अनेक स्थानों पर स्वेद के द्वारा चित्रों के नष्ट होने का वर्णन भी मिलता है।

संस्कृत के शिल्पग्रन्थों में स्थान या स्थानक (Pose) को विशेष महत्त्व दिया गया है। खींची जानेवाली वस्तु किस अवस्था में है, कौन-सा अंश सीधा है, कौन सा टेढ़ा, आदि बातों का अच्छी तरह से विचार चित्र खींचने के पूर्व तत्कालीन चतुर-चित्रकार कर लिया करते थे। कालिदास इस प्रकार के चित्रों के विशेष स्थान की स्थिति (Pose) में विशेष प्रवीण मालूम पड़ते हैं। आपने चित्रों की अनेक अवस्थाओं का वर्णन किया है। रघुवंश में आपने आलीढ़ नामक स्थिति का—जो धनुष छोड़ने का एक प्रकार है—वर्णन किया है। मल्लिनाथ ने लिखा है कि आलीढ़ धनुषधारियों के पाँच प्रकार के—वैशाख, मण्डल, समपद, आलीढ़, प्रत्यालीढ़—आसनों में से एक आसन है। कामदेव का वर्णन करते हुए आपने इसी आलीढ़ आसन की ओर संकेत किया है—

चित्रांकित-अवस्था

स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्।

शकुन्तला का वर्णन करते हुए आपने बड़ी ही रमणीय अवस्था का वर्णन किया है। यह स्थिति-विन्यास कितना हृदय-ग्राही है—

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीत् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती, शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्॥

शकुन्तला दुष्यन्त के पास से आश्रम की ओर जा रही है। इतने ही में उसके पैर में काँटा गड़ जाता है। तब दुष्यन्त कहता है कि प्रिया का चरण अकस्मात् दर्भ (कुश) के अङ्कुर से क्षत हो गया है, अतएव वह कुछ पद चलकर ही खड़ी हो गई। वह वृक्षों की शाखा में नहीं उलझे हुए भी वस्त्र (वल्कल) को सुलझाती हुई, मुँह मोड़े हुए, व्याज से खड़ी है। कौन सी वस्तु को किस प्रकार चित्रित करना चाहिए, किस चित्र में किस-किस उपकरण का वर्णन होना चाहिए, इस कला में कालिदास अत्यन्त निपुण थे। यदि किसी तापसी का वर्णन करना होगा तो उसे आप पुष्पाभरणों से ही सुसज्जित कर देंगे और रानी को मणि तथा रत्नों से। यक्ष के विरह से विधुरा यक्ष-पत्नी की भाँति कृश नदी का आपने कितना स्वाभाविक तथा उचित चित्रण किया है—

वेणीभूतप्रतनुसलिला सावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छायातटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः।
सौभाग्यं ते सुभग! विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः॥—मेघ० १।२६।

प्राचीन भारत में चित्र किस उद्देश्य से बनाये जाते थे, इसे जानने की उत्सुकता किसे न होगी। प्राचीन काल में स्त्रियाँ परदे के कारण अपने प्रिय व्यक्ति का साक्षात्कार नहीं कर सकती थी, अतः चित्र के द्वारा ही उनका दर्शन होता था। चित्र का दूसरा उद्देश्य शिक्षा प्रदान करना था। स्वयंवर में आमन्त्रित राजाओं के पास विवाह के लिए सम्भावित कुमारी के दर्शन के

चित्र-निर्माण

अवलोकन करने के लिए भी चित्र की आवश्यकता होती थी। परन्तु सबसे प्रधान चित्र का उपयोग आनन्द और विनोद के लिए था।

चित्रोन्मीलन का रहस्य क्या था ? इसके भीतर कौन सी बात थी ? चित्र का सर्वप्रधान कार्य दोषों को छिपाकर गुणों की उद्भावना करना ही है। जो वस्तु वस्तुतः भद्दी तथा असुन्दर है उसे एक रमणीय तथा मनोमोहक रूप देना ही चित्र का परम उद्देश्य है। इसी स्वर्गीय उद्देश्य को महाकवि कालिदास ने कितनी सुन्दर तथा मधुर रीति से अभिव्यक्त किया है—

चित्र-निर्माण का रहस्य

यद्यत्साधु न, चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्याः लावण्य रेखया किञ्चिदन्वितम् ॥

जो वस्तु स्वतः सुन्दर नहीं है, जिसका प्राकृतिक रूप भद्दा तथा असुन्दर है वह भद्दी और कुरूप वस्तु भी चित्र में सुन्दर तथा रमणीय दिखाई पड़ती है। उसका पुराना रूप बिल्कुल बदल जाता है और चित्रगत होते ही उसमें सौन्दर्य्य आ जाता है। कालिदास के समय में यही चित्र-निर्माण का रहस्य था। असुन्दर वस्तु को भी रमणीय रूप प्रदान कर उससे आनन्द और विनोद लाभ करना ही चित्रकला का अन्तिम उद्देश्य था।

ऊपर जो संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि कालिदास के समय में अर्थात् गुप्त-युग में चित्रकला की क्या अवस्था थी, चित्र कितने प्रकार के होते थे, चित्रोपकरण क्या थे, किस रंग से, किस चित्र-भूमि पर चित्र बनाये जाते थे तथा तत्कालीन चित्रकला का प्रयोजन और उद्देश्य क्या था और गुप्त-कालीन चित्रकला के सिद्धान्त क्या थे। अब कुशल तथा विदग्ध गुप्त-कालीन कलाविदों की तूलिका की अमूल्य कृतियों का—जो आज भी अजन्ता और बाघ की कन्दराओं में सुरक्षित हैं—वर्णन प्रस्तुत किया जायगा।

अजन्ता की चित्रकारी

अजन्ता की चित्रकला भारतीय चित्रकला में अपना विशेष स्थान रखती है। यदि चित्रकला के इतिहास में अजन्ता की कला को सर्व-प्रथम स्थान दें तो कुछ अनुचित न होगा। क्या प्राच्य तथा क्या पाश्चात्य सभी कला-मर्मज्ञों ने अजन्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है जिसका उल्लेख उचित स्थान पर किया जायगा। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सुप्रसिद्ध इटालियन कलाकार माइकेल एञ्जिलो तथा फ्रा एञ्जिलिको का जन्म होने के शताब्दियों पहले ही इन गुप्त चित्रकारों ने अपनी तूलिका के बल से ऐसे सौन्दर्य्यमय चित्रों की रचना की थी जिन्हें देखकर आज भी सभ्य संसार चकित है। प्रति वर्ष संसार के कोने-कोने से अनेक कला-मर्मज्ञ केवल अजन्ता की चित्रकारी देखने के लिए भारतवर्ष आते हैं और इन अनुपम चित्रों को देखकर इनके रचयिताओं की प्रशंसा करते नहीं अघाते। अजन्ता की कला की विशेषता केवल इसी बात से समझी जा सकती है कि पीछे की भारतीय चित्रकला पर अजन्ता की बहुत गहरी छाप पड़ी है तथा पीछे के चतुर चित्रकारों ने अजन्ता की कला को ही अपना आदर्श मानकर चित्रकर्म किया है। लार्ड रोनाल्डशे

(लार्ड ज़ेटलैण्ड) के मत के अनुसार आधुनिक 'बंगाल स्कूल आफ़ आर्ट' पर भी अजन्ता की गहरी छाप पड़ी है तथा यह स्कूल इस कला के सौन्दर्य के प्रभाव से बच नहीं सका है। अभी हाल ही में सारनाथ के मूलगन्ध-कुटी विहार में जापानी चित्रकारों द्वारा जो भित्ति-चित्र बनाये गये हैं वे भी अजन्ता की नक़ल पर ही तैयार किये गये हैं। इस प्रकार अजन्ता की चित्रकला की महत्ता सहज ही में समझी जा सकती है।

भौगोलिक स्थिति

अजन्ता निज़ाम-हैदराबाद (दक्षिण) के राज्य में पूर्वी खानदेश ज़िले में स्थित है। जी० आई० पी० रेलवे पर जलगाँव नामक एक स्टेशन है। यहाँ से अजन्ता की गुफा तक एक पक्की मोटर की सड़क गई है जो क़रीब ३७ मील लम्बी है। यहाँ से आसानी से मनुष्य अजन्ता की गुफाओं को देखने के लिए जा सकता है। अजन्ता जाने के लिए और भी रास्ते हैं परन्तु उपर्युक्त मार्ग सबसे सुगम है।

पूर्व-इतिहास

आज से १०० वर्ष पूर्व भारतीय चित्रकला में क्रान्ति उपस्थित कर देनेवाली, जगत्प्रसिद्ध, अजन्ता की इन गुफाओं को कोई भी नहीं जानता था। उस समय ये गुफाएँ जंगली पशुओं और पक्षियों को अपने अन्दर आश्रय देती थीं तथा समय-समय पर संसार से विरक्त साधु-संन्यासी, रसोई बनाकर उसके धुएँ से इन सुन्दर चित्रों को कुरूप करते हुए, इन गुफाओं में अपना समय बिताया करते थे। उन बेचारों को यह क्या मालूम था कि वे अपने इस कर्म से भारत की सर्वश्रेष्ठ कला का सर्वनाश कर रहे हैं।

सन् १८१९ ई० में अँगरेज़ी फ़ौज की एक टुकड़ी इन पहाड़ी-प्रदेशों में घूम रही थी, और सर्व-प्रथम उसी के द्वारा सभ्य-संसार को इन गुफाओं का पता चला। फिर 'एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बङ्गाल' के कहने-सुनने पर 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' ने मद्रास-सेना के मेजर राबर्ट गिल को १८४४ ई० में यहाँ की दीवारों पर बनी हुई तसवीरों (फ़्रेस्कोज़) की नक़ल करने के लिए नियुक्त किया। इसके पश्चात् लेडी हेरिंघम ने बड़े परिश्रम तथा कौशल के साथ इन चित्रों की नक़ल कर अपनी 'अजन्ता फ़्रेस्कोज़' नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक को सन् १९१५ में तैयार किया जो लन्दन की 'इण्डिया सोसाइटी' से प्रकाशित हुई है। ये गुफाएँ निज़ाम के राज्य में हैं अतः उसे इनकी रक्षा के लिए कुछ प्रबन्ध करना चाहिए था परन्तु १९१४ ई० तक निज़ाम की सरकार इस ओर से बिल्कुल उदासीन थी। सन् १९१४ ई० में एक पुरातत्त्व विभाग खोला गया। निज़ाम के पुरातत्त्व विभाग ने अजन्ता के चित्रों की रक्षा के लिए भी प्रबन्ध किया है। इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

काल-निर्णय

अजन्ता के चित्रों के काल-निर्णय के विषय में कुछ कहना बड़ा कठिन है, क्योंकि वे भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न राजाओं की संरक्षकता में तैयार किये गये थे। इन चित्रों में से कुछ तो बहुत पुराने हैं और कुछ अर्वाचीन हैं। अजन्ता के एक चित्र से इन चित्रों के काल-निर्णय में कुछ सहायता मिलती है। यह चित्र एक फ़ारस देश के राजदूत का है जो भारत में आकर यहाँ के राजा को फ़ारस के राजा के द्वारा दी गई कुछ भेंट नज़र कर रहा है। विद्वानों का

यह मत है कि यह चालुक्यवंशी नरेश पुलकेशी द्वितीय है, जिसके पास परशिया के राजा ख़ुसरो द्वितीय ने अपना राजदूत भेजा था। यह घटना पुलकेशी के राज्यकाल के ३६वें वर्ष (६२५–६२६ ई०) की है। इससे इस चित्र की तिथि निश्चित हो जाती है। ऊपर लिखित तिथि अजन्ता के चित्रों की अन्तिम तिथि समझनी चाहिए। कनिष्क के पहले बुद्ध की मूर्ति का निर्माण नहीं किया जाता था और न उन्हें चित्र ही में प्रदर्शित करते थे। परन्तु अजन्ता के चित्र प्रायः बुद्ध की जीवन-लीला से संबंध रखते हैं। अतः यह निश्चित है कि इनकी रचना कनिष्क के बाद की गई होगी। गुप्तराजा साहित्य और कला के संरक्षक थे तथा कला इस काल में चरम सीमा को पहुँची हुई थी अतः यह कहने में हमें तनिक भी संकोच नहीं मालूम होता कि अजन्ता के कुछ चित्रों की रचना गुप्त-काल में अवश्य हुई है। यद्यपि वह भाग साक्षात् गुप्त-साम्राज्य में सम्मिलित न था, परन्तु उनका प्रभाव तो सर्वत्र व्याप्त था। डा० कुमारस्वामी का मत है कि यद्यपि अधिक भाग वाकाटकों के समय में चित्रित हुआ, परन्तु गुफा नं० १७ तथा १६ को तो गुप्त-कालीन मानने में तनिक भी सन्देह नहीं है।

गुफाएँ

एक अर्ध-गोलाकार पहाड़ी के मध्यभाग की चट्टानों को काटकर अजन्ता की प्रसिद्ध गुफाएँ बनाई गई हैं। इन गुफाओं की संख्या २६ है जिनमें दो अगम्य हैं, बाकी सभी देखी जा सकती हैं। एक ही पत्थर को काटकर उसके अन्दर कमरे और मूर्तियाँ बनाई गई हैं और इन कमरों की दीवारों पर एक प्रकार का प्लास्टर लगाया जाता था तथा सफ़ेदी करके सुन्दर चित्र बनाये गये हैं। ये प्लास्टर इतने मज़बूत और सुन्दर हैं कि कई शताब्दियों के पश्चात् भी ये आज वैसे ही बने हुए हैं। ये गुफाएँ एक ही काल में नहीं बनीं, बल्कि समय समय पर बनती रहीं।

चित्रों के विषय

अजन्ता के चित्र अनेक भागों में विभाजित किये जा सकते हैं। इनमें चित्रित कथानक अनेक प्रकार के हैं। कहीं तो इनमें वर्णनात्मक दृश्य अंकित हैं और कहीं अलंकरण-विधान की प्रचुरता है। परन्तु इन चित्रों में भगवान बुद्ध के चरित्र की कथाओं का चित्रण ही विशेष रूप से किया गया है। गौतम का जन्म ग्रहण करना, उनका महाभिनिष्क्रमण, उनको सम्बोधि की प्राप्ति आदि घटनाओं का चित्रण अजन्ता के चित्रों में विशेष रूप से पाया जाता है। इसके अतिरिक्त भगवान् बुद्ध के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली फुटकल कथाएँ भी हैं, जैसे एक माता और पुत्र का बुद्ध को भिक्षा देना आदि। बुद्ध-सम्बन्धी चित्रों के अलावा राजसभा और राजकीय जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ चित्र भी अंकित हैं जिनमें राजकीय जुलूस तथा हाथी के जुलूसवाले चित्र बहुत प्रसिद्ध हैं। ये चित्र बहुत सुन्दर हैं तथा इनके देखने से तत्कालीन वेश, भूषा तथा रहन सहन का पता चलता है। इस प्रकार अजन्ता के चित्र अनेक विषयों से विभूषित हैं, जिनमें भगवान् बुद्ध की जीवन-कथाओं की प्रधानता स्वाभाविक ही है। अजन्ता के चित्रों में जितने अंकित व्यक्ति हैं—चाहे वे धनाढ्य, भूमिपति या निर्धन गृहस्थ हों; चाहे वे पुरुष हों या स्त्री—उन सब में इस जीवन के प्रति आनन्द-भावना

है। उनके हृदय में जीवन के प्रति एक सुखमयी लिप्सा है। इसे कलाविदों ने स्वीकार किया है[1]।

यों तो अजन्ता के सभी चित्र एक से एक सुन्दर हैं परन्तु १७वीं गुफा में जो चित्र अंकित है वह वास्तव में चित्रकला की चरम सीमा को प्रदर्शित कर रहा है। यह

कुछ प्रसिद्ध चित्र

चित्र एक माता और उसके पुत्र का है जो बुद्ध को कुछ भिक्षा दे रही है। इस चित्र के देखने से करुणा और सहानुभूति टपकती है। दैन्य भाव उनके अंग-अंग से झलक रहा है। माता और पुत्र ने दीनतावश हाथ फैला रक्खा है। दोनों की अलकें बिखरी हुई प्रतीत होती हैं। इन दोनों की अधखुली आँखें तथा मुख की आकृति उस परम दीनता की सूचना देती हैं जो निर्धनता के कारण उत्पन्न होती है। हाथों में बालक ने एक, तथा माता ने अनेक कंकण पहन रक्खे हैं जो संभवतः उसके वैधव्य का सूचक है। बालक के शरीर का ऊपरी भाग शायद नंगा है परन्तु माता ने एक जाकेट पहन रक्खा है जो बहुत पतला है। कानों में कर्णावतंस का अभाव इनकी दरिद्रता का सूचक है। इस चित्र में चतुर चित्रकार ने सादगी, दीनता तथा निर्धनता का जो सुन्दर प्रदर्शन किया है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। सुप्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ ई० बी० हैवेल तो इस चित्र की समानता जावा देश के बोरोबुदुर स्थान में प्राप्त सर्व-श्रेष्ठ बौद्धकला से करते हैं और लिखते हैं कि यह चित्र अपनी सुन्दर भावना में इटली के विख्यात चित्रकार बेलिनी के अद्भुत मेडोना से तुलना करने योग्य है[2]। एक दूसरे प्रसिद्ध लेखक[3] ने इस अनुपम चित्र की सुन्दर प्रशंसा लिखी है।

दूसरा चित्र एक राजकीय जुलूस का है जिसमें बहुत से आदमी सज-धज कर चले जा रहे हैं। किसी के हाथ में लम्बा छाता है तो किसी के हाथ में बजाने का शृङ्गी बाजा। इस जुलूस में स्त्री और पुरुष दोनों सम्मिलित हैं तथा दोनों साथ साथ आपस में मिलकर चल रहे हैं। इस चित्र में विस्तृत अलंकरण-विधान की विशेषता पाई जाती है। स्त्रियों के हाथों में सुन्दर कङ्कण हैं तथा वे गले में हार पहने हुए हैं। कान से लगे हुए सुन्दर कर्णावतंस भी लटक रहे हैं। स्त्रियों के बालों में ललाट के ठीक ऊपर एक प्रकार की अलंकरण-सामग्री दीख पड़ती है। सम्भवतः यह सफ़ेद फूलों का हार है—जिसे आजकल की स्त्रियाँ विशेष रूप से धारण करती हैं—या कोई चाँदी का गहना। स्त्रियों की कमर बड़ी लचीली और पतली है जिन्हें 'मुष्टिमेय' कहें तो

---

1 "The walls and pillars of the Ajanta Caves constitute the back-screen of a vast drama. The dramatis personae are heroes, princes, ordinary men and women, all of whom are imbued with the joy of existence."

2 "And in its exquisite sentiment comparable with the wonderful madonnas of Giovanni Bellini."—इंडियन स्कल्पचर एण्ड पेंटिंग पृ० १६४—१६५।

3. "By its grace of pose and charm of design, the painting, in this cave, of mother and child making an offering to Buddha suggests the purity of a mediaeval Italian madonna with her bambino."

कुछ अत्युक्ति नहीं होगी। इनके कुच उभरे हुए हैं और वस्त्र इतने बारीक हैं कि सारा शरीर दिखाई पड़ता है। इनके छाते बर्मा देश के छातों की भाँति लम्बे और नहीं मुड़नेवाले हैं। स्त्रियों की गर्दन तिरछी, आँखों की गति वक्र और टाँगें टेढ़ी हैं मानो ये किसी भावमुद्रा में खड़ी हों। पुरुषों में कुछ का शरीर खुला है और कुछ का ढका है। ये भी तिरछे ढङ्ग से खड़े हैं मानों नाचने के लिए तैयार हों। इस चित्र के देखने से तत्कालीन वेश-भूषा का अच्छा ज्ञान होता है। चित्रकारों ने जिस सफ़ाई से चित्र खींचा है वह प्रशंसनीय है।

तीसरा चित्र हाथियों वाले जुलूस का है। इसमें बहुत से हाथी चित्रित हैं जिनके ऊपर बैठकर अनेक स्त्री-पुरुष जा रहे हैं। प्रधान हाथी बहुत सुन्दर है। इसके दोनों सफ़ेद दाँत सूँड़ से बाहर निकले हुए हैं। इसकी पूरी सूँड़ के ऊपर रंगों से अनेक प्रकार के चित्र खींचे गये हैं। माथे के ऊपर सिर के ढकने का वस्त्र है जिसमें संभवतः ज़री का काम किया गया है। हाथी के गले में हलका भी सुशोभित हो रहा है। उसकी झूल भी सुन्दर है जो रंगीन कपड़ों से तैयार की गई है। प्रधान हाथी पर एक पुरुष बैठा हुआ है जिसके सिर पर मुकुट और छत्र होने के कारण यह ज्ञात होता है कि यह राजा होगा। दूसरे हाथियों पर स्त्रियाँ बैठी हुई हैं जिन्होंने हाथ, कान तथा गले में अनेक आभूषण पहन रक्खे हैं। ये स्त्रियाँ वस्त्रों तथा अलंकारों से बहुत ही सुसज्जित हैं। इस प्रकार यह जुलूस बड़ा ही सजीव और स्वाभाविक हो गया है। इसे देखने से आधुनिक देशी रजवाड़ों के जुलूसों की याद आती है जिनमें स्त्रियों का अभाव खटकता है।

बुद्ध के जीवन-संबंधी चित्रों में इनके 'महाभिनिष्क्रमण' का चित्र बड़ा सुन्दर प्रदर्शित किया गया है। इस चित्र में एक युवक अंकित किया गया है जिसके सिर पर मुकुट होने से यह ज्ञात होता है कि यह सिद्धार्थ ही है। इसका शरीर सुडौल तथा सुपुष्ट है। कमर से ऊपर का शरीर नंगा है तथा कमर में एक धोती है जो चारों तरफ़ से लपेटी हुई सी जान पड़ती है। बायें हाथ में एक सूत (सूत्र) बँधा हुआ है तथा दाहिने में एक कमल का फूल है जिसे वह धारण कर रहा है। इसके शरीर में मोटा यज्ञोपवीत है और गले में माला है। इसके कान लम्बे हैं और आँखें अध-खुली हैं जिनसे अहिंसा, शान्ति तथा वैराग्य बरस रहा है। चेहरा गंभीर है और सांसारिक वस्तुओं के प्रति उदासीनता को प्रकट कर रहा है। इस चित्र के विषय में भगिनी निवेदिता लिखती हैं कि "यह चित्र संभवतः भगवान् बुद्ध का सबसे बड़ा कल्पनात्मक प्रदर्शन है जिसे संसार ने कभी देखा है। ऐसी अद्वितीय कल्पना कठिनता से दूसरी बार उत्पन्न हो सकती है[1]।"

भगवान् बुद्ध के पूर्व-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले चित्रों के साथ-साथ बोधिसत्व के सुन्दर चित्र अन्य गुफाओं में चित्रित हैं। अजन्ता की १७वीं गुफा में कुछ बहुत

---

1. "This picture is perhaps the greatest imaginative presentment of Buddha that the world ever saw. Such a conception could hardly occur twice." फुटफाल्स आफ इण्डियन हिस्ट्री—पृ० १३५–१३६।

सुन्दर चित्र खींचे गये हैं। उनमें एक चित्र में एक राजा सोने के हंस की बातों को बड़े चाव से सुन रहा है। निवेदिता ने इस चित्र के विषय में लिखा है कि "अजन्ता के १७वीं गुफा में अंकित चित्र से बढ़कर—जिसमें एक राजा हंस की बातों को सुन रहा है—संसार में दूसरा सुन्दर चित्र नहीं हो सकता है[1]"। उसी गुफा में रानी माया का एक चित्र है जिसमें वह लुम्बिनी बगीचे में घुसती दिखलाई गई है। यह चित्र भी बहुत ही सुन्दर खींचा गया है।

इसके अतिरिक्त अजन्ता की गुफाओं में जातक-कथाओं को—जिनमें भगवान् बुद्ध के पूर्व-जीवन का चरित्र है—लेकर अनेक चित्र अंकित किये हैं। इन जातक-कथाओं को 'बुधिस्ट पुराण' कहें तो अत्युक्ति न होगी। अजन्ता के चितेरों को अपनी चित्र-कला-चातुर्य दिखलाने का इससे अधिक मसाला और कहाँ मिल सकता था? अतः उन्होंने इन कथाओं का अपने चित्रों में बड़ा उपयोग किया है।

भारतीय चित्रकला के इतिहास में अजन्ता की चित्रकला का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि यह कहें कि अजन्ता की चित्रकला के बिना भारतीय चित्रकला का इतिहास सदा अधूरा रहेगा, तो कुछ अनुचित नहीं होगा। अजन्ता में भारतीय चित्र-कला अपनी परा काष्ठा पर पहुँची हुई है। श्रीमती ग्रेबोस्का (Grabowska) अजन्ता की चित्र-कला के विषय में लिखती हैं—"अजन्ता की कला भारत की सर्वश्रेष्ठ कला है। चित्रों की सुन्दरता अलौकिक है तथा वे भारतीय चित्र-कला के चरम-उत्कर्ष हैं[2]"। अजन्ता की चित्रकला को, उसकी अनुपम सुन्दरता तथा अलौकिक मनोहरता के कारण, कलाविदों ने उच्च कोटि की कला का नाम दे रक्खा है। इस प्रकार अजन्ता की कला भारतीय अन्य चित्र-कला से पृथक् हो जाती है। अजन्ता में प्रस्तर-कला और चित्र-कला दोनों के उत्कृष्ट नमूने मिलते हैं। अजन्ता के चित्रकारों को जितनी प्रशंसा की जाय उतनी ही थोड़ी है।

भारतीय चित्रकला में अजन्ता की महत्ता

अजन्ता की चित्रकला में स्वाभाविकता है, जीवन है, सादगी है, साम्य है, औचित्य है तथा सबसे बढ़कर उन चित्रकारों की सौन्दर्य-भावना है। अजन्ता के चित्रकारों ने कभी कुरुचिपूर्ण चित्रों की कल्पना ही नहीं की। उनकी रसभावना इतनी रुचिकर है कि बीभत्स और कुरूप चित्रों की वे कभी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उनके चित्र स्वाभाविकता से पूर्ण हैं। चित्रों में इतना जीवन है मानों वे अभी बोलने को तैयार बैठे हैं। इन चित्रों में यद्यपि अलंकरण-

अजन्ता की विशेषता

---

1. "Nowhere in the world could more beautiful painting be found than in the king listening to the golden goose in cave seventeen" फुटफाल्स आफ इंडियन हिस्ट्री—पृ० १३४

2. "Thus the art of Ajanta is the classical art of India. The beauty of the paintings is marvellous and they are the high water-mark of Indian painting"—ऐंशेण्ट इण्डिया एण्ड सिविलाइज़ेशन (तीसरा खण्ड)।

विधान की ओर रुचि अवश्य दीख पड़ती है परन्तु वह कभी भद्देपन की सीमा को नहीं पहुँची है। औचित्य का ध्यान सर्वत्र रक्खा गया है। माता और पुत्रवाले चित्र में दीनता, दया तथा दरिद्रता का जैसा सुन्दर प्रदर्शन किया गया है, उसे कला-मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं। जुलूसवाले चित्र में स्त्रियों की सुन्दरता अनुपम एवं अलौकिक है। महाकवि श्रीहर्ष ने अपनी कविता में स्त्रियों की कटि का वर्णन करते हुए उसे 'मुष्टिमेय' कहा है परन्तु अजन्ता के चितेरों ने इस कथन को अपनी तूलिका के बल से प्रत्यक्ष कर दिखाया है। अतएव यदि अजन्ता के चित्रों को हम (A long poem in brush) तूलिका से अभिव्यञ्जित मनोरम कविता कहें तो कुछ अनुचित न होगा।

अजन्ता के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ

अजन्ता के चित्रों की महत्ता के विषय में सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता सर आरेल स्टाइन (Aurel Stein) ने क्या ही अच्छा कहा है कि "पूर्वी कला तथा बुद्ध-धर्म के विद्यार्थी के लिए भविष्य में होनेवाले अनुसन्धानों के द्वारा अजन्ता के चित्रों की महत्ता सम्भवतः अतिक्रमण नहीं की जा सकती[1]"। सुप्रसिद्ध कलाविद् लारेंस बिनयान (Binyon) ने अजन्ता के विषय में लिखा है कि "अजन्ता की कला एशिया तथा एशिया की कला के लिए वही विशेष महत्ता रखती है जो कि एसिसी, सीना और फ्लोरेंस की कला यूरोप तथा यूरोपीय कला के लिए। × × × बुद्ध-धर्म के द्वारा निर्मित अजन्ता की चित्र-कला बची हुई एक महान् विभूति है[2]"। अजन्ता के चित्रों ने ग्रिफिथ साहब के ऊपर बड़ा प्रभाव डाला था। उन्होंने अजन्ता की गुफाओं में रहकर उस शान्तमय वातावरण में अपना समय बिताया था। अतः इनको उन चित्रों के पास रहकर उनका अध्ययन करने का बड़ा अच्छा मौका मिला था। आप अजन्ता की सुन्दरता के विषय में कहते हैं—"जिस दिमाग ने अजन्ता के चित्रों की कल्पना और रचना की, उसकी अवस्था में तथा चौदहवीं शताब्दी में इटालियन चित्रों को बनानेवाले चित्रकारों के दिमाग की अवस्था में बहुत कुछ समानता है। इन चित्रों को जिस किसी ने बनाया हो, वे लोग सांसारिक अवश्य होंगे। × × × दैनिक जीवन के जो चित्र इन दीवालों पर अंकित हैं वे ऐसे ही पुरुषों द्वारा बनाये गये होंगे जिनकी निरीक्षण-शक्ति बड़ी तीव्र और स्मरण-शक्ति चिरस्थायी थी[3]"। ग्रिफिथ साहब ने उपर्युक्त

---

1. "It is most unlikely that their value for the student of Eastern art and of Buddhism will ever be surpassed by any discoveries still possible in the future" ऐनुवल रिपोर्ट आफ़ आर्कोलाजिकल डिपार्टमेण्ट आफ़ निजाम्स डोमिनियन फ़ार १९१८-१९।

2. "The frescoes of Ajanta have for Asia and the history of Asian art the same outstanding significance that the frescoes of Assisi, Siena and Florence have for Europe and history of European art × × × Ajanta is the one great surviving monument of the painting created by Buddhist faith and fervour." अजन्ता फ़्रेस्कोज़—लेडी हेरिंघम।

3. "The condition of mind which originated and executed these paintings at Ajanta must have been very similar to that which produced the early Italian paintings of the 14th century, as we find much that is

शब्दों में सत्य बातों का वर्णन किया है। अजन्ता की कला यूरोपीय चित्र-कला से अनेक अंशों में श्रेष्ठ है। इस सम्बन्ध में एक सुप्रसिद्ध विद्वान् की सम्मति को उन्हीं के शब्दों में[1] अक्षरशः उद्धृत कर इस प्रकरण को हम यहीं समाप्त करते हैं।

बाघ की चित्रकारी

बाघ मध्यभारत के ग्वालियर राज्य में स्थित अमभेरा ज़िले में एक छोटा-सा गाँव है[2]। बाघ नदी के तट पर बसे रहने के कारण इसका ऐसा नामकरण हुआ है। बाघ गाँव के चारों ओर विन्ध्य की पहाड़ियाँ विद्यमान हैं तथा यह स्थान जंगल से घिरा हुआ है। बाघ की कन्दराएँ इसी विन्ध्य को काट कर बनाई गई हैं। जंगल में स्थित होने से यहाँ पर जाना अत्यन्त कठिन था। इसी कारण ये बहुत दिन उपेक्षित अवस्था में पड़ी थीं। सर्व प्रथम इन कन्दराओं का पता लेफ्टिनेन्ट डेञ्जरफील्ड ने सन् १८१८ ई० में लगाया। इकसर्न ने यहाँ के चित्रों की अलौकिक सुन्दरता का वर्णन किया तथा उनके उद्योग से इन कन्दराओं का संस्कार हुआ और चित्र सुरक्षित किये गये।

बाघ की कन्दराओं की संख्या नव है तथा ये ७५० गज़ की दूरी तक फैली हुई हैं। ये सब एक साथ मिली हुई नहीं हैं बल्कि भिन्न-भिन्न स्थानों पर अलग-अलग निर्मित की गई हैं।

विद्वानों का मत है कि बाघ-कन्दराओं की चित्रकारी पाँचवीं और छठी शताब्दी में तैयार की गई थी। इसका प्रमाण यह है कि एक कन्दरा में एक चित्र के नीचे 'क' अक्षर लिखा हुआ मिला है। शायद यह कोई लेख था

काल

जो आजकल मिट गया है। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने प्राचीन लिपि के अध्ययन के आधार पर यह निश्चय किया है कि इस 'क' अक्षर

---

common to both. Whoever were the authors of these paintings, they must have constantly mixed with the world. ....These paintings must have been done by men of keen observation and retentive memories." ग्रिफिथ-पेन्टिंग्स इन दी बुधिस्ट केव्स एट अजन्ता।

1. "Ajanta is to India what Siena is to Italy, for the treasures of the cave galleries might be likened to the mediaeval masterpieces preserved in the Tuscan city. Gabriel Faure referred to the Sienese paintings with their golden backgrounds as "One long poem of love" and the same description applies to the Ajanta frescoes. Indian and Italian artists were content to work disinterestedly. They gave of their best in the cause of religion, free from ulterior motive of self-glorification. The frescoes of both Ajanta and Siena teach the virture of "work accomplished in humility..........unsmirched by strivigs after tempestuous novelity."

२. आज कल बाघ जाने के लिए बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवे की राजपूताना मालवा लाइन के महाव स्टेशन से जाना होता है। स्टेशन से बाघ ९० मील की दूरी पर है। यह रास्ता मोटर से तय किया जाता है।

की लिखावट गुप्त-कालीन लिपि से मिलती है। बाघ की चित्रकारी और अजन्ता की चित्र-कला में बड़ी समानता दीख पड़ती है। अजन्ता की पहली चित्रकारी गुप्त-कालीन है अतः इन प्रमाणों के आधार पर निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बाघ की चित्रकारी भी गुप्त-कालीन ही है।

जैसा पहले लिखा गया है, बाघ की कन्दराओं की संख्या नव है। इसमें प्रथम गुफा का नाम 'गृह' है जो कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखती। यह नष्ट भ्रष्ट हो गई है अतः भीतर जाना असम्भव है। दूसरी कन्दरा 'पाण्डवों की गुफा' के नाम से प्रसिद्ध है। अति विस्तृत होने के अतिरिक्त यह सबसे सुरक्षित गुफा है। परन्तु अग्नि धूममाला और पक्षियों के कारण समस्त चित्रकारी नष्ट हो गई है। इस गुफा के बीच में एक सुविशाल चतुष्कोण कमरा और तीनों तरफ छोटे कमरे हैं। सामने एक बरसाती है तथा पीछे स्तूप-मन्दिर है। इस गुफा में पत्थर काटकर बुद्ध और गणेश की मूर्तियाँ बनाई गई हैं। ये आठ फ़ीट ऊंची और इतनी ही लम्बी हैं। इनमें प्रत्येक में दीप स्थान बना हुआ है। इस गुफा में बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियाँ अधिक संख्या में मिली हैं। तीसरी गुफा का नाम 'हाथीखाना' अथवा हस्ति-शाला है।

चौथी गुफा 'रङ्ग-महल' के नाम से सुप्रसिद्ध है। जैसा कि नाम से स्पष्ट प्रकट होता है, सचमुच ही यह गुफा रङ्ग का महल—चित्रकारी का गृह ही है। इस गुफा की सबसे बड़ी विशेषता तथा महत्ता यह है कि इसी गुफा में वह मनोरम, भावप्रद सुन्दर तथा अलौकिक चित्रकारी मिली है जिसके कारण बाघ जैसे जङ्गली गाँव को इतना महत्त्व प्रदान किया गया है तथा गुप्त-कालीन चित्रकला इतनी उत्कृष्ट समझी जाती है। इसी स्थान पर पीछे की दीवाल तथा छत पर चित्रकारी के कुछ चिह्न दीख पड़ते हैं। इस गुफा के तीन प्रधान द्वार तथा दो वर्गाकार खिड़कियाँ हैं। दूसरी गुफा की भाँति इसमें भी गुफा के मध्य में एक सुविशाल वर्गाकार हाल है जिसके चारों ओर बरामदा बना हुआ है। हाल के मध्य में जो चार स्तम्भ हैं वे पहाड़ को काटकर बनाये गये हैं और प्राकृतिक रूप में स्थित हैं। बरामदे के समस्त स्तम्भों तथा अन्तिम चारों कोनों के स्तम्भों में भी चित्रकारी हुई है और जानवरों के चिह्न प्रस्तरों में उत्कीर्ण किये गये हैं। इस गुफा में बुद्ध की अनेक मूर्तियाँ भी मिली हैं। प्रस्तरों में स्त्रियों की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं।

कतिपय रमणीय चित्र

बाघ-गुफा की चित्रकारी ४थी और ५वीं गुफा की अगली दवाली की ऊपरी सतह पर पाई जाती है। ये ही चित्र सबसे अधिक सुरक्षित हैं। यों तो दूसरी गुफा में भी चित्रकारी के चिह्न पाये जाते हैं परंतु वे अब नष्टप्राय हो गये हैं। इन सुरक्षित चित्रों की कुल संख्या ६ है। ये चित्र पर्वत के प्रस्तर-खण्ड को चिकना बनाकर तथा ऊपर एक प्रकार की पालिश लगाकर बनाये गये हैं। विद्वानों का मत है, कि बाघ में जो चित्र मिलते हैं वे फ्रेस्को पेंटिंग (Fresco painting) नहीं हैं बल्कि टेम्पेरा पेंटिंग (Tempera painting) है। इन छः चित्रों का संक्षिप्त वर्णन दिया जाता है। प्रथम दृश्य में दो स्त्रियाँ चँदवे के नीचे बैठी हुई हैं, जिनमें से एक दुःख से आक्रान्त है। वह अपने हाथ से अपना मुख ढके हुए है

और दूसरा हाथ, जो बड़ी सुन्दर रीति से चित्रित है, बाहर निकाले हुए है। दूसरी स्त्री सहानुभूति दिखलाती हुई या तो उसे आश्वासन दिला रही है या उसकी करुण कहानी सुन रही है। वह सिर को अपने बायें हाथ पर टेके हुए है जिसमें दो कंकण विद्यमान हैं। दूसरे दृश्य में चार मनुष्य—जो शायद सब पुरुष हैं—बैठे हुए गम्भीर शास्त्रार्थ में लगे हुए हैं। इनकी आकृति काली है। प्रत्येक पुरुष पद्मासन बाँधे नीले और श्वेत गद्देदार आसन पर बैठा हुआ है तथा केवल एक विचित्र धोती पहने हुए है। बाईं ओर से दूसरा पुरुष—जो गोलाकार शिरस्त्राण को धारण किये हुए है और जिसमें रत्न जड़े गये हैं—अवश्य कोई शासक महान् व्यक्ति है जो शास्त्रार्थ में मध्यस्थ का कार्य कर रहा है। यह पुरुष मोतियों की माला, कङ्कण-कड़ा तथा कर्णावतंस भी धारण कर रहा है। दूसरे मनुष्य भी गहने पहने हैं। तीसरे पुरुष का सिर नंगा है। यह चित्र किसी जङ्गल अथवा बगीचे का है। तीसरे दृश्य में दो चित्र-विभाग दिखाई पड़ते हैं। एक चित्र का रूप दूसरे के ऊपर चित्रित किया गया है। ये दोनों विभाग एक सम्पूर्ण चित्र के हैं अथवा नहीं, यह कहना कठिन है। ऊपर के चित्र में छः पुरुष हैं जो स्पष्टतः उड़ते हुए प्रतीत होते हैं तथा बादल से निकल रहे हैं। इनमें का प्रधान पुरुष केवल एक अधोवस्त्र (धोती) पहने हुए है। चित्र के दूसरे पुरुषों का केवल उत्तमाङ्ग ही दृष्टिगोचर होता है। शेष अंश बादल से निहित है। ये पुरुष हाथ फैलाये हुए उड़ रहे हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये शायद आशीर्वाद देने के लिए ऐसा कर रहे हों। सम्भवतः ये ऋषि अथवा अर्हत् हैं। नीचे के चित्र में केवल पाँच ही सिर दिखाई पड़ते हैं जो सम्भवतः नर्तकियों के हैं। इनमें एक वीणा धारण किये हुए है। ये स्त्रियाँ अपने बालों को पीछे की ओर कंघी कर एक गाँठ में बाँधी हुए हैं। चौथी स्त्री की केश-ग्रन्थि में श्वेत रस्सी तथा नीले फूल गूँथे हुए हैं।

चौथे दृश्य में स्त्री गायिकाओं के दो समूह दृष्टिगोचर होते हैं। एक बाईं ओर तथा दूसरा दाहिनी ओर है। यह दृश्य सब दृश्यों से सुन्दर तथा मनोमोहक है। इसमें की गई चित्रकारी देखते ही बनती है। बाईं ओर के समूह में सात स्त्रियाँ एक आठवीं स्त्री को चारों ओर से घेरे हुए खड़ी हैं। आठवाँ चित्र एक नर्तक का है जो एक विशेष प्रकार का वेष धारण किये हुए है। यह नर्तक लम्बा, कुछ हरे रङ्ग का चोगा, जिसमें श्वेत चिह्न अङ्कित हैं, पहने हुए है। यह चोगा (लम्बा कोट) घुटने तक फैला है। एक ढीली करधनी तथा मोतियों की माला पहने है जो अन्य रत्नों से जटित है। उसके बाल कन्धों के दोनों ओर बिखरे पड़े हैं। पैरों में चुस्त पायजामा है तथा दाहिना पैर झुका है। नर्तकियों की भाँति ही इसकी हथेली ऊपर की ओर है। सात गायिकाओं में से एक मृदङ्ग बजा रही है, तीन छोटी छोटी लकड़ियाँ बजा रही हैं तथा शेष तीन झाल पीटती हैं। मृदङ्ग बजानेवाली स्त्री के दोनों हाथ बड़ी सुन्दर रीति से दिखलाये गये हैं। दाहिने हाथ की ओर वाले दूसरे समूह में गायिकाएँ एक नर्तक को घेरे हुए खड़ी हैं जो हरा चोगा, [illegible] पायजामा, कर्णभूषण तथा कड़ा पहने हुए है। इन स्त्रियों की संख्या छः है जिनमें एक मृदङ्ग, दो झाल तथा तीन एक छोटी लकड़ी बजा रही हैं। यह चित्र

सब चित्रों से अधिक चित्ताकर्षक तथा मनोरम है। चित्र बिल्कुल जीते-जागते से मालूम पड़ते हैं। सुप्रसिद्ध कला-मर्मज्ञ श्री हैवेल का मत है कि इस चित्र में जो नर्तक है वह पुरुष है तथा वह नटराज शिव की भाँति ताण्डव-नृत्य कर रहा है। उसके बिखरे केश शिवजी की जटा-स्वरूप हैं। पाँचवें दृश्य में घोड़ों के जुलूस का दृश्य दिखलाया गया है। इस चित्र में कम से कम सत्रह घुड़सवार हैं जो आगे पाँच या छः कतारों में चल रहे हैं। प्रधान पुरुष अवश्य ही कोई मध्य में स्थित घुड़-सवार है जिसका सिर राज-लक्ष्मी के चिह्नों से सुशोभित हो रहा है। वह नीले रङ्ग से चित्रित पीले वस्त्र से सुसज्जित है तथा बायें हाथ से घोड़े की रास पकड़े हुए है। इस राजकीय जुलूस के सब पुरुष जाँघ तक पहुँचने वस्त्र को धारण करते हैं। इनका शिरस्त्राण विचित्र प्रकार का है। जैसे पाँचवें दृश्य में घोड़ों का जुलूस चित्रित है उसी प्रकार छठे दृश्य में हाथियों का जुलूस चित्र में दिखलाया गया है। डा० डम्पी के कथनानुसार इस जुलूस में छः हाथी तथा तीन घुड़सवार हैं। घुड़सवारों में अब केवल एक दिखाई पड़ता है। जुलूस के प्रधान हाथी का चित्र प्रायः नष्ट हो गया है। इस पर चढ़ा हुआ एक मनुष्य ज्ञात होता है। उसका शरीर-परिमाण बड़ा है। रङ्ग भूरा है तथा काले रङ्ग के लम्बे और बिखरे बाल हैं। वह एक सफेद टोपी पहने है जो नीले फूल की भाँति दिखाई पड़ती है। हाथ बड़े ही सुन्दर काम किये हुए झूल से सुसज्जित हैं। यद्यपि इस मनुष्य का वस्त्राभूषण साधारण है परन्तु यह अवश्य ही कोई राजा है, क्योंकि इसके पीछे बैठा हुआ मनुष्य छत्र, चामर आदि राजकीय चिह्न धारण कर रहा है। इस दृश्य के मध्यभाग में चार हाथी हैं जिनमें दो बड़े तथा दो छोटे हैं। इनमें से एक छोटा हाथी अधिक आगे बढ़ रहा है और महावत उसे अंकुश से मार कर रोक रहा है। कुछ सवार ध्वजा भी लिये हुए हैं। हाथी का दाँत बड़ी सुन्दर रीति से निकला हुआ दिखलाया गया है। पिछले भाग में हाथी पर बैठे चार चित्र दिखाई पड़ते हैं। इनमें प्रथम और तीसरी स्त्री चोली पहने हुए है तथा दूसरी नंगी है। ये सब कर्ण-भूषण, मोतियों की माला तथा कंकण से सुशोभित हैं। ये चित्र बड़े ही सुन्दर तथा हृदय को आकर्षित करते हैं।

बाघ की गुफाओं में कितने चित्र हैं, उनका विषय क्या है तथा इन चित्रों में किन-किन वस्तुओं का चित्रण किया गया है, इसका विवरण पीछे दिया जा चुका है। बाघ की चित्रकला भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यदि अजन्ता की चित्र-कला अनुपम तथा अलौकिक है तो बाघ की चित्रकारी उससे कम सुन्दर नहीं है। बाघ के चित्र भाव-प्रधान हैं। उनमें भाव-व्यञ्जना की एक अजीब शक्ति है। चित्रकार के हृदय के स्वर्गीय आनन्द तथा भावों की लहर बाघ के चित्रों में लहराती हुई मिलती है। चित्रकार के हृदय में आनन्द का जो स्रोत उमड़ पड़ा, उसको उसने इन चित्रों में अभिव्यक्त किया है। इन चित्रों में औचित्य का बड़ा ही ध्यान रक्खा गया है। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता सर जान मार्शल का मत है कि बाघ की चित्रकला अजन्ता की चित्रकारी से किसी प्रकार भी कम नहीं है। इन चित्रों का रचना-प्रकार अपना विशेष मूल्य रखता है। मार्शल

बाघ चित्रों की महत्ता

का कहना है, बाघ के चित्र जीवन की दैनिक घटनाओं से लिये गये हैं। परन्तु वे जीवन की सच्ची घटनाओं को ही केवल चित्रित नहीं करते बल्कि उन अव्यक्त भावों को स्पष्ट करते हैं जिनको प्रकट करना उच्च कला का ध्येय है[1]। अजन्ता में जो चित्र खींचे गये हैं वे अलग-अलग, टुकड़े-टुकड़े के रूप में चित्रित प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह है कि ये चित्र भिन्न भिन्न राजाओं के दान से भिन्न-भिन्न समय पर बने। अतः इन्हें देखने से एक समष्टि का भाव नहीं होता। परन्तु बाघ के चित्रों के देखने से पता चलता है कि उनके चित्रित करने की कल्पना एक ही समय की गई थी और उनका निर्माण एक ही अवसर पर हुआ था। अथवा वे एक ही विचार-पूर्ण कल्पना के अंग हैं। उनके देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि चतुर चित्रकार ने इन चित्रों की सम्पूर्ण कल्पना एक साथ की थी[2]। भारतीय संस्कृति के परम प्रशंसक, सुप्रसिद्ध कला-आलोचक श्री हेवेल का भी यही कथन है। आपका मत है कि बाघ के चित्रों में औचित्य का बड़ा ध्यान रक्खा गया है। कौन सा अंश कितना बड़ा और कितना छोटा होना चाहिए, इस पर विशेष ध्यान दिया गया है। बड़ी और छोटी वस्तुओं का सम्मिश्रण इस प्रकार से हुआ है, वे इस अनुपात के साथ बनाई गई हैं कि आँखों के सामने एक सम्पूर्ण सुन्दर चित्रों का खाका-सा खिंच जाता है। इसी कारण बाघ के चित्र चित्र-कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं[3]। सुप्रसिद्ध कवि-चित्रकार कजिंस का मत है कि बाघ के चित्र उत्कृष्टता में अपना सानी नहीं रखते हैं। आनन्दोद्रेक से भी ये चित्रकला की सीमा के अन्दर ही हैं। इन चित्रों में न तो अहंभाव का भाव है और न तुच्छता का स्थान। अजन्ता के चित्रों का विषय प्रधानतया धार्मिक है। मनुष्य जीवन का चित्रण अप्रधान मात्र है। परन्तु बाघ के चित्र प्रधानतया मानव-जीवन से संबंध रखते हैं। धार्मिक मात्रा गौण रूप में है। अजन्ता

---

1. The artists, to be sure, have portrayed their subjects direct from life—of that there is no shadow of doubt but however fresh and vital the portrayal may be, it never misses that quality of abstraction which is indispensable to mural decoration, as it is, indeed, to all truly great paintings. मार्शल--बाघ केव्ज पृ० १७ (The Bagh Caves Page 17.)

2. For where at Ajanta most of the paintings appear to have been done piecemeal—according, it may be presumed, as benefactions were made by successive donors—at Bagh they give the impression of having been conceived and executed at one and the same time, or at any rate in conformity with a single well-thought-out-scheme. वही

3. It is the skill with which the artist has preserved the due relation between the major and minor parts of his design, and welded them together into a rich and harmonious whole, with no apparent effort or straining after effect, which entitle this great Bagh painting to be ranked among the highest achievements of its class. हावेल, वही, पृ० ६५

के चित्रों में तपस्या का भाव अत्यधिक होने के कारण तथा बुद्ध जैसे अलौकिक व्यक्ति के चित्रण के कारण चित्रकार को स्वगत हार्दिक भावों को अभिव्यक्त करने का कम अवसर मिला है। परन्तु बाघ के चित्रों में, मानव-जीवन से सम्बद्ध होने के कारण, चित्रकार के स्वानुभूत स्वर्गीय आनन्द को अभिव्यक्त करने का अधिक अवकाश प्राप्त हुआ है। ये चित्र गम्भीरता से हीन नहीं हैं। अद्भुत सौन्दर्य का वह अंश जो अजन्ता के चित्रों में निहित है—प्रायः नष्ट-प्राय है, वह सौंदर्य बाघ के चित्रों में सुन्दर रीति से निर्मित है तथा प्रस्फुरित होता है। अङ्गभङ्गी, चरण-विन्यास, सुन्दर हस्त-विक्षेप इत्यादि सैकड़ों प्रकार की भावव्यञ्जना और अलंकरण उस चतुर चित्रकार के चित्र-निर्माण में अलौकिक शक्ति, हृदय के स्वर्गीय आनन्द की दिव्य-ज्योति तथा प्रचुर-प्रसार को सहजतया प्रस्फुटित करता है[1]।

सङ्गीत और अभिनय

हमारे शास्त्रों में सङ्गीत की बड़ी महिमा गाई गई है। सङ्गीत में वह मोहिनी माया है जिसके वश में होकर मनुष्य की कौन कहे, अपढ़ पशु भी प्राणों की आहुति देते देखे गये हैं। भर्तृहरि ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जो साहित्य, सङ्गीत और कला से विहीन है वह पूँछ-रहित साक्षात् पशु है—'साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः'। प्राचीन भारत में सङ्गीत को बड़ा महत्त्व दिया जाता था और यह ललितकला का एक प्रधान अङ्ग था। वात्स्यायन ने कामसूत्र में प्रत्येक नागरिक के लिए सङ्गीत जानना आवश्यक बतलाया है। सङ्गीत का प्रयोग केवल सांसारिक आमोद-प्रमोद के लिए ही नहीं होता था प्रत्युत यह ईश्वर की आराधना और आध्यात्मिक विकास में भी अत्यन्त सहायक था। भला ऐसी उपयोगी तथा आनन्दप्रदायिनी कला से गुप्त-कालीन नागरिक कैसे वञ्चित रह सकते थे?

गुप्त-काल में ललितकला की सर्वाङ्गीण उन्नति हुई थी। जिस प्रकार चित्रकला में तत्कालीन चित्रकारों की कृतियाँ सफलता की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई थीं उसी प्रकार सङ्गीत में भी तत्कालीन सङ्गीताचार्यों की गायन-वादन-कला कुछ कम प्रवीणता को प्राप्त न थी। कालिदासीय ग्रन्थों में सङ्गीत का विशद उल्लेख पाया जाता है। तक्षणकला में भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। वात्स्यायन ने सङ्गीत के तीन मुख्य विभाग किये हैं। (१) गीत, (२) वाद्य, (३) नृत्य। इन तीनों का वर्णन क्रमानुसार यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

महर्षि वात्स्यायन ने लिखा है कि नागरिक स्वयं गान की जानकारी रखता था और उसके लड़के गन्धर्वशाला में सङ्गीत-शिक्षा के लिए भेजे जाते थे[2]। प्राचीन समय में

---

1. But while the Ajanta Frescoes are more religious in theme, depi[illegible] from the lives of Buddha, the Bagh Frescoes are more [illegible] life of the time with its religious associations. In the Bagh Fresco[illegible] the humanity of the theme gives free rein to the joy of the Artist, though the general tone is one of gracious solemnity. The aesthetical element which is latent, almost cold, in Ajanta, is potent and pulsating in Bagh. डा. [illegible], बाघ केव्ज पृ० ७३-७४।

२. [illegible]—सोशल लाइफ इन एंशेंट, इण्डिया पृ० १८३-[illegible]।

राजाओं के यहाँ गायनाचार्य नियुक्त किये जाते थे जो राजा के लड़के-लड़कियों को गीत, वाद्य और नृत्य की शिक्षा देते थे। इस समय में सङ्गीतशालाएँ भी होती थीं जिनमें ये सङ्गीताचार्य शिक्षा देते थे। मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने ऐसे ही एक गायनाचार्य का उल्लेख किया है। इसका नाम हरदत्त था। कभी-कभी सङ्गीताचार्यों में स्पर्धा की भी कमी न थी। हरदत्त मालविका को सङ्गीत-शिक्षा देता था। एक बार राजा ने जानना चाहा कि हरदत्त और उसके प्रतिद्वन्द्वी सङ्गीतज्ञ इन दोनों में कौन अधिक निपुण है और यह निश्चित हुआ कि जिसका शिष्य सङ्गीत का उत्कृष्ट प्रदर्शन करेगा वही गुरु श्रेष्ठ समझा जायगा। हरदत्त की आज्ञा से मालविका ने लोगों के सामने अपने गीत और नृत्य का प्रदर्शन किया। राजा सहित सब लोग उसके इस प्रदर्शन से बहुत प्रसन्न हुए। इससे ज्ञात होता है कि उस समय राजकुमारियों को भी सङ्गीत की अच्छी शिक्षा दी जाती थी। शूद्रक ने लिखा है कि आर्य चारुदत्त सङ्गीत का बड़ा भक्त था तथा प्रायः सङ्गीत सुनने में अपना समय लगाता था। चारुदत्त ने सङ्गीत की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है[1]। विरह-विधुरा पत्नी गीत गा-गाकर ही अपने दुःखद दिन काटती थी। प्रयाग की प्रशस्ति में लिखा है कि सम्राट् समुद्रगुप्त सङ्गीत का परम उपासक था और उसने इस कला में तुम्बुरु और नारद को भी लज्जित कर दिया था[2]।

सोये हुए राजा को प्रातःकाल में मागध लोग मंगलजनक स्तुति-गान करके ही जगाते थे। रघुवंश में कालिदास ने इस प्रबोधमङ्गल का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है[3]। सामाजिक उत्सवों—विवाहादि के अवसर—पर जनता संगीत के द्वारा ही मनोविनोद किया करती थी। राजा जब कभी उदासीन हो जाता था तब संगीत के द्वारा ही मन बहलाता था। इससे ज्ञात होता है कि गीत का बहुत बड़ा प्रचार था।

गीत, नृत्य और वाद्य यह एक त्रयी के समान है जो आपस में अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध से रहते हैं। जहाँ गीत है वहाँ नृत्य तथा वाद्य का होना अवश्यम्भावी है। गुप्त-काल में नृत्य का प्रचुर प्रचार था। पुत्र-जन्म के समय, विवाह-काल के अवसर पर और मनोरञ्जन के लिए भी नृत्य किया जाता था। राजाओं के घर जब पुत्र-रत्न पैदा होता था तब वेश्याएँ नृत्य के लिए बुलाई जातीं और ये अपने विदग्ध, भावपूर्ण नृत्य से राजा को उनकी मण्डली के साथ रिझाती थीं। रघु के जन्म के अवसर पर वेश्याओं के नृत्य का कालिदास ने उल्लेख किया है। रघु के जन्म-ग्रहण करने पर वेश्याओं का नृत्य तथा मंगल-वाद्य बजाये गये[4]। राजप्रासादों में राजा के मनोरञ्जनार्थ वारयोषितों का नृत्य प्रायः हुआ करता था और राजा अपने मन्त्रि-मण्डल के साथ इस नृत्य को देखता था। कालिदास ने रामानुरागी, कामुक अग्निवर्ण का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। आपने लिखा है कि वह वेश्याओं का नृत्य देखने से बड़ा

१. संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणाम् ।—मृच्छकटिक २।३।

२. गान्धर्वललितैः व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बुरु नारदाद्यैः ।—प्रयाग की प्रशस्ति ।

३. सूतात्मजाः सवयसः प्रथितप्रबोधं प्राबोधयन्नुषसि वाग्भिरुदारवाचः ॥—रघुवंश ५।६५।

४. सुखश्रवा मङ्गलतूर्यनिस्वनाः प्रमोदनृत्यैः सह वारयोषिताम् ।
न केवलं सद्मनि मागधीपतेः पथि व्यजृम्भन्त दिवौकसामपि ॥—रघु० ३।१९।

आनन्द प्राप्त करता और नृत्य उसका एक प्रधान मनोरञ्जन था[1]। मृच्छकटिक में वसन्तसेना नामक एक वेश्या का वर्णन आया है जिसका कार्य नाचना और गाना है।

संस्कृत-साहित्य में नृत्य के सम्बन्ध में आये हुए इन उल्लेखों के अतिरिक्त गुप्त-कालीन तक्षणकला और चित्र-कला में नृत्य के सर्वोत्कृष्ट नमूने मिलते हैं। ग्वालियर राज्य में स्थित बाघ की गुफाओं में गुप्त-कालीन नृत्य का एक सुन्दर उदाहरण उपलब्ध है[2]। बाघ की गुफाओं में चित्रित चौथे दृश्य में नृत्य करनेवाली दो मण्डलियों का चित्र खींचा गया है। इस चित्र में दो समूह हैं। प्रत्येक समूह में एक-एक नृत्य-मण्डली चित्रित है। प्रथम मण्डली में एक नर्तक नाच रहा है और सात स्त्रियाँ उसको घेरे हुए खड़ी हैं। इनमें एक स्त्री मृदङ्ग, तीन स्त्रियाँ झाल तथा तीन लकड़ी बजा रही हैं। नर्तक एक चोगा पहने हुए है। उसके पैर में एक चुस्त पायजामा है। बाल बिखरे हुए हैं और कन्धों के दोनों ओर पड़े हैं। यह गले में मोतियों की माला और हाथ में कंकण पहने हुए है। दूसरी नाच-मण्डली में भी एक पुरुष नाच रहा है और छः स्त्रियाँ उसे चारों ओर से घेरे खड़ी हैं। ये स्त्रियाँ भी मृदङ्ग, झाल तथा लकड़ी बजा रही हैं। नर्तक बड़ी खूबी के साथ आनन्दोल्लास से नाच रहा है। यदि गुप्त-कालीन वाद्य, तक्षण कला का अध्ययन किया जाय तो उस समय के वाद्य तथा नृत्य के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। सारनाथ में एक सुविशाल प्रस्तरखण्ड मिला है जिसमें क्षान्तिवाद जातक के कथानक को प्रस्तर में खुदवाया गया है[3]। मार्शल इसे गुप्त-कालीन बतलाते हैं[4]। इसके एक दृश्य में नृत्य करती हुई एक स्त्री का चित्र है जिसके चारों तरफ अन्य स्त्रियाँ खड़ी हैं जो बाँसुरी, भेरी, झाल तथा मृदङ्ग आदि बजा रही हैं[5]। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में नृत्य का कितना प्रचुर प्रचार था।

गुप्त-काल में वाद्य का भी बड़ा प्रचार था। सामाजिक उत्सवों और किसी अन्य अवसर पर वाद्य से मंगल मनाया जाता था। रघु के जन्म के अवसर पर मंगलकारक बाजे बजाये जाने का उल्लेख कालिदास ने किया है[6]। शौकीन नागरिक और राजा लोग बाजे बजाकर ही अपना मनोविनोद किया करते थे। 'स्त्रीनिषेवणनवयौवनः' कामुक अग्निवर्ण का वर्णन करते हुए कालिदास ने लिखा है कि वह अपने अंक में वल्लकी को

---

१. नर्तकीरभिनयातिलंघिनीः पार्श्ववर्तिषु गुरुष्वलज्जयत् ।— रघुवंश । १९।१४ ।
चारु नृत्यविगमे च तन्मुखं स्वेदभिन्नतिलकं परिश्रमात् ।
प्रेमदत्तवदनानिलः पिबन्नत्यजीवदमरालकेश्वरौ ।। वही ।—१९।१५ ।

२. दी बाघ केव्ज । दृश्य ४ ।

३. सहानी — कैटलाग आफ म्युजियम एट सारनाथ, पृ० २३४ नं० C (a)

४. आ० स० रि० १९०७-८, पृ० ७०-१ ।

५. सहानी — कैटलाग आफ म्युजियम एट सारनाथ प्लेट २६-२७ ।

६. सुखश्रवा मंगलतूर्यनिस्वनाः ।— रघुवंश ३।१९ ।

सदा लिये रहता और बजा कर अपना मनोरंजन करता था[1]। वह पुष्कर (मृदङ्ग) बजाने में भी बड़ा कुशल था[2]। इस राजा की गायिकाएँ भी वेणु और वीणा के बजाने में सिद्धहस्त थीं[3] तथा इस कला के प्रदर्शन से उसे लुभाती थीं। यों तो इस काल में अनेक बाजों का प्रचार था परन्तु वीणा का प्रचुर प्रचार ज्ञात है। कालिदास ने पति-वियोग से दुःखिता यक्ष-पत्नी का, मनोविनोद के लिए, वीणा बजाने का उल्लेख किया है[4]।

शूद्रक ने मृच्छकटिक में भी वीणा बजाने का उल्लेख किया है[5]। सम्राट् समुद्रगुप्त के सिक्कों पर वह नरेश वीणा लिये हुए अंकित किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि वह वीणा-वादन की कला में परम प्रवीण था और इस बाजे को बड़ा पसन्द करता था। इसी लिए तो उसने इसको अपने सिक्कों में भी उत्कीर्ण कराया था। ऊपर के इन उल्लेखों से सहज ही में अनुमान किया जा सकता है कि गुप्त-काल में वीणा-वादन का कितना प्रचार था। वीणा के अतिरिक्त अन्य बाजों का भी पर्याप्त प्रचार था। मृच्छकटिक में मृदङ्ग तथा कांसताल आदि बाजों का उल्लेख मिलता है[6]। मन्दिरों में देवताओं के प्रीत्यर्थ पटह (नगाड़ा) बजाया जाता था। कालिदास ने उज्जयिनी में स्थित महाकाल के मन्दिर में पटह बजाने का उल्लेख किया है[7]।

यदि भूमरा के शिव-मन्दिर में खुदे हुए प्रस्तरों को देखा जाय तो उनमें शिव के गण भेरी, झाल आदि बाजे बजाते हुए दृष्टिगोचर होते हैं[8]। गुप्तकाल में सङ्गीत का प्रचार केवल भारतवर्ष ही में नहीं था प्रत्युत बृहत्तर-भारत में भी था। सातवीं शताब्दी के जावा के सुप्रसिद्ध मन्दिर बोरोबुदुर के प्रस्तर-खण्डों में बाँसुरी तथा झाल लिये हुए अनेक चित्र खुदे हुए हैं[9]।

---

१. अङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिते तस्य निन्यतुरशून्यतामुभे ।
वल्लकी च हृदयङ्गमस्वना वल्गुवागपि च वामलोचना ॥ —रघु० १९।१३।

२. स स्वयं प्रहतपुष्करः कृती लोलमाल्यवलयो हरन्मनः ।—वही १९।१४।

३. वेणुना दशनपीडिताधरा वीणया नखपदाङ्कितो रवः ।
शिल्पकार्य उभयेन वेजितास्तं विजिह्मनयनाः व्यलोभयन् ॥—वही १९।३५।

४. उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणाम्,
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा ।—मेघदूत उत्तर, श्लोक नं० २६।

५. इयमेषा प्रणयकुपितकामिनी इव अङ्कारोपिता कररुहपरामर्शेन सार्यते वीणा —मृच्छकटिक अं० ४, पृ० १२९।

६. नन्दन्ति मृदङ्गाः । क्षीणपुण्या इव गगनात् तारका निपतन्ति कांसतालाः ।—वही अं० ४, पृ० १२९।

७. कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयाम् ।— मेघदूत पूर्व, श्लो० ३४।

८. [illegible] मेमायर नं० [illegible]।

९. [illegible] पृ० [illegible]।

ऊपर जो वर्णन दिया गया है उससे प्रकट होता है कि इस काल में भिन्न-भिन्न वाद्य-यन्त्रों का कितना प्रचार था। वल्लकी के अतिरिक्त मृदङ्ग, पटह, कांस्यताल, झाल, वेणु तथा भेरी आदि बाजों के नाम उल्लेखनीय हैं।

सङ्गीत के साथ ही साथ नाटक का भी इस काल में कुछ कम प्रचार न था। गुप्त-कालीन जनता नाटक देखने में विशेष दिलचस्पी लेती थी। यह दुर्भाग्य का विषय है कि तत्कालीन साहित्य-ग्रन्थों में उस समय के नाटक खेलने की कला का कहीं विशद वर्णन नहीं मिलता। हाँ, कालिदासीय ग्रन्थों में इसका यत्किञ्चित् संकेत अवश्य मिलता है। स्वयं कालिदास के तीनों नाटक राजसभा में अभिनय करने के लिए ही लिखे गये थे। शकुन्तला में सूत्रधार नटी से कहता है कि "आओ प्रिये! आज अभिरूप भूयिष्ठ परिषत् एकत्रित है, कालिदास का सुन्दर नाटक खेला जाय"[1]। मालविकाग्निमित्र में भी सूत्रधार कह रहा है कि आज कालिदास का लिखा नाटक ही खेला जाय। यह पूछने पर कि भास और सौमिल्ल जैसे नाटककारों की कृतियों की उपेक्षा कर नवीन नाटककार कालिदास के नाटक में इस अनुराग तथा पक्षपात का क्या कारण है, उसने उत्तर दिया कि सभी पुरानी वस्तुएं न तो बिलकुल अच्छी ही होती हैं और न सब नवीन चीजें बुरी ही होती हैं[2]। इसी प्रकार से विक्रमोर्वशीय भी अभिनयार्थ ही लिखा गया था। मृच्छकटिक भी राजसभा में खेलने के लिए ही रचा गया था।

नाटकीय अभिनय

इन नाटकों का अभिनय किसी बड़े राजकीय अवसर पर किया जाता था। प्रायः यह अवसर राजा के दिग्विजय की समाप्ति, किसी अन्य राजा को परास्त करने अथवा पुत्र-जन्म और विवाह आदि पर हुआ करता था। कल्याणवर्मन् ने जब चण्डसेन (चन्द्र-गुप्त प्रथम ?) को युद्ध में परास्त किया तब इस विजय के उपलक्ष में 'कौमुदीमहोत्सव' नामक नाटक का अभिनय हुआ था।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में नाटकीय अभिनय का विशद वर्णन पाया जाता है। नट और नटी का अभिनय-कार्य, सूत्रधार का कर्तव्य, नाटक प्रारम्भ करने की विधि, पूर्वरङ्ग में पूजा-विधान आदि का विस्तृत विवरण उपलब्ध है। नट कुशीलव कहे जाते थे। 'भार्याजीवी' कहकर इनकी उस समय में बड़ी निन्दा की जाती थी। गुप्त-काल से पहले ही भारतीय नाट्यशास्त्र और अभिनय-कला का पूर्ण विकास हो गया था। तत्कालीन ग्रन्थ ही इस बात के प्रमाण हैं। अतः गुप्त-काल में नाटकीय अभिनय के सम्बन्ध में किसी प्रकार के सन्देह करने का तनिक भी स्थान नहीं है। इन सब उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्त-काल में नाटकों का अभिनय प्रचुरता से होता था।

---

१. अभिरूप भूयिष्ठ परिषत्।—शकुन्तला अंक १, प्रस्तावना।

२. भाससौमिल्लकादीन् कवीनतिक्रम्य कथं वर्तमानकवेः कालिदासस्य रचनायां बहुमानः।
पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।—मालविकाग्निमित्र, प्रस्तावना।

गुप्त-कालीन बृहत्तर-भारत

प्राचीन भारत के अधिवासी बड़े ही उत्साही थे। कला-कौशल, सांसारिक वैभव तथा आध्यात्मिक अभ्युदय के उच्चतम शिखर पर स्वयं पहुँच कर ही वे सन्तुष्ट नहीं हो गये किन्तु उन लोगों ने भारत के समीप में ही नहीं, प्रत्युत एशिया के सुदूर प्रान्तों और द्वीपों में अपनी सभ्यता, अपने आर्य-धर्म तथा उन्नत साहित्य का अच्छे ढंग से प्रचार किया। यद्यपि मुसलमानों के द्वारा आक्रमण किये जाने के बाद उन स्थानों में अनेक परिवर्तन हो गये हैं तथापि उन देशों के निवासियों के वर्तमान रीति-रिवाज के देखने से तथा उनके प्राचीन इतिहास के अध्ययन करने से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि उनके ऊपर भारतीय सभ्यता की ऐसी गहरी छाप पड़ी है कि अनेक शताब्दियाँ भी उसके मिटाने में कथमपि समर्थ नहीं हुई हैं। भारत की सभ्यता के चिह्न मध्य एशिया के खोटान तथा तुर्किस्तान में ही नहीं मिलते, बल्कि एशिया के दक्षिणी द्वीप-समूह में स्थित सुमात्रा, जावा, बाली, बोर्नियो आदि द्वीपों में तथा मलाया, चम्पा, कम्बोडिया, स्याम आदि प्रांतों में भी अधिकता से मिलते हैं। इन प्रांतों से भारत का सम्बन्ध, जैसा सप्रमाण नीचे दिखलाया जायगा, गुप्त-काल से भी पुराना है; परन्तु इनके साथ घनिष्ठ व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध इस गुप्त-काल में ही स्थापित हुआ। अतएव भारतीय इतिहास में गुप्तों का काल इसी लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है कि इसी समय में भारतीय सभ्यता अपनी चरम सीमा तक पहुँची बल्कि इसलिए भी है कि गुप्त-काल में भारतीय सभ्यता का प्रसार तथा विकास भारत के बाहर भी दूर दूर देशों में हुआ। इस अध्याय में बृहत्तर भारत के साथ भारत के सम्बन्ध का वर्णन किया जायगा।

प्राचीन भारतीय साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता है कि ईसवी-पूर्व शताब्दियों में भी भारतीयों को समीपवर्ती द्वीपों का ज्ञान था। रामायण तथा पुराणों में यवद्वीप और सुवर्णद्वीप शब्द प्रयुक्त मिलते हैं जिनसे आधुनिक जावा तथा सुमात्रा से समता की जा सकती है। रामायण में जावा के सात छोटे छोटे राज्यों का वर्णन मिलता है[1]। यदि उन द्वीपों के प्राचीन निवासियों के नामों पर ध्यान दिया जाय तो पूर्वोक्त बातों की पुष्टि होती है। बालि तथा सुमात्रा के निवासियों को 'केलिंग' तथा 'पांडिय' आदि नामों से पुकारा जाता था। अतएव यह ज्ञात होता है कि विभिन्न प्रांतों से भारतीयों के उन स्थानों में उपनिवेश बनाने के कारण ये नाम दिये गये थे। जावा के निवासी दक्षिण भारतीय बतलाये जाते थे[2]।

---

१. यवद्वीपं सप्तराज्योपशोभितम्। —रामा० ४।४०।३०।

२. कुमारस्वामी—हिस्ट्री आफ इंडियन एंड इण्डोनेशियन आर्ट, पृ० १९९।

बृहत्तर भारत में भारतीयों के उपनिवेश तथा उनकी सभ्यता का प्रसार होने का एक मुख्य कारण व्यापार ही था। भारत तथा पूर्वी द्वीप-समूहों में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित होने से भारतीयों तथा तत्तद्द्वीपीय निवासियों में विचार विनिमय होने लगा। यह बढ़ते-बढ़ते दोनों देशों में परस्पर सांस्कृतिक विनिमय प्रारम्भ हो गया, जो सर्वथा स्वाभाविक ही था[1]। भारत तथा सुदूर पूर्वीय द्वीपसमूहों के साथ व्यापारिक मार्ग का वर्णन तो जातक आदि प्राचीन ग्रंथों में मिलता है[2] परन्तु गुप्त-काल में पूर्वीय समुद्र में स्थित द्वीपसमूहों से भारतीय व्यापार ने गहरा सम्बन्ध स्थापित किया। इन द्वीपों तथा प्रायद्वीपों से होता हुआ भारतीय जल-मार्ग चीन देश तक जाता था[3] जहाँ से रेशमी वस्त्र भारत में आते थे। इसकी पुष्टि साहित्यिक प्रमाण से भी होती है। कालिदास ने चीनी रेशमी वस्त्र का उल्लेख किया है[4]।

व्यापारिक मार्ग

द्वीपसमूहों से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करके ही भारतीय संतुष्ट नहीं हुए प्रत्युत उन लोगों ने समस्त द्वीपों में अपना उपनिवेश बनाया। विदेशी टालेमी ने लिखा है कि पूर्वीय समुद्र में स्थित द्वीपों में भारतीयों ने अपना निवासस्थान बनाया था[5]। ईसा की तीसरी शताब्दी में उत्तरी भारत में एक चम्पा राजा के आगमन का उल्लेख मिलता है[6]। इसी समय भारतवासियों ने उपनिवेशों में भी अपने निवासस्थान बनाये[7] उपनिवेश-सम्बन्धी बातों की पुष्टि कई लेखों से होती है। दूसरी सदी में चम्पा में स्थित भारतीय उपनिवेश-निवासी का उल्लेख मिलता है[8]। जावा में एक जनश्रुति मिलती है जिसके आधार पर ज्ञात होता है कि ईसवी की छठी शताब्दी में गुजरात के एक राजकुमार ने पाँच सहस्र मनुष्यों के साथ वहाँ उपनिवेश बनाया[9]। उस जन-संख्या में कृषक, सैनिक, कलाविद तथा वैद्य भी सम्मिलित थे। विद्वानों का अनुमान है कि जावा, चम्पा, कम्बोडिया आदि देशों में पहली शताब्दी ही में भारतीय उपनिवेश की स्थापना हुई थी। तीसरी सदी तक वहाँ एक हिन्दू राज्य स्थापित हो गया था[10]। इस प्रकार गुप्त-काल तक उपनिवेशों का पूर्ण

भारतीय उपनिवेश

१. मुकर्जी—हर्ष० पृ० १८१।

२. जातक ३।१८७।

३. इंडियन शिपिंग एण्ड मेरिटाइम एक्टिविटी, पृ० १६२

४. चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य।—शकुंतला १।३२
संतानकाकीर्णमहापथं तच्चीनांशुकैः कल्पितकेतुमालम्।—कुमार० ७।३

५. माडर्न रिव्यू—अगस्त १९३१ पृ० १७०।

६. मजूमदार—चम्पा भूमिका, पृ० १७।

७. ट्वर्ड्स अंकोर, पृ० ११६।

८. वही पृ० २१

९. हिस्ट्री आफ जावा भा० २ पृ० ८१।

१०. विशाल भारत. पृ० ५९—६०।

विस्तार हो गया था[1] । इन सबका विस्तृत सप्रमाण वर्णन आगे करने का प्रयत्न किया जायगा।

नामों की समता

भारतीय द्वीप-समूह में भारत की सभ्यता का प्रसार होने से वहाँ के शासकों ने अपने नामों तथा नगरों के नामों को भारतीय ढँग पर रखना प्रारम्भ किया। वहाँ के राजाओं के नाम के साथ वर्मा तथा नगरों के साथ पुर शब्द का प्रयोग मिलता है। पाँचवीं सदी के सुमात्रा, बोर्नियो[2], चम्पा[3] तथा कम्बोडिया[4] के राजा भद्रवर्मा और महेन्द्रवर्मा के नाम से विख्यात थे। स्याम के राजाओं ने भारत के प्राचीनतम नामों का अनुकरण कर अपना नाम 'राम' तथा राजधानी का नाम 'अयोध्या' रक्खा था[5] । इसी प्रकार कम्बोडिया में भी कई नगर 'जयादित्यपुर', 'श्रेष्ठपुर' आदि नामों से प्रसिद्ध थे[6] ।

भारतीय शिक्षा तथा साहित्य का प्रचार

भारतीय लोगों ने उन द्वीपों तथा प्रायद्वीपों में अपना उपनिवेश ही नहीं बनाया किन्तु भारतीय रीति पर पठन-पाठन और भारतीय साहित्य का भी प्रचार किया। भारत में जो सम्मान देववाणी संस्कृत को प्राप्त था वही आदर उन उपनिवेशों में भी हुआ। देवता का आह्वान, दान का वर्णन तथा समस्त महत्त्वपूर्ण विषयों का कीर्तन संस्कृत में ही होता था[7] । ईसा की चौथी तथा पाँचवीं शताब्दियों में कम्बोडिया, चम्पा, जावा, बाली आदि के जितने लेख मिले हैं वे सब संस्कृत भाषा में हैं[8] । चम्पा में भारतीय ढंग पर संस्कृत साहित्य—काव्य, नाटक, दर्शन तथा वेद आदि—की पठन-प्रणाली का प्रचार था[9] । वहाँ का शासक भद्रवर्मा चारों वेद, षड्दर्शन, बौद्ध-साहित्य, व्याकरण तथा उत्तर कल्प आदि विषयों का प्रकाण्ड विद्वान् बतलाया गया है[10] । डा० मजूमदार ने एक विस्तृत वर्णन दिया है कि चम्पा में चार वेद, षड्दर्शन, महायान दर्शन, पाणिनीय व्याकरण, रामायण, महाभारत, धर्मशास्त्र (मनु व नारद स्मृतियाँ), ज्योतिष, काव्य (कादम्बरी, शिशुपालवध) तथा पुराण आदि का अनुशीलन लोग करते थे[11] । कम्बोडिया में भी रामायण, महाभारत तथा सुश्रुत के पठन-पाठन का वर्णन मिलता है[12] । वहाँ के निवा-

१. मजूमदार—चम्पा भूमिका पृ० २१ ।
२. कुमारस्वामी—हिस्ट्री आफ इंडिया एण्ड इंडोनेशियन आर्ट. पृ० १७२ ।
३. मजूमदार—चम्पा पृ० २३ ।
४. विशाल भारत—पृ० ३१—६० ।
५. स्याम एंशंट एण्ड प्रेजेण्ट—माडर्न रिव्यू जुलाई १९३४ ।
६. विशाल भारत पृ०. ३६ ।
७. वही पृ० ५४ ।
८. वोगेल—दी अर्लिएस्ट संस्कृत इंस्क्रपशन आफ जावा—डच-पत्रिका १९२५ ।
९. [illegible] पृ० ७४ ।
१०. वही पृ० ६५, लेख नं० ४ ।
११. वही पृ० २३२—२३४ ।
१२. विशाल भारत. पृ० १५२ ।

सियों के पूजा-गृह की दीवालों पर रामायण तथा महाभारत के चित्र खींचे दिखलाई पड़ते हैं जिससे पूर्वोक्त कथन की पुष्टि होती है[१]। चौथी सदी में बाली में रामायण तथा राजनीतिविषयक ग्रंथ कामन्दकीय नीतिसार का प्रचार था[२]।

सामाजिक नियम

उपनिवेशों में भारतीयों के निवास करने के कारण उन स्थानों में भारतीय सामाजिक नियम तथा रीति-रवाज का अनुकरण भी होने लगा। दक्षिणी सुमात्रा के स्वतंत्र शासक के भारतीय सामाजिक प्रणाली के अनुसरण करने का वर्णन मिलता है[३]। भारतीय ढंग पर चम्पा में भी चार वर्ण विद्यमान थे[४]। चारों वर्ण अपना अपना कार्य करते थे तथा सब में परस्पर सम्बन्ध था। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय जाति में अन्तरजातीय विवाह के कारण एक ब्रह्म-क्षत्रिय नामक वर्ण की उत्पत्ति हो गई थी[५]। वे लोग भारतीयों का अनुसरण कर उन्हीं की तरह वस्त्र तथा आभूषण पहनते थे। व्यापार भी कृषि के अतिरिक्त उनकी जीविका का एक मार्ग था। चम्पा के निवासियों का जलमार्ग चीन, जावा व सुमात्रा तक विस्तृत था[६]। भारतीय लोगों का अनुसरण कर जावा के निवासियों ने गान, नृत्य तथा नाटक-कला का विकास किया था[७]। बोर्निया में चौथी शताब्दी का एक लेख यूप नामक स्थान में मिला है जिसके वर्णन से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण जनता वैदिक ढंग पर यज्ञ करती थी[८]।

उपनिवेशों की शासन-पद्धति

भारत की तरह चम्पा में राजा ईश्वर का अवतार माना जाता था। वह भारतीय राजाओं की तरह शासन का समस्त प्रबंध करता था। वहाँ राजकीय पदाधिकारी भी नियुक्त होते थे, जो शासन में राजा की सहायता करते थे[९]।

ऊपर बतलाया गया है कि व्यापारिक सम्बन्ध के साथ साथ उपनिवेशों में भारतीय सभ्यता का प्रभाव पड़ा, जिससे तत्तद्देशीय निवासियों ने भारत के प्रत्येक सांस्कृतिक विषय का अनुकरण किया[१०]। सामाजिक नियम और

उपनिवेश में भारतीय धर्म

राजनैतिक प्रणाली के साथ साथ भारतीय धार्मिक भावों का भी उन लोगों ने स्वागत किया। यही कारण है कि उपनिवेशों में शैव, वैष्णव तथा बौद्ध सम्प्रदायों का प्रचार और विकास दिखलाई पड़ता है। डा० कृष्णस्वामी

---

१. माडर्न रिव्यू जुलाई १९३४।
२. चम्पा पृ० १५४, नोट २।
३. माडर्न रिव्यू अगस्त १९३१ पृ० १७०।
४. चम्पा लेख नं० ६५।
५. वही पृ० २१५।
६. वही पृ० २२४।
७. कुमारस्वामी— नोट ऑन जावानीज थियेटर (रूपम् नं० ७। जु० १९२१)।
८. माडर्न रिव्यू—अगस्त १९३१।
९. चम्पा पृ० १५५ व १६०।
१०. विशाल भारत, पृ० ७८।

ऐयंगर का मत है कि उपनिवेशों में वैष्णवधर्म, शैव तथा बौद्ध सम्प्रदायों का क्रमशः प्रचार हुआ[1]। चम्पा[2], कम्बोडिया[3] तथा सुमात्रा[4] में चौथी और पाँचवीं शताब्दियों के कई लेख मिले हैं जिनके वर्णन से वहाँ वैष्णव धर्म का प्रचार ज्ञात होता है। चम्पा में राजाओं के द्वारा विष्णु भगवान् के मंदिर-निर्माण का वर्णन वहाँ के लेखों में मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि विष्णु की मूर्ति गरुड़वाही या अनन्तशायी ढंग की बनती थी[5]। चौथी सदी के चीनी यात्री फ़ाहियान ने भी जावा में ब्राह्मण धर्म के प्रचार का वर्णन किया है[6]। मलाया प्रायद्वीप में सातवीं सदी की तकोय प्रशस्ति में पर्वत पर नारायण विष्णु के मंदिर-निर्माण का उल्लेख मिलता है[7]। स्याम में बारहवीं सदी तक अनेक सुन्दर मूर्तियाँ गुप्तों के ढंग की हैं तथा विष्णु और शिव की अनेक धातु की भी मूर्तियाँ वहाँ मिलती हैं[8]। इन समस्त विवरणों से प्रकट होता है कि वैष्णव धर्मावलम्बी गुप्त-नरेशों के समय में वैष्णव-धर्म का प्रचार उपनिवेशों में हुआ; क्योंकि गुप्त-काल में सामुद्रिक व्यापार की प्रचुर उन्नति के कारण द्वीप तथा प्रायद्वीप-समूहों से भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

उन स्थानों में भी भारत जैसी स्थिति थी। यों तो वैष्णवधर्म के पश्चात् शैवमत का अधिक प्रचार हुआ परन्तु वैष्णवधर्म के अभ्युदय के समय शैव लोगों का अभाव न था या यों कहना चाहिए कि दोनों वर्तमान थे। वैष्णवधर्म के बाद ही शैव सम्प्रदाय की उन्नति हुई। चम्पा में अधिकतर लेख मिलते हैं जिनके आधार पर यह ज्ञात होता है कि वहाँ शैवमत का अधिक प्रचार था[9]। चम्पा के राजा प्रकाशधर्म ने ईशानेश्वर (शिव) का एक मन्दिर बनवाया था[10]। वहाँ जटाधारी, नन्दि के साथ, शिव की ताण्डवनृत्यवाली मूर्तियाँ मिलती हैं[11]। इन मूर्तियों के साथ चौथी शताब्दी में भद्रेश्वर नामक शिवलिङ्ग की स्थापना हुई थी[12]।

वैष्णव तथा शैव सम्प्रदायों के बाद बौद्ध-धर्म का वहाँ फैलाव हुआ। तिब्बती इतिहास के लेखक तारानाथ का कथन है कि वसुबन्धु के शिष्यों ने इन्डो चाइना में

---

१. कन्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इंडिया टू इंडियन कल्चर, पृ० ३७६।
२. चम्पा पृ० १९८।
३. काम्बोडिया पृ० ७०।
४. कन्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इंडिया—कृष्णस्वामी पृ० २७८।
५. चम्पा लेख नं० ११—१२ व ३९।
६. कन्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इंडिया—कृष्णस्वामी पृ० ३७३।
७. वही पृ० ३७८।
८. कुमारस्वामी—हिस्ट्री आफ इंडियन एंड इण्डोनेशियन आर्ट। पृ० १७७।
९. चम्पा पृ० १७०।
१०. वही पृ० ४५।
११. वही पृ० १७८।
१२. वही पृ० १८१।

महायान धर्म का प्रचार किया[1]। द्वीपों में बौद्धों के प्रारम्भिक हीनयान का प्रचार था या नहीं, यह स्पष्ट नहीं कहा जा सकता परन्तु महायान के चिह्न मिलते हैं। सातवीं सदी के चीनी यात्री इत्सिङ्ग ने सुमात्रा में बौद्ध-धर्म के प्रचार का वर्णन किया है[2]। वहाँ भिक्षुगण भारत की प्रणाली से विद्या का अभ्यास करते थे[3]। डा० कृष्णस्वामी का मत है कि इन द्वीपसमूहों में पाँचवीं सदी से सातवीं शताब्दी तक बौद्ध-धर्म का प्रचुर प्रचार था। यही कारण है कि जावा में एक विशाल बौद्ध मन्दिर का बोरोबुदुर में पता लगा है जिसके निर्माण की तिथि आठवीं शताब्दी बतलाई जाती है[4]। इसके चित्रों को देखने से उस द्वीप में बौद्धों की महत्ता का परिचय मिलता है।

उपनिवेशों में उपर्युक्त विषयों के विवेचन के पश्चात् यदि उन देशों की कला पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि उन द्वीपसमूहों में भारतीय कला ने कितना गहरा प्रभाव डाला था। चम्पा तथा कम्बोडिया में गुप्त-कला के अनुकरण पर मन्दिर तैयार किये गये थे। उनकी बनावट पर उत्तरी भारत की छाप दिखलाई पड़ती है। वे आर्य शैली नागर शिखर प्रणाली पर निर्माण किये गये थे[5]। पाँचवीं सदी में इण्डोचीन में कला की बहुत उन्नति हो गई थी। वह विकास स्वर्णयुग का प्रभाव था[6]। मन्दिरों की बनावट सर्वथा गुप्त तक्षण-कला से मिलती जुलती है। डा० कुमारस्वामी का कथन है कि छठीं-सातवीं शताब्दियों में कम्बोडिया की समस्त ईंटों की इमारतें गुप्त ढङ्ग पर बनती थीं। उनके ऊपर तथा दोनों तरफ वाले चौखटों में क्रमशः अनन्तशायी विष्णु तथा मकर की मूर्तियाँ खुदी मिलती हैं[7]। चौथी शताब्दी की गुप्त-कला की बौद्ध-मूर्ति के सदृश उष्णीष तथा वस्त्रधारी मूर्तियाँ कम्बोडिया में मिलती हैं[8]। इसी प्रकार की मूर्तियाँ इंडोचीन तथा चम्पा में भी मिलती हैं। डा० मजूमदार का मत है कि चम्पा की कला का भारत से अभ्युदय हुआ। चम्पा-कला का भाव भारतीय है। वह कला चम्पा में उत्पन्न नहीं हुई परन्तु भारत से ली गई[9]। जावा तथा बाली की सभ्यता भारतीय रीति पर स्थिर होने के कारण[10] उन देशों की कला में भी भारतीयपन दिखलाई पड़ता है।

भारतीय कला का प्रभाव

---

१. विशाल भारत, पृ० १९६।

२. कृष्णस्वामी—कन्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इंडिया पृ० ३७६।

३. मुकर्जी—हर्ष पृ० १८२।

४. कन्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इंडिया पृ० ३७७।

५. चम्पा पृ० २७४।

६. ट्वर्ड्स अंकोर पृ० ९०, ११७।

७ हिस्ट्री आफ इंडिया एंड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० १८२।

८. वही प्लेट ३३५।

९. चम्पा पृ० २२०।

१०. कुमारस्वामी—हिस्ट्री आफ इंडिया एंड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० २०७।

जावा की कला गुप्त, पल्लव तथा चालुक्य प्रणाली पर तैयार की गई थी[1]। उड़ीसा के भुवनेश्वर मन्दिर की तरह जावा और बाली के मन्दिरों में आर्य शिखर तथा आमलक का प्रयोग मिलता है। राम और कृष्ण सम्बन्धी चित्र मन्दिर के मृण्मय पदार्थों पर चित्रित हैं। बौद्ध-मन्दिर होने के कारण जावा के बोरोबुदुर नामक मन्दिर पर जातक सम्बन्धी चित्र अंकित हैं[2]। श्री काशीनाथ दीक्षित का मत है कि बृहत्तर भारत की वास्तु शैली की नींव गुप्त-कालीन पहाड़पुर (उत्तरी-बङ्गाल) के मन्दिर में डाली गई थी। यह ताम्रलिप्ति से होकर उन देशों में गई[3]।

भारतीयता की छाप उपनिवेशों में सर्वव्यापी हो गई थी। चाहे जिस विषय को देखिए, उसी तरफ़ भारत का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। साहित्य के अतिरिक्त वहाँ की लिपि पर भी दक्षिण भारत का प्रभाव पड़ा था[3]। पहले बतलाया गया है कि संस्कृत का बड़ा सम्मान था अतएव द्वीपों के प्रायः समस्त लेख संस्कृत ही में मिलते हैं। चौथी शताब्दी से लेकर कई शताब्दियों तक लेख संस्कृत में लिखे जाते थे। दक्षिण भारतीय लिपि का द्वीपों में प्रचार था[4]। भारत-वर्ष में संस्कृत की उन्नति गुप्त-काल में ही हुई; अतः गुप्तों के समय से ही उपनिवेशों में संस्कृत का प्रचार होना सम्भव है।

लेख

पूर्वोक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि प्रथम शताब्दी से लेकर प्राय सहस्रों वर्ष तक भारत तथा एशिया के दक्षिण-पूर्वी द्वीपसमूहों में सम्बन्ध बना रहा। व्यापार के साथ साथ भारतीय सामाजिक रीति, धर्म, साहित्य तथा कला आदि का विस्तार उन द्वीपों और प्रायद्वीपों में हुआ[5]। विद्वानों का अनुमान है कि दक्षिण भारत ने उपनिवेशों में भारतीय सभ्यता के विस्तार में अधिक हाथ बटाया[7] परन्तु पूर्वी भारत से भी द्वीपों का वैसा ही सम्बन्ध था। पूर्वी तट पर ताम्रलिप्ति एक बहुत बड़ा बन्दर-गाह था, जहाँ से गुप्त-कालीन उत्तरी भारत की सभ्यता बृहत्तर भारत में फैली[8]। बृहत्तर भारत में यों तो पहले से ही भारतीयता की छाप पड़ी थी परन्तु संस्कृत तथा वैष्णव धर्म का प्रचार और गुप्त प्रस्तर कला व शैली का प्रभाव देखकर यही स्थिर किया जा सकता है कि उपनिवेशों (बृहत्तर भारत) में भारतीय सभ्यता का विशेष विकास गुप्त-

बृहत्तर भारत में भारतीय सभ्यता का विशेष विस्तार-काल

१. कुमारस्वामी—हिस्ट्री आफ इंडिया एंड इंडोनेशियन आर्ट पृ० २०१।

२. वही पृ० २०३।

३. गंगा—पुरातत्त्वांक पृ० १३०।

४. वाटर—ह्वेनसाँग भा० १, पृ० ४८।

५. विशाल भारत पृ० २६; चम्पा—मजूमदार लेख-संग्रह; कृष्णस्वामी—कान्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इंडिया, पृ० ३७८; हिन्दू सिविलिजेशन इन मलाया (माडर्न रिव्यू अगस्त १९३१); कुमारस्वामी—हिस्ट्री आफ इंडियन एंड इंडोनेशियन आर्ट, पृ० १९८।

६. माडर्न रिव्यू अगस्त १९३१ पृ० १७२।

७. कृष्णस्वामी—कान्ट्रीब्यूशन आफ साउथ इंडिया, पृ० ३८५।

८. गंगा—पुरातत्त्वांक पृ० १३०।

काल ही में हुआ। गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य द्वारा पाँचवीं सदी में पश्चिमी भारत के शक परास्त किये गये थे[१]। यही कारण है कि वहाँ से शक लोगों ने यत्र-तत्र अपने उपनिवेश बनाये। इसी समय गुजरात के राजकुमार का उल्लेख जावा की जन-श्रुति में पाया जाता है, जिसने कई सहस्र मनुष्यों के साथ छः बड़े तथा सैकड़ों छोटे जहाज़ों से समुद्र को पार कर जावा में उपनिवेश बनाया था[२]। उस समय उपनिवेश के निवासी भी भारत में आते थे। गुप्तों के साम्राज्य-काल में ही भारतीय पोत-निर्माण की कला तथा जलमार्ग द्वारा आवागमन अपनी पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ था[३] जिससे अनुमान किया जाता है कि गुप्तों के समय में ही बृहत्तर भारत से अधिकाधिक सम्बन्ध स्थापित हुआ होगा। इन्हीं कारणों को ध्यान में रखते हुए यह कहना युक्तिसंगत है कि गुप्त-काल ही में बृहत्तर भारत में भारतीय सभ्यता का विशेष विस्तार हुआ[४]। गुप्त-भारत में भ्रमण करनेवाले चीनी यात्री फाहियान ने ताम्रलिप्ति से लंका तथा जावा-सुमात्रा होते चीन तक अपनी यात्रा समाप्त की थी[५]। कविवर कालिदास को भी इन द्वीप-समूहों का ज्ञान था। इन सब प्रमाणों के अतिरिक्त गुप्त-लेख में द्वीपों का उल्लेख मिलता है जहाँ गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त का प्रताप छा गया था। जावा में एक संस्कृत लेख शक ६५४ (ई० स० ५७६) का मिला है जिसमें वहाँ के शासक की तुलना रघु से की गई है[७]। जावा का यह शासक विद्वान् होते हुए शक्तिशाली भी था। इससे ज्ञात होता है कि गुप्त-सम्राटों का विजय-यश जावा तक विस्तृत हो गया था। उन द्वीपों के शासकों ने आत्म-निवेदन करने, कन्याओं का दान देने, उपहार[८] तथा गरुड़-अंकित राजाज्ञा मानने की शर्त स्वीकार कर ली थी[९]। इन समस्त प्रमाणों के आधार पर उपर्युक्त सिद्धान्त स्थिर करना उचित है कि बृहत्तर भारत में भारतीय सभ्यता का विस्तार अधिकतर गुप्त-काल ही में हुआ[१०]।

---

१. 'कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः'—उदयगिरि गुहा-लेख, (गु० ले० नं० ६)।

२. मुकर्जी—हर्ष पृ० १७८—७९।

३. कुमारस्वामी—आर्ट एंड क्राफ्ट इन इंडिया, पृ० १६६।

४. मजूमदार—चम्पा भूमिका, पृ० २१।

५. फाहियान की यात्रा, पृ० ८० तथा ९१।

६. अनेन सार्धं विहराम्बुराशेः तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः।— रघुवंश ६।५७

७. श्रीमान् यो माननीयो बुधजननिकरैः शास्त्रसूक्ष्मार्थवेदी।
राजा शौर्यादिगुण्यो रघुरिव विजितानेकसामन्तचक्रः ॥—चंगल का शिलालेख।

८. गुप्त-काल में उपहार (सामंत-कर) से भी राजकोष आय होती थी। यह कर अधीनस्थ शासकों से लिया जाता था।

९. 'सैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदङ्कस्वविषयभुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य'—प्रयाग की प्रशस्ति (गु० ले० नं० १)।

१०. आ० स० रि० १९२७—२८, पृ० २६।

गुप्तयुग की महत्ता

पिछले पृष्ठों में हमने गुप्त-साम्राज्य के राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास का विस्तृत विवेचन किया है। हमने अब तक की ऐतिहासिक और पुरातत्त्व सम्बन्धी गवेषणाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न राजाओं के विषय में जो अनुसन्धान हुआ है उसको संक्षेप तथा सुलभ रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। कई राजाओं के विषय में अनेक विद्वानों के जो विभिन्न मत हैं उनको भी उचित स्थान पर प्रतिपादित किया गया है। रामगुप्त तथा वैन्यगुप्त आदि अश्रुतपूर्व गुप्त राजाओं के विषय में जो नवीन शोध हुई है उसको सप्रमाण दर्शाया गया है। सांस्कृतिक इतिहास के द्वारा हमने गुप्त-कालीन धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक दशा का पर्याप्त रूप से दर्शन कराया है। गुप्त-कालीन कला, साहित्य और शिक्षा का भी हमने यथोचित विधान किया है। गुप्त-काल में राजनीति और संस्कृति के नायकों ने सुदूर बृहत्तर-भारत में जाकर भारतीय सभ्यता की ध्वजा फहराई, और उसे भारतीय संस्कृति के रंग में रंजित किया, इसका भी हम थोड़ा दिग्दर्शन करा चुके हैं। चीन देश में बौद्धधर्म के प्रचार तथा प्रसार की गौरवमयी कहानी हम सुना चुके हैं। यहाँ इन सब का पुनः उल्लेख केवल पिष्टपेषण मात्र होगा। अब हम यहाँ यही बताना चाहते हैं कि भारतीय इतिहास में गुप्त-इतिहास का क्या स्थान है। भारतीय इतिहासज्ञ इसे 'सुवर्ण युग' क्यों कहते हैं? क्या कारण है कि मौर्य्य-साम्राज्य के रहते हुए यह काल भारतीय इतिहास का 'स्वर्णयुग' समझा जाता है? इसी का विवेचन अगले पृष्ठों में किया जायगा।

स्वर्णयुग की कल्पना

भारतीय ऐतिहासिक गुप्त-काल को 'सुवर्णयुग' कहते हैं। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार सोना सब धातुओं में बहुमूल्य समझा जाता है, उसी प्रकार यह काल भी भारतीय इतिहास में बहुमूल्य ही क्यों, सर्वश्रेष्ठ मूल्यवाला है। जिस प्रकार सोना अपने तैजस स्वरूप के कारण जनता की दृष्टि को आकृष्ट करता है और लोगों को सुन्दर लगता है उसी प्रकार से यह काल भी अनेक प्रतापी राजाओं के उदय होने के कारण प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त इस काल में भारतीय-सभ्यता और संस्कृति अपने उत्कर्ष की सीमा को पहुँची हुई थी। सम्राट् समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय और स्कन्दगुप्त ने विदेशी शत्रुओं को रणक्षेत्र में पछाड़कर अपनी विजयदुन्दुभि दिक्-दिगन्तरों में बजाई थी। समुद्रगुप्त ने उत्तरापथ और दक्षिणापथ के राजाओं को परास्त करने के अतिरिक्त अनेक आटविक तथा प्रत्यन्त नृपतियों को अपनी तलवार की तीक्ष्णता का परिचय दिया था। इसकी विजय-वाहिनी का रणकौशल भारत में ही सीमित नहीं था, बल्कि इसने सुदूर पारसीक तथा हूण लोगों को भी पदाक्रान्त किया था। सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भारत-भूमि पर आक्रमण करनेवाले शकों को परास्त कर इनके छक्के छुड़ाये थे। इसी लिए इन्हें 'शकारि' कहते हैं। यह केवल

नामतः ही 'विक्रम' का 'आदित्य' नहीं था बल्कि अर्थतः भी था। इसके प्रचण्ड पराक्रम तथा असहनीय प्रताप के आगे शत्रु अन्धकार की भाँति नष्ट हो जाते थे। इसने सिन्धु नदी के सात मुखों को पार कर वाल्हीक देश के लोगों को जीता था[1] तथा इसकी वीर्यरूपी वायु दक्षिण समुद्र को व्याप्त करती थी[2]। सम्राट् स्कन्दगुप्त ने भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के शत्रु, भारतीय स्वतन्त्रता के विनाशक, अत्याचारी, और निर्दयी हूणों के साथ—जिनकी भयावनी सूरत का वर्णन करते हुए किसी कवि ने "सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम्" लिखा है—इतना घनघोर संग्राम किया कि उसके बाहुबल के प्रताप से पृथ्वी भी काँप उठी[3]। इसने उस संग्राम में पृथ्वी पर सोकर रात काटी[4]। अन्त में इसने हूणों के गर्व को चूर्ण कर धूल में मिला दिया और इस प्रकार भारत-भूमि को विदेशी आक्रमण से बचाया। संक्षेप में हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि इन विजयी गुप्त-सम्राटों ने अपने शासन-काल में आर्यावर्त की इस पवित्रभूमि में किसी भी विदेशी शत्रु के पाँव नहीं जमने दिये और इसे सदा स्वतन्त्र रक्खा। भारत-भूमि को चिरतर काल तक विदेशी आक्रमणों से बचाने तथा इसे स्वाधीन रखने का यदि किसी को दावा है तो यह गुप्त-सम्राटों को ही है। गुप्त सम्राटों की महत्ता का कुछ अनुमान इसी एक बात से किया जा सकता है कि इनके प्रताप-सूर्य के अस्त हो जाने के बाद हर्षवर्धन के अतिरिक्त किसी भी भारतीय नरेश में यह क्षमता नहीं थी कि वह इस देश को एक सूत्र में फिर से बाँध कर विदेशी आक्रमण को रोक सके। इस प्रकार बाह्य आक्रमण को रोक कर इन सम्राटों ने आन्तरिक शांति की स्थापना की। जान पड़ता है, कालिदास ने इन्हीं शासकों की सुव्यवस्था तथा शान्ति को लक्षित करते हुए लिखा है कि "इनके शासन करते समय, आधे रास्ते में ही, विहार करने के लिए जानेवाली मदिरा से मस्त स्त्रियों को नींद आ जाने पर वायु भी उनके कपड़ों को नहीं हिला सकती थी; भला उनको चुराने के लिए कौन हाथ उठा सकता था? उन्हें चुराने के लिए किसकी हिम्मत हो सकती थी[5]।"

एक छत्र राज्य की कल्पना और स्थापना

गुप्त-सम्राट् भारतवर्ष में एकछत्र राज्य की स्थापना करना चाहते थे और वे इस प्रयत्न में सफल भी हुए। समुद्रगुप्त ने जो अपना सुप्रसिद्ध दिग्विजय किया था उसका आशय केवल इतना ही था कि भारत के अन्य राजा उसकी सार्वभौम प्रभुता को स्वीकार कर लें, उसे अपना सम्राट् मानें और उसकी छत्रछाया में रहते हुए अपने दिन बितायें। समुद्रगुप्त ने दक्षिणापथ के अनेक राजाओं को केवल 'करदीकृत'

---

१. तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः।—मिहरौली का स्तम्भलेख।

२. यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिर्वीर्यानिलैः दक्षिणः—वही।

३. हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता—भितरी का स्तम्भलेख।

४. क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।—वही।

५. यस्मिन् महीं शासति वाणिनीनां निद्रां विहारार्धपथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि, को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्॥—रघुवंश ६।७५।

बनाकर छोड़ दिया, उन्हें अपने राज्य में नहीं मिलाया, उसका केवल यही अर्थ था। अन्य राज्यों पर प्रभुता स्थापन के लिए ही इस धर्मविजयी भूमिपाल ने दिग्विजय किया था, अन्यथा वह उन्हें अपने राज्य में मिला लेता।

भारतवर्ष की यह प्राचीन प्रथा रही है कि जो चक्रवर्ती राजा होता था वही अश्वमेध यज्ञ करता था, दूसरा नहीं। गुप्तसम्राटों में सम्राट् समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा स्कन्दगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ का विधान कर अपनी सार्वभौम प्रभुता की सूचना दी। समुद्रगुप्त ने तो इस महान् यज्ञ की स्मृति को चिरस्थायी करने के लिए अश्वमेध यज्ञ के सूचक सिक्के भी ढलवाये। इसी लिए हरिषेण ने इसे 'अश्वमेध-पराक्रमः' लिखा है। इस प्रकार इन राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ का विधान कर तथा सामन्त राज्यों की स्थापना कर अपनी एकराट् शक्ति का परिचय दिया।

गुप्त राजाओं ने अपने प्रचण्ड पराक्रम तथा अद्भुत शूरता के बल से प्रायः समस्त भारत को एक सूत्र में बाँधे रक्खा। इनके शासनकाल में किसी सामन्त को स्वाधीन होने की हिम्मत नहीं थी। परन्तु इनके बाद के राजाओं में महाराज हर्षवर्धन को छोड़कर किसी में यह शक्ति नहीं थी कि वह भारत में फिर से भारतीय-साम्राज्य की स्थापना कर सके। पीछे के राजाओं में उस वीरता तथा संगठन-शक्ति का अभाव था, जिसके द्वारा वे पुनः भारतवर्ष को एकता-सूत्र में बाँध सकें। न तो उनमें समुद्रगुप्त की वीरता थी और न स्कन्दगुप्त का पराक्रम। इसी से कुछ दिनों के लिए हर्षवर्धन के साम्राज्य के दिनों को छोड़कर भारत पुनः कभी एकराट् के अन्तर्गत नहीं हो सका। यही कारण है कि गुप्त-सम्राटों के पश्चात् महान् गुप्त-साम्राज्य, सूत्रहीन माला की मनिका की भाँति, तितर-बितर हो गया। उसको कोई सँभालनेवाला नहीं था और न उसमें इतनी शक्ति ही थी। कहीं वलभी का राज्य गुप्त-छत्र-छाया से अलग हो गया तो कहीं मालवा स्वतन्त्र बन बैठा। कन्नौज में मौखरि राजा शासन करने लगे, तो थानेश्वर में वर्धन-वंश ने राज्य-स्थापना कर ली। कहने का तात्पर्य यही है कि गुप्त-सम्राटों की टक्कर का ऐसा कोई भी राजा नहीं था जो फिर से इस भारत-भूमि में एक-छत्र-राज्य स्थापित कर सके। इस कारण गुप्त-सम्राटों की महत्ता भारतीय इतिहास में और भी बढ़ जाती है।

धार्मिक-सहिष्णुता

भारतवर्ष अपनी धार्मिक-सहिष्णुता के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है। इस अत्यधिक सहिष्णुता के कारण इसे अनेक विपत्तियों का भी सामना करना पड़ा है। गुप्त-काल में यह धार्मिक-सहिष्णुता अपनी आदर्श सीमा पर पहुँची हुई थी। यदि संसार का इतिहास उठाकर देखा जाय तो यह स्पष्ट मालूम हो जायगा कि अपने धर्म के प्रचार के लिए, अपने विशिष्ट धर्म को प्रजा के ऊपर लादने के लिए, अनेक राजाओं ने प्रजा के ऊपर कैसे भीषण अत्याचार किये हैं। प्रायः इसी समय में यूरोप में ईसाई धर्म का प्रचार करने के कारण वहाँ के निवासियों पर जिस प्रकार अत्याचार हुए थे, वह बात ऐतिहासिकों से छिपी नहीं है। इङ्गलैंड में 'आधुनिक काल' में उत्पन्न होनेवाली क्वीन मेरी ने अपनी प्रोटेस्टेण्ट प्रजा पर इतने भीषण अत्याचार किये कि इतिहास में उसका नाम ही ब्लडी

(खूनी) मैरी पड़ गया है। औरङ्गजेब के द्वारा हिन्दुओं पर लगाये गये 'जज़िया टैक्स' को भला कौन भूल सकता है? परन्तु गुप्त-साम्राज्य में इस धार्मिक विद्वेष का नाम नहीं था। गुप्त-सम्राट् अपनी प्रजा को पुत्र के समान मानते थे। उन्हें किसी भी धर्म के प्रति द्वेष नहीं था। यही कारण है कि उनके राज्य में हिन्दू, जैन तथा बौद्ध शान्तिपूर्वक रहते हुए अपने-अपने धर्म का पालन करते थे। उस समय न तो साम्प्रदायिक दंगे थे और न 'कम्यूनल प्रॉपेगेण्डा'। अपने से अन्य धर्म के प्रति किसी की भी बुरी भावना नहीं थी। गुप्त-सम्राट् स्वयं कट्टर हिन्दू थे। इन्होंने अश्वमेध यज्ञ-याग आदि का विधान किया था। ये अपने लेखों में गर्व के साथ अपने को 'परम भागवत' लिखा करते थे। इन्होंने अनेक शैव तथा वैष्णव मन्दिरों का निर्माण किया। इन सब बातों से इनकी हिन्दू-धर्म-परायणता सहज ही में समझी जा सकती है। परन्तु इन्होंने अपनी अन्य धर्मावलम्बिनी (जैन तथा बौद्ध) प्रजा पर अत्याचार की तो बात ही क्या, कभी पक्षपात के साथ भी बर्ताव नहीं किया। चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' के साँची के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उसने अपने यहाँ एक बौद्ध अम्रकार्दव नामक अफ़सर को किसी बड़े सैनिक पद पर नियुक्त किया था जिसने साँची प्रदेश में स्थित काकनादबोट नामक महाविहार के आर्य-संघ को २५ दीनार तथा एक गाँव दिया था। कुमारगुप्त के शासनकाल में बौद्ध बुद्धमित्र ने भगवान् बुद्ध की प्रतिमा की स्थापना की थी। स्कन्दगुप्त के समय में कहौम में मद्र नामधारी किसी जैन पुरुष ने आदिकर्तृन की मूर्ति की स्थापना की थी। इन सब उदाहरणों से प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि गुप्त-सम्राटों के शासनकाल में सब धर्मावलम्बियों को पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता थी। आज इस बीसवीं सदी में जिस धार्मिक-स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए 'सत्याग्रह' किया जा रहा है, उसी पूर्ण धार्मिक स्वतन्त्रता की घोषणा आज से डेढ़ हज़ार वर्ष पूर्व गुप्त सम्राटों ने अपनी समस्त प्रजा के लिए की थी। सन् १८५७ ई० में महारानी विक्टोरिया ने धार्मिक बातों में अहस्तक्षेप की जिस नीति की घोषणा की वह प्राचीन हिन्दू-राजाओं की पद्धति के अनुसार ही तो थी। इन बातों से गुप्त-सम्राटों की विशाल-हृदयता तथा धार्मिक-सहिष्णुता का स्फुट परिचय मिलता है।

गुप्त-सम्राट् आर्य-सभ्यताभिमानी थे। इनकी नसों में आर्य-सभ्यता का ख़ून बह रहा था। इन्होंने आर्य-संस्कृति की रक्षा के लिए मानों व्रत धारण कर लिया था।

आर्य-सभ्यता और संस्कृति की रक्षा

अतः 'स्वदेश', 'स्वभाषा' तथा 'स्वधर्म' की रक्षा का बीड़ा उठाना इनके लिए स्वाभाविक ही था। इन्होंने विदेशी शत्रुओं से स्वदेश की रक्षा कैसे की, इसका वर्णन हम पहले विस्तारपूर्वक कर चुके हैं। स्वभाषा के सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि गुप्त-सम्राटों के पूर्व के राजाओं के लेख प्राकृत में लिखे जाते थे, संस्कृत में नहीं। अशोक के जितने शिला तथा स्तम्भ-लेख मिले हैं वे सब प्राकृत (पाली) भाषा में ही हैं। महाराज रुद्रदामन को छोड़कर गुप्त-राजा ही ऐसे सर्वप्रथम राजा थे, जिन्होंने अपने शिलालेखों को संस्कृत में लिखवाना प्रारम्भ किया। यही नहीं, इन्होंने अपने सिक्कों पर भी संस्कृत में श्लोक लिखवाये। इस समय राजभाषा भी संस्कृत ही थी। इन्होंने कालिदास आदि कवियों को प्रोत्साहन देकर इस भाषा की और उन्नति की।

गुप्त-साम्राज्य के पहले मौर्य्य-साम्राज्य के प्रभाव से हिन्दू-धर्म का कुछ ह्रास-सा हो चला था। अतः इन राजाओं ने हिन्दू-धर्म को अपना कर, इसे प्रोत्साहन दे, पुनः उच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठापित किया। इन्होंने 'चिर उत्सन्न' अश्वमेध यज्ञ को अनेक बार करके वैदिक यज्ञ-याग आदि की पुनः प्रतिष्ठा की। इस यज्ञ में ब्राह्मणों को भूयसी दक्षिणा देकर तथा उनका विशेष आदर कर, इन्होंने वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा को बनाये रक्खा। इन्होंने नचना और भूमरा में अनेक शैव तथा वैष्णव मन्दिरों का निर्माण कर अपने 'परम-भागवत' होने का परिचय दिया। इनका 'परम-भागवत' की वैष्णव-उपाधि को धारण करना ही इस बात को डंके की चोट बतला रहा है कि इन्हें वैष्णव धर्म से कितना अनुराग था, उसके ऊपर इनकी कितनी आन्तरिक श्रद्धा थी। समुद्र-गुप्त ने उत्तरापथ, दक्षिणापथ तथा आटविक नृपतियों के दिग्विजय के द्वारा भारतवर्ष में चिरकाल से चली आती हुई दिग्विजय करने की प्रथा को मानो पुनः प्रतिष्ठापित किया। इस प्रकार से इनकी सुशीतल छत्र-छाया में आर्य-सभ्यता और संस्कृति दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ने लगी।

साहित्य का उत्कर्ष

संस्कृत में एक कहावत है कि 'शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्रचिन्ता प्रवर्तते' अर्थात् जब शस्त्र के द्वारा देश की रक्षा की जाती है तभी उसमें शास्त्र का चिन्तन प्रवर्तित होता है। यह उक्ति जितनी गुप्त-साम्राज्य के विषय में चरितार्थ होती है उतनी सम्भवतः और के विषय में नहीं होती। गुप्त-साम्राज्य में पूर्ण शान्ति थी। न तो इस समय बाह्य आक्रमण का भय था और न आन्तरिक विद्रोह की सम्भावना। ऐसे समय में शास्त्र-चिन्तन की ओर यदि लोगों की रुचि हुई, तो यह स्वाभाविक ही था। ऐसे शान्तिपूर्ण वातावरण का उपयोग अनेक दार्शनिकों और कवियों ने किया। इसी समय में कवि-कुल-गुरु महाकवि कालिदास उत्पन्न हुए जिन्होंने अपनी कोमल-कान्त पदावली के द्वारा संस्कृत-साहित्य की वह सरिता बहाई जिसका स्रोत आज तक नहीं सूख सका है। इस महाकवि ने अपनी सरस कविता के द्वारा लोगों के चित्त को आनन्दित किया तथा उन्हें जीवन की कटुता का अनुभव नहीं होने दिया। हरिषेण और वत्सभट्टि ने अपने आश्रयदाताओं की कीर्ति को सुरक्षित करने के लिए सरस कविता का आश्रय लेकर वह मनोरम रचना की है जो आज भी सहृदयों के गले का हार है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा में वर्तमान 'नवरत्नों' की कीर्ति से कौन परिचित नहीं है? साहित्य के अतिरिक्त दर्शनशास्त्र में भी अनेक विद्वानों ने गवेषणा की। ईश्वरकृष्ण ने सुप्रसिद्ध 'सांख्यकारिका' की रचना कर सांख्य-दर्शन के तत्त्व का उद्घाटन किया। गौतम के न्यायसूत्र पर भाष्य इसी समय में रचा गया। आचार्य असंग और वसुबन्धु ने अपनी रचनाओं से विज्ञानवाद के सिद्धान्त को पुष्ट किया। सुप्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'प्रमाणसमुच्चय' की रचना कर 'मध्य-कालीन न्याय' की स्थापना की। इस प्रकार से इस काल में साहित्य तथा दर्शन-शास्त्र अपनी चरम सीमा को पहुँचा हुआ था। कवियों और दार्शनिकों ने एक साथ ही सम्बद्ध कर इस काल को काव्यमय तथा 'दर्शन'-युक्त कर दिया था।

गुप्त-काल में कला सचमुच अपनी परा काष्ठा पर पहुँची हुई थी। क्या तक्षण-कला, क्या चित्रकला सभी अपना उत्कर्ष दिखला रहे थे। इसी लिए कला के इतिहास में गुप्त-काल अपना विशेष स्थान रखता है तथा इस काल की कला को अन्य कलाओं से पृथक् करने के लिए 'गुप्त-कला' या 'गुप्त-आर्ट' नाम दिया गया है। गुप्त-कालीन तक्षणकार कला में अपना सानी नहीं रखते। इस विषय का विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है। गुप्त-कालीन तक्षण-कला के नमूने नचना और भूमरा के शिवमन्दिरों तथा सारनाथ में प्राप्त बौद्ध मूर्तियों में मिलते हैं। इन वस्तुओं को देखने से ज्ञात होता है कि गुप्त-कालीन तक्षण-कार कितने चतुर थे। इन्होंने अपनी निर्जीव 'छेनी' से पत्थर को काटकर सजीव-मूर्ति उत्पन्न कर दी है। सारनाथ के संग्रहालय में गुप्त-कालीन भगवान् बुद्ध की एक ऐसी ही मूर्ति है जिसके होठ पर आई हुई मुसकराहट स्पष्ट प्रतीत हो रही है तथा ऐसा मालूम होता है, मानो वह मूर्ति अभी बोलना चाहती है। इन कलाकारों का, पत्थर पर पालिश करने का, ढङ्ग भी विचित्र ही है। गुप्त-कालीन मूर्तियों की पालिश इतनी चिकनी है कि उनको देखने पर दृष्टि भी फिसल पड़ती है। अनेक मूर्तियों पर अलंकरण की विशेषता तथा बहुलता देखते ही बनती है। गुप्तकालीन तक्षणकारों की सजीवता, पालिश करने का विशेष प्रकार तथा सौन्दर्य-कल्पना उनकी प्रधान विशेषता है।

कला की चरम सीमा

गुप्त-कालीन 'चतुर चितेरे' भारत ही में नहीं, बल्कि संसार में प्रसिद्ध हैं। उनकी अनुपम कृतियों को देखकर आधुनिक पाश्चात्य कलाविद् भी आश्चर्य के सागर में ग़ोते खाने लगते हैं। अजन्ता की चित्रकारी कलाविदों के उल्लास और आह्लाद का विषय सदा बनी रहेगी। अजन्ता के चितेरों की कृतियों को देखकर जी यही चाहता है कि उनकी तूलिका को बरबस चूम लें। ये चित्र इतने सजीव हैं कि देखते ही बनते हैं। भिक्षा देती हुई माता और पुत्र का चित्र जितना करुणोत्पादक तथा हृदय को द्रवीभूत करनेवाला है, यह सहृदय ही समझ सकते हैं। ग्वालियर राज्य में बाघ की गुफाओं के चित्र भी दर्शनीय हैं। यद्यपि वे अजन्ता की बराबरी तो नहीं कर सकते, परन्तु उनका भी कुछ कम मूल्य नहीं है। अलंकरण की बहुलता इनकी प्रधान विशेषता है। विशेषकर नाचवाला दृश्य हृदय को मुग्ध कर देता है। इस प्रकार गुप्त-काल में तक्षण-कला और चित्र-कला अपनी परा काष्ठा पर पहुँची हुई थी।

'पेरिक्लियन एज' से तुलना

ग्रीस देश में ईसापूर्व पाँचवीं शताब्दी में पेरिक्लीज़ (Pericles) नामक विख्यात राजनीतिज्ञ ने देश में इतनी सुव्यवस्था की, कि उस समय में साहित्य और ललित-कला की विशेष उन्नति हुई और एथेन्स शहर ग्रीक-सभ्यता तथा साहित्य का केन्द्र बन गया। यह काल ग्रीक इतिहास में 'सुवर्ण-युग' माना जाता है। इसी काल से कुछ विद्वान् गुप्त-काल की तुलना करते हैं। परन्तु गुप्त-युग की तुलना पेरिक्लीज़ के युग से करना अनुचित है। हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि ग्रीक राज्य सब 'सिटी स्टेट्स' थे, अर्थात् वहाँ का प्रत्येक शहर एक एक स्वतन्त्र राज्य था। वहाँ की किसी 'सिटी-

स्टेट' की जन-संख्या इतनी भी नहीं थी जितनी संयुक्तप्रदेश के किसी एक बड़े ज़िले की। अतएव उन थोड़े से मनुष्यों के बीच शान्ति-स्थापन करना उतना कठिन नहीं था। इसके ठीक विपरीत गुप्त-राज्य एक बड़ा भारी साम्राज्य था, जिसे एक सूत्र में बाँधकर रखना कुछ कम वीरता का काम नहीं था। दूसरी बात यह है कि ग्रीकों की जनसंख्या में ऐसे दासवर्ग के लोगों की—जिनको वहाँ हेलाट्स कहते थे—प्रधानता थी जिनको न तो नागरिक-अधिकार प्राप्त थे और न राजनैतिक अधिकार। ये लोग सचमुच ग़ुलाम थे और दासता का जीवन व्यतीत करते थे। परन्तु गुप्त-काल में दासता का नामोनिशान नहीं था। सबके अधिकार बराबर थे तथा सबको आत्मोन्नति करने का पूरा अवसर दिया जाता था। पेरिक्लीज़ ने जो राज्य-संगठन किया था वह बहुत कमज़ोर साबित हुआ और उसके मरने के थोड़े दिनों के बाद नष्ट-भ्रष्ट हो गया परन्तु समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपने राज्य का जो दृढ़ संगठन किया था वह चिरस्थायी सिद्ध हुआ तथा शताब्दियों तक चलता रहा। कवियों और दार्शनिकों का जो जमघट गुप्त-काल में पाया जाता है वह पेरिक्लीज़ के समय में नहीं था। अतः भारतीय-इतिहास का यह 'सुवर्णयुग' ग्रीक इतिहास के 'सुवर्णयुग' से हृदय की विशालता, मानव-समाज में प्रत्येक व्यक्ति की समानता, विशाल देश को एक सूत्र में बाँधने आदि अनेक विषयों में बढ़ा हुआ है।

"एज आफ दि एण्टोनाइन्स" से तुलना

रोम साम्राज्य के इतिहास में एण्टोनाइन राजाओं का राज्य-काल (Age of the Antonines) ९६ ई० से लेकर १९२ ई० तक सबसे अच्छा समझा जाता है तथा उसे रोम इतिहास का 'सुवर्ण युग' कहते हैं। इस काल में पाँच बहुत बड़े राजा हुए जो विद्वान् तथा सच्चे प्रजा-पालक थे। मारकस एरीलियस इनमें सबसे बड़ा समझा जाता है। यह अच्छा शासक और प्रसिद्ध दार्शनिक था। परन्तु ऐसे अच्छे शासकों के काल में भी प्रजा सुखी नहीं थी। प्लीबियन लोगों को, जो एक प्रकार से दास थे, बड़ा कष्ट था। उन्हें कोई नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं था। इस काल का अन्तिम बादशाह कोमोडस (Commodus १८० ई०—१९२ ई०) बड़ा कमज़ोर था और उसके शासनकाल ही में सुदूर सीमाप्रान्तों के अनेक राज्य स्वतन्त्र बन बैठे। वह बड़ा ही आरामपसन्द बादशाह था और वह इस विस्तृत साम्राज्य के भार को सँभालने में सर्वथा असमर्थ था। इसके विपरीत गुप्त-सम्राट् वीर योद्धा थे जिनके सम्मुख सामन्त राजाओं की स्वतन्त्र होने की बात तो दूर रही, उन्हें सिर उठाने की भी हिम्मत नहीं थी। एण्टोनाइन्स के काल में धार्मिक सहिष्णुता का सर्वथा अभाव था। इस समय ईसाइयों के ऊपर रोमाञ्चकारी अत्याचार किये गये। परन्तु गुप्त-काल में इस विषय में रामराज्य था। हिन्दुओं के साथ जैन और बौद्ध सानन्द रहते थे। अतः यूरोपीय इतिहास के नितान्त प्रसिद्ध उपर्युक्त दोनों कालों से गुप्त-काल की तुलना करना ठीक नहीं है। सच तो यह है कि गुप्त-काल उत्कर्ष में, संसार के इतिहास में अपना सानी नहीं रखता।

गत पृष्ठों में हमने गुप्त सम्राटों की कुछ विशिष्टताओं का वर्णन किया है और हमने यह भी दिखलाने का प्रयत्न किया है कि यह काल भारतीय इतिहास में 'सुवर्ण युग'

क्यों कहलाता है। भारतीय इतिहास में गुप्त-काल का स्थान निर्णय करते समय हम यह स्पष्ट बतला देना चाहते हैं कि इस काल का स्थान भारतीय इतिहास में अद्वितीय है। इसकी समता कोई दूसरा काल नहीं कर सकता। यद्यपि

भारतीय इतिहास में गुप्त-काल का स्थान

मौर्य-काल में राज्य-विस्तार बहुत अधिक हो चला था परन्तु इस काल में वह चतुरस्र उन्नति नहीं थी जो गुप्त-काल में दिखाई पड़ती है। कवियों, लेखकों तथा दार्शनिकों का जो त्रिवेणी-संगम इस काल में दिखाई पड़ता है उसके दर्शन अन्यत्र कहाँ? ललित-कला की जो चरम सीमा इस काल में दृष्टि-गोचर होती है वह अन्यत्र कहाँ संभव है? सुदूर लंका का अमोघवर्ष जैसा प्रतापी राजा विहार बनाने के लिए हाथ जोड़कर आज्ञा की बाट जोहने में तैयार खड़ा हो; यह दृश्य भारतीय इतिहास के किस काल में देखने को मिलेगा? लेखक का तो कहना यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भारत की जो धाक उस समय जमी थी वह आज तक नहीं जम सकी! इस काल में जितने उपनिवेश बनाये गये उतने कभी नहीं बने। अतः गुप्त-काल में भारत की आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता अपनी चोटी तक पहुँची हुई थी। इसी लिए यह कहना पड़ता है कि भारत के इतिहास में गुप्त-काल का स्थान सर्वप्रथम है। यदि इस काल को भारतीय इतिहास से निकाल दें तो वह अवश्य ही अधूरा हो जायगा। अन्त में इन प्रातः-स्मरणीय, आर्य-सभ्यता और संस्कृति के उन्नायक, चिर उत्सन्न अश्वमेध यज्ञ के कर्ता, कृपणदीनानाथ-आतुर-जनोद्धरण मन्त्र में दीक्षित, स्वधर्माभिमानी, वीर, साहसी तथा प्रचुर पराक्रमी गुप्त-सम्राटों का हार्दिक अभिनन्दन करते हुए भगवान् से हमारी यही प्रार्थना है कि भारतवर्ष में फिर से रामराज्य के समान गुप्त-राज्य की स्थापना हो, जिससे राजा और प्रजा शान्तिपूर्वक रहें। कविराज धोयी के शब्दों को कुछ बदल कर हम भी ईश्वर से यही अहर्निश विनती करते हैं:—

यावच्छम्भुर्वहति गिरिजासंविभक्तं शरीरं
यावज्जैत्रं कलयति धनुः कौसुमं पुष्पकेतुः।
यावद् राधारमणतरुणीकेलिसाक्षी कदम्ब-
स्तावज्जीयात् जगति विमला गुप्तवंशस्य कीर्तिः॥

इति

परिशिष्ट

मंदसोर का कुमारगुप्त प्रथम का शिलालेख

सिद्धम् ।

यो वृत्त्यर्थमुपास्यते सुरगणैस्सिद्धैश्च सिद्धार्थिभिः
ध्यानैकाग्रपरैर्विधेयविषयैर्मोक्षार्थिभिर्योगिभिः ।
भक्त्या तीव्रतपोधनैश्च मुनिभिश्शापप्रसादक्षमैः
हेतुर्यो जगतः क्षयाभ्युदययोः पायात्स वो भास्करः ॥ १ ॥
तत्त्वज्ञानविदोपि यस्य न विदुर्ब्रह्मर्षयोऽभ्युद्यता
कृत्स्नं यश्च गभस्तिभिः प्रविसृतैः पुष्णाति लोकत्रयम् ।
गन्धर्वामरसिद्धकिन्नरनरैः संस्तूयतेऽभ्युत्थितो
भक्तेभ्यश्च ददाति योऽभिलषितं तस्मै सवित्रे नमः ॥ २ ॥
यं प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्रविस्तीर्णतुङ्गशिखरस्खलितांशुजालः ।
क्षीबाङ्गनाजनकपोलतलाभिताम्रः पायात्स वस्सुकिरणाभरणो विवस्वान् ॥ ३ ॥
कुसुमभरानततरुवरदेवकुलसभाविहाररमणीयात् ।
लाटविषयान्नगावृतशैलाज्जगति प्रथितशिल्पाः ॥ ४ ॥
ते देशपार्थिवगुणापहृताः प्रकाशमध्वादिजान्यविरलान्यसुखान्यपास्य ।
जातादरा **दशपुरं** प्रथमं मनोभिरन्वागतास्ससुतबन्धुजनास्समेत्य ॥ ५ ॥
मत्तेभगण्डतटविच्युतदानबिन्दुसिक्तोपलाचलसहस्रविभूषणायाः ।
पुष्पावनम्रतरुमण्डवतंसकाया भूमेः परं तिलकभूतमिदं क्रमेण ॥ ६ ॥
[illegible] तजलानि भांति ।
[illegible] कारंडवसंकुलानि ॥ ७ ॥
[illegible] पिंजरितैश्च हंसैः ।
स्वकेसरोदारभरावभुग्नैः क्वचित्सरांस्यम्बुरुहैश्च भान्ति ॥ ८ ॥
स्वपुष्पभारावनतैर्नगेन्द्रैः मदप्रगल्भालिकुलस्वनैश्च ।
अजस्रगाभिश्च पुराङ्गनाभिः वनानि यस्मिन् समलंकृतानि ॥ ९ ॥
चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि ।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥ १० ॥
कैलासतुङ्गशिखरप्रतिमानि चान्यान्याभान्ति दीर्घवलभीनि सवेदिकानि ।
गान्धर्वशब्दमुखराणि निविष्टचित्रकर्माणि लोलकदलीवनशोभितानि ॥ ११ ॥
प्रासादमालाभिरलंकृतानि धरां विदार्येव समुत्थितानि ।
विमानमालासदृशानि यत्र गृहाणि पूर्णेन्दुकरामलानि ॥ १२ ॥

यद्भात्यभिरम्यसरिद्द्वयेन चपलोर्मिणा समुपगूढम् ।
रहसि कुचशालिनीभ्यां प्रीतिरतिभ्यां स्मराङ्गमिव ॥ १३ ॥
सत्यक्षमादमशमव्रतशौचधैर्य्यस्वाध्यायवृत्तविनयस्थितिबुद्ध्युपेतैः ।
विद्यातपोनिधिभिरस्मयितैश्च विप्रैर्यद् भ्राजते ग्रहगणैः खमिव प्रदीप्तैः ॥ १४ ॥
अथ समेत्य निरन्तरसंगतैरहरहः प्रविजृम्भितसौहृदाः ।
नृपतिभिस्सुतवत् प्रतिमानिताः प्रमुदिता न्यवसन्त सुखं पुरे ॥ १५ ॥
श्रवणसुभगं धानुर्वेद्यं दृढं परिनिष्ठितैः
सुचरितशतासंगाः केचिद्विचित्रकथाविदः ।
विनयनिभृता सम्यग्धर्मप्रसङ्गपरायणाः
प्रियमपरुषं पथ्यं चान्ये क्षमा बहु भाषितुम् ॥ १६ ॥
केचित् स्वकर्मण्यधिकास्तथान्यैर्विज्ञायते ज्योतिषमात्मवद्भिः ॥
अद्यापि चान्ये समरप्रगल्भाः कुर्वन्त्यरीणामहितं प्रसह्य ॥ १७ ॥
प्राज्ञा मनोज्ञवधवः प्रथितोरुवंशा वंशानुरूपचरिताभरणास्तथान्ये ।
सत्यव्रताः प्रणयिनामुपकारदक्षा विस्रम्भपूर्वमपरे दृढसौहृदाश्च ॥१८॥
विजितविषयसङ्गैर्धर्मशीलैस्तथान्यैर्मृदुभिरधिकसत्त्वैर्लोकयात्रामरैश्च ।
स्वकुलतिलकभूतैर्मुक्तरागैरुदारैरधिकमभिविभाति श्रेणिरेवं प्रकारैः ॥१९॥
तारुण्यकान्त्युपचितोपि सुवर्णहारताम्बूलपुष्पविधिना समलंकृतोपि ।
नारीजनः प्रियमुपैति न तावदग्र्यां यावन्न पट्टमयवस्त्रयुगानि धत्ते ॥२०॥
स्पर्शवता वर्णान्तरविभागचित्रेण नेत्रसुभगेन ।
यैस्सकलमिदं क्षितितलमलंकृतं पट्टवस्त्रेण ॥२१॥
विद्याधरीरुचिरपल्लवकर्णपूरवातेरितास्थिरतरं प्रविचिन्त्य लोकम् ।
मानुष्यमर्थनिचयांश्च तथा विशालांस्तेषां शुभामतिरभूदचला ततस्तु ॥२२॥
चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम् ।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥२३॥
समानधीश्शुक्रबृहस्पतिभ्यां ललामभूतो भुवि पार्थिवानाम् ।
रणेषु यः पार्थसमानकर्म्मा बभूव गोप्ता नृप विश्ववर्म्मा ॥२४॥
दीनानुकम्पनपरः कृपणार्त्तवर्गसन्धाप्रदोधिकदयालुरनाथनाथः ।
कल्पद्रुमः प्रणयिनामभयप्रदश्च भीतस्य यो जनपदस्य च बन्धुरासीत् ॥२५॥
तस्यात्मजः स्थैर्य्यनयोपपन्नो बन्धुप्रियो बन्धुरिव प्रजानाम् ।
बन्ध्वर्त्तिहर्त्ता नृपबन्धुवर्म्मा द्विड्दृप्तपक्षक्षपणैकदक्षः ॥२६॥
कान्तो युवा रणपटुर्विनयान्वितश्च राजापि सन्नुपसृतो न मदैः स्मयाद्यैः ।
शृङ्गारमूर्तिरभिभात्यनलंकृतोऽपि रूपेण यः कुसुमचाप इव द्वितीयः ॥२७॥
वैधव्यतीव्रव्यसनक्षतानां स्मृत्वा यमद्याप्यरिसुन्दरीणाम् ।
भयाद्भवत्यायतलोचनानां घनस्तनायासकरः प्रकम्पः ॥२८॥
तस्मिन्नेव क्षितिपतिवृषे बन्धुवर्म्मण्युदारे
सम्यक्स्फीतं दशपुरमिदं पालयत्युन्नतांसे॥

शिल्पावाप्तैर्धनसमुदयैः पट्टवायैरुदारम्–
श्रेणीभूतैर्भवनमतुलं कारितं दीप्तरश्मेः ॥२९॥
विस्तीर्णतुङ्गशिखरं शिखरिप्रकाशमभ्युद्गतेन्द्वमलरश्मिकलापगौरम् ।
यद्भाति पश्चिमपुरस्य निविष्टकान्तचूडामणिप्रतिसमं नयनाभिरामम् ॥३०॥
रामासनाथरचने दरभास्करांशुवह्निप्रतापसुभगे जललीनमीने ।
चन्द्रांशुहर्म्यतलचन्दनतालवृन्तहारोपभोगरहिते हिमदग्धपद्मे ॥३१॥
रोध्रप्रियंगुतरुकुन्दलताविकोशपुष्पासवप्रमुदितालिकलाभिरामे ।
काले तुषारकणकर्कशशीतवातवेगप्रनृत्तलवलीनगणैकशाखे ॥३२॥
स्मरवशगतरुणजनवल्लभांगना विपुलकान्तपीनोरुस्तनजघनघनालि–
ङ्गननिर्भर्त्सिततुहिनहिमपाते ॥ ३३ ॥
मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये ।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानां ऋतौ सेव्यघनस्व(स्त)ने ॥ ३४ ॥
सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेह्नि त्रयोदशे ।
मङ्गलाचारविधिना प्रासादोयं निवेशितः ॥ ३५ ॥
बहुनाशमतीतेन कालेनान्यैश्च पार्थिवैः ।
व्यशीर्यतैकदेशोऽस्य भवनस्य ततोऽधुना ॥ ३६ ॥
स्वयशोवृद्धये सर्वमत्युदारमुदारया ।
संस्कारितमिदं भूयः **श्रेण्या भानुमतो गृहम्** ॥३७॥
अत्युन्नतमवदातं नभःस्पृशन्निव मनोहरैश्शिखरैः ।
शशिभान्वोरभ्युदये स्वमलमयूखायतनभूतम् ॥३८॥
वत्सरशतेषु पंचसु विंशत्यधिके नवसु चाब्देषु ।
यातेष्वभिरम्यतपस्यमासशुक्लद्वितीयायाम् ॥३९॥
[illegible]
पुष्पोद्गमैरभिनवैरधिगम्य नूनमैक्यं विजृम्भितशरे हरपूतदेहे ॥४०॥
मधुपानमुदितमधुकरकुलोपगीतनगणैकपृथुशाखे ।
काले [illegible] ॥४१॥
शशि[illegible] शार्ङ्गिणो वक्षः ।
भवनवरेण तथेदं पुरमखिलमलंकृतमिदमुदारम् ॥४२॥
अमलिनशशिलेखादन्तुरं पिङ्गलानाम्परिवहति समूहं यावदीशो जटानाम् ।
विकचकमलमालामंसलक्तां च शार्ङ्गी भवनमिदमुदारं शाश्वतं तावदस्तु ॥ ४३ ॥
श्रेण्यादेशेन भक्त्या च कारितं भवनं रवेः ।
पूर्वाचेयं प्रयत्नेन रचिता वत्सभट्टिना ॥४४॥
स्वस्ति [illegible] सिद्धिरस्तु ॥

(हिन्दी-भावार्थ)

(१) सूर्य आपकी रक्षा करें जिनमें संसार का पारस्परिक तथा नाश है, जैन लोग अपने रक्षार्थ जिनकी पूजा करते हैं, सिद्ध लोग अपनी यौगिक सिद्धि के लिए पूजा

किया करते हैं, वे योगी जो सदा ध्यानावस्थित रहते हैं, जिनकी इच्छाएँ वशीभूत हैं तथा वे साधु जो घोर तपस्या करते हैं और जिनमें शाप व आशीर्वाद देने की शक्ति है, भक्ति से जिसकी पूजा करते हैं।

(२) जिस सूर्य के स्वरूप के सत्य के ज्ञाता ब्रह्मर्षि नहीं बतला सकते, जो फैले हुए रश्मियों से तीनों लोकों की रक्षा करता है, जिसके निकलते ही गन्धर्व, देव, किन्नर तथा मनुष्य प्रशंसा करते हैं तथा जो अपने भक्तों की इच्छाओं को पूरा करता है।

(३) वह भगवान् सूर्य आपकी रक्षा करे। जो रश्मियों से सुशोभित है उस सूर्य भगवान् को नमस्कार है। प्रति दिन जिनकी किरणें पूर्व के उदयाचल-विस्तृत पर्वतशृङ्गों पर फैलती हैं, और जो मतवाली स्त्री के कपोल के सदृश लाल है।

(४-५) लाट-प्रदेश से, जो फूलों से झुके हुए वृक्षों, मंदिरों, सभा-भवन तथा सुखदायी वाटिकाओं से तथा वनस्पतियुक्त पर्वतों से भरा हुआ था, तन्तुवाय समिति के लोग दशपुर में आये। ये लोग पहले अकेले आये, फिर परिवार को ले आये। ये मनुष्य अपनी चातुरी के लिए संसार में प्रसिद्ध थे। इन लोगों का आगमन, अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी राजा के गुण के कारण हुआ।

(६) इस समय यह स्थान संसार में अग्रणी था। जहाँ की पर्वतमाला पर हाथियों के गिरते हुए मद का छिड़काव हो रहा था तथा जहाँ के सुंदर वृक्षों की शाखाएँ पुष्पों के बोझ के कारण झुक गई थीं।

(७) जहाँ की झीलों में बत्तख तैर रहे थे। उन झीलों के किनारे के वृक्षों के पुष्पों के गिरने से पानी ने विभिन्न रंग धारण कर लिया था तथा वहाँ खिले हुए कमल शोभ रहे थे।

(८) कहीं उन (झीलों) में हंस तैर रहे थे, जिनका शरीर कमल की पंखड़ियों के पराग से भूरा हो गया था तथा दूसरे स्थान पर कमल अपने पराग के कारण झुके हुए दिखलाई पड़ते थे।

(९) वहाँ की वाटिकाएँ अत्यन्त सुंदर रीति से सुशोभित थीं। उन वाटिकाओं में वृक्ष पुष्पों के भार से झुके हुए थे। उस स्थान की मतवाले भौंरों की गुञ्जार तथा शहर की स्त्रियों के सदा टहलने से शोभा बढ़ गई थी।

(१०) भवन फहराते हुए झण्डों से सुशोभित थे। उनमें रहनेवाली कोमलाङ्गी स्त्रियों से तथा ऊँचे-ऊँचे सफेद शिखरों द्वारा सुंदरता बढ़ रही थी। वे शिखर पर्वतों के हिम से आच्छादित चोटी के सदृश थे जिनका रंग विद्युत् की चमक के कारण विचित्र ढंग का था।

(११) अन्य भवन भी वलभी तथा प्रस्तरों के आसनों से युक्त कैलाश पर्वत की तरह दिखलाई पड़ते थे। उनमें संगीत की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती थी, वे सुन्दर चित्रों द्वारा विभूषित थे और कदली वृक्षों की कतारें लहलहा रही थीं।

(१२) वहाँ के भवन अनेक-मंजिल वाले थे जिससे उसकी सुन्दरता बढ़ गई थी। वे चन्द्रमा की किरणों के सदृश स्वच्छ थे। ऐसा ज्ञात होता था कि वे पृथ्वी को फाड़ कर निकले हैं।

(१३) इस नगर को दो नदियों ने घेर लिया था जिसके कारण यह अत्यन्त सुन्दर दिखलाई पड़ता था। ऐसा ज्ञात होता है कि यौवन-युक्त प्रीति तथा रति नामक स्त्रियाँ कामदेव को आलिंगन कर रही हों।

(१४) आकाश में अनेक चमकते हुए तारों के समान, यह नगर भी सत्य, क्षमा, दम, शम, व्रत, शौच, धैर्य, स्वाध्याय, कुशाग्र बुद्धि, विद्या तथा तप आदि गुणों से पूर्ण ब्राह्मणों से भरा हुआ था।

(१५) सर्वदा सम्पर्क में आने से गाढ़ी मित्रता से युक्त तथा राजा द्वारा पुत्र-तुल्य आदर पाने से वे (समिति के लोग) प्रसन्नचित्त होकर इस नगर में रहते थे।

(१६) उनमें से कुछ धनुर्विद्या में निपुण थे। उनके धनुष की टङ्कार कानों को सुख पहुँचाती थी; कुछ ने सैकड़ों अपूर्व विद्याओं में निपुणता हासिल कर ली थी; कुछ कथाविद् थे; कुछ अत्यन्त विनययुक्त और कुछ धार्मिक कर्त्तव्यों को बतलाने में प्रवीण थे। और दूसरे लोग मधुर हितकारी वचन कहने में समर्थ थे।

(१७) अपने कपड़े बुनने के कार्य में कुछ मनुष्य दक्ष थे। कुछ व्यक्ति ज्योतिष शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे और कुछ युद्ध में धीर तथा शत्रुओं का नाश करने की शक्ति रखते थे।

(१८) इन (गुणों) के अतिरिक्त सबके पास सुन्दर स्त्रियाँ थीं। वे यशस्वी तथा उच्च कुल में उत्पन्न थे; अन्य लोग अपने कुल की मर्यादा को रखते सत्यव्रतधारी थे; जो उनमें विश्वास रखता तथा संसर्ग में था, उसके वे लोग अनुगृहीत होते और घनिष्ठ व्यक्तियों के साथ दया का बर्ताव रखते थे।

(१९) इस प्रकार सांसारिक लोभ-मोह को विजय करनेवाले मनुष्यों से यह (तंतुवाय) श्रेणी विभूषित थी। वे लोग कोमल-हृदय तथा सच्चरित्र थे। इस प्रकार वे पृथ्वी पर देवता के तुल्य थे।

(२०, २१) जैसे एक युवती स्त्री सोने का हार धारण किये, पान और पुष्पों से युक्त भी अपने प्रेमी से एकान्त में मिलने नहीं जाती, जब तक कि वह रेशमी वस्त्र पहन न ले, उसी तरह पृथ्वी का वह भाग (नगर) उन लोगों से विभूषित था मानों वे रेशमी वस्त्र धारण किये हैं जो स्पर्श में तथा विभिन्न रंग के कारण आँखों को आनन्ददायक हैं।

(२२) संसार को विद्याधरी के कर्ण-आभूषणों के समान चलायमान समझते हुए, मनुष्य-जीवन तथा धन की अस्थिरता को जानते हुए उनकी अचल शुभ मति उत्पन्न हुई।

(२३) उस समय कुमारगुप्त पृथ्वी पर शासन कर रहा था। उस पृथ्वी के चारों समुद्र कमरबन्द हैं, कैलाश तथा सुमेरु पर्वत उसके ऊँचे स्तन हैं और हँसी उसकी जंगल के वृक्षों के गिरते हुए पुष्प के समान है।

(२४) राजा का एक गवर्नर था जिसका नाम विश्ववर्मा था, जो शुक्र और बृहस्पति के समान बुद्धिमान था, जो इस पृथ्वी पर राजाओं का आभूषण था और युद्ध में पार्थ के समान शक्तिशाली था।

(२५) जो दीनों पर अनुकम्पा रखता, आर्त तथा दुखियों के साथ अपना वादा पूरा करता, जो दयालु था और मित्रों के लिए कल्पवृक्ष था। वहाँ के बसनेवाले को अभय देता व भयभीतों की वह रक्षा करता था।

(२६) उसका पुत्र बन्धुवर्मा गम्भीरता तथा नीति वाला था। सभी उसे प्यार करते थे। प्रजाजन को भाई के सदृश, सम्बन्धियों के दुःख दूर करनेवाला तथा अपने घमण्डी शत्रुओं की सेना को नाश करनेवाला था।

(२७) वह सुंदर, युवक तथा युद्ध में निपुण था। वह विनयी था। यद्यपि वह शासक था परन्तु उसमें गर्व आदि अन्य बुराइयाँ न थीं। आभूषणों से सुसज्जित न होने पर भी वह श्रृंगार की मूर्त्ति था। इसलिए लोग उसे दूसरे कामदेव के नाम से पुकारते थे।

(२८) आज भी शत्रुओं की सुंदर नेत्रोंवाली विधवाएँ उसके स्मरण से भय खाती हैं, और भय के कारण उनकी छातियों में कम्प पैदा हो जाता है।

(२९) जब वह एक आदर्श राजा की तरह दशपुर का शासन कर रहा था, एक अद्वितीय भव्य सूर्य-मंदिर को तंतुवाय श्रेणी ने तैयार करवाया। उस श्रेणी का धन उनकी दस्तकारी के कारण एकत्रित था।

(३०) उस मंदिर के चौड़े और ऊँचे शिखर थे जो पर्वत के समान मालूम पड़ता था, चंद्रमा की रश्मिधारा के समान सफ़ेद था, जो पश्चिम के इस अद्वितीय नगर में ऊँचा खड़ा था और चमक रहा था।

(३१-३५) जब स्त्री-पुरुष का मिलन होता है, जो समय सूरज की धीमी किरणों और मन्द गर्मी के कारण सुखदायक मालूम होता था। जब मछलियाँ नीचे पानी में छिप जाती हैं, जब चंद्रमा की प्रभा, भवनों की छतें, चंदन का लेप, ताड़ के पंखे तथा हार आनंददायक नहीं होते हैं; कमल पाले से नष्ट हो जाते हैं, जहाँ पर रोध्र और प्रियङ्गु-वृक्षों के खिले हुए पुष्पों तथा कुन्दलता के कारण भँवरों का गुञ्जार मन को मोह लेता है; जब लवली तथा नगण पेड़ों की शाखाएँ तुषार कण से युक्त ठंडी हवा के झोकों से झूम रही हैं; जहाँ प्रेमिकाओं के आलिंगन, सुंदर स्तनों तथा नितम्बों के कारण प्रेम में तल्लीन युवकों को पाले और हिम का आभास भी नहीं हो रहा है; जहाँ ४९३ वर्ष मालव संवत् व्यतीत हो चुका है, जिस ऋतु में प्रेमिकाओं के स्तनों का आनंद लाभ किया जाता है, उसी शीत काल में पूस मास के शुक्लपक्ष के तेरहवें दिन मंगलाचार के साथ मंदिर की प्रतिष्ठा की गई।

(३६-३८) समयांतर में जब इस मंदिर के कुछ हिस्से नष्ट हो गये, तब अपने यश को बढ़ाने के लिए इस तंतुवाय श्रेणी ने परोपकार के निमित्त मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया, जिससे उसकी शोभा अत्यंत बढ़ गई, गगनचुंबी हो गया जिससे मालूम पड़ता था कि सूर्य-चंद्रमा की किरणें इसी पर आराम करती हैं।

(३९-४१) जब ५२९ वर्ष व्यतीत हो गये, तपस्यमास के शुक्लपक्ष के दूसरे दिन, जिस ऋतु में शिव का जलाया हुआ कामदेव अपने अशोक, केतक, सिंदुवार वृक्षों तथा अतिमुक्त लता के पुष्पों से अपना बाण तैयार करता है, जब नगण वृक्ष की शाखा के

पुष्पों पर मधुपान से मत्त भँवर गुञ्जार करते हैं, जब सुंदर रोध्र वृक्ष की शाखा नये पुष्पों से युक्त हो झूमती है।

(४२) यह नगर इस सुंदर मंदिर से विभूषित रहता है, जैसे स्वच्छ आकाश चंद्रमा से सुशोभित होता है तथा शार्ङ्गिण् का वक्षस्थल कौस्तुभमणि से आभूषित रहता है।

(४३) जब तक ईश चंद्रमा की रश्मि से शोभायमान पिंगल जटासमूह को धारण करते हैं, तथा जब तक भगवान् शार्ङ्गिण् कंधे पर सुंदर कमलों की माला धारण करते हैं, तब तक यह भव्य-मंदिर चिरस्थायी रहे।

(४४) श्रेणी की आज्ञा तथा भक्ति के कारण यह सूर्य-मंदिर तैयार किया गया। इस प्रशस्ति की रचना वत्सभट्टि ने की। रचनेवाले, लिखनेवाले, पढ़नेवाले तथा सुननेवाले का कल्याण हो। सिद्धि हो।